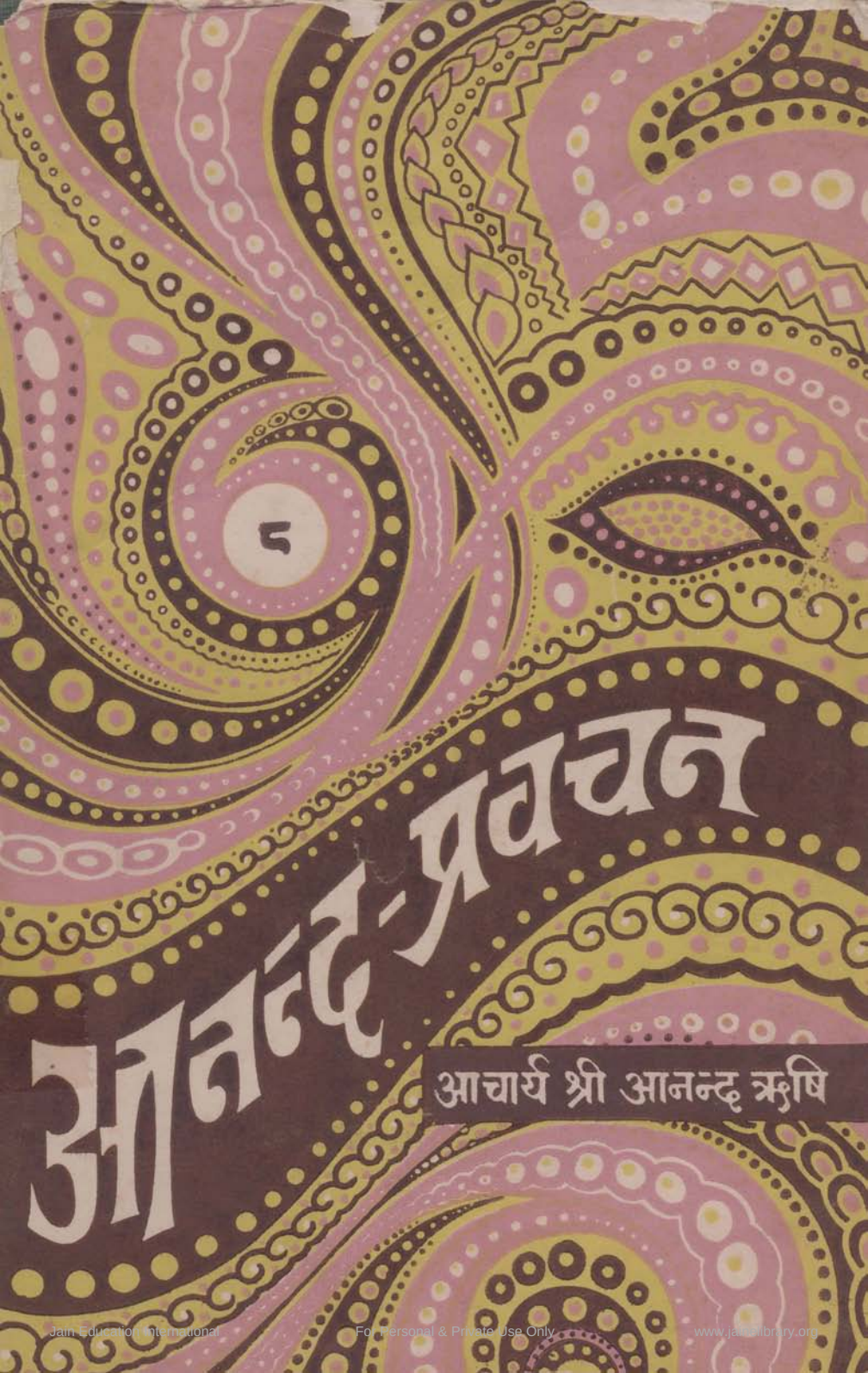

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य प्रवर के प्रवचनों का यह एक सुन्दर सारपूर्ण संग्रह है। 'गौतम कुलक' स्वयं में एक चिन्तन-मनन की मणिमुक्ताओं का भंडार है। उसका प्रत्येक चरण एक जीवन सूत्र है, अनुभूति का मार्मिक कोष है। और उस पर आचार्य श्री के प्रवचन !

इन प्रवचनों में श्रद्धेय आचार्य श्री का दीर्घकालीन अनुभव, शास्त्रीय अध्ययन-अनुशीलन, वेद, उपनिषद्-गीता-पुराण-कुरान-बाईबिल आदि धर्म ग्रन्थों का मनन-चिन्तन तथा सैकड़ों भारतीय एवं भारतीयेतर कवियों, चिन्तकों साहित्यकारों के व्यापक उदात्त विचारों का पारायण- पद-पद पर मुखरित हो रहा है। साथ ही सैकड़ों शास्त्रीय पौराणिक ऐतिहासिक रूपक, कथानक तथा जीवन संस्मरणों से विषय को बहुत ही स्पष्ट व अनुभूतिगम्य बनाया गया है।

इन प्रवचनों का सम्पादन किया है :— प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने। सम्पादन बड़ा ही सरस, विद्वत्तापूर्ण तथा जन-जन को बोधगम्य शैली में हुआ है।

— देवेन्द्रमुनि शास्त्री

मू
मूल्य—बीस रुपये मात्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द प्रवचन

[अष्टम भाग]

प्रवचनकार

राष्ट्रसन्त आचार्यश्री आनन्द ऋषि

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक

श्रीरत्न जैन पुस्तकालय पाथर्डी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द प्रवचन : अष्टम भाग

प्रकाशक
श्रीरत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी, (अहमदनगर—महाराष्ट्र)

प्रथमबार :
अप्रैल १९७९
महावीर जयन्ती
वि० सं० २०३६

पृष्ठ ४१६
प्रथम संस्करण :

मुद्रक :
श्रीचन्द सुराना के लिए
मॉडर्न प्रिंटर्स
बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा-२

मूल्य—बीस रुपये मात्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी महाराज श्वे० स्था० जैन श्रमण संघ के द्वितीय आचार्य हैं, यह हम सबके लिए गौरव की बात है, हाँ, यह और भी अधिक उत्कर्ष का विषय है कि वे भारतीय विद्या (अध्यात्म) के गहन अभ्यासी तथा मर्मस्पर्शी विद्वान हैं। वे न्याय, दर्शन, तत्वज्ञान, व्याकरण तथा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं और साथ ही समन्वयशील प्रज्ञा और व्युत्पन्नप्रतिभा के धनी हैं। उनकी वाणी में अद्भुत ओज और माधुर्य है। शास्त्रों के गहन तम अध्ययन अनुशीलन से जन्य अनुभूति जब उनकी वाणी से अभिव्यक्त होती है तो श्रोता सुनते-सुनते भाव विभोर हो उठते हैं। उनके वचन, जीवन-निर्माण के मूल्यवान सूत्र हैं।

आचार्य प्रवर के प्रवचनों के संकलन की बलवती प्रेरणा विद्यारसिक श्री कुन्दन ऋषिजी महाराज ने हमें प्रदान की। बहुत वर्ष पूर्व जब आचार्यश्री का उत्तर भारत, देहली, पंजाब आदि प्रदेशों में विचरण हुआ, तब वहाँ की जनता ने भी आचार्य श्री के प्रवचन साहित्य की माँग की थी। जन भावना को विशेष ध्यान में रखकर श्री कुन्दन ऋषिजी महाराज के मार्गदर्शन में हमने आचार्यप्रवर के प्रवचनों के संकलन-संपादन-प्रकाशन की योजना बनाई और कार्य भी प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे अब तक 'आनन्द प्रवचन' नाम से सात भाग प्रकाश में आ चुके हैं।

यद्यपि आचार्य प्रवर के सभी प्रवचन महत्वपूर्ण तथा प्रेरणाप्रद होते हैं, फिर भी सबका संकलन-संपादन नहीं किया जा सका। कुछ तो सम्पादकों की सुविधा व कुछ स्थानीय व्यवस्था के कारण आचार्य प्रवर के लगभग ३००-४०० प्रवचनों का संकलन-संपादन ही अब तक हो सका है। जिनका सात भागों में प्रकाशन किया चुका है। इन सात भागों का संपादन प्रसिद्ध विदुषी धर्मशीला बहन कमला जैन 'जीजी' ने किया है। पाठकों ने सर्वत्र ही इन प्रवचनों को बहुत रुचि व भावनापूर्वक पढ़ा और अगले भागों की माँग की।

प्रस्तुत आठवें भाग में प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गौतम कुलक' पर दिये गये प्रवचन हैं। 'गौतम कुलक' जैन साहित्य का बहुत ही विचार-चिन्तन पूर्ण सामग्री से भरा सुन्दर ग्रन्थ है। इसका प्रत्येक चरण एक जीवन सूत्र है, अनुभूति और संभूति का भंडार है। ग्रन्थ परिमाण में बहुत ही छोटा है, सिर्फ इक्कीस गाथाओं का, किन्तु प्रत्येक गाथा के प्रत्येक चरण में गहनतम विचार सामग्री भरी हुई है। अगर एक-एक चरण पर चिन्तन-मनन किया जाये तो भी विशाल विचार साहित्य तैयार हो सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धेय आचार्य सम्राट ने अपने गहनतम अध्ययन-अनुभव के आधार पर इस ग्रन्थ के एक-एक सूत्र पर विविध दृष्टियों से चिन्तन-मनन-प्रत्यालोचन कर जीवन का नवनीत प्रस्तुत किया है। इन प्रवचनों में जहाँ चिन्तन की गहराई है, वहाँ जीवन जीने की सच्ची कला भी है। गौतम कुलक के इन प्रवचनों को हम लगभग तीन-चार भाग में क्रमशः प्रकाशित करेंगे। इनका संपादन यशस्वी साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना ने किया है। विद्वान् लेखक मुनिश्री नेमीचन्द जी महाराज का मार्गदर्शन भी समय-समय पर मिलता रहा है। हम उनके आभारी हैं। आशा है यह प्रवचन पुस्तक पाठकों को पसन्द आयेगी।

मन्त्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

जैन साहित्य भारतीय साहित्य की एक अनमोल निधि है। जैन मनीषियों का चिन्तन व्यापक और उदार रहा है। उन्होंने भाषावाद, प्रान्तवाद, जातिवाद, पंथवाद की संकीर्णता से ऊपर उठकर जन-जीवन के उत्कर्ष के लिए विविध भाषाओं में विविध विषयों पर साहित्य का सरस सृजन किया है। अध्यात्म, योग, तत्व-निरूपण, दर्शन, न्याय, काव्य-नाटक, इतिहास, पुराण, नीति, अर्थशास्त्र, व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, भूगोल-खगोल, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, मंत्र, तन्त्र, संगीत, रत्न परीक्षा, प्रभृति विषयों पर साधिकार लिखा है और खूब जमकर लिखा है। यदि भारतीय साहित्य में से जैन साहित्य को पृथक कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य प्राणरहित शरीर के सदृश परिज्ञात होगा।

जैन साहित्य मनीषियों ने विविध शैलियों में अनेक माध्यमों से अपने चिन्तन को अभिव्यक्ति दी है। उनमें एक शैली कुलक भी है। 'कुलक' साहित्य के नाम से भी जैन चिन्तकों ने बहुत कुछ लिखा है। दान, शील, तप, भाव, ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि अनेक जीवनोपयोगी विषयों पर पृथक-पृथक कुलकों का निर्माण किया है। मैंने अहमदाबाद, बम्बई, पूना, जालोर, खम्भात आदि में अवस्थित प्राचीन साहित्य भण्डारों में विविध विषयों पर 'कुलक' लिखे हुए देखे हैं पर इस समय विहार यात्रा में होने के कारण साधनाभाव से उन सभी कुलकों का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण प्रस्तुत नहीं कर पा रहा हूँ।

मैं जब बहुत ही छोटा था तब मुझे परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य ने 'गौतम कुलक' याद कराया था। मैंने उसी समय यह अनुभव किया कि इस ग्रन्थ में लेखक ने बहुत ही संक्षेप में विराट भावों को कम शब्दों में लिखकर न केवल अपनी प्रकृष्ट चिन्तन शील प्रतिभा का परिचय दिया है, बल्कि कुशल अभिव्यंजना का चमत्कार भी प्रदर्शित किया है।

गौतम कुलक वस्तुतः बहुत ही अद्भुत व अनूठा ग्रन्थ है। यह वामन की तरह आकार में लघु होने पर भी भावों की विराटता को लिए हुए है। एक-एक लघु सूक्ति और युक्ति को स्पष्ट करने के लिए सैकड़ों पृष्ठ सहज-रूप से लिखे जा सकते हैं। 'गौतम कुलक' के कुछ चिन्तन वाक्य तो बहुत ही मार्मिक और अनुभव से परिपूर्ण है। एक प्रकार से प्रत्येक पद स्वतन्त्र सूक्ति है, स्वतन्त्र जीवन सूत्र है और है विचार-मन्त्र।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परम आह्लाद है कि महामहिम आचार्य सम्राट राष्ट्र सन्त आनन्द ऋषिजी महाराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न पर मननीय प्रवचन प्रदान कर जन-जन का ध्यान इस ग्रन्थ रत्न की ओर केन्द्रित किया है। आचार्य प्रवर ने अपने 'जीवन की परख' नामक प्रथम प्रवचन में 'गौतम कुलक' ग्रन्थ के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार से विवेचन किया है। जो उनकी बहुश्रुतता का स्पष्ट प्रमाण है।

परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट को कौन नहीं जानता। साक्षर और निरक्षर, बुद्धिमान और बुद्धु, बालक और वृद्ध, युवक और युवतियाँ सभी उनके नाम से परिचित हैं। वे उनके अत्युज्ज्वल व्यक्तित्व और कृतित्व की प्रशंसा करते हुए अघाते नहीं हैं। वे श्रमण संघ के ही नहीं, अपितु स्थानकवासी जैन समाज के वरिष्ठ आचार्य हैं। उनके कुशल नेतृत्व में एक हजार से भी अधिक श्रमण और श्रमणियाँ ज्ञान-दर्शन चारित्र की आराधना कर रहे हैं। लाखों श्रावक और श्राविकाएँ श्रावकाचार की साधना कर अपने जीवन को चमका रहे हैं। वे श्रमणसंघ के द्वितीय पट्टधर हैं। उनका नाम ही आनन्द नहीं, अपितु उनका सुमधुर व्यवहार भी आनन्द की साक्षात् प्रतिमा है। उनका स्वयं का जीवन तो आनन्द स्वरूप है ही। आप जब कभी भी उनके पास जायेंगे तब उनके दार्शनिक चेहरे पर मधुर मुस्कान अठखेलियाँ करती हुई देखेंगे। वृद्धावस्था के कारण भले ही शरीर कुछ शिथिल हो गया हो किन्तु आत्म-तेज पहले से भी अधिक दीप्तिमान है। उनके निकट सम्पर्क में जो भी आता है वह आधि, व्याधि, उपाधि को भूलकर समाधि की सहज अनुभूति करने लगता है, यही कारण है कि उनके परिसर में रात-दिन दर्शनार्थियों का सतत जमघट बना रहता है। दर्शक अपने आपको उनके श्री चरणों में पाकर धन्य-धन्य अनुभव करने लगता है।

भारतीय साहित्य के किसी महान चिन्तक ने कहा है कि भगवान यदि कोई है तो आनन्द है। **आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्** (उपनिषद) मैंने जान लिया है, आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही परमात्म तत्व के दर्शन होते हैं। जब आत्मा परभाव से हटकर आत्म-स्वरूप में रमण करता है तो उसे अपार आनन्द प्राप्त होता है। सच्चा आनन्द कहीं बाहर नहीं हमारे अन्दर ही विद्यमान है। आचार्य सम्राट अपने प्रवचनों में, वार्तालाप में उसी आनन्द को प्राप्त करने की कुञ्जी बताते हैं। भूले-भटके जीवनराहियों का सच्चा पथप्रदर्शन करते हैं।

आचार्य सम्राट के प्रवचनों को सुनने का मुझे अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ हैं और उनके प्रवचन साहित्य को पढ़ने का सौभाग्य भी मुझे मिला है जिसके आधार से मैं यह साधिकार कह सकता हूँ कि आचार्य सम्राट एक सफल प्रवक्ता है। यों तो प्रत्येक मानव बोलता है, पर उसकी वाणी का दूसरों के मानस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पर आचार्य सम्राट् जब भी बोलना प्रारम्भ करते हैं तो श्रोता-गण मन्त्र मुग्ध हो जाते हैं। श्रोताओं का मन-मस्तिष्क उनकी सुमधुर भाव धारा में प्रवाहित होने लगता है। आचार्य प्रवर की वाणी में शान्त रस, करुण रस, हास्य रस, वीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रस की सहज अभिव्यक्ति होती है उसके लिए आपश्री को प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती यही कारण है कि लोग आपश्री को वाणी का जादूगर मानते हैं। आपश्री की वाणी में मक्खन की तरह मृदुता है, शहद की तरह मधुरता है, और मेघ की तरह गम्भीरता है। भावों की गंगा को धारण करने में भाषा का भागीरथ पूर्ण समर्थ है। आपश्री की वाणी में ओज है, तेज है और सामर्थ्य है।

आपश्री के प्रवचनों में जहाँ एक ओर महान आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र की तरह गहन आध्यात्मिक विवेचना है। आत्मा, परमात्मा की विशद चर्चा है तो दूसरी ओर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और अकलंक की तरह दार्शनिक रहस्यों का तर्कपूर्ण सही-सही समाधान है। स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नय, निक्षेप, सप्तभंगी का गहन किन्तु सुबोध विश्लेषण है। एक ओर आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र की तरह सर्व विचार समन्वय का उदात्त दृष्टिकोण प्राप्त होता है तो दूसरी ओर आनन्दघन, व कबीर की तरह फक्कड़पन और सहज निश्छलता दिखाई देती है। एक ओर आचार्य मानतुंग की तरह भक्ति की गंगा प्रवाहित हो रही है तो दूसरी ओर ज्ञान वाद की यमुना बह रही है। एक ओर आचार क्रान्ति का सूर्य चमक रहा है तो दूसरी ओर स्नेह की चारुचन्द्रिका छिटक रही है। एक ओर आध्यात्मिक चिन्तन की प्रखरता है तो दूसरी ओर सामाजिक समस्याओं का ज्वलंत समाधान है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार्य प्रवर के प्रवचनों में दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और साहित्यिकता सब कुछ है।

मेरे सामने आचार्य प्रवर के प्रवचनों का यह बहुत ही सुन्दर संग्रह है। गौतम कुलक पर उनके द्वारा दिये गये मननीय प्रवचन हैं। प्रवचन क्या है? चिन्तन और अनुभूति का सरस कोष है। विषय को स्पष्ट करने के लिए आगम, उपनिषद, गीता, महाभारत, कुरान, पुराण, तथा आधुनिक कवियों के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। वहाँ पर पाश्चात्य चिन्तक फिलिप्स जॉनसन, बेकन, कूले, साउथ, टालस्टाय, ईसामसीह, चेनिंग, बॉबी, पिटरसन, सेनेका, विलियम राल्फ इन्गे, हॉम, सेन्टमेथ्यु, जार्ज इलियट, शेली, पोप, सिसिल, कॉल्टन, शेक्सपियर, प्रभृति शताधिक व्यक्तियों के चिन्तन-सूत्र भी उद्धृत किये गये हैं। जिससे यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि आचार्य सम्राट का कितना गम्भीर व व्यापक अध्ययन है। पौराणिक, ऐतिहासिक रूपकों के अतिरिक्त अद्यतन व्यक्तियों के बोलते जीवन-चित्र भी इसमें दिये हैं। जो उनके गम्भीर व गहन विषय को स्फटिक की तरह स्पष्ट करते हैं। यह सत्य है कि जिसकी जितनी गहरी अनुभूति होगी उतनी ही सशक्त अभिव्यक्ति होगी। आचार्य प्रवर की अनुभूति गहरी है तो अभिव्यक्ति भी स्पष्ट है।

मैंने आचार्य प्रवर के प्रवचनों को पढ़ा है मुझे ऐसा अनुभव हुआ है कि प्रवचनों का सम्पादन भाव, भाषा और शैली सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट हुआ है। सम्पादन कला-मर्मज्ञ कलमकलाधर श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने अपनी सम्पादन कला

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का उत्कृष्ट रूप उपस्थित किया है। इन प्रवचनों को पढ़ते समय प्रबुद्ध पाठकों को ऐसा अनुभव होगा कि इन प्रवचनों में उपन्यास और कहानी साहित्य की तरह सरसता है, दार्शनिक ग्रन्थों की तरह गम्भीरता है। यदि एक शब्द में कह दिया जाय तो सरसता, सरलता और गम्भीरता का मधुर समन्वय हुआ है। ऐसे उत्कृष्ट साहित्य के लिए पाठक आचार्य प्रवर का सदा ऋणी रहेगा तो साथ ही सम्पादक के श्रम को भी विस्मृत नहीं हो सकेगा।

मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत आनन्द प्रवचनों के ये भाग सर्वत्र समादृत होंगे। इन्हें अधिक से अधिक जिज्ञासु पढ़कर अपने जीवन को चमकायेंगे।

जैन स्थानक
रायचूर (कर्नाटक)

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूल स्रोत

लुद्धा नरा अत्थपरा हवंति,
मूढा नरा कामपरा हवंति ।
बुद्धा नरा खंतिपरा हवंति,
मिस्सा नरा तिन्नि वि आयरंति ॥ १ ॥

लोभी होते अर्थ - परायण,
काम - परायण मानव मूढ ।
बुधजन क्षमा - परायण होते,
मिश्र, वृत्तियाँ तीनों गूढ ! ॥ १ ॥

ते पंडिया जे विरया विरोहे,
ते साहुणो जे समयं चरंति ।
ते सत्तिणो जे न चलति धम्मं,
ते बंधवा जे वसणे हवंति ॥ २ ॥

पंडित विरत विरोध से रहते,
वही साधु जो समताचार ।
सत्त्वशाली, धर्म - मार्ग स्थित,
विपद सहायक बंधु विचार ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोहाभिभूया न सुहं लहंति,
माणंसिणो सोयपरा हवंति ।
मायाविणो हुंति परस्स पेसा,
लुद्धा महिच्छा नरयं उविंति ॥ ३ ॥

क्रोधी कभी नहीं सुख पाता,
मानी रहता शोक - निमग्न ।
कपटी होते दास जगत के,
लुब्ध महेच्छुक नरक - निमग्न ॥ ३ ॥

कोहो विसं किं ? अमयं अहिंसा,
माणो अरी किं ? हियमप्पमाओ ।
माया भयं किं ? ॥ ४ ॥

विष क्या ? क्रोध, अमिय ? अहिंसा,
शत्रु कौन है ? मान ।
मित्र हितैषी, अप्रमाद है,
माया भय की खान ॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ
१. जीवन की परख	१
२. लोभी होते अर्थ-परायण	१६
३. होते मूढ नर काम-परायण	३६
४. बुधजन होते क्षान्ति-परायण	५८
५. धर्म नियन्त्रित अर्थ और काम	७८
६. पण्डित रहते विरोध से दूर	१०१
७. सज्जन होते समय-पारखी	१२५
८. सज्जनों का सिद्धान्तनिष्ठ जीवन	१५०
९. साधु-जीवन : समतायोगी	१७१
१०. सत्त्ववान् होते दृढ़धर्मी	१९०
११. बान्धव वे जो विपदा में साथी	२१३
१२. क्रोधीजन सुख नहीं पाते	२२९
१३. अभिमानी पछताते रहते	२४७
१४. कपटी होते पर के दास	२७०
१५. पाते नरक लुब्ध-लालची	२९०
१६. क्रोध से बढ़कर विष नहीं	३१२
१७. अहिंसा : अमृत की सरिता	३३१
१८. शत्रु बड़ा है अभिमान	३५०
१९. अप्रमाद : हितैषी मित्र	३७३
२०. माया भय की खान	३१२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१
जीवन की परख

बन्धुओ !

आज मैं आपके सामने मानव जीवन की परख के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करने का विचार लेकर आया हूँ। हमारी यह चर्चा काफी लम्बी होगी और कई दिनों तक चलेगी। मैं एक प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर इसकी चर्चा आपके समक्ष प्रस्तुत करना चाहता हूँ। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भारतीय संस्कृति और धर्म के बहुमूल्य रत्न भरे पड़े हैं। उनमें जीवन को अनुभव तथा विवेक बुद्धि से समृद्ध एवं प्रकाशित करने की अपूर्व क्षमता है। चाहिए उन रत्नों को ढूंढने और परखने वाला।

गौतमकुलक : एक परिचय

इस संक्षिप्त और सारगर्भित ग्रन्थ का नाम है—**गौतमकुलक**। **'गौतमकुलक'** नाम के पीछे क्या रहस्य छिपा है ? इसे पूर्ण-रूप से तो ज्ञानी महापुरुष ही बता सकते हैं। मैं अपनी अल्प मति से इसका तात्पर्य जहाँ तक समझ पाया हूँ, वह यह है कि गौतम नाम के महर्षि द्वारा रचित कुलक **'गौतमकुलक'** है। जैसा कि इस ग्रन्थ पर वार्तिककार कहते हैं—

"यद् गौतम ऋषिणा प्रोक्तं गौतमं कुलकं वरम्।
तस्य विस्तारतः कुर्वे वार्तिकं लोकभाषया॥"

—जो श्री गौतमऋषि ने श्रेष्ठ गौतम-कुलक नामक ग्रन्थ कहा है, उस पर मैं लोकभाषा में विस्तार से वार्तिक रच रहा हूँ।

इस ग्रन्थ के रचयिता श्री गौतमऋषि हैं, यह तो इस ग्रन्थ के नाम पर से स्पष्ट है। परन्तु श्री गौतमऋषि कौन थे ? उनका जन्म, दीक्षा, विचरण कहाँ हुआ था ? उन्होंने किस हेतु से और कब इस ग्रन्थ को लिखा है या धर्मसभा में श्रोताओं के समक्ष कहा है ? यह अज्ञात है। इतिहास इस विषय में मौन है। परन्तु ये गौतमऋषि श्रमणभगवान् महावीर के पट्टशिष्य गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम नहीं हो सकते, क्योंकि उनके समय में जैनमुनियों में किसी भी ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिपाटी नहीं थी। केवल श्रवण परम्परा से ही उनके उपदेश सुरक्षित रखे जाते थे। श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष बाद हमारे जैन शास्त्रों का लेखन-कार्य प्रारम्भ हुआ था। अगर श्री गणधरगौतम-स्वामी द्वारा रचित यह ग्रन्थरत्न होता तो अंगशास्त्रों में नहीं तो कम से कम उपांगशास्त्रों में इसकी गणना होती। मगर उपांगशास्त्रों में इसकी गणना हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ के रचयिता गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम तो नहीं हो सकते। किन्तु अन्य कोई श्री गौतमऋषि के नाम से श्रमणपरम्परा के कोई महाभाग मुनि इसके रचयिता रहे हैं।

'**इसिभासियाइं**' नाम का एक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध होता है, जिसमें श्रमण-संस्कृति की परम्परा के विभिन्न ऋषियों के वचनों का विविध विषयों पर सुन्दर संकलन है। सम्भव है, ये गौतमऋषि '**इसिभासियाइं**' के प्रवक्ता ऋषियों में से कोई एक प्रख्यात और परोपकारी ऋषि रहे हों; जिन्होंने अपने अनुभवपूर्ण बहुमूल्य वचनरत्नों को इस प्रकार के एक ग्रन्थरूपी हार में पिरोकर प्रस्तुत किये हों। जो भी हो, श्री गौतमऋषि श्रमणसंघीय परम्परा के एक महान् जीवन-पारखी श्रमण रहे हैं, जिन्होंने 'जीवन की परख' करने के लिए अपनी श्रमणसंस्कृति के अनुगामी कुल (श्रमणवर्ग और सद्गृहस्थवर्ग) के लिए उत्तम हित शिक्षाएँ दी हैं।

संस्कृत भाषा में 'कुलक' उसे कहते हैं जिसमें लगातार कई श्लोक एक दूसरे से सम्बन्धित हों। जहाँ एक श्लोक में रचयिता अपनी विवक्षित बात को पूरी नहीं कर सकता, वहाँ वह 'कुलक' का प्रयोग करता है, जो कई श्लोकों में जाकर पूर्ण होता है। इसलिए कुलक का संस्कृत छन्द की दृष्टि से स्पष्ट अर्थ हुआ—एक ही विषय का शृंखलाबद्ध श्लोकसमूह। महर्षि गौतम ने विश्व के विविध जीवनों को अपनी श्रमण परम्परा की नीति की कसौटी पर परख कर जिज्ञासुओं के समक्ष उनको सूत्ररूप में प्रस्तुत कर दिये हैं कि कौन-सा जीवन किस प्रकार का होता है? कौन-सा जीवन हेय, ज्ञेय और उपादेय है? बीस गाथाओं में आपने 'जीवन की परख' प्रस्तुत कर दी है। इन बीस गाथाओं की कड़ी एक दूसरी से जुड़ी हुई है, इसलिए इसे 'कुलक' नाम दे दिया गया है।

मैं एक दूसरी दृष्टि से 'कुलक' का रहस्य आपको समझाता हूँ। कुलक का एक अर्थ यह भी सम्भव है—'कुल-परम्परागत हित शिक्षाओं का पिटारा'। श्री गौतम ऋषि स्वयं श्रमण भगवान् महावीर की कुलपरम्परा के थे। श्रमण भगवान् महावीर के कुल की क्या नीतिरीति थी? उस कुल में किस प्रकार का जीवन हेय, ज्ञेय या उपादेय समझा जाता था? उस कुल में जीवन की परख किस प्रकार की जाती थी? इस प्रकार श्री गौतममहर्षि अपने कुल परम्परा के अनुगामियों को कुल की नीति-रीति अथवा कुल के आचार-विचार की याद दिलाएँ, उन्हें जीवन के विकट प्रसंगों में भी अपने कुल का स्मरण कराकर उसके आचार-व्यवहार का उपदेश दें, और इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार कुल को अपने उपदेशों की धरोहर दें, यह असम्भव नहीं है। अतः 'गौतम कुलक' का अर्थ हुआ—'महर्षि गौतम का श्रमण संस्कृति-मूलक कुल के लिए उस कुल के आचार-व्यवहार एवं नीति-रीति के सम्बन्ध में दिया गया उपदेश।"

कुल के संस्कारों एवं स्मरण का दूरगामी प्रभाव

गौतम-कुलक में कुल शब्द जोड़ने के पीछे एक बहुत बड़ा रहस्य यह भी हो सकता कि कुल की स्मृति में बहुत बड़ा चमत्कार है। कुलीन व्यक्ति अपने शिष्ट कुल की मर्यादा में रहता है। वह अपने कुल की परम्परा को, अगर वह देश, काल और पात्र की दृष्टि से हितकर हो तो कदापि छोड़ता नहीं। कुल के संस्कार जबर्दस्त होते हैं। आज तो लोग कुल के संस्कारों से प्रायः वंचित रखे जाते हैं। बचपन से उन्हें विदेशी वेषभूषा, भाषा और रहन-सहन से अभ्यस्त किया जाता है। उन्हें अंग्रेजी माध्यम वाले स्कूलों में पढ़ने भेजा जाता है। इससे वे शूटेड-बूटेड हो जाएँ और अपनी देशी पोशाक, भाषा और रहन-सहन को भूल जाते हैं। उन्हें अपनी मातृभाषा से कोई खास लगाव या रुचि नहीं रहती और न ही वे पढ़ना चाहते हैं। कुल के शुद्ध संस्कार भी धीरे-धीरे उन लड़के-लड़कियों मे लुप्त हो जाते हैं। परन्तु जिसमें कुल के शुद्ध संस्कार होते हैं, वह मनुष्य विदेश जाने पर भी और वहाँ की भाषा बोलने पर भी अपनी देशी वेशभूषा एवं भाषा को नहीं छोड़ता, और न ही कुल के संस्कारों को छोड़ता है।

महात्मा गांधी जब विदेश जाने का विचार करने लगे, तब जाति के पंचों ने आपत्ति उठाई कि वहाँ जाने पर कुल के संस्कार सुरक्षित नहीं रहते, अतः विदेश नहीं जा सकते। इस पर महात्मा गांधी की माँ पुतलीबाई ने कहा—"विदेश जाने में यदि कुल के संस्कारों की ही क्षति है तो इसका उपाय तो मैं कर दूंगी, मैं अपने पुत्र को तीन बातों की कठोर प्रतिज्ञा दिलाकर ही विलायत भेजूंगी, फिर तो जाति को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।" फलतः गांधीजी की मां उन्हें जैनमुनि श्री बेचरजी स्वामी के पास ले गईं और उनसे प्रार्थना की—मेरा बेटा विदेश जा रहा है, अतः इसे तीन प्रतिज्ञाएँ दिला दीजिए—(१) शराब न पीना, (२) मांसाहार न करना और (३) परस्त्री-सेवन न करना।" बेचरजी स्वामी ने महात्मा गांधी को तीन प्रतिज्ञाएँ दिला दीं। माताजी ने गांधीजी से कहा—"बेटा! अब तुम खुशी से विलायत जा सकते हो। अब मुझे अपने कुल के संस्कारों की सुरक्षा का पूरा भरोसा हो गया है।" और सचमुच महात्मा गांधी विदेश में इन तीनों प्रतिज्ञाओं की अनेक बार हुई परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। वे विदेश में भी अपनी भारतीय वेशभूषा में रहे।

वास्तव में कुल के आचार-विचारों की सुरक्षा के लिए नियमबद्धता की आवश्यकता है, वैसे कुल की स्मृति की भी आवश्यकता है। कुल की स्मृति में कितनी शक्ति है इसे एक उदाहरण द्वारा समझाता हूँ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वामी रामतीर्थ तुलसीदासजी के कुल में पैदा हुए थे। रामतीर्थ फारसी भाषा के विद्वान थे। किसी ने उनसे कहा—आप गोस्वामी तुलसीदास जी के कुल में पैदा हुए हैं, फिर भी आपको संस्कृत-भाषा नहीं आती, यह कैसा ?" रामतीर्थ के हृदय में यह वाक्य एकदम असर कर गया। उन्हें अपने कुल-गौरव की स्मृति प्रबल हो उठी। इसीसे प्रेरित होकर वे संस्कृत का अध्ययन करने लगे। कुल की स्मृति में कितनी प्रेरणाशक्ति भरी पड़ी है। इसका प्रत्यक्षीकरण तो हमें तब मालूम होता है जब ये माताएँ-बहनें भक्ति, व्रत, तप, उपवास, जप आदि अनुष्ठान कुल परम्परा से करती हैं। ये अपने बालकों में भी कुल के प्रत्येक सुसंस्कार का सिंचन करती रहती हैं। संस्कार सिंचन से नई पीढ़ी पवित्र और तेजस्वी होती है। वे जब कुलधर्म का स्मरण कराती हैं तो कुल के पवित्र आचार-विचार से भटकता हुआ मानव पुनः अपने कुलाचार में स्थिर हो जाता है।

कुल का और कुलधर्म का स्मरण कराने का सबसे ज्वलन्त उदाहरण राजीमती सती और मुनि रथनेमि का संवाद है। जिस समय सती राजीमती तीर्थंकर अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ साध्वी मंडली सहित रैवतक पर्वत पर जा रही थी, उस समय रास्ते में बहुत जोर से आँधी और वर्षा आ गई। साध्वियाँ तितर-बितर हो गईं। सती राजीमती अकेली रह गईं थीं। उनके कपड़े भींगकर लथपथ हो गए थे। सहसा उन्हें एक गुफा नजर आयी। उन्होंने सोचा—"इसमें थोड़ी देर विश्राम लेकर कपड़े सुखाना ठीक रहेगा।" वे अन्दर घुसीं। कपड़े उतारे और एक ओर सुखाने लगीं। उस गुफा में मुनिरथनेमि ध्यानस्थ थे। राजीमती को अंग पर से वस्त्र उतारते देख उसके अंगोपांगों का अवलोकन करने से रथनेमि का चित्त काम-विह्वल हो उठा। वे सहसा अपनी कुल मर्यादा भूलकर राजीमती से प्रार्थना करने लगे शुभे ! आओ, हम काम सुख का अनुभव करें। इस चढ़ते हुए यौवन को यों ही क्यों असफल बना रही हो ? बस, एक बार विषयभोग का आनन्द लूट लें, बाद में पुनः संयम लेकर मोक्ष पथ पर चल लेंगे।" रथनेमि का वचन सुनते ही राजीमती चौंकी और अंग-संकोच करके बैठ गई। वह समझ गई कि रथनेमि पर काम का मद सवार है। उसके काममद को उतारने के लिए सती राजीमती ने कुल का स्मरण कराते हुए रथनेमि से कहा—

पक्खंदे जलियं जोइं धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं कुलेजाया अगंधणे॥
धिरत्थु तेऽजसोकामी जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे॥
अहं च भोयरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर।

"धधकती हुई असह्य ज्वालाओं से युक्त अग्नि के कुण्ड में डाल देने पर भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अगन्धन कुल में जन्मे हुए जो सर्प होते हैं, वे वमन किये हुए विष को पुनः (खींचकर) कदापि ग्रहण करना नहीं चाहते; किन्तु हे अपयशकामी मुने ! तुम्हें धिक्कार है, कि तुम असंयम जीवन जीने के लिए वमन किये हुए काम-भोगों का पुनः आस्वादन करना चाहते हो। इससे तो तुम्हारा मरण अच्छा है। तुम्हें मालूम है कि मैं भोजराज के कुल की हूँ और तुम अंधक विष्णु के कुल के हो ! हम दोनों ही पवित्र उच्च कुल के हैं। क्या हम अपने कुल के पवित्र आचार-विचार को छोड़ देंगे ? हम कुलमर्यादा छोड़कर उस गन्धन कुल के सर्प जैसे नहीं बनेंगे। मुनिवर ! अपने कुल का और उसके पवित्र उच्च आचार-विचार का स्मरण करो, और शान्त होकर पुनः अपने संयम में विचरण करो।"

कितनी तीव्रता से सती राजीमती ने रथनेमि को पवित्र कुल की स्मृति दिलाई है ? परिणाम यह हुआ कि रथनेमि एकदम शान्त और संयम में स्थिर हो गए।

कुल के संस्कार मनुष्य में कहाँ तक काम करते हैं, इसके लिए महाभारत को उठाकर देखिये। जब पाँचों पाण्डव वनवास भोग रहे थे, उस समय एकदिन द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा—आपसे एक बात का समाधान चाहती हूँ, जब दुष्ट दुर्योधन को गन्धर्व ने कैद कर लिया था, तब आपने उसे छुड़ाने के लिए भीम और अर्जुन को क्यों भेजा था ?" इसके उत्तर में युधिष्ठर ने कहा—"देवि ! मैं जिस कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, उसी कुल के मनुष्य को, जिस वन में रहता हूँ, उसी वन में मार डाला जाव, यह मैं कैसे देख सकता हूँ ? तुम पीछे आई हो, लेकिन कुल के संस्कार तो मुझमें पहले से ही विद्यमान हैं। हम और कौरव आपस में भले ही लड़लें, मगर हमारे कुल का भाई दूसरे के हाथ से मार खाय, और हम चुपचाप बैठे देखते रहें, यह नहीं हो सकता।"

सच है, कुल के उत्तम संस्कारों का किया हुआ बीजारोपण मनुष्य को गलत कार्य करने से रोकता है, किन्तु अच्छे कार्य करने से रोकता नहीं बल्कि अधिकाधिक प्रोत्साहन देता है। कुल के उत्तम संस्कार पाया हुआ व्यक्ति विपत्ति आने पर भी कुलमर्यादा का त्याग नहीं करता। कदाचित कुल-धर्मपालन और बाह्य मर्यादा दोनों में विरोध हो तो वह कुल-धर्मपालन करके लाचारी से हुए बाह्य मर्यादा भंग का प्रायश्चित लेकर अपने धर्म में स्थिर रहता है।

महाभारत का ही एक प्रसंग है। पाण्डवों के राज्य में एक बार कुछ चोर किसी की गौएँ चुरा कर ले जाने लगे। वह गृहस्थ अर्जुन के पास शिकायत लेकर आया कि "हमारी गायों की रक्षा कीजिए, चोर गायें चुरा कर ले जा रहे हैं।" द्रौपदी पाँचों भाइयों की पत्नी थी। उससे विवाह करते समय पाण्डवों ने यह नियम बना लिया था कि जिस भाई की बारी होगी, उस समय द्रौपदी के महल में दूसरा नहीं जा सकेगा। अगर भूलवश जाएगा तो उसे बारह वर्ष का वनवास का दण्ड

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिलेगा। उस समय युधिष्ठिर की बारी थी। अर्जुन का बाण अन्दर महल में रखा हुआ था। वह थोड़ी देर तक तो दुविधा में रहा कि अगर बाण लेने अन्दर जाऊँ तो मर्यादाभंग हो जाएगी और अगर गोरक्षा न करूँ तो धर्मभंग होगा।" आखिर उसने निर्णय कर लिया कि विवशता से हुए मर्यादाभंग का जो दण्ड होगा, वह मुझे स्वीकार है, लेकिन कुल-धर्मभंग न करूँगा।' फलतः अर्जुन चुपके से द्रौपदी के महल में घुस कर बाण ले आया और चोरों से गायों की रक्षा की। बाद में उसने युधिष्ठर के सामने मर्यादा भंग का निवेदन करके दण्ड लेना स्वीकार किया। युधिष्ठर नहीं चाहते थे कि अर्जुन इस आपवादिक स्थिति में दण्ड ले। परन्तु कुलसंस्कारों से ओतप्रोत अर्जुन तो बारह वर्ष का वनवास स्वीकार कर चुका था। इस तरह अर्जुन ने वनवास स्वीकार किया, लेकिन कुल धर्मभंग न होने दिया।

यही कारण है कि गौतम ऋषि ने श्रमण परम्परा के अनुसार कुलों का जीवन निर्माण करने की दृष्टि से गौतमकुलक ग्रन्थ का निर्माण किया है। कुलों का जीवन निर्माण करने के लिए भी धर्मानुलक्षी कुछ नीति-सूत्रों की आवश्यकता रहती है, उसके बिना भी कुलों का व्यवस्थित ढंग से विचार और आचार की दृष्टि से निर्माण होना कठिन होता है। महाकुलों का जीवन निर्माण कैसे होता है, इस सम्बन्ध में मैं आपको महाभारत युग का एक उदाहरण देकर समझाना चाहता हूँ—

विदुर निःस्पृह नीतिज्ञ थे। एक बार विदुर ने युधिष्ठर से कहा—छल (असत्य) और बल से धन प्राप्त कर लेना सम्भव है, लेकिन महाकुलों के आचार से युक्त जीवन धन से प्राप्त नहीं किया जा सकता।" इस पर धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर! मैंने सुना है कि जो धर्म और अर्थ में बढ़े-चढ़े हैं, बहुत पढ़े-लिखे हैं, वे भी महाकुल की प्रशंसा करते हैं। मैं जानना चाहता हूँ कि महाकुलों का जीवन-निर्माण कैसे होता है?" विदुर ने कहा—'तप, दया, ब्रह्मज्ञान, यज्ञ, सदा अन्नदान, शुद्धविवाह, और सम्यक् आचार—इन सात गुणों से साधारण परिवार भी महाकुल बन जाते हैं। जो किसी भी प्रकार सदाचार का अतिक्रमण नहीं करते, जो विवाह सम्बन्ध ठीक प्रकार से करते हैं, जो जीवन में असत्य का मार्ग छोड़कर धर्म का आचरण करते हैं, जो अच्छे परोपकारी कार्य करके कुल के लिए विशिष्ट कीर्ति उपार्जन करने का प्रयत्न करते हैं, उनके कुल का निर्माण होने से वे महाकुल कहलाते हैं। जो आचार-विचार से हीन हैं, उन कुलों में कितना भी धन हो, वे प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकते; इसके विपरीत अल्पधन होने पर भी सदाचार ठीक होने से वे कुल यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और उनकी गणना महाकुलों में होती है।"

वास्तव में कुलों का निर्माण केवल छल-बल से धन प्राप्त कर लेने, प्रचुर साधन जुटा लेने, कार, कोठी और कञ्चन प्राप्त कर लेने से नहीं होता, उसके लिए धर्म-नीति-युक्त शुद्ध आचार-विचार और व्यवहार का होना अत्यावश्यक है। गौतम-कुलक कुलनिर्माण की बात कहता है। इसमें बताया गया है कि कुल निर्माण करने के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए किस प्रकार के जीवन त्याज्य हैं, किस प्रकार का जीवन ग्राह्य है ? एकान्त अर्थ और एकान्त काम से युक्त जीवन कितना विषम और दुःखद होता है तथा धर्ममय जीवन कितना शान्त, सुखद और सरस होता है ? कुलाचार की दृष्टि से जीवन निर्माण के लिए क्रोधादि चार कषाय, सप्तकुव्यसन, हिंसा आदि पाप, तथा कृपणता, दीनता, आदि अधर्म त्याज्य हैं, और क्षमा, नम्रता, सरलता और संतोष तथा अहिंसा आदि धर्म, उदारता सहानुभूति आदि नैतिक गुण आदि उपादेय हैं। विवेकी जीवन और मूर्ख जीवन, धार्मिकजीवन पापीजीवन, इत्यादि अनेकविध जीवनों को परखने के लिए गौतमकुलक में सुन्दर मार्ग निर्देश किया है। इसी प्रकार इसमें साधु जीवन और सद्गृहस्थ जीवन दोनों की विशेषताएँ भी बता दी हैं। गृहस्थ के लिए अपनी वर्तमान स्थिति में साधु-जीवन ज्ञेय तथा साधु के लिए गृहस्थ-जीवन हेय हैं। कुल मिलाकर गौतमकुलक में अनेकविध जीवनों को परखने का विवेक दे दिया है। पाश्चात्य विद्वान फिलिप्स ब्रुक्स के शब्दों में—

"Be such a man and live such a life that if every man were such as you, and every life a life like yours, this earth would be God's paradise."

ऐसे आदमी बनो और ऐसा जीवन जीओ, कि अगर प्रत्येक व्यक्ति तुम्हारे जैसा हो और तुम्हारे जीवन जैसा ही प्रत्येक व्यक्ति का जीवन हो, जिससे कि यह धरती परमदिव्य स्वर्ग बने।" गौतमकुलक इसी प्रकार का जीवन-सन्देश देता है कि तुम्हारा जीवन 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से ओत-प्रोत हो कि उसका अनुसरण करके हर व्यक्ति इस संसार में स्वर्ग का निर्माण कर सके।

जीवन-विद्या : सर्वविद्याओं का मूल

किसी व्यक्ति को मोटर मिल जाना कोई बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात तो है, उसे चलाने, संभालने और बिगड़ जाने पर सुधारने की कुशलता प्राप्त करना। अगर वह व्यक्ति मोटर चलाना नहीं जानता है तो या तो वह मोटर को उलटी-सीधी चलाकर उसकी मशीन तोड़ देगा, या कहीं वह दुर्घटनाग्रस्त करके अपने ही हाथ पैर आदि तोड़ लेगा। इसके विपरीत यदि उसे मोटर चलाना, सँभालना या सुधारना आता है, किन्तु उसके पास निजी मोटर नहीं है, तो भी वह ड्राइवर या मिस्त्री का धंधा करके अपना गुजारा चला सकता है।

मानव जीवन भी एक बहुमूल्य मोटर के समान है। इसकी विशेषता यह है कि इस जीवनरूपी मोटर को चलाने के लिए दूसरे किसी ड्राइवर को रखने से काम नहीं चलता, इसे चलाने के लिए तो स्वयं ड्राइवर बनना पड़ता है। सर्वप्रथम इस जीवन रूपी गाड़ी को भली-भांति परखने की जरूरत है कि यह गाड़ी कहीं टूटी-फूटी खराब या बिगड़ी हुई तो नहीं है कि रास्ते में ही धोखा दे दे ? यह जीवन गाड़ी ऐसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो नहीं है कि डीजल या पैट्रोल की तरह केवल अच्छा पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन, सुन्दर पेय, बढ़िया कपड़े, गहने और भी न जाने क्या-क्या शृंगार प्रसाधन के साधन वगैरह पदार्थ वह अपने शरीर में डाले ही डाले जायें ? या उस जीवनगाड़ी को तप, त्याग, इन्द्रिय संयम सेवा या परोपकार के कार्य करके बदले में थोड़ा-सा सात्त्विक आहार, पेय, वस्त्र आदि आवश्यक अनिवार्य वस्तु देकर चलाई जा सकती है। उसके पश्चात् यह देखना है कि वह जीवन रूपी गाड़ी को विधिपूर्वक चलाना जानता है या नहीं ? अगर इस बात के प्रति कोई व्यक्ति लापरवाह रहता है तो उसे लाभ के बदले हानि ही अधिक उठानी पड़ती है !

साथ ही यह जान लेना भी आवश्यक है कि यह जीवन क्यों और किसलिए मिला है ? इसका उपयोग किस प्रकार से किया जाये ? जैसे अनाड़ी आदमी के हाथ में मोटर दे दी जाये तो वह मोटर को भी हानि पहुँचायेगा, स्वयं को भी। इसी प्रकार अपना जीवन भी किसी अनाड़ी आदमी के हाथों में सौंप दिया जाए, कुगुरु को अपनी जीवन रूपी नैया सौंप दी जाए तो अधिकतर नुकसान उठाने की सम्भावना रहेगी। इसलिए एक कवि कहता है ?

"जीवन का क्या अर्थ यहाँ है, क्यों कंचन-सा तन पाया है ?
क्या तुम इसको समझ सके हो, क्यों नर भूतल पर आया है ?"

मनुष्य जीवन पा लेना एक बात है, इसके उपयोग को समझना और बात है। जिस प्रयोजन के लिए जीवन मिला है, उसी प्रयोजन में इसे लगाना ही जीवन की वास्तविक परख है। इस तथ्य को समझना और जीवन जीने की सही प्रक्रिया को जानना अत्यन्त आवश्यक है। यह न जान सका तो उससे भारी हानि उठाने की आशंका रहेगी। किसी ने बिजली की अंगीठी खरीद ली, लेकिन वह उसका प्रयोग करना नहीं जानता, बताइए, ऐसे व्यक्ति को कितनी हानि उठानी पड़ेगी ? वह अनाड़ी उसे अनाड़ीपन से काम में लाएगा तो दूध गर्म करने का लाभ उठाने के बजाय उसे प्राणों से हाथ धोने की आफत का सामना करना पड़ेगा। मनुष्य जीवन का भी ठीक प्रयोग करना नहीं आया तो, उसे लाभ के बदले हानि ही उठानी पड़ेगी।

कवि ठीक ही कह रहा है—

कीमती जीवन क्षणों को क्यों लुटाए जा रहा है ?
लाभ के बदले वृथा टोटा उठाए जा रहा है ?
ढेर रत्नों का बिना आभास शठ के हाथ आया,
फेंक दरिया में उसे आँसू बहाए जा रहा है।
जमीं है सरसब्ज अहा ! फुलवार इसमें खिल सकेगी।
खेद फूलों की जगह काँटे बिछाए जा रहा है।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सचमुच आज अधिकांश लोग जीवन के अर्थ को न समझकर अंधेरे में गोते खाए जा रहे हैं अगर वे जीवन का उपयोग, प्रयोग, प्रयोजन आदि जानते, उत्तम, मध्यम, अधम जीवन को परखना जानते तो इस प्रकार का घाटे का सौदा न करते। परन्तु अफसोस है कि वे जीवन का प्रयोजन Eat, drink and be marry' खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ ही समझते हैं। वे इन्द्रियों का मनमाना स्वच्छन्द उपयोग करके विविध प्रकार के व्यसनों में फँसकर जीवन को बर्बाद कर देते हैं कितना घाटे का सौदा है यह कि अनन्त पुण्य रूपी पूंजी के बदले मिले हुए बहुमूल्य मानव जीवन को यों ही विषय—कषायों में, प्रमाद में, असंयम में खोकर फिर पछताते हैं। परन्तु बाद में पछताने से क्या होता है ? पहले से ही सावधान होकर विवेकदृष्टि से रास्ता देख-परख कर चलना चाहिए। एक उर्दू का शायर कहता है—

हर एक को है जमाने में, जिंदगी मकसूद।
किसे खबर है कि मकसूदे-जिंदगी क्या है ?

मनुष्य जीवन को प्राप्त कर लेना बहुत बड़ा सुअवसर है, मगर इसका समुचित लाभ तभी मिल सकता है, जब जीवन जीने की विद्या आती हो। गौतम-कुलक जीवन विद्या सिखाने वाला ग्रन्थ है। यह बताता है कि मनुष्य अपना जीवन किस ढंग से बिताए ? क्या सोचे ? क्या खाए-पीए ? क्या कार्य करे ? इस संसार में कैसे रहे ? दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करे ? यदि यह विद्या आ गई तो समझ लो, सब कुछ आ गया। अगर यह जीवन-विद्या नहीं आई तो दूसरी सब विद्याएँ बेकार हैं, वे जीवन के लिए भारभूत हैं, दिमाग पर बोझ हैं। आज का विद्यार्थी साहित्य, कला, शिल्प, विज्ञान, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, वकालत, इंजीनियरी, डाक्टरी आदि लौकिक विद्याओं में पारंगत होकर आजीविका, पद और प्रतिष्ठा भी प्राप्त करता है, परन्तु यह तथ्य विस्मृत ही बना रहता है कि जीवन जीने की कला या विद्या भी सीखनी आवश्यक है। स्कूली-शिक्षा के साथ-साथ सबसे बड़ी आवश्यकता है, जीवन को सार्थक करने वाली उस जीवन-विद्या की, जो अनेक विचित्रताओं से भरे ऊबड़-खाबड़ जीवनपथ पर मनुष्य के चरण बढ़ाने में सहायता दे। संसार के अधिकांश महापुरुषों का अक्षर ज्ञान आज के अनेकों उच्च-शिक्षा सम्पन्न एम. ए., पी-एच. डी. डिग्रीधारी लोगों से कम ही था, लेकिन जीवन विद्या का पारस था उनके पास। इसलिए जिस क्षेत्र के ज्ञान से वे जीवन विद्या के पारस को छुआ देते उसी क्षेत्र का उनका ज्ञान स्वर्ण समान सम्यग्ज्ञान बन जाता।

मुझे एक रोचक उदाहरण याद आ रहा है—

एक प्रोफेसर साहब नौका में बैठकर नदी पार कर रहे थे। रास्ते में उन्होंने मल्लाह से पूछा—"तू भूगोल या इतिहास जानता है ?" मल्लाह बोला—ये मैंने तो क्या मेरे बाप-दादों ने भी नहीं पढ़े। मैं नहीं जानता—भूगोल या इतिहास किस चिड़िया का नाम है ?" प्रोफेसर साहब बोले—"तब तो तेरी पाव जिन्दगी यों ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गई। भला ये भी नहीं सीखे ! अच्छा क्या तू गणित जानता है ?" मल्लाह ने कहा—"गणित-वणित भी मुझे नहीं आता, मैं तो नाव चलाना जानता हूँ।" प्रोफेसर तन कर बोले—"वाह ! गणित भी नहीं सीखा ? तब तो तेरी आधी जिंदगी बेकार गई। भला यह भी कोई जीवन है ? अच्छा यह बता तू ज्योतिष जानता है ?" मल्लाह ने कहा—"साहब ! मैं तो नौका खेने के सिवाय और कोई विद्या नहीं सीखा।" प्रोफेसर सहाब शेखी बघारते हुए बोले—"बेवकूफ कहीं का, कुछ भी नहीं सीखा, तब तो तेरी पौन जिन्दगी ही निकम्मी गई।" यह बातचीत हो रही थी, इतने में तो नदी में जोर का तूफान आया। नौका डगमगाने लगी और डूबने को हो गई। मल्लाह ने बहुत कोशिश की नौका को बचाने की, पर सब व्यर्थ ! जो यात्री तैरना जानते थे, वे कूद पड़े और नदी पार कर गए। मल्लाह ने प्रोफेसर साहब से पूछा—"क्यों साहब ! आपको तैरना आता है ?" प्रोफेसर साहब ने कहा—"मुझे तैरना नहीं आता। इस पर मल्लाह ने कहा—प्रोफेसर साहब ! मेरी तो पौन जिन्दगी बेकार गई, परन्तु आपकी तो सारी ही जिन्दगी बेकार गई, आपकी अन्य विद्याएँ आज किस काम आईं ? अगर आप आज तैरने की विद्या जानते तो आपकी सभी विद्याएँ सुरक्षित एवं सार्थक होतीं।" यों कहकर मल्लाह नदी में कूद पड़ा और कुछ ही देर में नदी के किनारे पहुँच गया। प्रोफेसर साहब नदी में डूब गए।

जैसे प्रोफेसर तैरने की विद्या नहीं जानता था, इस कारण उसकी अन्य सब विद्याएँ व्यर्थ गईं, वैसे ही जिसने जीवन विद्या नहीं सीखी, उसकी अन्य सब विद्याएँ बेकार हैं। पैसे कमा लिए, धन का ढेर लगा लिया, बंगला बनवा लिया, फर्नीचर लगवा लिया, कार खरीद ली, इससे क्या सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त हो गई ? जीवन सफल हो गया ? नहीं, कदापि नहीं। वर्तमान समस्याओं, दुःख, संघर्ष, परेशानियाँ, अनुशासनहीनता, उलझनों, अशान्ति, शारीरिक, मानसिक पीड़ाओं आदि का मूल कारण खोजा जाए तो यही मिलेगा—जीवन विद्या का अभाव। अशिक्षित और अनपढ़ देहाती लोगों की अपेक्षा शिक्षितों एवं साक्षरों का जीवन अधिक क्लेशयुक्त एवं परेशानी भरा प्रतीत होता है। कारण है—जीवन विद्या का अभाव। 'जीवन कैसे जिया जाए ?' यही जानना महत्त्वपूर्ण है। इन्द्रियाँ मनुष्य जीवन के श्रेष्ठ उपकरण हैं। इनका सदुपयोग करके अपनी सर्वतोमुखी प्रगति का पथ प्रशस्त किया जा सकता है। मन की शक्ति का तो कहना ही क्या ? उसे जिस कार्य में तत्परता-पूर्वक लगा दिया जाए, उसी में चमत्कार पैदा कर देता है। मनुष्य जीवन में बौद्धिक शक्ति, समय की सम्पदा, श्रम रूपी धन आदि एक से एक बढ़कर न्यायतें हैं कि मनुष्य इनसे अभीष्ट नैतिक सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मानव-जीवन में आन्तरिक विभूतियाँ भी इतनी हैं कि मनुष्य उनके सदुपयोग और प्रयोग द्वारा आध्यात्मिक-शक्ति बढ़ा कर एक दिन सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बन सकता है। यदि जीवन की कला और विद्या का समुचित ज्ञान होता तो आनन्द और उल्लास भरा जीवन होता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन एक : दृष्टि बिन्दु भिन्न-भिन्न

मनुष्य का जीवन सबसे उत्कृष्ट जीवन है, परमात्मा के निकट पहुँचाने वाला, तथा आत्मा को अत्यन्त विशुद्ध बनाकर स्वयं सिद्ध, बुद्ध मुक्त बन जाने वाला जीवन है। भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट 'एगे आया' के दृष्टिकोण से सारे संसार का जीवन एक समान आत्मा को लेकर चल रहा है। परन्तु देखने का, समझने का, एवं परखने का दृष्टिबिन्दु भिन्न-भिन्न होने से व्यक्ति जीवन को ठीक तरह से समझ नहीं पाता। मैं आपको इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझाता हूँ—

एक धनिक ने शहर से बाहर एक मकान इस विचार से बनवाया कि बाहर खुली व शुद्ध हवा मिलेगी, सबका स्वास्थ्य ठीक रहेगा। एक दिन उस मकान के पास से एक चोर गुजरा। उसने सोचा कि चोरी करने जाते समय यह मकान मेरे लिए अच्छा आश्रम बनेगा। साथ ही इसमें चोरी करने में भी आसानी रहेगी, क्योंकि यह गाँव के बाहर एकान्त में बना हुआ है। यह थी चोर की भावना। दूसरे दिन वहाँ से एक जुआरी निकला। उसने सोचा—"जुआ खेलने के लिए यह बिलकुल एकान्त स्थान है। पुलिस आदि को यहाँ आने का अवसर नहीं मिलेगा!" तीसरे दिन एक परस्त्रीगामी लम्पट वहाँ से होकर जा रहा था। उसने इस मकान को देखकर सोचा—"आनन्द भोग करने के लिए यह बहुत ही उपयुक्त स्थान है।" इसके पश्चात् एक दिन एक भगवान् का भक्त वहाँ से गुजरा। उसने मकान को देखा तो क्षणभर ठहर कर विचार करने लगा—"ध्यान में बैठने और भगवद्भजन करने के लिए यह अच्छा एकान्त शान्त स्थान है। यहाँ बैठकर ध्यान, भजन करने में मन भी खूब लगेगा। किसी प्रकार का कोलाहल न होने के कारण चित्त की एकाग्रता व तन्मयता में कोई बाधा नहीं पड़ेगी।"

मकान एक है, परन्तु दृष्टि और भावना भिन्न-भिन्न प्रकार की है। इसलिए विभिन्न भावना वाले अपने-अपने दृष्टिबिन्दु और विचार से मकान को देखते हैं। आँखों में फर्क नहीं है, आँखें तो उस मकान की रचना को, जैसा वह बना है, उसी रूप में ही देखती हैं। मकान की आकृति, बाह्य ढाँचा, लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, रंगाई-पोताई सब को एक सरीखी ही दिखाई देती है, परन्तु फर्क है—उस मकान के उपयोग एवं मकान के यथार्थ उद्देश्य को देखने और सोचने के दृष्टिकोण में। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन शरीर के बाह्य ढाँचे, अंगोपाँगों की रचना, यथास्थान अवयवों की व्यवस्था, विभिन्न इन्द्रियों से कार्य करने की क्षमता आदि स्थूल दृष्टि से प्रायः एक-सी दिखाई देती है, परन्तु मानव-जीवन का जो आन्तरिक रूप है, उसका जो उद्देश्य है या जो उपयोग सम्भव है, उसे देखने-परखने और सोचने के दृष्टिकोण में फर्क है। और यही फर्क मनुष्य-जीवन का सही मूल्यांकन करने में रुकावट डालता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन को यथार्थ रूप में समझो

अगर जीवन को ठीक ढंग से यथार्थ रूप में देखने-परखने की शक्ति आ जाए, विवेक दृष्टि खुल जाए तो मनुष्य जीवन का यथार्थ मूल्यांकन करके उसके निश्चित स्वरूप में मनुष्य स्थिर हो सकता है, उसके वास्तविक उद्देश्य को सिद्ध करने में लग सकता है, हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक करके यथायोग्य न्याय दे सकता है, जीवन का यथार्थ उपयोग कर सकता है।

पाश्चात्य विचारक जॉनसन ठीक कहता है—"Life, like every other blessing, derives its value from its use alone. Not for itself, but for a nabler end the eternal gave it and that end is virtue."

"जिन्दगी दूसरी तमाम देनों की तरह एक देन है। इसका मूल्य मनुष्य स्वयं इसका सुन्दर उपयोग करके बढ़ाता है। जीवन अपने आप के लिए नहीं, परन्तु शानदार परिणाम लाने के लिए शाश्वत आत्मा ने दिया है, और जीवन का वह शानदार अन्त ही उसका मूल्य है।"

जीवन के सम्राट बनो, गुलाम नहीं

मूल बात मानव-जीवन को ठीक रूप से समझने, परखने और यथार्थरूप से उसका उपयोग करने की है। हमारा जीवन आत्मा के केन्द्र पर स्थित है। अगर आत्मा है तो यह जीवन-जीवन है, अगर आत्मा नहीं है तो केवल शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, हृदय आदि के रूप में जीवन कुछ नहीं है। उस जीवन का कोई अस्तित्व नहीं है, जिसमें शरीर, मन, बुद्धि आदि तो हों लेकिन आत्मा न हो। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा सूर्य की तरह एक प्रकाशमान तत्त्व है, जिसके चारों ओर शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि ग्रहों की तरह घूमते हैं। इसी आत्मा का प्रकाश शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि पर पड़ रहा है, दूसरे जो तत्व हैं, उन पर भी। देखना तो यह है कि आत्मा अपने आप में ठीक प्रकाशमान है या नहीं, अपनी शुद्ध स्थिति में है या नहीं? जब आत्मा प्रमादवश अपने पर शरीर आदि पदार्थों को हावी होने देता है, तब शरीर आदि उसके सेवक नहीं, मालिक-से बन बैठते हैं। वे आत्मा का हुक्म नहीं मानते, आत्मा ही उनका गुलाम बन बैठता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—

असंखयं जीवियं मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते,
किण्णू विहिंसा अजया गहिंति॥

मनुष्यो! तुम्हारा यह जीवन असंस्कृत है। एक दिन आत्मा का प्रकाश हटते ही यह समाप्त हो जाने वाला है। इसलिए प्रमाद मत करो। इसे समझने का प्रयत्न करो, इसका सदुपयोग करने का पुरुषार्थ करो, अन्यथा, तन के साथ ही मन का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बुढ़ापा आ गया तो फिर इस जीवन की रक्षा नहीं हो सकेगी। ऐसा समझ कर भी जो असावधान या प्रमादी बनकर हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता है, अपने जीवन का यथार्थ उद्देश्य समझ कर उसे सम्यक्‌रूप से बिताने का पुरुषार्थ नहीं करता, वह बेचारा कैसे जीवन का शुद्ध रूप पा सकता है ?

बहुत-से लोग कहा करते हैं—हम जीवन के यथार्थ उद्देश्य के अनुसार चलना तो चाहते हैं, पर शरीर साथ नहीं देता। कुछ लोग इन्द्रियों की शिकायत लेकर आते हैं कि आँख नहीं मानती, कान हमारे वश में नहीं रहता, जीभ हमारे काबू में नहीं है, हाथ-पैर हमारे कहे अनुसार नहीं चलते। अधिकांश लोगों की यह शिकायत रहती है कि तप, जप, नियम, व्रत, साधना आदि करने को बहुत ही जी करता है, पर क्या करें, हमारा मन इधर-उधर दौड़ता रहता है। वह संयम में नहीं रहता है। उसे इनमें लगाएँ तो लगता नहीं है। चंचल होकर विषयों या कषायों में भागदौड़ करता रहता है। यही सबसे बड़ी मुसीबत है। यही तो जीवन की सबसे बड़ी कमजोरी है कि शरीर, मन, हृदय, इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि सब आपकी आज्ञा में नहीं चलते, उलटे ये आपको अपनी आज्ञा में चलाना चाहते हैं। इसका मतलब है—आप अपने जीवन के सम्राट नहीं हैं। आप पर इनका आधिपत्य है। आपको अपने जीवन का सम्राट बना दिया गया है, किन्तु आप सम्राट बन जाने पर भी इन सबसे डरते हैं। आप अपने गुलामों से, अपने परिचारकों से डरकर, दब कर चलते हैं। ऐसी स्थिति में आप सोचिए कि किस मूल्य पर आप अपने जीवन में आनन्द से रहना चाहते हैं ? क्या बाह्य पदार्थों या शरीर आदि के गुलाम बनकर आप जीवन का सच्चा सुख प्राप्त कर सकते हैं या इनको अपनी अधीनता में रखकर ? बस, यही विवेक आपको गौतम-कुलक ग्रन्थ के माध्यम से करना है। अगर आप अपने जीवन के शाहंशाह हैं तो आपको जीवन का सच्चा आनन्द आना चाहिए, अन्यथा, आप जीवन के शाहंशाह होते हुए भी इनके गुलाम-से रहते हैं तो आनन्द कैसे आएगा ?

एक भिखारी था। इधर-उधर गलियों में भीख माँगता फिरता था। एक दिन उसका भाग्य चमका। एक राजा की मृत्यु हो जाने के बाद उसे वहाँ का राजा बना दिया गया। भिखारी राजा बन गया। उसे सोने के सिंहासन पर भी बिठा दिया गया। उसके सिर पर रत्नजटित मुकुट भी पहना दिया गया और छत्र-चंवर भी ढुलने लगे। लोग उसकी जय-जयकार भी करने लगे। लेकिन भिखारी अपने पूर्व-संस्कारों को समाप्त नहीं कर सका था, इसलिए राजा बन जाने पर भी उसके मन में से भिखारीपन नहीं गया इसलिए उसे राजा बनने का आनन्द प्राप्त नहीं हुआ। जब मन्त्री आया तो उसके हृदय की धड़कन बढ़ गई। भिखारी राजा मन ही मन डर रहा है कि यह मुझे कुछ कह न दे। अपमानित होने का डर उसे सता रहा था। किसी-किसी मामले में उसे भी कुछ परामर्श देने की इच्छा तो होती थी; मगर कुछ कह नहीं सकता। एक बार कुछ साहस बटोरकर कुछ कहा भी सही, लेकिन मंत्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हंसा और कह बैठा—"आपको किसी बात का कुछ पता तो है नहीं, यों ही बीच में टांग अड़ाते हैं। आप तो चुपचाप बैठे देखते रहें। हम लोग सब काम निपटा लेंगे।

सेनाध्यक्ष आया, शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर। तभी भिखारी काँपने लगता है। उसकी दैत्याकृति देखकर सोचता है कि कहीं इसे कुछ कहा तो मेरी पूजा कर देगा।

नगर के प्रतिष्ठित नागरिक, सेठ-साहूकार और विद्वान आते हैं, उससे मिलने के लिए, तब भी वह चुपचाप टुकुर-टुकुर उनकी ओर देखता रहता है। वे सब भिखारी-राजा की ओर देखकर मुस्कराते हैं, कानाफूसी करते हैं, मजाक उड़ाते हैं। बेचारा भिखारी राजा सोचता है—भिखारी जीवन में तो अपमान बर्दाश्त किया जा सकता था, पर अब राजा के पद पर आसीन होने के बाद भी इस प्रकार का अपमान कैसे सहा जा सकता है? इससे तो भिखारी जीवन अच्छा था, राजा बन जाने पर भी अपमान मिले, यह असह्य है। पर वह किसी को कुछ कह या कुछ भी कर नहीं सकता। बेचारा मन मसोस कर अपमान की कड़वी घूंट पीकर रह जाता है।

और तो और, साधारण पहरेदार और चपरासी भी जब भिखारी-राजा के पास से होकर निकलते हैं लेकिन उसका सम्मान नहीं करते। वह यह सब देखकर मन ही मन कुढ़ता है, जलता है और वेदना महसूस करता है।

'ऐसी स्थिति में, अगर आप में से किसी को राजा बनने के लिए कहा जाए और यह बताया जाए कि आपको सोने के सिंहासन पर बिठाया जाएगा, मुकुट आपके सिर पर रखा जाएगा, आप पर छत्र-चँवर भी डुलाए जायेंगे, आपकी जय भी बोली जाएगी, लेकिन कोई भी आपकी किसी भी बात को नहीं मानेगा। आपको चुपचाप बैठे सब कार्यवाही देखनी होगी। सब आपकी हंसी मजाक करेंगे, खिल्ली उड़ाएँगे, कानाफूसी करेंगे; तो क्या आप ऐसा राजा बनना पसंद करेंगे?

मैं समझता हूँ आप में से कोई ऐसा राजा बनना नहीं चाहेगा। जिस जीवन में धन-वैभव हो, राजचिह्न और राजसी ठाट-बाट भी हो, लेकिन राजसत्ता, राजाज्ञा बिलकुल न चले, बल्कि चुपचाप बैठे देखते रहना पड़े; राजकर्मचारियों और अधिकारियों में से कोई भी राजा की बात मानने को तैयार न हो, वैसा जीवन या वैसा पद कोई भी समझदार व्यक्ति स्वीकार करने को तैयार न होगा। क्या मानव-जीवन की शान को सोने-चाँदी से, वैभव और ठाट-बाट से तोला जा सकता है? मानवजीवन का महत्व सोने-चाँदी एवं भौतिक पदों में नहीं है। सोने के सिंहासनों और महलों से ऊपर इस जीवन की शान रहती है। जब तक इस जीवन की शान नहीं पा जाए तब तक कौन ऐसा बुद्धू होगा, जो केवल ऊपरी ठाट-बाट और वैभव से लुभायमान होगा?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मानव जीवन के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। आप भी अपने जीवन के सम्राट हैं। आप आत्मा हैं। आत्मा रूपी सम्राट को यह सारा दायित्व मिला है। आपकी सेवा के लिए मन, बुद्धि, हृदय, इन्द्रियाँ, हाथ-पैर आदि अंगोपांग मिले हैं। परन्तु आप अपने जीवन का साम्राज्य पाकर भी उसका संचालन न कर सकें, उस जीवन को समझें नहीं, उसका उपयोग कैसे किया जाए, इसे भली-भाँति जाने नहीं, मन, बुद्धि आदि जो सेवक आपकी सेवा में तैनात हैं, उनसे डरते-डरते रहें, वे आपकी खिल्ली उड़ायें, आपकी बात माने नहीं; आप मन को अध्ययन मनन, ध्यान, जप में लगाना चाहते हैं, लेकिन वह लगता नहीं, इन्द्रियों को आप अपनी सेवा में लगाना चाहते हैं, लेकिन वे भी आपकी बात सुनी-अनसुनी करके विषयों की ओर दौड़ने लगती है, ऐसी स्थिति में भला बताइये आपकी दशा भी उस भिखारी राजा की-सी-नहीं हो रही हैं? भिखारी राजा भी सबसे डरता-कांपता था, क्योंकि उसमें भिखारीवृत्ति गई नहीं थी, राजा पद पर पहुँचने के बाद भी वह अपने जीवन की उच्चता को समझा नहीं था, उसका उपयोग भी भलीभाँति जानता न था। इसलिए उसके जीवन में राजा का जीवन पाने का कोई आनन्द नहीं था, बल्कि दुःख था। इसीप्रकार आप भी अगर इन मन, शरीर, इन्द्रिय आदि से दबते-डरते हैं, वे आपकी बात नहीं मानते हैं तो समझना चाहिए कि आप भी अपनी पूर्वजीवन की गुलामी वृत्ति को नहीं छोड़ सके हैं। ऐसी स्थिति में कहना पड़ेगा कि आप जीवन के वास्तविक सम्राट नहीं हैं।

गहराई से विचार करने पर पता चलता है कि जो अपने आपको भूल जाता है, अपने आपको भलीभाँति जानता-परखता नहीं है, उसे दुनिया भी कुछ नहीं समझती। वह जब अपने जीवन का अर्थ, रहस्य, उपयोग आदि भली-भाँति समझ लेता है, तब कोई कारण नहीं कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि उसकी अवगणना करें, उसकी आज्ञा का उल्लंघन करें या उसे गुलाम बनायें।

अज्ञानी की तरह दुनियादारी में फँसकर मत जीओ

परन्तु इस देवदुर्लभ मानव-जीवन का इतना सुन्दर मूल्यांकन किये जाने और उसके यथार्थ उपयोग के सम्बन्ध में मार्गदर्शन दिये जाने पर भी मनुष्य जब अर्थ-परायण, कामपरायण, धर्मपरायण, कषायपरायण, व्यसनपरायण, विषयपरायण आदि विभिन्न स्तर के जीवनों को अपनी आँखों से इस दुनिया में देखता है तो वह चकाचौंध में पड़ जाता है, कुछ भी निर्णय नहीं कर सकता कि इनमें से कौन-सा जीवन प्रशस्त है? कौन-सा जीवन जीने से यहाँ भी सुखशान्ति मिलेगी और अगले जन्म में भी। तथा मोक्ष के लक्ष्य की ओर ले जाने वाला जीवन कौन-सा है? क्योंकि इन सभी जीवन जीने वालों में बाहर से तो कोई कम, कोई ज्यादा सुखी नजर आता है। इसीलिए गौतमकुलक में इन विविध प्रकार के जीवन जीने वालों की परख दे दी है। परन्तु इसको नजर-अंदाज कर देने का परिणाम यह होता है कि मनुष्य-जीवन पाकर भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह दुनियादारी के झमेले में पड़ जाता है, उसे पता ही नहीं लगता कि कब और क्यों मुझे मनुष्य जीवन मिला तथा कब और कैसे वह बीत गया ? एक रोचक पौराणिक दृष्टान्त मुझे याद आ रहा है—

मर्त्यलोक में गधा, कुत्ता, बन्दर और मनुष्य रहते थे। वे चारों घनिष्ठ मित्र थे। भगवान ने उन चारों को ३०-३० वर्ष की उम्र दे दी। मनुष्य ने सबसे पहले गधे से पूछा—क्यों भाई ! तेरी उम्र तो ठीक है न ?" गधा बोला—मैं ३० वर्ष तक बोझ लाद-लाद कर मर जाऊँगा।" कुत्ते से पूछा तो वह भी कहने लगा—तीस वर्ष तक मुझे कौन खाना देगा ? जिसके यहाँ भी जाऊँगा, मुझे डण्डा मार कर भगा देगा।" बंदर से उम्र का हाल पूछा तो वह भी कहने लगा—३० वर्ष तक लोग मुझे डंडे पत्थर मार-मार कर मेरी जान निकाल देंगे।" तीनों की बात सुनकर मनुष्य बोला—मुझे तो बहुत ही कम उम्र मिली है ! तीस वर्ष मेरे लाड़-प्यार में तथा पढ़ने-लिखने में ही समाप्त हो जाएँगे।" चारों ने मिलकर भगवान के पास अपनी-अपनी शिकायत ले जाने का निश्चय किया। चारों ने भगवान् के पास जाकर हल्ला मचाना शुरू किया। भगवान् ने पूछा—'क्या बात है ?' गधा, कुत्ता, और बंदर तीनों ने एक स्वर से कहा—"भगवान् ! हमारी उम्र तो बहुत अधिक है। हम तीनों की उम्र में से २०-२० वर्ष काट कर मनुष्य को दे दीजिए।" मनुष्य ने कहा, मेरी उम्र तो बहुत ही कम है, मुझे अधिक उम्र चाहिए।" भगवान् ने तंग होकर गधे, कुत्ते और बंदर के २०-२० वर्ष मनुष्य को दे दिये। मनुष्य खुशी से फूला नहीं समाया। कहते हैं, तब से मनुष्य प्रारम्भ के ३० वर्ष तक मनुष्य का जीवन बिताता है। खाना-पीना, पढ़ना-लिखना भी इस उम्र तक प्रायः माँ-बाप के सहारे जीता है। ३० पूरे करते ही वह नौकरी करने लग जाता है, या किसी धंधे में प्रवृत्त हो जाता है। इस समय में मनुष्य गधे का सा जीवन बिताता है। गधा जिस तरह बोझ ढोता है और मालिक का पेट भरता है, वैसे ही मनुष्य भी अत्यन्त परिश्रम करके कमाकर लाता है और अपने बीवी-बच्चों का पेट पालता है। इसके पश्चात् मनुष्य नौकरी या व्यवसाय करता हुआ थक जाता है, रिटायर्ड हो जाता है, तब गधे का-सा जीवन समाप्त करके कुक्कुर जीवन में प्रवेश करता है। कुत्ता जैसे घर का पहरा देता है, वैसे ही निवृत मानव अब कुत्ते की तरह एक जगह बैठा-बैठा घर का पहरा देता है। मनुष्य के बहू-बेटे उसके लिए दरवाजे में खाट बिछा देते हैं, वहीं पर बैठकर वह घर की रखवाली करता है। कुत्ते का-सा जीवन समाप्त करने के बाद वह बन्दर के-से जीवन में आता है। उसकी सूरत-शक्ल भी बंदर की-सी हो जाती है। जिस तरह बंदर को छोटे बच्चे तंग करते हैं, उसी तरह मनुष्य को भी इस उम्र में तंग करते हैं। कहना होगा कि मनुष्य अपनी विवेक बुद्धि को तिलांजलि देकर जीवन को कमाने-खाने, मौज उड़ाने और अपने परिवार की मोहमाया में फँस कर बिता देता है। जीवन का सदुपयोग कैसे किया जाय ? इससे अनभिज्ञ रहता है। इसलिए मनुष्य-जीवन, गर्दभ-जीवन,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुक्कुर-जीवन, और वानर-जीवन, इन चार विभागों में विभक्त होकर अज्ञानी मनुष्य अपना जीवन समाप्त कर देता है ।

एक साधना निष्ठ कवि ने इसी प्रश्न को उठाया है—

यह दुनिया है, यहाँ जीवन बिताना किसको आता है।
हजारों जन्म लेते हैं बनाना किसको आता है?
कमाने के लिए सारे खूब ही दौड़ करते हैं।
तुम्ही कहदो सही, धन का कमाना किसको आता है?
लगाते हैं मधुर प्रीति, क्षणिक दो चार रोजों की।
मगर सच्ची मुहब्बत का लगाना किसको आता है?

इसीलिए सेंटमेथ्यु ने लिखा है—जीवन का द्वार तो सीधा है, पर मार्ग संकीर्ण है।"

जीवन, एक यात्रा : पाथेय की आवश्यकता

मनुष्य का जीवन क्या है? इस सम्बन्ध में एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है—

"Life is a journey, not a home! a rood, not a city of habitation, and the enjoyments and blessings we have are but little inns on the roadside of life, where we may be refreshed for a moment, that we may with new strength press on to the end."

"जीवन एक यात्रा है, वह कोई घर नहीं, सड़क नहीं, और न ही बसने के लिए नगर है। और इस जीवन यात्रा में जो आमोद-प्रमोद और देन हम पाते हैं, वे तो जीवन की छोटी-छोटी पथिकशालाएँ हैं, जो सड़क की बाजू में पड़ती हैं, जहाँ हम क्षण भर सुस्ता कर ताजगी लेते हैं, ताकि तरोताजा होकर हम फिर से नई शक्ति और स्फूर्ति के साथ अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकें।"

कितना सुन्दर विचार है, जीवन को समझने के लिए। परन्तु हमारी जीवन-यात्रा काफी लम्बी है, उसे तय करने के लिए पाथेय की आवश्यकता रहती है। बिना पाथेय के यात्रा करने वाला पथिक रास्तों में भूख-प्यास से घबरा जाता है, वैसे ही जीवन यात्री भी रास्ते में सुविचारों और सुसंस्कारों का पाथेय लेकर न चले तो उसे परेशानी उठानी पड़ सकती है, वह भटक भी सकता है, इधर-उधर। उत्तराध्ययन सूत्र भी इस बात का साक्षी है—

अद्धाणं जो महंतं तु अपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो दुही होइ छुहातण्हाए पीडिओ॥ १९/१९॥

जो साधनापथिक जीवन की इस लम्बी यात्रा में बहुत लम्बे महान् मार्ग पर बिना पाथेय के चलता है, वह रास्ते में ही भूख-प्यास से पीड़ित होकर दुःखी हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसका मतलब है—जीवनयात्री को अपने साथ इस जीवन की और अगले जीवनों की लम्बी यात्रा के लिए सुविचारों और सुसंस्कारों का पाथेय लेना अत्यावश्यक है। गौतमकुलक जीवन यात्रा में पाथेय का काम करता है। आप इस पाथेय को लेकर अपनी जीवन यात्रा करेंगे तो कहीं भी कष्ट नहीं पाएँगे; जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को शीघ्र ही सुलझा सकेंगे।

आशा है, आप गौतमकुलक के पाथेय को लेकर अपने जीवन को समझते, परखते और आगे का पथ तय करते हुए आगे बढ़ते जाएँगे, बढ़ते ही जाएँगे, और एक दिन अन्तिम लक्ष्य को पा लेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२

लोभी होते अर्थपरायण

धर्मप्रेमी बन्धुओ ! कल मैं आपके सामने गौतमकुलक की पृष्ठभूमि और उस ग्रन्थ से जीवन की परख के बारे में कह गया था। गौतमकुलक में जीवन की परख के लिए पहला सूत्र दिया है—

'लुद्धा नरा अत्थपरा हवन्ति'

लोभी नर अर्थपरायण होते हैं। इसका आशय यह है कि लोभी व्यक्तियों का जीवन सदा अर्थ के पीछे लगा रहता है।

इस संसार में अनेक प्रकृति के मानव होते हैं। कोई लोभी होता है तो कोई सन्तोषी, कोई कृपण होता है तो कोई उदार, और कोई निपट स्वार्थी होता है तो कोई परमार्थी। इन विभिन्न जीवनों में से आपको अपने लिए चुनाव करना है कि आपके लिए कौन-सा जीवन उपादेय है ? तथा इनमें से कौन-सा जीवन त्याज्य और कौन-सा ज्ञेय है ? इसे भी परखना है। यह भली-भाँति समझना है कि लोभी जीवन हेय क्यों है और लोभी प्रकृति के लोग इसे उपादेय समझकर क्यों अपनाए हुए हैं ?

लोभी मानव की तीन मनोवृत्तियाँ

लोभी जीवन संसार में सबसे निकृष्ट जीवन होता है। लोभग्रस्त मानव की सदा तीन परिणाम धाराएँ होती हैं, जो इस प्रथम सूत्र में 'अत्थपरा हवन्ति' से स्पष्ट सूचित कर दी हैं। सर्वप्रथम उसकी परिणामधारा होती है—धन की रट, दूसरी होती है—संसार के पदार्थों के संग्रह करने की रट, और तीसरी होती है—स्वार्थ-परायणता। आपने देखा होगा कि लोभी व्यक्ति में प्रायः ये तीनों कुमनोवृत्तियाँ पायी जाती हैं—वह धन के पीछे दीवाना बना रहता है, संसार के मनोज्ञ पदार्थों को जुटाने में तत्पर रहता है और सदा अपने स्वार्थ को साधने की ताक में रहता है। इसीलिए लोभी मनुष्यों को **अर्थपर** कहा है। अर्थ शब्द में ये तीनों ही अर्थ निहित हैं।

लोभी जीवन : धन की रटन

लोभी मनुष्य में धन की अत्यधिक भूख होती है। धन की चकाचौंध में उसकी आँखें इतनी चुंधिया जाती हैं कि वह परिवार, समाज या राष्ट्र में जो निर्धन होंगे, उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता, चाहे उनमें अन्य गुण हों। उसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कान भी सदा धन की ओर लगे रहते हैं। जब भी कानों में रुपयों की झंकार सुनाई देती है कि अमुक जगह प्रचुर धन मिलने वाला है, तब वह उस जगह दौड़ कर या तेज से तेज सवारी से पहुँच जाएगा, भले ही धन से बढ़कर आत्मज्ञान, उसकी सुखशान्ति के लिए आत्म-बोध और कहीं मिलता हो, वहाँ सुनने नहीं जाएगा। उसकी जबान पर भी धन की ही रट रहेगी। एक कवि ने लोभी के मुख से होने वाली धन की रटन को दुन्दुभि के रटन की उपमा दी है—

"दुन्दुभिस्तु सुतरामचेतनस्तन्मुखादपि धनं धनं धनम् ॥
इत्थमेव निनदः प्रवर्तते, किंपुनर्यदि जनः सचेतनः ॥"

दुन्दुभि तो वास्तव में अचेतन है, फिर भी उसके मुख से भी जब धनं धनं धनं आवाज निकलती रहती है, तब फिर सचेतन मानव (लोभी) यदि हाय धन, हाय धन की रट लगाता है तो इसमें आश्चर्य क्या है? लोभी व्यक्ति के मुंह पर सदा धन शब्द कैसे चढ़ा रहता है? इसे एक रोचक दृष्टान्त द्वारा समझिए—

एक सेठ जी थे। अत्यन्त लोभी। वे लोभ के वश अपने वयस्क लड़कों को भी अपनी दूकान की केसबॉक्स (गल्ला) नहीं सौंपते थे। ब्याज बट्टे का धन्धा करते थे और दूकान भी थी उसमें उधार बहुत चलती थी। एक बार सेठजी अत्यन्त बीमार होने पर मरणशय्या पर पड़े थे। मन में दूकान के उन्हीं ग्राहकों के नाम की रटन थी, जिनसे रुपये लेने थे। पिता का अन्तिम समय निकट देखकर पुत्रों ने सोचा; अगर पिताजी को अन्तिम समय में राम का नाम याद दिलाया जाय और ये उसे रटें तो इनकी गति सुधर जाएगी। अतः बड़े पुत्र ने कहा—"पिताजी! जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है, राम का नाम लीजिए।"

सेठजी तपाक से बोले—"अच्छा याद दिलाया, बेटा! देखना रामू चौधरी से ३०० रुपये लेने हैं। छह महीने से उसने एक भी पैसा नहीं दिया। उससे ब्याज सहित रकम वसूल कर लेना।" पुत्रों ने देखा-यह तो उलटा काम हुआ! इन्हें राम के बदले रामू ग्राहक का नाम याद आगया। अतः छोटे लड़के ने उनसे 'भगवान्' का नाम लेने को कहा। मगर भगवान् का नाम जिह्वा से कैसे लिया जाता? उस पर तो जिनसे धन लेना था, उन ग्राहकों के नाम चढ़े हुए थे। अतः सेठजी बोले—बेटा! उस भगवानदास पण्डित से तकादा करके रुपये वसूल करना।

वास्तव में लोभी की हर प्रवृत्ति धन के लाभ को लेकर होती है। उसका दिल-दिमाग भी हर समय धन की ही उधेड़बुन में लगा रहता है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य निबन्धकार बेकन (Bacon) ने लिखा है—

"The covetous man cannot so properly be said to possess wealth, as that may be said to possess him."

'लोभी मनुष्य ठीक तरह से यह नहीं कह सकता कि धन उसके अधिकार में है, जैसा कि धन यह कह सकता है कि वह (लोभी) उसके अधिकार में है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धन जब मनुष्य के मन-मस्तिष्क पर सवार हो जाता है तो धन पर आधिपत्य जमाने के बजाय धन उस पर आधिपत्य जमा लेता है। आप जानते हैं कि घोड़ा, रथ, कार, रिक्शा आदि सवारियों पर सवार होकर मनुष्य आराम से अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, परन्तु ये ही सवारियाँ अगर मनुष्य के सिर पर सवार हो जाय तो बड़ी हास्यास्पद और विचित्र स्थिति हो जाती है, उस मनुष्य की। सम्भव है, वह दुर्घटनाग्रस्त हो जाय या उसके हाथ-पैर टूट जायें अथवा जान पर ही आ बने। यही हाल उन लोभी मनुष्यों का हो जाता है, जिनके मन-मस्तिष्क पर धन सवार रहता है।

एक ठेकेदार साहब थे। बहुत बड़ी ठेकेदारी का काम था उनका। उनके मन-मस्तिष्क पर हरदम अधिक लाभ के ठेके की धुन सवार रहती थी। धन उन पर इतना अधिक हावी हो चुका था कि बात-बात में उनके मुँह से वे ही ठेकेदारी सम्बन्धी लाभ के शब्द निकल पड़ते थे, चाहे बातचीत का विषय पारिवारिक या सामाजिक ही क्यों न हो।

उनका एक पुत्र था, जो विवाहयोग्य हो चुका था। अनेक कन्या वाले अपनी-अपनी कन्या से उनके पुत्र की सगाई के लिए आने लगे। ठेकेदार साहब के परिवार के लोग, मित्र एवं सम्बन्धी भी लड़के का सम्बन्ध तय कर लेने पर जोर देते रहते थे; परन्तु ठेकेदार साहब धन की टोह में रहते थे, इस कारण एक या दूसरे बहाने से टालते रहते थे। एक दिन वे अपने मित्रों के बीच बैठे थे कि सबने पुत्र का सम्बन्ध करने के लिए उन पर दबाव डाला और पूछा—"आखिर आप अपने लड़के का सम्बन्ध क्यों नहीं करते हैं; जबकि इतने लड़की वाले बार-बार आपके द्वार पर आते हैं? आखिर क्या इच्छा है आपकी?" ठेकेदार साहब सहसा बोल उठे—"भाई! पुत्र का विवाह तो करना ही है। जिसका टेंडर ऊँचा होगा, उसी के साथ सम्बन्ध कर लेंगे।" यह सुनते ही मित्रों के मुख से हँसी का फव्वारा छूटा। ठेकेदार साहब को भी अपनी भूल मालूम हुई, वे एकदम झेंप गए और भूल सुधारते हुए बोले—"अफसोस! मेरे मुँह से गलती से टेंडर शब्द निकल गया। वास्तव में मेरा अभिप्राय था—अच्छा कुल, उच्च संस्कार और उच्च आचार-विचार!" लेकिन अब क्या होता? उन्हें हास्य का पात्र तो बनना ही पड़ा। वस्तुतः ठेकेदारजी के मन-मस्तिष्क पर अपना व्यवसाय और धन का लाभ पूरी तरह से छाये हुए थे। इसीलिए विवाह सम्बन्ध की बात में भी पर्याप्त धन लाभ का सूचक व्यवसायिक 'टेंडर' शब्द उनके मुख से निकल गया था।

हाँ, तो मैं कहता था कि लोभी मनुष्य धन के मोह में इतने पागल हो जाते हैं कि धन के सिवाय संसार में उन्हें कुछ दिखता ही नहीं। रात-दिन धन ही धन उनके हृदय में बसा रहता है। वह लॉटरी का टिकट खरीद कर एक ही रात में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लखपति बन जाने की सोचता है। उसे स्वप्न भी आता है तो वह भी धन का। वह नोटों की गड्डियाँ गिनने का ही स्वप्न देखता है।

धन का लोभी क्या-क्या अनर्थ नहीं करता ?

धन के लोभ में वह अपनी जाति, अपने स्वाभाविक गुणों, अपनी प्रतिष्ठा, अपनी कीर्ति, अपने रिश्तेनाते, अपने स्नेह-सम्बन्ध यहाँ तक कि अपने प्राणों तक को तिलांजलि देने को तैयार हो जाता है। योगीभर्तृहरि ने लोभी व्यक्तियों की धन लालसा का सुन्दर चित्रण किया है—

"जातिर्यातु रसातलं गुणगणास्तत्राप्यधोगच्छताम्।
शीलं शैलतटात् पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना॥
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलम्॥
येनैकेन विना गुणास्तृणलव प्रायः समस्ता इमे॥"

"जाति चाहे रसातल में चली जाए, गुण समूह की भी चाहे अधोगति हो जाए, शील भले ही पहाड़ से गिर कर चूर-चूर हो जाए, परिजनों का सम्बन्ध भी आग में जल जाय, चाहे बैरी शूरवीरता पर शीघ्र वज्र गिर पड़े; मुझे तो केवल धन मिलना चाहिए। जिस अकेले धन के बिना ये सारे गुण तिनके के समान हैं।"

एक ब्राह्मण पण्डित वेश्या के यहाँ पहुँच गए। वेश्या ने उनकी बड़ी आवभगत की। परन्तु जब वह भोजन थाली में परोस कर लाई तो पण्डितजी का माथा ठनका। बोले—तू मुझे धर्म भ्रष्ट करना चाहती है। मैं तेरे हाथ का बनाया भोजन कैसे खा सकता हूँ। मैं ब्राह्मण हूँ।" वेश्या ने उन्हें पाँच रुपये दक्षिणा के दिये और ७५ रुपये भोजन के सामान के लिए दिये। जब वे उठकर सामान लाने के लिए जाने लगे, तभी वेश्या ने कहा—"पण्डितजी ! आप इतना कष्ट करेंगे, इसकी अपेक्षा लीजिए ये सौ रुपये और इसी भोजन को तथा मेरे हाथ को गायत्री मन्त्र से पवित्र करके खा लीजिए। कुल १८० रुपये देख कर पण्डितजी के मुँह में पानी भर आया। उन्होंने चौका लगाया। गायत्री मन्त्र बोला और उस वेश्या के हाथ से भोजन करने को तैयार हो गये।

लोभी मनुष्य धन के आगे जाति-पाँति को नहीं देखता, न देखता है—शील भंग को। धन पाने के लिए लोभी स्त्रियाँ युद्ध के दिनों में शत्रुपक्ष के सेनानायकों से शीलभ्रष्ट होकर जासूसी करती हैं। धन के लोभ में लाखों-करोड़ों व्यक्ति अन्याय-अत्याचार करने को तैयार हो जाते हैं। अपने सम्बन्धियों का धन हड़पने में धन-लोलुप व्यक्ति पूरे उस्ताद होते हैं। चोर, डाकू, लूटेरे धन के लोभ में आकर राजकीय कठोर कारावास एवं दण्ड की परवाह नहीं करते। धन का भूखा मनुष्य धन लुब्ध होकर अपने भाई, बहन, माता-पिता, यहाँ तक कि पत्नी तक से सम्बन्ध तोड़ लेता है, उन्हें मौत के घाट भी उतार देता है। धन के लोभ में आकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हजारों कुंआरी लड़कियाँ, सधवाएँ एवं विधवाएँ वेश्यावृत्ति अंगीकार करके अपने शरीर को बेच देती हैं, अपने धर्म को छोड़ देती हैं। भोजप्रबन्ध में स्पष्ट कहा है—

मातरं पितरं पुत्रं, भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति, स्वामिनं वा सहोदरम्।

लोभाविष्ट मनुष्य अपने पिता, माता, पुत्र, भाई, मित्र, स्वामी एवं सहोदर को भी (धन के लिए) मार डालता है।

धन के लोभ में मनुष्य अपने स्वास्थ्य को भी नहीं देखता, और न ही अपने प्राणों की परवाह करता है। वह धन का लाभ हो तो मरने के लिए तैयार हो जाता है। उनका जीवनसूत्र होता है—चमड़ी जाय, पर दमड़ी न जाय। वह केवल धन सचय करने में ही रहता है, उसको खर्च करना उसे नहीं सुहाता। वह तो भरी हुई तिजोरी देखकर ही प्रसन्न होता है।

एक सेठजी थे। दैवयोग से वे बीमार पड़ गए। अपने पिता के इलाज के लिए पुत्र शहर के एक नामी और विशेषज्ञ डॉक्टर को ले आए। डॉक्टर को घर आए देख सेठजी के होश गुम हो गए। वे सोचने लगे—'यह तो बहुत भारी खर्च में उतार देगा।' अतः वे चुप न रह सके, पूछ बैठे—"डॉक्टर साहब! मेरी बीमारी के इलाज में कितना रुपया खर्च होगा?"

डॉक्टर ने हिसाब लगाकर बताया—"सेठजी! मेरी फीस, दवाइयों और इंजेक्शनों में कुल मिला कर लगभग ६०० रुपये तो खर्च हो ही जाएँगे।" यह सुनते ही सेठजी ने अपने पुत्रों को पास बुला कर धीरे से उनके कान में कहा—"बताओ तो, मेरे अग्निसंस्कार पर कितना खर्च हो जाएगा?" एक पुत्र ने बताया—१५० रुपये।"

सेठ ने तपाक से कह दिया—"तो बस मुझे मर ही जाने दो। इलाज की कोई जरूरत नहीं। ४५० रुपये तो बचेंगे।"

सेठ का रवैया देखकर डॉक्टर की हिम्मत फीस माँगने की न हुई। उसने चुपचाप अपना बैग उठाया और वहाँ से चल दिया।

ऐसी होती है, लुब्धक की अर्थलिप्सा। वह मर जाना मंजूर करता है, परन्तु पैसा खर्च करना नहीं। वह मरते-मरते भी कुटिलता करता है। धनलुब्धक रात-दिन इसी रौद्रध्यान में रहता है कि किसका धन, कैसे प्राप्त करूँ?

योगी भर्तृहरि जंगल में एक वृक्ष के नीचे बैठे थे कि सहसा उनकी दृष्टि कुछ दूर पड़े एक चमकीले हीरे पर पड़ी। उन्होंने अपने मन को समझाकर आश्वस्त किया। कुछ ही देर बाद दो क्षत्रिय मित्र उधर से निकले। दोनों की दृष्टि एक साथ उस हीरे पर पड़ी। दोनों उसे लेने के लिए झपटे। दोनों की तलवारें म्यान से बाहर आ गईं। भर्तृहरि ने दोनों को समझाने की बहुत कोशिश की लेकिन लोभ और क्रोध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से दोनों बहरे हो रहे थे। आखिर दोनों आपस में लड़ते-लड़ते कट मरे। हीरा दोनों को नहीं मिला।

चोरी का मूल : अर्थलोभ

अर्थलोभी या धनमोही अपनी धनलिप्सा की पूर्ति के लिए चोरी को अपनाता है। वह धन पाने की धुन में उसके परिणामों की ओर नहीं झांकता। कहा भी है—

"लोभाविष्टो नरोवित्तं, वीक्षते न स चापदम्।
दुग्धं पश्यति मार्जारो, न तथा लगुडाहतिम्॥"

लोभी मनुष्य धन को देखता है, किन्तु उससे उत्पन्न होने वाली आफत को नहीं देखता। बिल्ली दूध को देखती है, किन्तु लाठी के प्रहार को नहीं देखती।

बगदाद के खलीफे के यहाँ 'हसन' नामक नौकर था। वह अतिलोभी था। नौकरी से उसने बहुत धन कमाया, परन्तु धन पाने की उसकी लालसा बढ़ती ही गई। वह धन जोड़-जोड़कर रखता जाता और मामूली खा-पीकर जिंदगी गुजारता था। उसे धन का लालच इतना बढ़ा कि एक दिन उसने अपनी स्त्री फातिमा से कहा—"फातिमा ! तुम बाजार में जाओ और लोगों से कहो कि खलीफा ने मेरे पति को कैद कर लिया है, इससे लोग तुम्हारे प्रति हमदर्दी बताकर तुम्हें रोटी-कपड़े के लिए मदद कर देंगे। मैं रात को घर में आ जाया करूँगा।" हसन अपने सगे सम्बन्धियों को भी धोखा देने लगा। धन के साथ उसकी कंजूसी भी बढ़ती गई। धनलुब्धक हसन अब राजमहल में से प्रतिदिन एक रत्न चुरा लाता। उसने अपनी स्त्री से कहा—देखो ! हम रत्नों को सोने के सिक्कों के बदले में बदलवाकर बगदाद से बहुत दूर भाग जायेंगे और सुख से रहेंगे।" एक दिन हसन चोरी करता हुआ पकड़ा गया, उसे खलीफा के सामने पेश किया गया। खलीफा ने न्यायालय का फैसला सुनाते हुए कहा—तुम्हारी बीबी राजमहल से चुराया हुआ रत्न बेच रही थी। तुम चोरी करते पकड़े गये हो। इससे साफ जाहिर है कि तुम चोर हो। तुम्हारे पास गुजारे के लायक धन की कमी नहीं, पर तुमने धन के महालोभ में आकर सबको चकमा दिया। बाजार वालों, सम्बन्धियों व मुझे धोखा देने के अपराध में तुम्हें सिर से लेकर पैर तक पीटा जाए और चोरी के जुर्म में तुम दोनों को शूली पर चढ़ाया जाय।" यह सुनकर हसन और उसकी पत्नी बहुत गिड़गिड़ाने लगे। खलीफा को उन पर रहम आ गया। उन्होंने हुक्म दिया—बेईमानी और धोखेबाजी से कमाए हुए धन को ये अपने गले में बाँधकर घर ले जायें।" परन्तु सारे शहर में मुनादी करवा दी गई कि कोई भी व्यक्ति हसन और उसकी स्त्री को धन के बदले खाने-पीने और पहनने का सामान न दे। जो इस आज्ञा का उल्लंघन करेगा उसे फाँसी की सजा दी जायगी। ऐसा ही किया गया। हसन और उसकी स्त्री घर आने पर बहुत खुश थे कि धन भी मिला और जान भी बची। उन्होंने इस खुशी में सिक्के गिनने शुरू किये। मगर दो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चार दिन बाद ही जब सोने के सिक्कों के बदले उन्हें किसी तरह का सामान नहीं मिला तो वे भूखे मरने लगे। आखिर मजबूर होकर दोनों फिर खलीफा के न्यायालय में उपस्थित हुए और सारी सम्पत्ति दी और उनके चरणों में प्रार्थना की—"मैंने लोभ के वशीभूत होकर किसी भी तरह धन पाने की कोशिश में बड़े-बड़े अनर्थ किये। अब आप इस धन को शहर की जनता में बंटवा दें।" दोनों को यह प्रतीति हो गई कि "धन दबाकर रखने से नहीं, उसका सदुपयोग करने से ही सुख मिलता है।"

सचमुच चोरी की जड़ धनलिप्सा में है। चोरी के अपराध में पकड़े गये युवक से जजसाहब ने पूछा—तुमने चोरी क्यों की? उसने कहा—"क्या बताऊँ, मुझे रातों-रात लखपति बनने की धुन सवार हुई। अपने प्रयत्न में, सफल भी हो गया था, लेकिन कम्बख्त सिपाही मुझे पकड़ लाए। मेरे मंसूबे धरे ही रह गये।"

इस उत्तर से लोभी की मनोवृत्ति का स्पष्ट परिचय हो जाता है।

धनलोभ : सत्य विनाशक

इतना ही नहीं, धन का लोभ सत्य का खात्मा कर देता है। केवल एक परिवार और समाज या राष्ट्र ही नहीं, सारे संसार में लोभ या लोभी असत्य, धोखे-बाजी, छलकपट, अन्याय आदि अनर्थों का मूल बना हुआ है। बड़े-बड़े राष्ट्र धन के लोभ में आकर कूटनीतिक चालें चलते हैं, बड़े-बड़े षड्यन्त्र रचते हैं। रूस में एक प्रसिद्ध कहावत है—

When money speaks, the truth is silent."

'जब धन बोलने लगता है, तब सत्य को चुप होना पड़ता है।' वास्तव में धनलोभ सत्य और प्रामाणिकता का शत्रु है।

परस्पर अविश्वास का कारण : धनलोभ

धनलोलुपता परस्पर अविश्वास का भी कारण बन जाती है। बड़े-बड़े कुलीन घरों में धनलोभ परस्पर अविश्वास पैदा कर देता है। अविश्वास हो जाने पर मनुष्य को सन्देह और शंका का रोग लग जाता है, जिससे जल्दी छुटकारा पाना मुश्किल है। इसीलिए एक कवि तो धन को दूर से ही सलाम करता है—

अविश्वास-निधानाय महापातकहेतवे।
पितापुत्रविरोधाय हिरण्याय नमोऽस्तुते॥

हे धन! तू अविश्वास का खजाना है, महापाप का कारण है, पिता और पुत्र को लड़ाने वाला है, अतः तुझे दूर से ही मेरा नमस्कार है।

एक सौतेली माँ ने अपनी सौत के पुत्र को विष देकर इसलिए मार डाला कि यह बड़ा होने पर मेरे पुत्रों के हक में से हिस्सा लेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विग्रह का कारण : लोभवृत्ति

एक अंग्रेज विचारक Cowley (कूले) ने लोभवृत्ति से प्राप्त किये जाने वाले धन को सभी प्रकार के कलह, संघर्ष और फूट का कारण बताया है—

"Gold begets in bruthren hate.
Gold in families debate.
Gold does friendship separate.
Gold does civil war create."

"धन (लोभ प्राप्त) भाइयों के हृदय में घृणा पैदा करता है; धन परिवारों में विवाद और विग्रह उत्पन्न कर देता है; धन मित्रों को अलग-अलग कर देता है, और गृहयुद्धों का जनक भी धन ही है।"

दो भाई पिता के देहान्त होते ही सम्पत्ति का बँटवारा करने लगे। एक खेत की सीमा पर एक सुपारी का पेड़ था, इस पर दोनों भाइयों में विवाद खड़ा हो गया। छोटा भाई कहता था—यह मेरे खेत की सीमा में है, इसलिए मेरे हक का है, बड़ा भाई उसे अपने हक में बताता था। इसी संघर्ष में दोनों भाइयों ने एक-दूसरे पर अदालत में मुकद्दमा दायर किया। कई वर्षों तक दोनों मुकद्दमा लड़ते रहे, दोनों पक्ष के हजारों रुपये खर्च हो गये। आखिर एक न्यायाधीश ने उस जगह का मुआयना किया तो उसे देखकर बड़ा आश्चर्य और खेद हुआ कि सिर्फ एक तुच्छ सुपारी के पेड़ के लिए दो भाई मूर्खतावश आपस में बैर-विरोध पर उतर आये और हजारों रुपये फूंक दिये। उसने अपने आदमियों को कह कर वह पेड़ उखड़वा कर नदी में फिकवा दिया। न्यायाधीश ने उन दोनों भाइयों से कहा—तुम दोनों का फैसला हो गया है, बोलो अब क्या चाहते हो?" दोनों भाई शर्मिंदा हो गये और एक दूसरे से माँफी माँगी।

धन के लोभी मामूली-सी बात पर लड़ने-मरने और मुकद्दमेबाजी करने को तैयार हो जाते हैं, भले ही उसमें उनका अधिक खर्च हो जाय।

अतः गृहयुद्ध हो या दो देशों का युद्ध अथवा विश्वयुद्ध हो, सभी के मूल में धन की आसक्ति रहती है। विएतनाम में अमेरीका ने भीषण नरसंहार किया था, उसका मूल कारण क्या था? सिर्फ यही अर्थलोभ था कि विएतनाम उसका उपनिवेश बना रहे और वह वहाँ की सम्पत्ति का शोषण करता रहे। ब्रिटिश सरकार ने भी इसी आर्थिक शोषण के लिए भारत को वर्षों तक अपना उपनिवेश बनाये रखने हेतु भीषण दमनचक्र चलाया।

आज भी विश्व में जो अशान्ति की घटाएँ उमड़ती हुई दिखाई पड़ती हैं, उनके मूल में वही अर्थलिप्सा है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर, एक समाज और सम्प्रदाय दूसरे समाज और सम्प्रदाय पर जो आरोप-प्रत्यारोप लगाते हैं, संघर्ष करते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं, उनके मूल में भी प्रायः यही लोभवृत्ति काम करती है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—

"करेइ लोहं, वेरं वड्ढइ अप्पणो।"

जो धन का लोभ करते हैं; वे आपस में एक दूसरे से बैर बढ़ाते हैं।

लोभी मनुष्य में अत्यधिक-स्वार्थ-परायणता

लोभी मनुष्य की दूसरी मनोवृत्ति होती है—स्वार्थपरायणता। वह अपने ही स्वार्थ में बन्द हो जाता है। लोभ की बीमारी, ऐसी पाजी बीमारी है कि मनुष्य उसमें अपने में सिमटना शुरू हो जाता है। इससे वह गिरता चला जाता है। क्षुद्र स्वार्थ के संकीर्ण घेरे में बन्द होकर वह बात-बात में नीचता पर उतर आता है। वह स्वार्थ के बिना बात ही नहीं करता। जहाँ अपना स्वार्थ साधना होगा, वहाँ उसकी रुचि होगी। क्योंकि उसे तो लोभ का ज्वर चढ़ा रहता है। इसीलिए एक नीतिकार ने कहा है—

"भक्ते द्वेषो, जड़े प्रीतिः प्रवृत्तिर्गुरुलंघने।
मुखे कटुकता नित्यं धनिनां ज्वरिणामिव॥"

स्वार्थपरायण अतिलोभी मानव में भक्त के प्रति द्वेष, जड़ में प्रेम, गुरुजनों (की आज्ञा) का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति और मुख में (वाणी की) कटुता ज्वरग्रस्त पुरुषों की तरह धनिकों में भी ये चीजें प्रायः होती हैं। ज्वरग्रस्त को भक्त यानी भोजन में अरुचि होती है, वैसे ही स्वार्थी धन लोभी को भी भक्ति करने वाले के प्रति द्वेष या अरुचि होती है, बुखार वाले को पानी की प्यास बहुत लगती है, इसलिए जल में प्रीति होती है, लोभी की जड़ धन में प्रीति होती है, चेतन धन को वह पूछता भी नहीं। बुखार वाला गुरु या गरिष्ठ भोजन का लंघन करने में प्रवृत्त होता है, जबकि लोभी गुरुजनों की बात का उल्लंघन करता रहता है। बुखार वाले का मुँह कड़वा हो जाता है, लोभी का मुँह भी वचन की कटुता के कारण कड़वा रहता है। इसलिए लोभी स्वार्थपरायण मानवों और ज्वरग्रस्त लोगों की एक-सी दशा है। स्वार्थपूर्ण जीवन सबसे दुःखदायी जीवन है। इसका परिणाम नरक की-सी परिस्थितियाँ पैदा कर देता है। क्या घर में, क्या बाहर में; संघर्ष, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, लालसा आदि दोषों का मूल कारण स्वार्थपरता है। स्वार्थपरता के कारण ही मनुष्य चोर, बेईमान, ठग और धूर्त बनता है। स्वार्थपरायण व्यक्ति केवल अपनी ही बात सोचता है। दुनिया चाहे मरे या जीए, उसका अपना स्वार्थ सधना चाहिए, यही उसकी वृत्ति रहती है।

तथागत बुद्ध की अवन्ती में विशाल सभा विसर्जित हो गई थी। थोड़े-से बौद्ध भिक्षु और श्रेष्ठी सामन्तजन शेष रह गए थे। इनमें प्रायः विचारक लोग थे और सभी अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान तथागत से करा रहे थे। तभी वहाँ पास में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही खड़े एक अतिजिज्ञासु बालक ने पूछा—"भगवन् ! संसार में सबसे छोटा कौन है ?" बालक की प्रतिभा देख कर तथागत बुद्ध कुछ गम्भीर हुए और बोले—"सबसे छोटा वह है, जो केवल अपनी ही बात सोचता है, अपने ही स्वार्थ को सर्वोपरि मानता है।" इन शब्दों में तथागत ने स्वार्थपरायण जीवन की क्षुद्रता का सजीव चित्रण प्रस्तुत कर दिया है। यदि मनुष्य लाभवश अपने ही स्वार्थ का ध्यान रखकर हर तरह से सम्पत्ति प्राप्त करने और अधिक से अधिक संग्रह करने में ही लगा रहे तथा अन्य मनुष्यों के सुख-दुःख से सर्वथा उदासीन बन जाए तो वह समस्त संसार का वैभव पाकर भी सुखी नहीं हो सकता। ऐसी दशा में वह अन्य सब लोगों को अपना विरोधी अथवा शत्रु ही समझेगा और उसे उनकी ओर से यह खटका रहेगा कि अवसर पाते ही वे उसे अपदस्थ करने या नीचा दिखाने की चेष्टा करेंगे। ऐसी सशंकित अवस्था में किसी को वास्तविक सुख शान्ति मिल सके, यह असम्भव बात है। ऐसे स्वार्थी और अन्य लोगों को अपना प्रतिद्वन्द्वी अथवा विरोधी समझने वाले अपने को सदैव संसार में अकेला ही अनुभव करते हैं। वे चाहे धार्मिक क्रियाकाण्ड कर लेते हों या भगवान् का नाम दिखाने के लिए या अभ्यासवश कर लेते हों पर उनका भरोसा उन पर प्रायः नहीं होता। उनकी दृष्टि अपने ही स्वार्थ पर टिकी रहती है।

बहुत ही दरिद्र चार ब्राह्मण थे, पर थे मूर्ख और अतिस्वार्थी। किसी ने दूध पीने के लिए उन चारों को एक गाय दे दी। गाय एक और हिस्सेदार चार थे, अतः चारों ने बारी बांध ली। चारों क्रमशः एक-एक दिन उसे दुहने लगे। वे चारों स्वार्थी अपनी-अपनी बारी के दिन दुह तो लेते पर गाय को कोई चारा नहीं डालता था। प्रत्येक यही सोचता था कि कल तो मुझे दूध दुहना ही नहीं, तब मैं क्यों अपना चारा खर्च करूँ, चारों का स्वार्थमूलक चिन्तन एक-सा ही चलता रहा। इस आपाधापी में गाय का दूध धीरे-धीरे सूख गया। बेचारी भूखी प्यासी गाय मर गई। लोगों ने गाय को जब मृतदशा में देखा तो गो-माता कहने वाले उन निपटस्वार्थी ब्राह्मणों को धिक्कारा—"अरे स्वार्थ के पुतलो, दूध तो दुह लिया, पर बेचारी गाय को चारा डालने का काम दूसरों पर डाल दिया।

स्वार्थियों की अधम मनोदशा का चित्रण करते हुए कवि कहता है—

वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसाः।
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपाः दुग्धं वनान्तं मृगाः॥
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिकाः, भ्रष्टश्रियं मंत्रिणः।
सर्वः कार्यवशाज्जनोऽभिरमते; कस्याऽपि को वल्लभः ?

वृक्ष पर जब फल नहीं रहते, तब पक्षीगण उसे झटपट छोड़ देते हैं, सरोवर के सूख जाने पर सारस भी उसका त्याग कर देते हैं, फूल जब मुरझाकर बासी हो जाते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं तो भौंरे भी उसे छोड़कर उड़ जाते हैं, जलते हुए वन को देखकर मृग वहाँ से भाग जाते हैं, निर्धन पुरुष को गणिका भी छोड़ देती है, मन्त्री लोग श्रीरहित राजा को छोड़ देते हैं। सभी लोग अपने-अपने मतलब से एक-दूसरे में रुचि लेते हैं। इस स्वार्थ प्रधान संसार में कौन किसका प्रिय है ?

स्वार्थ भावना में दूसरे की हानि नहीं दिखती। दो व्यापारी थे। एक था घी का व्यापारी और दूसरा था चमड़े का। वर्षाऋतु आने वाली थी। घी के व्यापारी की नीयत यह थी कि वर्षा होगी तो गायों-भैंसों को चरने को खूब मिलेगा और दूध बहुत देंगी। मैं खूब पैसा कमाऊँगा। परन्तु चमड़े के व्यापारी की भावना यह थी कि वर्षा नहीं होगी तो ढोर मरेंगे और उनका चमड़ा मुझे मिलेगा, जिसे बेच कर मैं मालामाल हो जाऊँगा। बताइए, कितनी क्षुद्र स्वार्थभावना थी दोनों की। दोनों ही अपना-अपना स्वार्थ देखते थे !

लुब्ध मनुष्य का जीवन स्वार्थपरायण हो जाता है। संसार में जितने भी लोभपरायण लोग हुए हैं, वे अतिस्वार्थ में पड़कर अनेक अनर्थ करते देखे गये हैं। स्वार्थप्रधान संसार का शब्द चित्र देखिए—

स्वारथ का है सब संसार।
सूरीकान्ता ने निज पति को दे विषयुक्त आहार।
स्वार्थ सिद्धि बिन देखो कंसा, कर दिया अत्याचार ? स्वारथ०॥
कौणिक और औरंगजेब ने किया न सोच विचार।
स्वार्थमग्न हो अपने पितु को दिया कैद में डार॥ स्वारथ०॥

सूरीकान्ता ने राज्यलोभ से प्रेरित होकर राजा प्रदेशी को जहर मिला हुआ भोजन दे दिया था। संसार के इतिहास में सम्राट कौणिक और बादशाह औरंगजेब पर स्वार्थमग्नता के कलंक का टीका है, दोनों ही बाहर से धर्मात्मा और प्रभु भक्त दिखाई देते थे, परन्तु अन्तर के अतिस्वार्थ रूपी विष ने उनका सारा ही जीवन विषाक्त और बदनाम बना दिया था।

यों तो प्रत्येक मनुष्य में थोड़ा बहुत स्वार्थ होता है, परन्तु वह स्वार्थ जब मर्यादा का अतिक्रमण करके दूसरों के स्वार्थों को कुचल डालता है, जब वह दूसरों की हानि के आधार पर अपने स्वार्थ को सिद्ध करता है, या खुद का भी लाभ गँवाकर दूसरों को हानि पहुँचाता है, तब तो वह अतिलोभ प्रेरित महास्वार्थी कहलाता है। भर्तृहरि ने चार कोटि के स्वार्थी बताए हैं—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नंति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसार में कई ऐसे सत्पुरुष होते हैं, जो अपने स्वार्थों का त्याग करके केवल परार्थ में उद्यम करते हैं, बहुत से ऐसे सामान्यजन होते हैं, जो अपना स्वार्थ साधने के साथ-साथ परार्थ के लिए उद्यत होते हैं। परन्तु वे मनुष्य की आकृति में राक्षस हैं, जो अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दूसरों का हित नष्ट कर देते हैं और जो बिना ही किसी प्रयोजन के दूसरों का हित नष्ट कर देते हैं; वे कौन हैं, यह हम नहीं जानते ? उन्हें किस नाम से पुकारा जाए ?

इन चार कोटि के व्यक्तियों में प्रारम्भ के दो ठीक हैं, वे न तो अतिस्वार्थी हैं, न लोभ-प्रेरित हैं। किन्तु तीसरी कोटि के व्यक्ति तो नर राक्षस हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए दुनिया में खुराफात मचाते हैं, और चौथे तो परमस्वार्थी राक्षस शिरोमणि हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए ही कहा गया है—**'बुद्धा नरा अत्थपरा हवंति।'**

लोभी मनुष्य की तीसरी वृत्ति : पदार्थ-परायणता

लोभी मनुष्य के जीवन की तीसरी मनोवृत्ति है—पदार्थ परायणता। इसको मानस में सदा यही चिन्तन फलता रहता है, किस प्रकार अमुक पदार्थों का संग्रह करूँ ? कैसे अमुक वस्तु जुटाऊँ ? इसका यही जप और यही काम चौबीसों घण्टे चलता रहता है। पाश्चात्य लेखक South (साउथ) लिखता है—

"The Covetous person lives as if the world were made altogether for him and not he for the world; to take in everything and part for nothing."

लोभी व्यक्ति इस प्रकार जीता है, मानो सारा संसार या संसार के सभी पदार्थ उसके लिए बने हैं, परन्तु वह संसार के लिए नहीं पैदा हुआ अर्थात् वह संसार से प्रत्येक चीज लेने के लिए है, देने के लिए कुछ नहीं।"

जो वृत्ति इस प्रकार मनोज्ञ सांसारिक पदार्थों के बटोरने की हो जाती है, वह रातदिन यही सोचता है कि सारे उत्तम पदार्थ मेरे पास हों, मेरी तिजोरी में संसार का सारा धन आ जाए, मैं ही सब रत्नों का रक्षक और उपभोक्ता बनूँ। दुर्योधन एवं कंस आदि का यही सूत्र था—**'जं रयणं तं अम्हाकेरं।** संसार में जो भी रत्न-श्रेष्ठ पदार्थ है, वह हमारा है। उस पर हमारा अधिकार होना चाहिए। कोणिक के पास सम्पत्ति और श्रेष्ठ वस्तुओं की कोई कमी नहीं थी, फिर भी हल्ल विहल्ल कुमार के पास के श्रेष्ठ हार और हाथी लेने के लिए वह ललचा उठा। इन दोनों सांसारिक पदार्थों को अपने कब्जे में करने के लिए उसने अपने नाना चेटक महाराज के साथ महायुद्ध छेड़ दिया। क्या जरूरत थी, इतनी बड़ी लड़ाई छेड़ने की ? परन्तु लोभ का कीड़ा कोणिक के दिमाग में बुरी तरह कुलबुला रहा था। इसलिए दूसरे के स्वामित्व का हार और हाथी अपने कब्जे में करने के लिए उसने युद्ध में एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का संहार करवाया। बलिहारी है, लोभवृत्ति की ! इसलिए तो कहा गया है—**लोभो सव्व विणासणो'** लोभ सर्वविनाशक है। लोभ मनुष्य के सभी सदगुणों का नाश कर देता है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन की सभी विशेषताएँ लोभ के सफर में जाकर समाप्त हो जाती हैं। धर्म, पुण्य सभी को लोभ खा जाता है। इसलिए भगवद्गीता में लोभ को नरक के तीन द्वारों में से एक द्वार बताया है।

ई. सन् १६५७ में जब बादशाह शाहजहाँ बीमार हुआ तो दारा, औरंगजेब, मुराद और शुजा, इन चारों में से गद्दी का वास्तविक अधिकारी दारा था। परन्तु औरंगजेब के मन में राज्यसत्ता का तीव्र लोभ पैदा हुआ। पिता की गद्दी का अधिकार पाने वाला मेरे अतिरिक्त कोई न रहे; इतना ही नहीं, राज्य का हिस्सेदार भी कोई न बच पाए, इस प्रकार का कुकृत्य करने का दुःसंकल्प उसके हृदय में जागा। अपने कपट जाल में दूसरों को फँसाने की विद्या में वह निष्णात था ही। अपने भाई मुराद को राज्य के हिस्से का लालच देकर उसे और उसकी सेना को अपनी सहायता के लिए लेकर उज्जैन के पास शुजा के लिए राठौड़ जसवंतसिंह के साथ प्रथम लड़ाई की और दूसरी लड़ाई बंगाल में शुजा के साथ करके उसे ठिकाने लगा दिया। तत्पश्चात् राज्य के वास्तविक अधिकारी दारा को आगरा के किले के चौक में चिनवा कर यमलोक पहुँचा दिया। पिता को कैद करके एवं मुराद के साथ दगेबाजी करके की गई प्रतिज्ञा को भंग की और स्वयं स्वतंत्र बादशाह बन बैठा। उसने किसी हकदार या हिस्सेदार को जीवित नहीं रहने दिया। राज्य के लोभ में अन्धा होकर मनुष्य कितना अनर्थ कर बैठता है, यह इस ज्वलन्त उदाहरण से जाना जा सकता है।

सिकन्दर ने आधी दुनिया जीत ली थी, और आधी दुनिया की दौलत भी इकट्ठी कर ली थी। परन्तु फिर भी उसे सन्तोष न था। मरते समय भी उसके मन में यही अभिलाषा थी कि मैं इस दौलत या धरती को परलोक में अपने साथ ले जाऊँ। परन्तु वह कुछ भी साथ न ले जा सका। इसीलिए किसी शायर ने कहा है—

"मुट्ठी अगरचे मकां और माली थे।
सिकन्दर जब गया (तब) दोनों हाथ खाली थे।

ऐसे पदार्थ-लोभी को कुरानशरीफ (१०४/२) में धिक्कार दिया गया है—

"अल्ल जो जम अ मालँ डव्व अद् द हू०"

लानत है, उस पर, जो दौलत का ढेर जुटाता है और जब तब बैठकर उसे गिनता है। वह सोचता है कि उसकी दौलत उसे अमर बना देगी।

अर्थ-प्राप्ति की दौड़ मृत्यु का कारण

कई बार मनुष्य लोभ से प्रेरित होकर आगे-पीछे की सोचे बिना अर्थ-जमीन, राज्य या धन आदि किसी पदार्थ की प्राप्ति के पीछे दौड़ लगाता है, वह थक जाता है तो लोभ उसे दौड़ाता रहता है। इसीलिए कहा है—**'लोहाओ दुहओ भयं'** लोभ से इहलोक और परलोक दोनों में भय है। इहलोक के भय तो प्रत्यक्ष हैं ही। परलोक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में यह भय है कि लोभाविष्ट मनुष्य रातदिन आर्तध्यान—और रौद्रध्यान से घिरा रहता है, धर्म की रुचि या धर्मध्यान की प्रवृत्ति उसमें प्रायः नहीं होती। इसलिए मर कर वह नरक या तिर्यञ्च गति में जाता है। जहाँ उसे भयंकर यातनायें मिलती हैं। वहाँ भी पाप और अधर्म का वातावरण रहता है। धर्म ध्यान की रुचि या प्रवृत्ति बिलकुल नहीं होती। इस प्रकार लोभाविष्ट मनुष्य इस जन्म में ही नहीं, अनेक जन्मों तक दुःख पाता रहता है। उसके जीवन में लोभ की दौड़ बहुत ही खतरनाक परिणाम लाती है।

टॉल्सटॉय की एक कहानी मैंने पढ़ी थी। रूस के एक गाँव में साइमन नामक लोभी किसान को शैतान मिला। शैतान ने उससे पूछा—"मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। बोलो, तुम्हें क्या चाहिए?" उससे कहा—"मुझे बहुत अधिक जमीन चाहिए। देवदूत ने कहा—"हाँ, तुम्हें जमीन मिल जाएगी; शर्त यह है कि यह लाल निशान है। यहाँ से सुबह सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक तुम चलोगे, सूर्यास्त तक वापस यहीं पर लौट जाओगे तो उतनी जमीन तुम्हें मिल जाएगी।" किसान की आँखों में चमक आई। इतनी जमीन मिल जाने की खुशी में उसने उस लाल निशान से दौड़ लगाई। मध्याह्न तक वह हांफता-हांफता करीब १० मील चला होगा। उसने सोचा अभी तो १० मील और जमीन नाप लूँ, तब वहाँ से वापस लौटूंगा। मुझे इतनी लम्बी चौड़ी जमीन मिल जाएगी कि कई पीढ़ियों तक के लिए वह जमीन काफी होगी। फलतः वह १० मील और गया, तब वहाँ से वापस लौटा। वापस करीब १५ मील लौटकर आया, इतने में तो वह बहुत हाँफने लगा, थककर चूर-चूर हो गया। उसके पैर लड़-खड़ाने लगे। फिर भी लोभ से प्रेरित था। इसलिए थोड़ा-सा विश्राम लेकर फिर दौड़ा। इधर सूर्य डूबने को था। तब तक वह लक्ष्य से ५ मील दूर रह गया था। अब उसके पैरों ने आगे चलने से जवाब दे दिया। वह धड़ाम से वहीं गिर पड़ा और गिरते ही एक मिनट में उसके प्राण पखेरू उड़ गए। शैतान उसे देखकर हंस रहा था। टॉल्सटॉय कहानी का अन्त करते हुए प्रश्न करता है—उस लोभी किसान को कितनी जमीन चाहिए थी? सिर्फ ३॥ गज भूमि ही उसकी कब्र या उसके शयन के लिए पर्याप्त थी। मगर उसको लोभ लगा था अनाप-सनाप भूमि पाने का, जिसका नतीजा हुआ—उसकी मृत्यु।

हाँ तो, लोभी की तीनों मनोवृत्तियाँ अर्थ-परायण होने से निकृष्ट एवं हेय जीवन की प्रतीक हैं।

लाभ से लोभ की वृद्धि

बहुत-सी बार मनुष्य यह सोचता है कि इतना धन प्राप्त हो जाय फिर सन्तोष धारण कर लूंगा; परन्तु यह देखा गया है कि जितना-जितना लाभ होता है, उतना-उतना लोभ बढ़ता जाता है। लोभी मनुष्य अनेक कष्टों को सहता है, धन प्राप्त करने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के लिए अपने प्राणों को भी झोंक देता है। कुवलयमाला में इस सम्बन्ध में एक सुन्दर दृष्टान्त मिलता है—

तक्षशिलानगरी के दक्षिण पश्चिम में बसे उच्च स्थल ग्राम का निवासी लोभदेव 'यथा नाम तथा गुण' वाला था। उसके पास पिता के द्वारा उपार्जित किया हुआ बहुत धन था। पिता की छत्रछाया में उसका जीवन सुख से व्यतीत हो रहा था। उसे किसी चीज का अभाव या कष्ट नहीं था। फिर भी उसकी लोभी वृत्ति बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी। उसी लोभ-वृत्ति से प्रेरित होकर वह झूठ, कपट, धोखेबाजी आदि करके लोगों से येन-केन-प्रकारेण धन हरण करने में तत्पर रहता था। इसलिए लोग उसे धनदेव के नाम से न पुकार कर लोभदेव के नाम से पुकारते थे। इसी नाम से वह प्रसिद्ध हो गया था।

एक दिन लोभदेव ने लोभवृत्ति से प्रेरित होकर धनोपार्जन हेतु अपने पिता से विदेशगमन की अनुमति माँगी। पिता ने उसे समझाया—"बेटा! अपने यहाँ क्या कमी है, जो तू विदेश कमाने के लिए जा रहा है। अपने घर में इतना धन है कि सात पीढ़ियों तक भी समाप्त नहीं होगा। घर में सुख से रहो, दान-पुण्य आदि शुभ-कार्य करते रहो।"

लेकिन लोभदेव के सिर पर तो लोभ का भूत सवार था। इसलिए पिता की सच्ची सीख कैसे मान लेता? अतः उसने विदेश जाने की हठ पकड़ ली। अनिच्छा से पिता सहमत हो गए। लोभदेव सार्थ लेकर विदेश यात्रा के लिए चल पड़ा। वह वहाँ से सोपारकपुर पहुँचा। वहाँ पिता के मित्र भद्र सेठ के यहाँ ठहरा। यहाँ व्यापार में अच्छा लाभ भी हुआ। किन्तु लाभ होने के साथ सन्तोष होना तो दूर रहा, उलटे अधिकाधिक लोभ बढ़ता गया। शास्त्र में मानवमन की सूक्ष्मवृत्ति का निदर्शन दिया है—

"जहा लाहो, तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ"

'ज्यों ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ होता जाता है। लाभ से लोभ सतत बढ़ता ही जाता है।'

यही दशा लोभदेव की थी। उसके मन में और अधिक धन प्राप्ति की लालसा जगी। सोपारकपुर के व्यापारियों से जब उसने रत्नद्वीप की समृद्धि की बात सुनी तो उसके मुँह में पानी भर आया। उसने रत्नद्वीप जाने की ठान ली। भद्रसेठ को आधे लाभ का साझीदार बनाकर वाहनों में उसने माल भर लिया और मार्ग के कष्टों की परवाह न करके वह रत्नद्वीप की ओर चल दिया।

सच है, धनलोलुप व्यक्ति समुद्र के अथाह जल में कूदने से भी नहीं हिचकिचाता; चाहे वहाँ उसे कुछ भी न मिले, उसका मुँह नमक के खारेपन से ही भर जाय।

रत्नद्वीप में लोभदेव और भद्रसेठ ने व्यापार में काफी धन कमाया। वहाँ से अपने वाहन भर कर दोनों वापस सोपारकपुर की ओर चल पड़े। लोभ की साक्षात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूर्ति लोभदेव धन के लिए क्रूर से क्रूर कर्म करने से नहीं चूकता था। भद्रसेठ का हिस्सा हजम कर जाने की नीयत से उसने उसे समुद्र में धकेल दिया और सारे धन का स्वयं मालिक बन बैठा।

लोभ का कटुक फल

भद्रसेठ ज्योंही समुद्र में गिरा जलजन्तु उसे निगल गये। अकाल मृत्यु होने के कारण वह अल्पआयु का व्यन्तर बना। उसने अपने अवधिज्ञान से जानलिया कि लोभदेव ने विश्वास-घात करके उसे समुद्र में धकेल दिया था। उसे लोभदेव पर बहुत क्रोध आया। उसने लोभदेव के वाहनों को चूर-चूर करके अपनी मृत्यु का बदला ले लिया। अभागा लोभदेव भयंकर संकट में पड़ गया। परन्तु उसके पुण्य से उसे वाहनों का एक तख्ता हाथ लग गया। उसे पकड़ कर वह सात दिन तक जीवन और मरण के झूले में झूलता रहा। आँखों में खारा पानी लगने के कारण अत्यन्त जलन होने लगी। गिरता-पड़ता किसी तरह वह तारद्वीप के किनारे आ लगा।

विचित्र था तारद्वीप और वहाँ के निवासी। वे बलि के बकरे की तरह छह महीने तक उसे खूब खिलाते-पिलाते और हृष्ट-पुष्ट बनाते रहे। फिर एक दिन उसका शरीर स्थान-स्थान से चीरकर उसका खून निचोड़ लिया। इस असह्य वेदना से वह छटपटाता, रोता, चिल्लाता, पर वहाँ उसकी पुकार कौन सुनता? इस जिन्दगी की अपेक्षा वह मौत को अच्छी मानने लगा, मौत की अपलक प्रतीक्षा करता रहा, पर मौत यों कैसे आती?

फलतः मौत तो नहीं आई, मगर एक दिन एक भारण्डपक्षी उसे मांसपिण्ड समझकर अपने पंजों में दबाकर ले उठा। वह उड़ता जाता और बीच-बीच में अपनी नुकीली चोंच से उसका मांस भी नोचता जाता। एक अन्य भारण्डपक्षी ने इसे देखा तो वह भी मांस के लोभ से वहाँ आया। दोनों पक्षियों में मासपिण्ड के लिए परस्पर छीना झपटी होने लगी। इस छीनाझपटी में लोभदेव (मांस पिण्ड) नीचे बहते अथाह जल समुद्र में गिर पड़ा। उसके घावों में समुद्र का खारा पानी भर गया। अतः उसकी असह्य वेदना से वह तिलमिला उठा। उसकी वेदना का यहीं अन्त न हुआ। उसके शरीर को बाहर निकालकर चीरा गया, फिर उसमें से रत्न निकाला गया। यह था लोभ का कटुक फल! कितनी भयंकर दुर्गति हुई लोभदेव की। लेकिन दूसरों से ठगी, धूर्तता या बेईमानी से धन-हरण करते समय लोभी मनुष्य का ध्यान इन बुरे परिणामों की ओर जाता ही कहाँ है? उसकी दृष्टि तो एकमात्र अर्थ पर टिकी रहती है।

ऐसे ही अर्थलोभी धनिकों के लिए ईसामसीह ने कहा था—"सुई के छेद में से होकर ऊँट का निकलना सम्भव हो भी जाए, लेकिन लोभी धनिकों का स्वर्ग के द्वार में प्रवेश करना असम्भव है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थलोभ आधुनिक सामाजिक बुराइयों का मूल

आज के युग में छल, प्रपंच, झूठ-फरेब, भ्रष्टाचार, बेईमानी, धोखाधड़ी, मिलावट, रिश्वतखोरी, तस्करी, चोरबाजारी आदि जितनी भी सामाजिक बुराइयाँ फैली हुई हैं, जिनके कारण हमारा राष्ट्र एवं समाज नैतिक दृष्टि से खोखला एवं दिवालिया हो रहा है, इसकी तह में जाएँ तो मालूम होगा कि ये सब अर्थलोभ की करामात है। अर्थलोभ ही इन सबका जन्मदाता है। प्रामाणिकता, न्याय-नीति और सत्य व्यवहार की कमी आदि सब कुछ लोभी मनुष्यों की लुब्धकवृत्ति का ही परिणाम है। अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु की मिलावट क्यों होती है ? दूध में पानी क्यों मिलाया जाता है, तोल-नाप में न्यूनाधिकता का क्या कारण है ? रिश्वत क्यों ली जाती है ? इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है, वह है अधिकाधिक धनप्राप्ति की लालसा।

सारे खुराफातों की जड़ : धनलिप्सा

गहराई से देखा जाए तो संसार में कोई भी ऐसा पाप नहीं है, जो धन के लोभ के कारण न होता हो। चोरी, लूट, ठगी, व्यभिचार, छल, बेईमानी, अन्याय, हिंसा, जुआ, आदि कोई भी ऐसी बुराई नहीं है, जो अर्थ लोभ के कारण न होती हो। इसलिए एक कहावत मशहूर है—

"Covetry is the cause of many disastours."

—लुब्धता अनेक विपत्तियों का कारण है।

श्रीमद् भागवत में इसे अनर्थों का मूल बताते हुए कहा है—

"स्तेयं हिंसाऽनृत दम्भः कामः क्रोधः स्मयोमदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्द्धा व्यसनानि च॥
एते पचदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादर्थमनर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥

चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, स्मय, मद, भेद (फूट) वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा और व्यसन—जुआ, व्यभिचार और शराब; ये १५ अनर्थ मनुष्यों में अर्थमूलक माने गए हैं। अतः श्रेयोऽर्थी पुरुष अर्थनामवाले इस अनर्थ का दूर से ही त्याग कर दे।

धन का नशा : सबसे बढ़कर

अर्थपरायण लोभी मनुष्य यह नहीं देखता कि दूसरे के साथ मेरे क्या सम्बन्ध हैं ? वह अपने अर्थ के नशे में दूसरे का अपमान करते देर नहीं लगाता। वास्तव में धन का नशा बहुत ही बढ़कर है, इस बात को राजस्थान के विहारी कवि ने भी बताया है—

कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वा खाए बौरात है, या पाए बौराय॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कनक सोने को भी कहते हैं और कनक धत्तूरे को भी। दोनों में अन्तर यही है कि धत्तूरे से सोने में सौ गुनी मादकता अधिक हो जाती है। धत्तूरे को तो खाने पर मनुष्य नशे में पागल बनता है, जबकि सोना प्राप्त होते ही उसके मद में मनुष्य बावला बन जाता है।

क्या आपने लखपति घर में ब्याही हुई उस लड़की की कहानी सुनी, जो अपने भाई के गरीब हो जाने पर जब वह अपनी लखपति बहन से मिलने गया तो उसने फटे हाल समझ कर पहचानने से भी इन्कार कर दिया था। परन्तु जब वह पुनः व्यापार करके स्वयं लखपति सेठ बनकर अच्छे वस्त्राभूषण पहन कर बहन से मिलने गया था तो उसने खूब आवभगत की थी। भाई उस स्वादिष्ट भोजन को प्रारम्भ करने से पहले वस्त्राभूषणों को खिलाने लगा। बहन के द्वारा कारण पूछने पर उसने बताया कि तुम तो इन गहनों को पहचानती हो, भाई को नहीं।" आखिर बहन ने भाई से क्षमा मांगी तब उसने भोजन किया। तुलसीदास का यह कथन कितना सत्य है—

दौलत से दौलत मिले कर-कर लांबा हाथ।
तुलसीदास गरीब की कोउ न पूछे बात॥

अर्थपरायण लोभी : कर्तव्यभ्रष्ट

प्रायः यह देखा जाता है कि मनुष्यों में अर्थपरायणता के कारण कर्तव्य-भ्रष्टता आ जाती है। रिश्वत लेकर जैसे मनुष्य सरकार के प्रति कर्तव्य परायण नहीं रहता, वैसे ही सम्पत्ति के लोभ से मनुष्य अपने स्वामी के प्रति वफादार नहीं रहता। वह धन का लोभ मिलते ही आँखें बदल देता है।

अवन्तीपति चण्डप्रद्योत की इच्छा के विरुद्ध वत्सराज उदयन राजकुमारी वासवदत्ता को एक हाथी पर बिठाकर भाग निकले। प्रद्योत के सैनिकों ने उनका पीछा किया। उदयन ने शस्त्रास्त्र से नहीं, धन से उनका सामना किया। उन्होंने थैला भरकर स्वर्णमुद्राएँ समीप आए सैनिकों पर बरसा दीं। सारे सैनिक कर्तव्य को भूल कर स्वर्णमुद्राएँ बटोरने लग गये। तब तक उदयन को काफी अधिक दूरी पार करने का मौका मिल गया। सैनिक दुबारा निकट पहुँचे तो उसी प्रकार मुद्रावर्षण का प्रयोग दुहरा दिया। इस प्रकार उदयन अवन्ती की सीमा पार कर गए। धन के लोभी कर्तव्यभ्रष्ट सैनिक उदयन को नहीं पकड़ सके।

इसीलिए कहा गया है—

दौलत की दो लात हैं, 'तुलसी' निश्चय कीन्ह।
आवत-अन्धा करत है, जावत करे अधीन॥

लोभी धन-परायण क्यों होते हैं ?

अर्थलोभ से इतने अधिक नुकसान होते हुए भी मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर क्यों धन के पीछे बेतहाशा भागता है ? उसे धन-संग्रह करने में केवल अपना स्वार्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध करने में कौन-सा लाभ है ? क्या सुख है ? कौन-सा पेट भर जाता है ? वर्तमान युग का यह एक ज्वलन्त प्रश्न है, जिसका उत्तर हमें अनुभवी आँखों से ढूंढना चाहिए।

अर्थ के पीछे भाग-दौड़ करने वालों का कहना है कि संसार में प्रत्येक व्यक्ति आदर-सम्मान के साथ जीना चाहता है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा हो, सभी उसकी वाहवाही करें, उसे उच्च आसन दें, इसप्रकार की प्रबल इच्छा मनुष्य में रहती है। और इस अभिलाषा की पूर्ति के लिए अधिकाधिक धन प्राप्ति एक प्रबल साधन है। जिसके पास धन होता है, वह धन से जीवन-यापन की सभी सामग्री, सुख-सुविधाएँ खरीद सकता है, दूसरों को पैसे देकर काम करा सकता है, सभा संस्थाओं में पैसा देकर नाम कमा सकता है। पैसा होने पर मनुष्य को सब जगह आदर मिलता है। संसार में सर्वत्र पैसे की पूछ है। वह यही सोचता रहता है कि **'सर्वेगुणाः कांचन-माश्रयन्ति'**—सभी गुण स्वर्ण-धन के आश्रय में रहते हैं। ये ऊँचे-ऊँचे भवन, अट्टालिकाएँ, बगीचा, कोठी, मिल, कारखाने, कार आदि सब साधन धन से प्राप्त हो सकते हैं। हीरे का हार, मणियों के आभूषण और सोने के गहने सब पैसे के खेल हैं। फिर पैसे से पैसा बढ़ता है। पैसे से नौकर-चाकर आदि रखकर मनुष्य सुखोपभोग कर सकता है। ये और ऐसे ही कुछ कारण हैं, जिससे अर्थ लोभ से प्रेरित होकर मनुष्य अधिकाधिक धनोपार्जन एवं धनसंग्रह में लगा रहता है।

वास्तव में देखा जाए तो अर्थ के आधार पर जो मनुष्य की उच्चता और महत्ता का मूल्यांकन किया जाता है, वह बिलकुल गलत है। भारतवर्ष त्याग का पुजारी रहा है, वह गुणों का पूजक और प्रशंसक रहा है। यहाँ किसी को आदर-सत्कार उसके त्याग, विनय, सेवा, विद्या, विवेक, सदाचार आदि गुणों पर से दिया जाता था, न कि केवल धन का ढेर देखकर। धन तो वेश्या, कसाई, चोर, डाकू आदि के पास भी बहुत होता है, परन्तु समाज में उनका जीवन उच्च, उत्कृष्ट एवं प्रशंसनीय नहीं माना जाता। केवल धन के गज से मनुष्य की उच्चता एवं महत्ता को नापना गलत है। इसी गलत पैमाने के कारण समाज में अनेक अनर्थ पनप रहे हैं। येन केन प्रकार धन बटोरने के लिए अनेक हथकंडे किए जाते हैं। यही समाज और राष्ट्र के अधःपतन का कारण है।

अर्थ-परायणता या धनलिप्सा के कारण जहाँ व्यक्ति रात-दिन आर्त-रौद्र ध्यान से घिरा रहता हो, वहाँ धर्मरुचि या धर्मध्यान कहाँ रह सकता है ? जहाँ धर्म नहीं, वहाँ कोरे धन से सुख-शान्ति कैसे हो सकती है ? यही कारण है कि नीति, न्याय और धर्म के विवेक को तिलांजलि देकर जहाँ धन कमाया जाता है, वहाँ कलह, क्लेश, वैर, ईर्ष्या, छीना-झपटी, चिन्ता आदि अनेक दुःख धन के साथ ही साथ लग जाते हैं और धन कोई स्थायी रहने वाला नहीं है। यह सभी शास्त्र और अनुभव एक स्वर से पुकार कर कहते हैं। फिर अधिक धन बटोर कर धन के पीछे नींद हराम करने से क्या लाभ है ? क्या सुख है, जिस धन के पीछे अनेक अनर्थ और पाप लगे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हुए हैं, उस अनैतिक और लोभ प्रेरित अत्यधिक धन से कौन-सी सुख-शान्ति मिल सकती है। पाप और अनर्थ मनुष्य की सुख-शान्ति को चौपट कर देते हैं। धन एक साधन अवश्य है, परन्तु उसे ही साध्य मान कर उसे जैसे-तैसे प्राप्त कर लेने की धुन महज एक सिरदर्द है। धन से कदाचित् नर्म बिछौना मिल सकता है, पर नींद नहीं; मन्दिर, उपाश्रय आदि बन सकते हैं, पर, भगवान् अपने नहीं बन सकते, उससे भौतिक सुख मिल सकते हैं, आध्यात्मिक नहीं, धन से चापलूस मिल सकते हैं हित-चिन्तक नहीं, धन से औपचारिक सम्मान और प्रतिष्ठा मिल सकती है, हार्दिक सम्मान नहीं। धन से पुस्तकें खरीदी जा सकती हैं, विद्या और बुद्धि नहीं, धन से खुशामद करने वाले नौकर रखे जा सकते हैं, वफादार सेवक नहीं। धन का अधिक संग्रह संतान को कदाचित् सुखी और प्रायः अकर्मण्य बना सकता है। परन्तु धन से उसे चरित्रवान एवं गुणी नहीं बनाया जा सकता। धन से दूसरे का श्रम खरीदा जा सकता है, परन्तु आलस्य से बिगाड़ने वाला स्वास्थ्य नहीं, धन जीवन की बाहरी चमक दिखा सकता है, परन्तु जीवन की आन्तरिक चमक दमक नहीं। इसीलिए गौतम ऋषिजी ने जीवन की परख का पहला सूत्र दिया है—"**लुद्धा नरा अत्थपरा हवंति।**"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३

होते मूढ नर कामपरायण

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

पिछले सूत्र में लुब्धजीवन की झांकी बताई गई थी। लोभी-मानव अर्थ के पीछे पड़कर अपना अमूल्य जीवन नष्ट कर देता है। आज मैं गौतमकुलक के दूसरे सूत्र (यानी प्रथम गाथा के दूसरे चरण) में दी हुई मूढ़ जीवन की झांकी प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसमें बताया है कि किस प्रकार एकमात्र काम के पीछे पड़कर मानव अपने अमूल्य जीवन को बर्बाद कर देता है।

काममूढ़ : जीवन की समग्र शक्ति का नाशक

मूढ़ मनुष्य वह है, जो अपने हिताहित को नहीं समझता और मोह में पड़कर अपने जीवन को शक्तिशाली बनाने के बदले बर्बाद कर देता है। मनुष्य का शरीर एक शक्ति-उत्पादक डायनेमो की तरह है। इसमें नित्य निरन्तर महत्वपूर्ण शक्तियों का उद्रेक होता रहता है। जब उन शक्तियों का अपव्यय रोककर उन्हें संग्रहीत कर लिया जाता है और उचित दिशा में लगा दिया जाता है तो महान् कार्य सम्पन्न होते हैं और जब इस शक्ति-उत्पादक शरीर को विषयभोगों या कामवासनाओं के छिद्रों से नष्ट कर दिया जाता है तो मनुष्य दीन-हीन, असहाय और परावलम्बी तथा पराधीन बन जाता है। अपना शक्तिधन लुटा देने के बाद मनुष्य का शरीर थोथा है, रीता है। पाश्चात्य विचारक Channing (चेनिंग) ने ठीक ही कहा है—

"Sensuality is the grave of the soul."

—काम-भोगासक्ति आत्मा की कब्र है।

सचमुच मानव कामशक्ति को उचित दशा में मोड़ने के बजाय, उसका विपरीत दिशा में प्रयोग करके शरीर का सर्वनाश कर लेता है। कामशक्ति का उचित दिशा में उपयोग जीवन शक्ति का एक चिह्न है। इस शक्ति को संचित रखकर उसका सदुपयोग करने से मनुष्य का जीवन प्रभावशाली और महत्वपूर्ण बनता है।

जिस समय राम-रावण युद्ध का प्रथम दौर शुरू हुआ, उस समय रावण ने अपने सर्वोच्च सेनापति मेघनाद को ही सबसे पहले लड़ने भेजा। मेघनाद पर रावण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को युद्ध विजय का पूरा भरोसा था। मेघनाद को आता देख श्रीराम पीछे हट गये और बोले—"लक्ष्मण ! मेघनाद के साथ तुम्हें ही युद्ध करना है।"

अपार शक्तिशाली राम को पीछे क्यों हटना पड़ा और अकेले लक्ष्मण को ही क्यों उसका सामना करने भेजना पड़ा ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए राम ने ही कहा—"लक्ष्मण ! मेघनाद बारह वर्षों से तप कर रहा है, ब्रह्मचारी है और तुमने पिछले १४ वर्षों से स्त्री का मुँह तक नहीं देखा, मेरे साथ रहकर तपस्वी और संयमी जीवन बिताया है। इसलिए तुम ही मेघनाद को हरा सकते हो। मैं तो गृहस्थ हूँ।" सचमुच लक्ष्मण ही मेघनाद को हरा सके। मेघनाद का दूसरा नाम इन्द्रजीत भी था। जिसका तात्पर्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने से है। स्पार्टानिवासियों के शरीर बहुत ही हृष्टपुष्ट और प्रभावशाली क्यों होते थे। वहाँ के एक प्रसिद्ध राजा लाइकरगस ने अपनी प्रजा की शारीरिक मानसिक शक्ति बढ़ाने के लिए अपने राज्य में नियम बना दिया था कि कोई भी व्यक्ति शादी होने से पहले किसी भी युवती से प्रेमालाप नहीं कर सकता। विवाह की उम्र भी उसने निर्धारित कर दी थी। विवाह होने के बाद भी कोई परस्त्री या वेश्या से कामवासना की दृष्टि से सम्पर्क नहीं कर सकता था। यही कारण है कि स्पार्टानिवासी कामवासना से बहुत ही बचे रह सके। उनके शरीर सुडौल, स्वस्थ और हृष्टपुष्ट होते थे। बड़े-बड़े युद्धों में वे विजयी हुए। अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका में काम-भोग में आसक्ति के नतीजे बताये हैं—

"ब्रह्मा लूनशिरो हरिर्दशि सरुक् व्यालुप्तशिश्नो हरः।
सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक् सोमः कलंकांकितः॥
स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः खलु वपुः संस्थैरुपस्थैः कृतः।
सन्मार्गस्खलनाद् भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि॥"

अर्थात्—कामान्ध होकर ब्रह्माजी ने अपना सिर कटवाया, विष्णु नेत्र रोगी बने, महादेवजी का शिश्नछेदन हुआ, सूर्य छीला गया, अग्नि सर्वभक्षी बना, चन्द्रमा सकलंक बना, तथा इन्द्र का शरीर सहस्रभगयुक्त बना। सच है, सन्मार्ग से गिर जाने पर चाहे कितने ही समर्थ व्यक्ति क्यों न हों, प्रायः विपद्ग्रस्त हो ही जाते हैं।

एक पाश्चात्य विद्वान Bovee (बॉवी) ने ठीक ही कहा है—

'The body of a sensualist is the coffin of a dead soul.'

विषयभोगी कामी का शरीर मुर्दे की पेटी के समान है।

मि० पिटरसन नामक एक विद्वान ने लिखा है—'मुझे कुछ महीनों पहले एक ४० वर्ष का आदमी मिला, जो चेहरे से ६० वर्ष का मालूम होता था। इसका कारण यह था कि वह जीवन में सभी तरह के विषयानन्द लूट कर अब विषयों से पूरी तरह ऊब चुका था। दुनिया में अब उसको किसी भी वस्तु में दिलचस्पी नहीं थी। उसने जिंदगी की सभी चीजों से रस लिया था, पर दिया कुछ भी नहीं। वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विद्वान था, व्यापारी था, अनेक देशों में भ्रमण भी कर चुका था। अनेक घाटों का पानी पीकर ४० साल की उम्र में वह इस स्थिति पर पहुँच गया था कि अब जीवन में उसे जरा भी रस नहीं रहा। उसकी जिंदगी रूखी, कटु, मनहूस और विषाक्त बन गई थी। प्रकृति ने उसे अच्छा शरीर दिया था, लेकिन उसने सार-सम्भाल न करके इतनी लापरवाही से अपना जीवन बिताया कि ४० वर्ष में तो उसके बाल सफेद हो गये थे। वृद्धावस्था के सभी चिह्न उसके शरीर पर दिखाई दे रहे थे। उसके अध्ययन और देशाटन से जो ज्ञान उपार्जित किया था, वह जीवन में सच्चा उपयोगी नहीं हो सका। उसका मन अपने स्वार्थी विचारों में इतना तल्लीन हो गया था कि उसने क्या खाया-पिया ? कौन-से विषय का उपभोग किया ? क्लब में कौन-सा खेल खेला ? इनके सिवाय दूसरा कोई विचार उसके दिमाग में घुस नहीं सकता था ?"

यह है विषयभोगी स्वार्थी जीवन का नीरस चित्र ! यही तो मूढ़ जीवन है, जो केवल विषयभोगों की ओर दौड़ लगाकर अपने उत्कृष्ट एवं बहुमूल्य देवदुर्लभ मानव-जीवन को पशु-जीवन से भी गया-बीता बना लेता है।

कामभोगों में कितना सुख, कितना दुःख ?

कामी जीवन का एकमात्र उद्देश्य इन्द्रियविषयों में सुख की कल्पना करके उसी में डूबे रहना है। जैसे कुत्ता मुँह में हड्डियाँ चबाता है, तब उसे बहुत ही सुख महसूस होता है, वह समझता है कि हड्डी में से रस आ रहा है। परन्तु उस मूढ़ को यह पता नहीं होता कि वह रस तो चबाते समय उसके मुँह से निकले हुए खून का ही है, हड्डी का नहीं। इसी प्रकार इन्द्रियविषयी सांसारिक कामभोगों की तृप्ति में ही लगे रहते हैं। विषयास्वादन में उन्हें आनन्द आता है जिसका आभास वास्तव में उनके शरीर के निचुड़ जाने से उन्हें होता है। ऐसे लोग रात-दिन इसी उधेड़बुन में रहते हैं कि उनके कानों में संगीत की मधुर स्वर लहरियाँ पड़ें, उनके नाक में चारों ओर से मादक सुगन्ध का ही प्रवेश हो, दुर्गन्ध का कहीं नामोनिशान न हो, उनकी जीभ सरस, स्वादिष्ट, चटपटे व्यंजनों का ही आस्वादन करती रहे, रूपवती सुन्दरियाँ उससे लिपटी रहें, उसकी आँखों के सामने सिर्फ उत्तमोत्तम कामोत्तेजक दृश्य आते रहें। इन्हीं विषयों की तृप्ति में वह संसार का सारा सुख मानता है। परन्तु इन्द्रिय-विषयों का अधिकाधिक उपभोग क्या उसे आनन्द दे सकता है ? क्या उसे विषयों का सहवास सुख प्रदान कर सकता है ! कदापि नहीं। अगर विषय सेवन में ही सुख होता तो दुनिया में सबसे अधिक सुखी विषयासक्त होते। परन्तु आज दुनिया में सबसे अधिक दुःखी, अशान्त एवं नीरस विषयभोगी कामी हैं। पाश्चात्य विचारक सेनेका (Sencca) कहता है—

It sensuality were happiness beasts were happier than men, but human falicity is loged in the soul not is the flesh.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"अगर विषयभोगों में अधिक सुख होता तो पशु मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सुखी होते, किन्तु मनुष्य का आनन्द आत्मा में निहित है, मांस (शरीर) में नहीं।"

इसलिए विषयभोगों का, कामवासना का जितना-जितना सेवन किया जायगा, सुख उतना ही उतना जीवन से दूर होता चला जायगा।

अमेरिका आज सबसे अधिक धनाढ्य देश माना जाता है। वहाँ के निवासियों के पास एक से एक बढ़कर इन्द्रिय-विषयों के उपभोग की सामग्री है और वे उन विषयों का खुलकर उपभोग करते हैं। परन्तु उन्हें क्षणिक सुख के सिवाय अधिकतर दुःख ही दुःख मिलता है। वे विषयों का उपभोग करते-करते ऊब गये हैं, बेचैन हैं, अशान्त हैं। आज दुनिया भर में सबसे अधिक मानसिक रोगी हैं तो अमेरीका में हैं। क्या कारण है, उनके दुःख का ? अगर विषयभोग की आसक्ति या कामतृप्ति सुख का कारण होता तो अमेरीका के लोग सुख की खोज में भारत जैसे देशों में न भटकते, न भारतीय योगियों से वे सुख-शान्ति का मार्ग पूछते ! इसीलिए तो शास्त्र में कहा गया है—

"बालाभिरामेसु दुहावहेसु, न तं सुहं कामगुणेसु रायां !"

"हे राजन् ! काम-भोग या इन्द्रियविषयोपभोग मूढ़ (अज्ञानी) जनों को रमणीय लगते हैं, परन्तु वे अनेक दुःखों के लाने वाले हैं, इसलिए विवेकी एवं आत्मिकसुखाभिलाषी जन इन कामभोगों में सुख नहीं देखते।"

सचमुच कामभोग प्राणियों के लिए रोग के कारण हैं। जो व्यक्ति क्षणमात्र के लिए सुखद, किन्तु चिरकाल तक दुःख देने वाले कामभोगों को अपनाता है। वह जानबूझ कर अपने बहुमूल्य जीवन को दुःख के गड्ढे में डालता है। इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है—

"Worldly and sensual pleasues for the most part, are short false, and decitful; like drunkenness, they revenge the jollymad ness of one hour with the sad repentance of many."

'सांसारिक और इन्द्रियविषयों के आनन्द प्रायः क्षणिक, झूठे और धोखे से भरे होते हैं। वे नशीली चीजों से होने वाले नशे के समान अनेक पश्चात्तापों को साथ लिये हुए सिर्फ एक घण्टा तक पागलपन की खुशी देते हैं।'

ऐसे कामभोगों में सुख मानकर जो व्यक्ति रात-दिन इनके पीछे भागता रहता है, वही शास्त्रीय भाषा में मूढ़ है। उन्हीं के लिए कहा गया है—

"मूढ़ा नरा कामपरा हवंति।"

काम क्या है ? क्या नहीं ?

प्रश्न होता है कि काम क्या है ? क्या वह मानव-जीवन के लिए स्वाभाविक नहीं है ? शास्त्रकार प्रत्येक शब्द का तौल-तौलकर प्रयोग करते हैं। जौहरी के कांटे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की तरह उनका एक-एक शब्द नपा-तुला होता है। काम शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—इच्छा-काम और मदनकाम। इच्छाकाम का अर्थ शास्त्रकार इस प्रकार करते हैं—

"मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः काम्यन्ते शब्द-रस-रूप-गन्ध-स्पर्शा इति कामाः" मोह के उदय से अभिभूत प्राणियों द्वारा जिन शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श, इन इन्द्रिय विषयों की या उनके उपभोग की कामना की जाती है, उन्हें काम कहते हैं। यों तो धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा आदि की इच्छा करना भी काम है। यह कामना जब अपनी सीमा से बाहर चली जाती है, तब तृष्णा का रूप ले लेती है। यहाँ इस प्रकार की कामना का अर्थ अभीष्ट नहीं है। यहाँ भोगों एवं इन्द्रियविषयों की प्राप्ति से आनन्द की इच्छा करना काम है। यही विषयेच्छा या वासना कहलाती है।

दूसरा है—मदनकाम। इसकी परिभाषा इस प्रकार है—

'कामः स्त्रीगतोऽभिलाषः' अर्थात् स्त्री-पुरुष के परस्पर संयोग की अभिलाषा काम है। मदनकाम वेदोदय के उपयोग से होता है। वह काम प्रवृत्ति का कारण होने से काम कहलाता है। काम के साथ भोग शब्द जुड़ा हुआ रहता है। काम और भोग में बहुत थोड़ा-सा अन्तर है। भगवती सूत्र (श० ३।उ० ७) में एक प्रश्नोत्तरी द्वारा काम और भोग के अन्तर का स्पष्टीकरण किया गया है—

'कइविहाणं भंते ! कामा पन्नत्ता ?'

'गोयमा ! दुविहा कामा पन्नत्ता, तं जहा-सद्दा, रूवा इति।'

"भंते ! काम कितने प्रकार के बताए गये हैं ?

"गौतम ! काम दो प्रकार के बताए गये हैं; वे इस प्रकार हैं—शब्द और रूप।"

"कइविहाणं भंते ! भोगा पन्नत्ता ?"

"गोयमा ! तिविहा भोगा पन्नत्ता, तं जहा-गंधा, रसा, फासा।"

भंते ! भोग कितने प्रकार के कहे हैं ?

"गौतम ! भोग तीन प्रकार के बताए गये हैं, जैसे कि गन्ध, रस और स्पर्श।

"कइविहाणं भंते ! काम-भोगा पन्नत्ता ?"

"पंचविहा कामभोगा पण्णत्ता तं जहा-सद्दा रूवा रसा गंधा फासा।"

"भगवन् ! समुच्चय रूप में काम-भोग कितने प्रकार के कहे गए हैं ?"

गौतम ! समुच्चय में काम-भोग पाँच प्रकार के बताए गए हैं, जैसे कि—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श।

जहाँ काम, तहाँ राम नहीं

इच्छाकाम हो, चाहे मदनकाम, दोनों ही प्रकार के काम जीव को धर्म से च्युत कर देते हैं। जब काम का जन्म हृदय में होता है, तब धर्म हृदय से पलायित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो जाता है, न ही धर्म शिरोमणि भगवान् रहते हैं; क्योंकि दोनों का एक साथ रह सकना कठिन है। काम का जोर प्रबल होता है, तब वह धर्म भावना या भगवत् प्रीति को दूर करके भगा देता है। सन्त कबीर ने इसी बात का समर्थन किया है—

"जहाँ काम, तहाँ राम नहीं, जहाँ राम नहीं काम।
दोऊ कबहुँ ना रहे, राम-काम इक ठाम॥"

इसके सबूत के रूप में हम गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन-प्रसंग प्रस्तुत करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी विवाह होने के पश्चात् अपनी स्त्री में इतने अनुरक्त हो गए थे कि वे अपनी पत्नी रत्नावली का एक घड़ी का विछोह भी सह नहीं सकते थे। उनके मन में राम (भगवान्) के बदले काम बसा हुआ था। किन्तु एक दिन रत्नावली का भाई पीहर से बहुत जरूरी कार्यवश उसे लेने आ गया था। तुलसीदासजी किसी कार्यवश बाहर गये हुए थे। रत्नावली यह मौका देखकर भाई के साथ अपने पीहर पहुँच गई। जब तुलसीदासजी घर आए और पत्नी को न देखा तो पड़ौसियों से पूछने पर पता चला कि वह अपने पीहर चली गई है। तुलसीदास जी मन मसोस कर रह गए। उनके लिए पत्नी का वियोग असह्य हो उठा। रात अंधेरी थी। चौमासे के कारण नदियों में पानी उफन रहा था। फिर भी कामाप्रेरित तुलसीदास जी एकदम उठे और अपने ससुराल की ओर चल दिए। नदी में नौका नहीं मिली तो एक मुर्दे की ठठरी पर बैठकर नदी पार की। ससुराल के गाँव में पहुँचे। ज्यों ही ससुराल के घर के आगे पहुँचे, दरवाजा बन्द था। आधीरात को कौन खोलता? अतः एक साँप, जो रस्सी की तरह लटकता मालूम हो रहा था, उसी को पकड़ कर उसी के सहारे दीवार लांघ कर घर में कूदे। आवाज होते ही उनकी पत्नी जाग गई। उसने दीपक लेकर उसके प्रकाश में देखा तो तुलसीदासजी! रत्नावली ने उपालम्भ देते हुए तुलसीदासजी को फटकारा—

जैसी प्रीत हराम में, वैसी हर में होय।
चला जाय बैकुण्ठ में, पल्ला न पकड़े कोय॥

सचमुच तुलसीदासजी अपनी पत्नी की प्रेरणा से कामप्रेरित मोह निद्रा छोड़ कर जाग गए और उसीदिन से काम से प्रीति करना छोड़ कर राम से प्रीति करने में लग गए। फिर तो वे प्रत्येक स्त्री में नयनाभिराम श्रीराम व सीता की मूर्ति के दर्शन करते थे। जब उनमें राम आ गया तो काम कैसे खड़ा रह सकता था?

इसीलिए दशवैकालिक निर्युक्ति में बताया है कि काम को काम क्यों कहा जाता है?

विसयसुहेसु पसत्तं अबुहजणं कामरागपडिबद्धं।
उक्कामयंति जीवं धम्माओ, तेण ते कामा॥

विषय सुखों में आसक्त, कामराग में लिपटे हुए अज्ञानी जीव को शब्दादि-विषय धर्म से उत्क्रमण करा (दूर हटा) देते हैं, इसीलिए इन्हें काम कहा जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काम ! तेरे कितने रूप ?

यों तो काम के मुख्यतया दो प्रकार बताए गये हैं – इच्छाकाम और मदन-काम। इच्छाकाम के मुख्य पाँच भेद हैं, जो काम-भोग दोनों के अन्तर्गत हैं। अब रहा मदनकाम; वह असम्प्राप्त और सम्प्राप्त के भेद से दो प्रकार का बताया गया है। चूंकि मदनकाम स्त्री-पुरुष के परस्पर संयोग से लेकर मैथुनक्रिया तक की प्रक्रिया को कहा जाता है इसलिए परोक्ष में स्त्री प्रसंग से पहले की जितनी वैचारिक प्रक्रियाएँ हैं, उन सबको असम्प्राप्त काम कहते हैं और प्रत्यक्ष में स्त्री-प्रसंग से पहले की दृष्टि सम्पात आदि प्रक्रियाएँ सम्प्राप्त काम कहलाते हैं। असम्प्राप्त काम की दस दशाएँ बताई हैं–(१) **अर्थ**–(किसी स्त्री के विषय में सुनकर उसको पाने की अभिलाषा करना), (२) **चिन्ता**—(उसके प्रति अनुरागपूर्वक चिन्तन करना), (३) **श्रद्धा**—(उसके प्रसंग की अभिलाषा करना), (४) **संस्मरण**—(मनोनीत स्त्री के चित्र आदि को देखकर याद करना, (५) **विक्लवता**—(स्त्री के विरह दुःख से उदास हो जाना), (६) **लज्जानाश**—(गुरुजनों के समक्ष उसके गुणगान करना), (७) **प्रमाद**—(उसके लिए आरम्भादि में प्रवृत्त होना), (८) **उन्माद**—(विक्षिप्त होकर बड़बड़ाना), (९) **तद्भाव**—(स्तम्भादि का स्त्रीबुद्धि से आलिंगन आदि चेष्टा करना), (१०) **मरण**—(निश्चेष्ट हो जाना)।

सम्प्राप्त काम की १४ दशाएँ बताई गई हैं—(१) **दृष्टि सम्पात**—(स्त्री के कुच आदि अंगों को देखना), (२) **दृष्टि सेवा**—(आँख से आँख मिलाना), (३) **सम्भाषण**—(काम दृष्टि से वार्तालाप करना), (४) **हसित**—(५) **ललित**—(चौपड़ पासे आदि से खेलना), (६) **उपगूढ**—(गाढ़ आलिंगन करना), (७) **दन्तनिपात**—(दन्त छेदन करना), (८) **नखनिपात**—(नख से काटना), (९) **चुम्बन**—(१०) **आलिंगन**, (११) **आदान**—(कुच आदि का ग्रहण), (१२) **करण**—(स्त्री प्रसंग की तैयारी करना), (१३) **आसेवन**—(मैथुन क्रिया) और (१४) **अनंग क्रीड़ा**—(कामांगों के अतिरिक्त अंगों से काम सेवन करना)।

इस प्रकार काम की विविध दशाओं का वर्णन कामसूत्र आदि ग्रन्थों में मिलता है।

भगवती आराधना में काम के १० वेगों का वर्णन है। वे इस प्रकार हैं—(१) काम के उद्दीप्त होने पर पहले चिन्ता होती है, (२) तत्पश्चात् स्त्री को देखने की इच्छा, (३) दीर्घ निःश्वास, (४) ज्वर, (५) शरीर जलने लगना, (६) भोजन में अरुचि, (७) महामूर्च्छा, (८) उन्मत्त की तरह चेष्टा करना, (९) प्राणों में सन्देह, और (१०) अन्त में मरण।

ये और इस प्रकार के अनेक रूप काम के हैं; जो काम की उत्पत्ति और वृद्धि के कारण हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काम-प्रवृत्ति स्वाभाविक है या अस्वाभाविक ?

बहुत-से लोग, पश्चिम के सेक्स साइकोलॉजी (भौतिकवादी यौन मनोविज्ञान) के विद्वानों के मतानुसार यह कहते हैं कि काम प्रवृत्ति भूख आदि की हाजतों की तरह स्वाभाविक हाजत है। उसके प्रकाशन और तृप्ति की प्रक्रिया में कोई रोक नहीं लगाई जानी चाहिए।

परन्तु भारतीय दर्शन, धर्म एवं मनोविज्ञान इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हैं। भारतीय दर्शन एवं धर्म गृहस्थ जीवन में व्यक्ति को नैतिक रीति से काम सेवन पर यानी धर्म से अविरुद्ध काम सेवन पर रोक नहीं लगाते, परन्तु जहाँ अनैतिक ढंग से या उच्छृंखलरूप से कामचिन्तन या कामसेवन का प्रश्न है, वहाँ भारतीय दर्शन या धर्म एक स्वर से उसका विरोध करते हैं; क्योंकि नैतिक मर्यादाओं को ताक में रखकर पशु की तरह उच्छृंखल काम-सेवन या कामचिन्तन से शरीर और मन दोनों का भयंकर नुकसान होता ही है, साथ ही परिवार और समाज के परम्परागत सुसंस्कारों एवं नैतिक नियमों पर जबर्दस्त असर पड़ता है। समाज, परिवार, जाति, एवं राष्ट्र में कामुक व्यक्ति के प्रति अविश्वास, सन्देह, घृणा और अनादर पैदा हो जाता है। काम भोग से होने वाली इहलौकिक और पारलौकिक हानियों का उल्लेख करते हुए जैनशास्त्र कहते हैं—

"सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामेय पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं॥"

काम शूल की तरह चुभने वाली वस्तु है, काम विष की तरह मारने वाली वस्तु है, काम आसीविष सर्प की तरह क्षणभर में भस्म करने वाली उग्र वस्तु है। जो लोग काम-भोगों के सेवन की लालसा करते हैं, वे उन कामों से अतृप्त रहते हैं, और दुर्गति में जाते हैं। थेरी गाथा में भी बताया है—**सत्ति सूलूपमा कामा'** अर्थात् 'काम, विष—बुझे बाणों के समान तथा तीखे भालों के समान पीड़ादायक है।' काम मनुष्य के भीतर छिपा हुआ वह भस्मकरोग है, जो उसे कदापि शान्ति और प्रसन्नता से जीने नहीं देता। यह जब मनुष्य के मन में प्रबल हो जाता है, तो उसे सत्कर्म की ओर बढ़ने नहीं देता। मनुष्य के आत्मबल को उभरने नहीं देता। उससे मनुष्य का तेज और ओज दब जाता है, समाप्त प्रायः हो जाता है। इसीलिए भगवद्गीता में कहा गया है—

"जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम्।"

वीर अर्जुन ! मुश्किल से काबू में आने वाले काम रूपी शत्रु को नष्ट कर डालो।"

जो लोग डॉक्टर थे, पश्चिम के काम मनोविज्ञान-वेत्ता थे और काम प्रवृत्ति को मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति मानते थे, शरीर विज्ञान में भी निष्णात थे, उन्होंने अनेक लोगों पर इस मान्यता का परीक्षण किया और इस बात को पाया कि उच्छृंखल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कामसेवन या कामचिन्तन से शारीरिक थकावट, अशक्ति, निराशा, चिन्ताबृद्धि, व्याकुलता, शंकालुता आदि के अकारण पैदा हो जाने से अत्यन्त दुःखित एवं त्रस्त हो जाना पड़ा। अधिक समय कामपरायण रहने वाले ऐसे डॉक्टरों को भी औरों की तरह 'न्युरे स्थेनिमा' का रोग हो गया। 'साइकॉलॉजी एण्ड मॉरल्स' नामक पुस्तक में मनोविज्ञानवेत्ता प्रो. हेडफील्ड ने लिखा है कि "स्वच्छन्द यौनाचरण (कामप्रवृत्ति) का परामर्श देना व्यक्ति को विनाश के मार्ग की ओर धकेलने की विधि है।"

इसलिए विषय सेवन जीवन का स्वाभाविक पक्ष नहीं है और न वह अनिवार्य ही है। मन में वासना उभरती है किन्तु आत्मार्थी व्यक्ति अपने ज्ञानबल एवं अन्तर्बल द्वारा उसका निग्रह कर लेता है। काम जीवन का दुर्बल पक्ष है, तथा बहुत नाजुक और मृदुल भी। अतः उससे बचने के लिए अत्यन्त जागरूकता और सावधानी बरतना अपेक्षित होता है, प्रतिक्षण उसे अन्तर्मुखी रहना होता है। मूढ़ व्यक्ति इस बात को नहीं समझते। वे कामसेवन में आनन्द मानकर उससे अधिकाधिक प्रवृत्त होते हैं। नतीजा यह होता है कि काम की प्रबल आसक्ति आत्मा को स्वभाव से विचलित बना देती है, जिसका परिणाम पाप के गर्त में अधिकाधिक डूबते जाना है।

काम का प्रचुर सेवन करके उससे सन्तृप्त होकर छोड़ देने की बात सोचना भयंकर भूल है, धोखा है।

विषय के सेवन से कामाग्नि अधिकाधिक उद्दीप्त होती है। जब काम के प्रबल आवेग पहले बताये गये विविध रूपों में उठते हैं, तब उन्हें रोक सकना बड़ा कठिन कार्य है। काम विकार के आवेग वास्तव में उन पागल कुत्तों की तरह हैं, जो अपने को पालने वाले को ही काट खाते हैं। इन पागल कुत्तों को न पालना ही सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। जो जितना अधिक कामविकारों को पालता है या पंपोलता है वह अपने जीवन में उतना ही अधिक विषबीज बोता है। वह मूढ़ है, जो सुरदुर्लभ मानव जीवन को कौड़ी के भाव लुटा देता है।

पुराणों में ययाति राजा का आख्यान आता है। ययाति राजा बड़ा बुद्धिमान था। मगर वह काम का कीड़ा था। वृद्ध हो गया, फिर भी उसकी काम लोलुपता नहीं मिटी। वह बहुत ही खिन्न और उदास रहने लगा। कामान्ध ययाति ने अनेक बुद्धिमानों से उपाय पूछा। उन्होंने एक उपाय बताया—अगर कोई आपका बुढ़ापा स्वयं ले ले और अपना यौवन आपको दे दे तो आप पुनः युवा हो सकते हैं। पिता की उत्कट भोगाकांक्षा और खिन्नता देखकर पुत्र ने उसे अपना यौवन दे दिया। कामान्ध ययाति फिर अधक रूप से कामसेवन करने लगा। उसकी इन्द्रियाँ क्षीण हो गयी, हाथ पैर ढीले पड़ गए, फिर भी कामासक्त ययाति अतृप्त रहा।' वह आचारांग सूत्र के शब्दों में अत्यन्त दुःखी हो गया—

"काम कामी खलु अयं पुरिसे से सोयइ; जूरइ, तिप्पइ, परितिप्पइ—जो कामान्ध एवं भोगान्ध होता है, वह भोग्य पदार्थ का वियोग या रोग होने पर या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मृत्यु निकट आने पर शोक करता है, झूरता है, प्रलाप करता है, बाह्य और आन्तरिक संताप से संतृप्त हो जाता है। उसे घोर वेदना और मानसिक खेद सहना पड़ता है। यही हाल ययाति राजा का हुआ। अन्त में, जब एकदम अशक्त और जर्जर हो गया, तब उसे बोध हुआ कि—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥"

कामों के उपभोग से कभी काम शान्त नहीं होता। आग में घी डालने पर वह शान्त होने के बदले और अधिक भड़कती है। कामासक्ति से मनुष्य वासना में अन्धा होकर बहक जाता है। वासनाओं की प्रबलता से मनुष्य की अन्तर्दृष्टि मलिन हो जाती है, तब वह विवेकहीन और पतनोन्मुख होकर अन्धे का-सा आचरण करने लगता है।

अतः यह कहना यथार्थ नहीं है कि कामप्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह काम की कुटेवों का पपोलने-पोसने और बराबर बढ़ाने का परिणाम है। अत्यधिक कामप्रवृत्ति की ओर पहले से ही मन को न जाने दिया जाए, पहले से ही उस कामप्रवृत्ति को धर्माचरण, जनसेवा, आत्मीयता, विश्वमैत्री आदि में परिवर्तित कर दिया जाये तो न तो कामवृत्ति मन में रहेगी और न ही वह बढ़ेगी। अतः काम की प्रचण्डता को देखकर काम को मनुष्य की मूल प्रवृत्ति मान लेना, एक हस्यास्पद भ्रान्ति है। यह मन की प्रचण्डता का और मन द्वारा प्रेरित कामाभ्यास का परिणाम है। जैसे पागलपन को मनुष्य की मूल प्रवृत्ति या वृत्ति मान लेना भ्रान्ति है, उसी प्रकार कामवासना को भी मूल प्रवृत्ति या वृत्ति मान लेना भ्रान्ति है।

काम-वासना का दमन नहीं, शमन हो

कई लोग यह कहा करते हैं कि कामवासना का दमन अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोगों को जन्म देता है, कामोत्तेजना को दबाने से स्नायविक तनाव हो जाता है। यह किसी हद तक सत्य है कि जब एक ओर कामक्रीड़ा के प्रति व्यक्ति के मन में प्रबल पाप भावना घर कर लेती है, दूसरी ओर परिवार, समाज आदि के भय के कारण कामवासना दमित की जाती है; अचेतन मन में उसकी आग धधकती रहती है, जो आगे चलकर काम-कुटेवों या शारीरिक मानसिक विकृतियों, अथवा अप्राकृतिक मैथुन चेष्टाओं के रूप में फूटती हैं। काम कुटेवों का प्रारम्भिक परिणाम स्वप्नदोष, उपन्यासादि अश्लील साहित्य वाचन, हस्तमैथुन, अप्राकृतिक मैथुन में आता है। फिर तीव्र कामाभिलाषा उत्पन्न होती है और काम-पीड़ित व्यक्ति सामान्य विधि एवं पात्र को छोड़कर किसी अस्वाभाविक विधि या अनुपयुक्त पात्र द्वारा यौनेच्छा की संतुष्टि करता है। परपीड़क काम क्रीड़ाएँ, काम-मूलक आत्मप्रपीड़न, प्रदर्शन-स्पर्श-विचित्र वेष धारण या विवस्त्रप्रियता, इतरेतर वस्त्रप्रियता, अत्यन्त घृणित एवं बीभत्सरूपों में विचित्र कामचेष्टाएँ करना, आदि कामकुटेवों के उत्कट रूप हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शव-यौनवृत्ति, कामैषणा—हत्याएँ, तथा पशुयौनवृत्ति आदि भी कामकुटेवों के विचित्र विकृत रूपों की पराकाष्ठा है।

परन्तु यह सब अचेतन मन को प्रशिक्षण देने की विधियाँ न जानने का परिणाम है। व्यक्ति के मन में जब भी कामोत्तेजना होती है, प्रथम तो उसकी भूल से होती है। कामोत्तेजना करने वाले खानपान, रहन-सहन, वातावरण, अश्लील दृश्य प्रेक्षण या अश्लील पठन-श्रवण को अगर व्यक्ति जरा भी प्रोत्साहन न दे, अपने मन को उस ओर लगाये ही नहीं, अपराध का बोध होते ही उसके प्रति गुरुजनों—परिवारों —प्रियजनों या समाज द्वारा अथवा स्वयं अपने ही द्वारा उसकी भर्त्सना की जाय, उसे मन में प्रवेश करते ही खदेड़ दिया जाये तो कामवासना को आगे बढ़ने का मौका नहीं मिलेगा और न ही वह अचेतन मन में जाकर जायेगा एवं न वह उत्कट रूप ही ले सकेगा।

केवल भर्त्सना से या दुराग्रह या हठपूर्वक कामोत्तेजना को या कामकुटेवों से मुक्ति पाना सम्भव नहीं है। ऐसा करने से दमित भावना अचेतन मन में चली जायेगी, जो असामान्य क्रम में होने वाले स्वप्नदोष से लेकर विभिन्न यौन रोगों तथा शारीरिक मानसिक विकृतियों का कारण बनेगी। ऐसा न करके काम का परिष्कार किया जाय, काम शक्ति को अध्यात्म की ओर मोड़ा जाये। अपराध के बोध के साथ ही पश्चात्ताप के साथ अपराध प्रकटीकरण तथा प्रायश्चित्त किया जाए तो अपराधी वृत्ति से मुक्ति का संकल्प प्रबल हो जाने पर अपनी संकल्प शक्ति या इच्छाशक्ति को क्रियान्वित करने की शक्ति पर आस्था हो तो काम का शमन हो सकता है। इच्छाशक्ति की दुर्बलता ही तो कामप्रवृत्ति को आगे बढ़ने देती है। जिसके भयंकर परिणाम व्यक्ति को स्वयं भोगने पड़ते हैं।

अगर व्यक्ति की नैतिक मान्यताएँ प्रबल संस्कार के रूप में हों तो कामावेगजन्य विकृतियों से बचा जा सकता है। नैतिक मान्यताओं का सीधा सम्बन्ध आध्यात्मिक क्षेत्र से है; वे मात्र नियन्त्रक ही नहीं, प्रेरक या निर्देशक भी हैं। उनके बिना जीवन के किसी भी क्षेत्र में सार्थक क्रियाशीलता सम्भव न हो सकेगी। अतः आवश्यकता काम के दमन की नहीं, शमन की है, बहिष्कार की नहीं, परिष्कार की है, रूपान्तर की है, उसकी दिशा मोड़ने की है। इच्छाशक्ति या कामशक्ति को विविध सत्कार्यों विश्वमैत्री, जनसेवा आदि धर्माचरणों में लगा दिया जाये तो प्रबल पुरुषार्थ हो सकता है। कामभावना को धर्मदिशा में परिष्कृत किया जा सके तो वह न तो विनाशकारी बनेगी और न अनैतिक ही। उसे जीवन को आनन्दित एवं उत्कृष्ट बनाने में बुद्धिमत्तापूर्वक मोड़ा जाये तो वह हर दृष्टि से लाभप्रद सिद्ध होगी।

काम के प्रवाह में बह जाने पर सर्वनाश

काम का प्रबल वेग जब आता है, अगर मनुष्य तब उसके प्रवाह में बह जाता है तो उसका फिर शतमुखी पतन होना प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए जो व्यक्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेकी होता है वह काम के प्रवाह में फिसलने का प्रसंग आते ही एकदम सावधान हो जाता है, परन्तु मूढ़नर इस बात को दीर्घदृष्टि से न सोच कर, परिणामों का विचार किये बिना ही काम में अन्धा होकर कूद पड़ता है।' उफनती नदी के समान ही कामवासना का आवेग अत्यन्त तीव्र होता है। उस समय मूढ़ पुरुष का विवेक लुप्त हो जाता है, वह कुछ भी भला-बुरा न सोचकर आँख होते हुए भी अन्धा बन जाता है और कामवासना की आग में कूद पड़ता है।

महर्षि विश्वामित्र बहुत बड़े तपस्वी थे। उनका प्रभाव बहुत बढ़ा चढ़ा था। साधना भी उन्होंने काफी वर्षों से की थी। परन्तु एक क्षण की भूल उनके जीवन के लिए भयंकर पतन का कारण बन गयी। मेनका का सुन्दर रूप देखकर वे मोहित हो गये, अपने क्षणिक कामावेश को वे न रोक सके। फलतः उन्हें वर्षों की साधना के फल से वंचित होना पड़ा। कामवासना का प्रबल आवेग मेनका-जैसे अनेक सुन्दर रूप बनाकर आते है। चतुरजन उसे दूर से ही नमस्कार कर लेते हैं, परन्तु अदूरदर्शीय मोहमोहित जन बिना विचारे ही उसे प्रश्रय दे देते हैं, उसके प्रवाह में बह जाते हैं। काम अपने-आप में पतन का कारण नहीं है, किन्तु जब मनुष्य किसी स्त्री के रूप आदि में मोहित होकर संकल्प विकल्प करता है, तभी उसका पतन होता है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है—

"जइ तं काहिसि भावं जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धोव्व हडो अट्ठि-अप्पा भविस्ससि॥"

"हे साधक! तू जिन-जिन स्त्रियों को देखेगा, उन-उनके प्रति अगर तू काम-भाव ही करता रहेगा तो हवा के झोंके से डोलते हुए हड वनस्पति के पौधे की तरह अस्थिरात्मा हो जायेगा।"

काम के प्रवाह में बहने वाला सर्वप्रथम मन है। मन के पीछे इन्द्रियाँ चलती हैं। अगर मन से संकल्प न किया जाय तो कामवासना उत्पन्न होने या बढ़ने का कोई कारण नहीं है। एक साधक ने काम के स्वरूप को समझ कर उससे बचने का उपाया बताया है।

काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे।
न ते संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि॥

"हे काम! मैं तेरा स्वरूप जानता हूँ। तुम मन के संकल्प से उत्पन्न होते हो। मैं तुम्हारा संकल्प ही नहीं करूँगा, जिससे तुम मुझमें उत्पन्न नहीं होओगे।

जब मनुष्य मन में कामवासना का संकल्प करता है, तब वह उसके प्रवाह में सहसा बह जाता है।

लगभग पचास वर्ष पहले की बात है। उस समय बोलता सिनेमा नहीं था। पारसी थियेट्रीकल कंपनियाँ थीं। वे नगर-नगर में जाकर तमाशा दिखाती थीं। एक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बार एक युवक तमाशा देखने गया, वहीं वह इस कम्पनी की हिरोइन के प्रति मोहित हो गया। अब वह प्रतिदिन उस हिरोइन को पाने और अपनी कामपिपासा की पूर्ति के लिए वह प्रतिदिन नाटक देखने आने लगा। एक दिन उसका कामावेग इतना बढ़ा कि उस हिरोइन के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करने के लिए उसने एक फूल उसे भेंट दिया। परन्तु हिरोइन उस युवक की भावना की गहराई को नहीं समझी। उसने फूल को नीचे गिरा कर पैरों तले रौंद दिया। यह देखकर युवक का दिल टूट गया। उसने अपना अभीष्ट काम संकल्प पूरा होता न देखकर निराशा के तीव्र आवेग में अपने पेट में वहीं छुरा भोंककर अपना काम तमाम कर लिया। ऐसे कामान्ध ही मूढ़ होते हैं, जो कामवासना के प्रवाह में फिसल जाते हैं और जब उसकी पूर्ति के लिए अभीष्ट नारी नहीं मिलती, तो वह अपनी जिंदगी को नष्ट कर डालता है।

उर्दू के एक शायर ने ठीक ही कहा है—

जिसे हम हार समझे थे, गला अपना सजाने को।
वह काला नाग बन बैठा हमें ही काट खाने को॥

काम का प्रवेश होते ही अन्य पाँच रिपुओं का प्रवेश

काम षड्रिपुओं में सबसे प्रबल है। कामग्रस्त मनुष्य झटपट दूसरे पाँच रिपुओं से घिर जाता है। जिस जमाने में भारत में धर्मप्राण लोंकाशाह हुए उसी जमाने में यूरोप में मार्टिन ल्यूथर हो गए हैं। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय बहुत कट्टरपंथी था। मार्टिन ल्यूथर ने इसमें सुधार करके नया पंथ चलाया, जिसका नाम रखा प्रोटेस्टेंट! मार्टिन ल्यूथर ने प्रोटेस्टेंट मत में पादरियों को विवाह करने की छूट देदी। जिसका परिणाम यह आया कि इस मत में स्वच्छन्दता बढ़ने लगी। कामरिपु घुस गया; इसलिए कामवासना को संतुष्ट करने के लिए धन की जरूरत पड़ने लगी। फलतः उद्योग-धन्धें शुरू हुए। उसमें से लोभ बढ़ा। इस तरह लोभरिपु घुसा। फिर जहाँ बालबच्चे हुए कि तेरे-मेरे की भावना पैदा हुई, यों मोह भी आ गया, आपस में दाम्पत्य जीवन में झगड़ा होना सम्भव है, यों क्रोधरिपु भी अधिकता से बढ़ा। पैसा होने पर ऐश्वर्यमद आ ही जाता है, अधिकार का मद भी आ सकता है, इस प्रकार मद-रिपु भी आ घुसता है और जहाँ स्त्री और धन दोनों आए वहाँ मत्सर भी पीछे नहीं रहता। इस तरह जहाँ एक काम रिपु आया, वहाँ लोभ, मोह, क्रोध, मद और मत्सर के आते देर नहीं लगती।

इसीलिए संत कबीर ने इस सम्बन्ध में संतों-भक्तों को साफ-साफ सुना दिया—

कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई शूरमा, जाति बरन कुल खोय॥

जिस जीवन में काम, क्रोध और लोभ ये तीनों हों, उसमें परमात्म भक्ति के द्वार बंद हो जाते हैं। भगवद्गीता में इन तीनों के रहते मनुष्य को स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग कठिन बताया है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभ स्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥

"आत्मा का नाश करने वाले काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरक के द्वार हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिए ।"

स्पर्श-मूढ़ता

पांचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति भी कामवर्द्धक है, इसलिए काम-भोग शब्द में पांचों इन्द्रियों का विषय भी आ जाता है। इन पांचों में स्पर्शेन्द्रियजन्य काम सबसे प्रबल है । स्पर्शेन्द्रियजन्य काम का सीधा अर्थ है—स्त्री पुरुष का परस्पर काम-वासना की दृष्टि से संस्पर्श होना । ऐसा स्त्री स्पर्श इतना बलवान् होता है कि बिजली के करेंट की तरह मनुष्य को कामविह्वल बना देता है ।

विश्वपुर के धरणेन्द्र राजा का पुत्र महेन्द्रदत्त के श्रेष्ठीपुत्र मदन के साथ गाढ़ी दोस्ती थी । एक दिन राजकुमार महेन्द्रदत्त श्रेष्ठी पुत्र के यहाँ आया । उस समय राजकुमार को अपने पति का मित्र जानकर अत्यन्त रूपवती एवं सुकुमार मदन की पत्नी चन्द्रवदना ने उसके हाथ में पान का बीड़ा दिया । उस सुन्दरी के हाथ का स्पर्श होते ही राजकुमार अत्यन्त काम-विह्वल हो उठा । वह मन ही मन सोचने लगा—ऐसी सुन्दरी स्त्री का जब तक संग न कर लूँ, वहाँ तक मेरा जीना निष्फल है । अतः राजकुमार उस चन्द्रवदना से हंसी मजाक करने लगा । कभी-कभी काम-कुचेष्टा करने लगा । धीरे-धीरे चन्द्रवदना को अपने वश में करके महेन्द्रदत्त राजकुमार उसके साथ अनाचार करने लगा । अब तो राजकुमार प्रतिदिन एक बार तो उसके पास अचूक रूप से जाता और उसके साथ सहवास करके आता । इसी बीच जिस दिन राजा धरणेन्द्र राजकुमार महेन्द्र को राजगद्दी पर बिठाना चाहता था, उससे पहले दिन महेन्द्र ने चन्द्रवदना को बुला लाने के लिए रात्रि को कुछ विश्वस्त पुरुष गुप्तरूप से भेजे । चन्द्रवदना ने सुना तो कहलाया—"जहाँ तक मेरा पति मदन जीवित है, वहाँ तक मैं आपके पास निःशंकरूप से नहीं आ सकती ।" महेन्द्र ने उसके कथन का फलितार्थ यह निकाला कि "मदन को मारने पर ही मैं आ सकती हूँ ।" अतः महेन्द्र ने मदन को हत्या करने के लिए वे ही पुरुष भेजे । वे मदन के यहाँ जाकर उसे मारने लगे । कोतवाल को किसी तरह इस बात का पता लग गया । अतः उन पुरुषों को रस्सी से बाँधकर गिरफ्तार करके कोतवाल ने राजा के सामने उन्हें पेश किया । राजा ने उन लोगों से पूछा—"सच-सच बताओ तुम लोग मदन को क्यों मार रहे थे ?" उन्होंने कहा—'हम तो राजकुमार के कहने से ऐसा कर रहे थे ।" सारी बात का भंडाफोड़ हुआ । राजा ने उन सब पुरुषों के सहित राजकुमार महेन्द्र को अपने नगर से निकाल दिया । कामासक्त महेन्द्र चन्द्रवदना को लेकर नगर से चला गया । तत्पश्चात् राजा ने अपने छोटे पुत्र को राज्य सौंपकर स्वयं संसार से विरक्त हो गए और दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पहुँचे । श्रेष्ठीपुत्र मदन भी त्रियाचरित्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देखकर विरक्त होकर दीक्षित हुआ और मरकर देवलोक में पहुँचा। महेन्द्र और चन्द्रवदना को जंगल में घूमते देख कुछ चोरों ने दोनों को पकड़ लिये और बब्बर लोगों को बेच दिये ; जो पुरुष को हृष्ट-पुष्ट बनाकर उसके शरीर से रक्त निकालते थे। उनके इस कुकृत्य से महेन्द्र अत्यन्त दुःख पाने लगा। एक दिन बब्बरों ने उसका बहुत-सा खून निकाल लिया, जिससे वह मर गया, वहाँ से वह नरक में पहुँचा। यों अनन्तकाल तक वह संसार में परिभ्रमण करेगा। इस प्रकार स्पर्श काम से मूढ़ बना महेन्द्र यहाँ राज्य प्राप्ति से वंचित हुआ, और वहाँ नरक आदि के दुःख पाये।

गन्ध-काम में मूढ़

वैज्ञानिकों का कहना है कि नारी (मादा) के शरीर से एक प्रकार की गन्ध, जिसे 'फेरोमोन' कहते हैं, स्रावित होती रहती है। इस सुगन्ध के कण हवा में तैरते रहते हैं, जिसके कारण पुरुष (नर) अज्ञात रूप से उसकी ओर आकर्षित होता रहता है। इसमें एक प्रकार का सेक्स-खिंचाव होता है, जो मनुष्य, पशु-पक्षी आदि में तो रहता ही है; मधुमक्खी, चींटी व रेशम के कीड़े तक में पाया जाता है। उस पदार्थ को 'बॉबीकॉल' भी कहते हैं।

गन्ध भी मन को कामाकुल बना देता है। दुर्गन्ध से तो मनुष्य दूर भागता ही है, सुगन्ध को अपनाना भी कम खतरनाक नहीं है। यद्यपि सुगन्धित फूल, इत्र आदि की मनोमोहक गन्ध सूंघकर मनुष्य मस्त हो जाता है; किन्तु यह प्रमाद कभी-कभी बहुत ही मंहगा और जानलेवा हो जाता है। चन्दन और चमेली की मनोहर सुगन्ध से आकर्षित होकर बहुधा अनेक विषधर वहाँ आकर उससे लिपट जाते हैं या बैठ जाते हैं और वे अनजाने ही उसके प्राणों के ग्राहक बन जाते हैं।

पद्मखण्ड नगर में प्रजापति नरेश का गन्धप्रिय नामक पुत्र था। वह जो भी सुगन्धित वस्तु देखता, उसे सूंघे बिना नहीं रहता था। उसका यह शौक इतना अधिक बढ़ा हुआ था कि वह समय-कुसमय नहीं देखता था। एक दिन वह नौका में बैठ कर जल-विहार कर रहा था। संयोगवश उसकी सौतेली माँ ने एक विष मिश्रित सुगन्धित चूर्ण की पुड़िया एक पेटी में डाल कर उसे नदी में बहा दी। वह पेटी तैरती-तैरती गन्धप्रिय की नौका के पास आ गई। उसने कुतूहलवश वह पेटी उठाई और उसमें से वह सुगन्धित विषाक्त पुड़िया निकाल कर तुरन्त सूंघी। सूंघते ही वह मृत्यु के मुख में जा पहुँचा। घ्राणेन्द्रिय की अत्यासक्ति के कारण मर कर वह भौंरा बना। अनन्तकाल तक वह संसार परिभ्रमण करता रहा।

क्लॉरोफर्म की गन्ध इतनी तीव्र होती है, कि उसे सूंघते ही मनुष्य अचेत हो जाता है और अगर इसे ज्यादा मात्रा में सूंघा दिया जाय तो तत्काल मृत्यु भी हो जाती है। सुगन्धित पदार्थ भी कामोत्तेजक होता है। इस प्रकार गन्ध की आसक्ति के भी अनेक दुष्परिणाम होते हैं। गन्ध के वश होकर भौंरा अपने प्राण खो देता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द-काम भोग के दुष्परिणाम

शब्द में भी बहुत बड़ा जादू होता है। प्रायः मनुष्य किसी नारी के सुरीले कण्ठ से निःसृत स्वर लहरी सुन लेता है या उसकी कोमल कान्त पदावली सुनता है तो उस पर आकर्षित होकर काम-पीड़ित हो जाता है। वेश्याओं या नर्तकियों के गीत या सिनेमा तारिकाओं के संगीत मूढ़ लोगों को काम-विह्वल बना देते हैं। वैसे संगीत मनुष्यों को ही नहीं पशुपक्षियों, सर्पों, हरिणों, गायों वनस्पतियों तक को आकर्षित कर लेता है। श्री कृष्णजी की बांसुरी की मधुर स्वर सुनकर गायें खींची हुई उनके पास चली आती थीं। हिन्दू पुराणों के अनुसार यही दशा गोकुल गोपिकाओं की थी। कहते हैं श्रीकृष्ण जब मुरली बजाते थे तो वे चराचर सभी को मोहित कर लेते थे, वायु और वृक्ष भी स्तम्भित हो जाते थे।

ब्रह्मस्थल नगर के भुवनचन्द्र राजा का पुत्र 'राम' संगीत एवं गायन में अत्यन्त आसक्त रहता था। वह जहाँ भी संगीत सुन लेता, दौड़कर वहाँ पहुँच जाता था। एक दिन राजा ने अपने मंत्री से पूछा—"मन्त्रिवर! क्या मैं अपने पुत्र राम को युवराज पद दे दूं?" मंत्री ने कहा—"स्वामिन्! राजकुमार राम राज्य के योग्य नहीं है।" राजा ने पूछा—"इसमें कौन-सा अवगुण है? मंत्री ने कहा—"महाराज! इसके श्रोत्रेन्द्रिय वश में नहीं है। यह जहाँ तहाँ आसक्ति पूर्वक संगीत एवं गायन सुनने चला जाता है। इसी कारण यह अनेक गन्धर्व डोम, पन्नग आदि नीच जाति के लोगों का कुसंग करता है।" यह सुनकर राजा मुस्कराकर बोला—मंत्रिवर! राजाओं के लिए तो गीत-गायन सुनना गुण है, उसे आप अवगुण क्यों बता रहे हैं?" मंत्री बोला—"राजन्! गायन आदि में आसक्ति अच्छी नहीं। अतः आप राम से छोटे भाई को युवराज पद दीजिए।" इतना कहने के बावजूद भी मंत्री की बात राजा को रुचिकर न लगी। राजा ने अपने बड़े पुत्र 'राम' को युवराज पद दे दिया। जब राजा का निधन हो गया तो 'राम' राजा बना, उसने छोटे भाई महाबल को युवराज बनाया। राजा बन जाने के बाद 'राम' स्वच्छन्दता पूर्वक जहाँ-जहाँ संगीत एवं गायन सुनने जाता। स्वयं भी गीत-गायन गाता तथा नये-नये गीत बना कर डूम आदि को सिखाकर उनसे गवाता। इस गीत के शौक ने राजा राम को राज्य कार्य के प्रति लापरवाह बना दिया।

एक दिन कोकिल कण्ठी तरुण डूमनी राजा के पास आई। राजा उसके रूप और गायन पर मोहित हो गया और कुल मर्यादा छोड़कर उसके साथ रमण करने लगा। मंत्री आदि सभी राजपरिवार के लोगों ने उसे बहुत मनाही की, परन्तु उसने किसी की एक न मानी। इस पर सारे राजपरिवार ने 'राम' को राज्यच्युत करके डूमनी के साथ देश निकाला दे दिया और उसके स्थान पर उसके छोटे भाई महाबल को राजगद्दी पर बिठा दिया। राम वहाँ से भटकता-भटकता मरकर वन में हिरन बना। वहाँ भी एक गीत की आसक्ति के कारण एक शिकारी द्वारा वह मारा गया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वहाँ से मरकर वह महाबल राजा के पुरोहित का पुत्र हुआ। जवान होते ही वह अत्यन्त गायन रसिक बन गया। एक दिन नगर में डूमों की एक संगीतमंडली आई। राजा उनसे गीत सुन रहा था। राजा ने पुरोहित पुत्र से कहा—मुझे नींद आ जाए तो इनका गीत बन्द करा देना। थोड़ी ही देर में राजा की आँख लग गई, परन्तु गीतासक्त पुरोहित पुत्र ने गायन बन्द नहीं कराया।' कुछ ही देर बाद राजा एकदम चौंक कर उठा, देखा तो गायन बदस्तूर चालू है। अतः राजा ने कोपायमान होकर पुरोहित पुत्र के कानों में गर्मागर्म खौलता हुआ तेल डलवा दिया। पुरोहित पुत्र असह्य वेदना से छटपटा कर वहीं मरण-शरण हो गया। यह है श्रवणेन्द्रिय की विषयासक्ति का नतीजा। श्रोत्रेन्द्रिय पर वर्तमान युग में बड़े-बड़े शहरों में कल कारखानों, वाहनों या रेडियो वगैरह के होने वाले भयंकर शोर से दबाव पड़ता है। कान के पर्दे फट जाते हैं। शब्दों से मस्तिष्क में उत्तेजना पैदा होती है। अपशब्द क्रोध को, सुरीले मोहक शब्द कामराग भड़काते हैं।

रूप का आकर्षण कामासक्ति भड़काता है

विजयपुर नगर का राजा विश्वम्भर, मंत्री कुशलमति और नगर सेठ यशोधर तीनों परस्पर मित्र थे। तीनों के एक-एक पुत्र हुआ। जब वे तीनों जवान हो गए, तब एक मंत्री ने नगर सेठ से कहा—"मित्र! तुम्हारे पुत्र की दृष्टि में विकार है। वह राजदरबार में आते समय रास्ते में अन्तःपुर की महिलाओं के सामने ताक-ताक कर देखता है, रास्ते चलता भी गर्दन उठाकर स्त्रियों के सामने देखता है। आगे चल कर यह चारित्रभ्रष्ट हो जाएगा। अतः इसे ऐसा करने से रोकना।" नगर सेठ ने अपने पुत्र को बहुत समझाया, पर उसने एक न मानी। अपनी कुटेव को छोड़ता नहीं था। एक दिन सेठ के लड़के को स्त्रियों के प्रति काम-राग दृष्टि से देखते हुए रोका और वहाँ से खदेड़ दिया, राजदरबार में उसका प्रवेश बन्द कर दिया। सभी लोग अब उसे 'चपलाक्ष' कहने लगे। एक दिन उसके पिता ने किसी वणिक् पुत्र के साथ उसे परदेश भेजा; पर वहाँ भी वह सारे शहर में भटकता फिरता, नेत्रविकारवश होकर कुंए बावड़ी, सरोवर आदि पर जाकर स्त्रियों को देखता रहता। एक दिन किसी प्रासाद के पाषाण पर अंकित दिव्यरूप वाली पुतली देखी तो मोहवश उस पर आसक्त हो गया। उसकी याद में खाना पीना सब भूल गया। अतः बनिये ने वह पुतली कहीं छिपा दी और वैसी ही वस्त्रमयी पुतली बनाकर उसे उठाकर डेरे पर लाया। अब श्रेष्ठी पुत्र कुमार उसी पुतली पर आसक्त होकर देखता, उसे गहने पहनाता। एक दिन बनिया और श्रेष्ठीपुत्र दोनों वहाँ का व्यापार समेट कर पुतली सहित अपने नगर की ओर चल पड़े। रास्ते में लुटेरों ने उन्हें लूट लिया, साथ में वह पुतली भी ले गए। अब तो श्रेष्ठीपुत्र पुतली के वियोग में पागल होकर जंगल में घूमने लगा। फिरता-फिरता वह विजयपुर आया। वहाँ के उद्यान में राजरानी को खेलते देख बार बार उसकी ओर देखने लगा। अतः राजपुरुष ने उसे मार डाला। मरकर वह पतंगा हुआ। एक दिन आग में पड़ कर वह भस्म हो गया। यों अनेक जन्मों तक भटकता रहेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूप का जादू कितना भयंकर दुष्परिणाम लाता है ? इसके सुनने से रोमांच खड़े हो जाते । विशाल रोमन साम्राज्य के निर्माता सीजर महान् के समय में मिस्र देश पर 'क्लियोपेट्रा' नाम की अत्यन्त सुन्दरी रानी राज्य करती थी । सीजर महान् ने इस देश पर चढ़ाई करके इसे जीतने का विचार किया । लेकिन क्लियोपेट्रा रूपवती के साथ-साथ चालाक भी कम नहीं थी । उसने देखा कि रणभूमि में सीजर से लड़ना अपने विनाश को न्यौता देना है । अतः वह सीजर के पास जा पहुँची । सीजर उसके रूपजाल में फंस गया - शत्रुरानी से प्रेम के कारण सीजर के सामन्त उसके विरोधी बन गए; सबने मिलकर सीजर को मार डाला ।

इसके बाद क्लियोपेट्रा ने रूप का जादू सीजर के प्रमुख सेनापति पर चलाया । वह भी इसके रूपजाल में फँस गया और एंटोनी के हाथों मारा गया । इसके बाद एंटोनी भी उसके रूप की ज्वाला में भस्म हो गया । इन विशिष्ट वीरों की मृत्यु ने रोमन साम्राज्य की कमर तोड़ दी । धीरे-धीरे इस रूपासक्ति ने विशाल साम्राज्य को विनष्ट कर डाला ।

सचमुच कामिनियों के नेत्र बाण मनुष्य को आहत कर डालते हैं । नैनों के बाण कितने पैने और मारक होते हैं ? इसका ब्योरा रहीम के दोहे में पढ़िए—

रहिमन तीर का चोट से, चोट खाय बचि जाय ।
नैन बान की चोट से, धन्वन्तरि न बचाय ॥

कीलर नाम की सुन्दरी के रूपपाश में फँसने के कारण इंगलैंड के विदेशमन्त्री प्रोफ्यूमो को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा था । इनकी प्रेमलीला की चर्चाएँ अखबारों में प्रकाशित हो चुकी थी ।

इस प्रकार रूपमूढ़ों की कामासक्ति के कारण बड़े-बड़े राष्ट्र बदनाम और विनष्ट हुए हैं । राष्ट्र के उच्च उज्ज्वल संस्कार भी मिटते हैं ।

आजकल के अश्लील चलचित्रों ने युवकों ही नहीं, प्रौढ़ों और वृद्धों तक पर काम का जादू चला रखा है । अर्धनग्न युवतियों के नृत्य, गीत एवं रूप तथा अंगोपांगों के विन्यास को देख सुनकर क्या हमारे देश के नौनिहाल पतन के गर्त में पड़ने से बच सकते हैं ? सिनेमाओं से तो विद्यार्थियों के मन-मस्तिष्क और बुद्धि का दिवाला निकल गया है । परीक्षा के प्रश्नपत्रों में वे किसी बारे में पूछने पर प्रायः सिनेमाजगत के हीरो-हिरोइनों का नाम प्रस्तुत कर देते हैं । गनीमत है कि अभी महावीर नामक कोई अभिनेता नहीं है, अन्यथा महावीर के बारे में पूछने पर वे शायद वर्तमान विद्यार्थी उन्हें भी अभिनेता बना देते ।

रसलोलुपता भी कामोत्तेजना में सहायक

रसलम्पटता भी कामवृद्धि में बहुत सहायक है । स्वाद के वशीभूत होकर मनुष्य कई बार गरिष्ठ, चटपटे, उत्तेजक खानपान से अपने जिह्वासंयम को छोड़ बैठता है । भोजन का भी जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक जैन कथा है। एक राजा को आम खाने का बहुत शौक था। आम्रफलों के अधिक खाने से उसे एक भयंकर रोग हो गया। बहुत इलाज कराये, पर व्यर्थ; क्योंकि वह दवा के साथ-साथ आम खाकर कुपथ्य करता रहता था। बचने की कोई आशा न रही। एक बार एक कुशल वैद्य आया, उसने आम न खाने की शर्त रखी। राजा ने स्वीकार की। वैद्य ने उपचार किया, उससे राजा स्वस्थ हो गया। वैद्य ने चेतावनी देदी कि जरा-सा भी आम खाना आपके लिए विषतुल्य है।" कुछ दिन तक तो राजा ने कुपथ्यसेवन नही किया। अतः वह स्वस्थ रहा। एक दिन वह भ्रमण करता-करता आम्रवन में पहुँच गया। पेड़ों पर पके हुए पीले-पीले आम राजा ने देखे तो खाने के लिए जी ललचाया। सोचा—"अब तो मैं स्वस्थ हूँ। सिर्फ एक आम खाने से कुछ नही होगा।" अतः वह अपनी जीभ पर नियन्त्रण न रख सका। आम खा ही लिया। फलतः बीमारी पुनः भड़क उठी और उदरशूल के कारण राजा की तत्काल मृत्यु हो गई,

रोगी दशा में ही नहीं, स्वस्थ दशा में भी विभिन्न रसों-तीखे, कड़वे, खट्टे, मीठे, कसैले चरचरे आदि का भी विभिन्न प्रकार का परिणाम होता है। अधिक मीठा खाना मधुमेह आदि रोगों का कारण होता है, अधिक खट्टा भी शरीर के लिए हानि कारक है, इससे एसिडीटी (अम्लता) बढ़ जाती है, जिससे हाई ब्लडप्रेसर हो जाता है। बर्फ, रेफ्रिजेटर या आइसक्रीम का ठन्डा पानी भी पाचन क्रिया को अत्यन्त कमजोर कर देता है। अधिक खटाई आँखों के लिए नुकसानदेह है। एक बालक की आखें दुखने आईं। उसे कच्चे आम का अधिक शौक था। इलाज होने पर आँखें कुछ ठीक हो गईं। लेकिन मौका पाते ही आँखें बचा कर घर से निकल पड़ा। बाग में जाकर उसने कच्चा आम खा लिया। फलतः आँखों की बीमारी बड़े जोर से उभर आई। बहुतेरे इलाज कराए, लेकिन आँखें बिलकुल ठीक न हो सकीं। अपनी स्वाद-लोलुपता का दण्ड उसे नेत्रज्योति-विहीन होकर चुकाना पड़ा।

आप चण्डप्रद्योत की कामलोलुपता की दारुण कहानी सुन चुके हैं। इस सम्बन्ध में और अधिक कहने की आवश्यकता मैं नहीं समझता। इतना ही कहूँगा कि आप कामभोगों में आसक्त होकर अपने आपको मूढ़ों की गणना में न गिनाएँ, जब भी काम भोगों के लुभावने प्रसंग आए आप अपने आपको बचा कर बुद्धिमत्ता का परिचय दें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४

बुधजन होते क्षान्ति-परायण

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

पिछले प्रवचनों में मैंने आपके समक्ष अर्थपरायण लुब्ध का एवं कामपरायण मूढ़ की जीवनवृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत किया था। आज गौतमकुलक के तीसरे जीवन सूत्र के सम्बन्ध में विस्तार से विचार करना है। लुब्ध और मूढ़ के जीवन की चर्चा पर से इतना तो आप जान ही गये होंगे कि ये दोनों जीवन निकृष्ट हैं। जीवन के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति करने वाले न होने से ये जीवन उपादेय नहीं हो सकते। इन दोनों प्रकार के जीवनों का अनुसरण करना खतरे से खाली नहीं हैं। जो लोग क्षणिक, विनाशी और लुभावने सांसारिक पदार्थों पर लुब्ध हो कर अपने विवेक को खो बैठते हैं या जो मूढ़ क्षणिक सुखों से आकर्षित होकर मोहक कामभोगों का सेवन करते हैं, उन्हें भविष्य में अनेक दुःखों का सामना करना पड़ता है। जो बुद्धिमान होते हैं, वे दूरदर्शी बनकर अपने हिताहित का, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का, हेयोपादेय का और परिणाम का विचार एवं विवेक करते हैं। वे बुद्धिमान होते हैं। बुद्धिमान प्रत्येक कदम संभल-संभल कर उठाता है। वह कोई भी ऐसा कार्य नहीं करता, जिससे बाद में पछताना पड़े।

बुद्धिमान और शान्ति

बुद्धिमान उसे नहीं कहते, जो बात-बात में गुस्सा हो जाता हो, तन जाता हो, दूसरों से झगड़ा करने को तैयार हो जाता हो, या अपने से प्रतिकूल विचार और क्रिया को देखते ही भड़क उठता हो, जरा-से मतभेद को लेकर दूसरे से द्वेष और विरोध करने लगता हो। अंग्रेजी में बुद्धिमान को wise (अक्लमंद) कहते हैं। बुद्धिमान की परिभाषा करते हुए William Relf Inge (विलियम राल्फ इन्गे) ने कहा है—"The wise man is he, who knows the relative value of things."

"बुद्धिमान वह है, जो प्रत्येक वस्तु से सम्बद्ध वास्तविक मूल्य को जानता है। बुद्धिमान दूरदर्शी होता है।" वह प्रत्येक प्रवृत्ति या वस्तु के वास्तविक तह तक पहुँच जाता है। वह कोई भी ऐसा आचरण नहीं करता, जिससे उसकी या समाज की शान्ति खतरे में पड़ जाय, जीवन के स्वाभाविक सिद्धान्तों को ठेस पहुँचे। इसलिए यह कहना ठीक होगा कि बुद्धिमानी भूतकाल की समस्त बुद्धिमत्ताओं का निचोड़ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव में बुद्धिमान व्यक्ति अपनी बुद्धि से हिताहित एवं परिणाम का विचार करता है तो यह स्वाभाविक है कि वह विरोधी विचारधारा या धार्मिक क्रिया को देखकर भड़के नहीं, प्रतिकूल परिस्थितियों में घबराये नहीं, किसी व्यक्ति द्वारा विरोध, प्रहार या गालीगलौज किये जाने पर भी शान्तभाव से सहन करे, धर्मपालन करते समय अनेक प्रकार के कष्ट या दुःख आ पड़ने पर भी धैर्य से सहन करे। किसी के प्रति कोई गलती या अपराध हो गया हो तो क्षमायाचना करे। बुद्धिमान की इन सब वृत्ति-प्रवृत्तियों को देखते हुए निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि वह क्षान्ति-परायण होता है। क्षान्ति-क्षमा उसके जीवन के कण-कण में रम जाती है, उसकी श्रद्धा, वृत्ति या प्रवृत्ति स्वाभाविकरूप से क्षान्ति के प्रति होती है। क्षान्ति बुद्धिमान के जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाती है। वह कैसी भी परिस्थिति में अपने आपे से बाहर नहीं होता, न वह अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़ती है। इसलिए गौतमकुलक में कहा गया है—**'बुद्धा नरा खंतिपरा हवंति।'**

क्षान्ति और धर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

क्षान्ति के मुख्यतया तीन अर्थ फलित होते हैं—(१) सहिष्णुता, (२) सहनशीलता और (३) क्षमा।' क्षम क्रिया सहन करने के अर्थ में है। इसी में ये तीनों अर्थ गर्भित हैं। धर्म में शान्ति के ये तीनों अर्थ समाविष्ट होते हैं। अहिंसा धर्म है और वह विरोध या हिंसा करने में नहीं है, और क्षान्ति में भी विरोधी या उपकारी की बात को सुन या पढ़कर उत्तेजित न होना, सहन करना, प्रहार आक्षेप, आदि से प्रतीकार न करना होता है। इसके अतिरिक्त धर्म में त्याग, नियम, व्रत आदि का पालन करने में अनेक कष्ट या विघ्न आने पर उन्हें समभाव से सहना पड़ता है, धैर्य से परिस्थिति का सामना करना पड़ता है, संयम रखना पड़ता है, क्षान्ति में भी यही बात है। इसलिए धर्म के बदले क्षान्ति शब्द का प्रयोग कर दें तो कोई आपत्ति नहीं। धर्म में अपने कृत अपराधों, गलतियों और भूलों के लिए दूसरों से क्षमायाचना करके आत्मशुद्धि करना आवश्यक होता है, साथ ही दूसरे अपनी गलतियों पर अपराध के लिए क्षमा माँगें तो हृदय से क्षमादान करना भी जरूरी होता है; क्षान्ति में भी ये दोनों तत्व आ जाते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि क्षान्ति और धर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। क्षान्ति के बिना धर्म टिक नहीं सकता और धर्मपालन के बिना क्षान्ति जीवन में आ नहीं सकती। इसलिए महर्षि गौतम ने धर्म के सक्रिय रूप को अभिव्यक्त करने वाले क्षान्ति (खंति) शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया है। वास्तव में क्षान्ति शब्द यहाँ धर्मपुरुषार्थ का ही द्योतक है।

सहिष्णुता : बुद्धिमान का विशिष्टगुण

क्षान्ति का सबसे उपयुक्त अर्थ सहिष्णुता है। यह बुद्धिमान मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है। पशु स्वभाव से ही असहनशील होते हैं। उनमें अपने सिवाय दूसरों के हित-अहित की चिन्ता या विवेकशीलता नहीं होती। मनुष्य में भी जब पशुता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आ जाती है, तब वह भी मूढ़ होकर दूसरों का हिताहित नहीं सोचता साधारण-सा मतभेद होने पर वह दूसरों का अहित करने, विरोध करने या उससे संघर्ष करने पर तुल जाता है। दूसरों का उत्कर्ष उसे अकारण ही असह्य हो उठता है। ऐसा व्यक्ति दूसरे धर्म-सम्प्रदाय, दूसरे मत-पंथ, दूसरी विचारधारा या दूसरी जाति के विचारों या कार्यकलापों को देख कर भड़क जाता है। वह अत्यन्त असहिष्णु हो जाता है। बुद्धिमान पुरुष के स्वभाव में सहिष्णुता होती है। वह दूसरे के विचारों तथा धार्मिक क्रियाओं के प्रति अनुदारता नहीं रखता। इस सम्बन्ध में जार्ज इलियट लिखता है—

"The Responsibility of tolerance lies with those, who have the wider vision."

"जिन लोगों का विशाल दृष्टिकोण होता है, उन पर सहिष्णुता की जवाबदारी आती है।"

वास्तव में जो बुद्धिमान होते हैं, उनसे ही दूसरे के प्रति सहिष्णुता की आशा रखी जा सकती है। जो विचार मूढ अदूरदर्शी एवं अविवेकी होता है, वह प्रायः दूसरों की अकारण ही नुक्ताचीनी करता है, परिवार में भी ऐसे लोग बड़े असहिष्णु होते हैं, जरा-से विचार भेद को या अभिप्राय भेद को वे सह नहीं सकते। साम्प्रदायिक कट्टरता के कारण ऐसे लोग दूसरों के प्रति अनुदार होते हैं। इस कारण उन्हें दूसरों का सहयोग बहुत कम मिलता है। वे दूसरों की सद्भावना भी खो बैठते हैं। ऐसे लोग कभी कभी गुस्से में आकर दूसरों के साथ लड़ाई-झगड़ा, या मारपीट भी कर बैठते हैं। अपने घर पर आ जाने पर उसे अपमानित करते देर नहीं लगाते। वे परमात्मा को सर्वजीवों के प्रति समभावी, वीतराग एवं परम सहिष्णु मानते हुए भी उनके पुत्र-सम मनुष्यों के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार करते हैं।

बाइबिल की एक कथा है। जाड़े की रात थी। इब्राहीम भूले-भटके यात्रियों की प्रतीक्षा में अपने घर के द्वारपर बैठा था। एक थका-मांदा अत्यन्त वृद्ध उसके द्वार पर आया। इब्राहीम स्वागत करके उसे घर के अन्दर ले गया। उसे बिठाकर, जो कुछ खाने को था, उसके सामने रख दिया। बूढ़े ने इस आतिथ्य के लिए उसका आभार माना। जब वह भोजन करने लगा तो इब्राहीम से न रहा गया, वह पूछ बैठा —"बाबा ! तुम इसी प्रकार भगवान के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करते हो या नहीं ?" वृद्ध ने कहा—'मैं तो अग्नि-उपासक हूँ। उसी को अपना देव मानता हूँ।" यह सुनते ही रोष में आकर इब्राहीम ने तत्काल अपने अतिथि को बाहर धकेलते हुए कहा— "मैं ऐसे ईश्वरद्रोही को अपने घर में स्थान नहीं दे सकता।" बूढ़ा लड़खड़ाता हुआ उस अंधेरी रात में कहीं चला गया।

कहते हैं, थोड़ी देर बाद एक साधारण आदमी के वेष में स्वयं भगवान उसके यहाँ पहुँच गये। इब्राहीम ने बड़े गर्व के साथ अग्निपूजक वृद्ध को निकाल देने और स्वयं के प्रभुभक्त होने की डींग हांकी। भगवान ने कहा—वह वृद्ध सौ वर्ष से मुझे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ईश्वर के रूप में नहीं मानता, पर वह अग्नि के रूप में तो मानता ही है। मैंने सब कुछ सहा, परन्तु तुम एक दिन भी न सह सके। उसने न तो तुम्हारा अपमान किया था, न तुम्हें किसी प्रकार का दुःख दिया था। फिर तुमने उसके साथ मानवता को भी तिलांजलि देकर अभद्रता का व्यवहार क्यों किया?" यह कह कर भगवान उस दीन-हीन व्यक्ति की खोज-खबर लेने वहाँ से चल दिये।

उदारता से पत्थर भी पिघल जाता है

पाश्चात्य विद्वान Home (हॉम) कहता है—

"The truly generous it the truly wise, and he who loves not others, lives unblest."

"वास्तविक उदार व्यक्ति ही सच्चा बुद्धिमान है, जो दूसरों से प्रेम नहीं रखता, वह दूसरों के आशीर्वाद से वंचित रहता है।"

अकबर बादशाह वीर दुर्गादास को बहुत चाहता था। अकबर की मृत्यु के बाद उदार एवं वीर दुर्गादास राठौर के यहाँ उसकी माँग पर उसकी शाहजादी तथा शहजादे चले गये थे। दुर्गादास चाहता तो औरंगजेब द्वारा जीते हुए उसके जालौर परगने को सौंपने के बदले अकबर की सन्तानों को सौंपता। मगर उसने उदारतापूर्वक उन्हें सौंप दिया। जब वे औरंगजेब के पास आये तो उसने अपने पौत्र-पौत्रियों को प्रेम से पुकारते हुए कहा—बेटो! तुमने राठौड़ के यहाँ बहुत ही कष्ट सहे होंगे। फिर तुम्हारा पालन-पोषण हिन्दू-संस्कृति में हुआ है, इसलिए मेरा कर्तव्य हो जाता है कि मैं तुम्हें इस्लाम धर्म की तालीम दिलाऊँ। कल से ही एक मुंशी को मैं नियुक्त कर देता हूँ, जो तुम्हें मजहबी तालीम देगा। इस पर अकबर की बड़ी शाहजादी ने कहा—अब्बाजान! आप अभी तक दुर्गादास काका को पहचान नहीं पाये। वे मेरे वालिद को अपना भाईजान मानते थे। उन्होंने हमें इस्लाम धर्म की तालीम दिलाने का सारा प्रबन्ध एक तुर्की महिला को रखकर जोधपुर में ही कर दिया था। समय-समय पर वे स्वयं भी आकर हमारे पास बैठते और जाँच भी करते थे कि हमारी पढ़ाई ठीक तरह से हो रही है या नहीं?"

यह सुनकर आश्चर्यचकित होकर औरंगजेब बोला—बेटा! क्या कहती हो? एक हिन्दू राजपूत ने तुम्हारे लिए अरबी भाषा पढ़ाने का इन्तजाम किया, कुरानेशरीफ की तालीम दिलाई? फिर एक तुर्की महिला को रख कर? मेरा मन यह मानने को तैयार नहीं होता।

शाहजादी सविनय बोली—"यह तो प्रत्यक्ष है, अब्बाजान! और फिर उन्होंने तो हमें बिना किसी शर्त के आपको सौंप दिये! यह क्या कम उदारता है?" यों कह कर शाहजादी ने जब कुरानेशरीफ की आयतें बोलीं, तब तो बादशाह का हृदय दुर्गादास की उदारता के प्रति हिल उठा। फौरन ही औरंगजेब ने अहमदाबाद के सूबेदार पर एक घुड़सवार के साथ एक सन्देश लिख कर भेजा—शाही सन्तानों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को वीर दुर्गादास ने मजहबी तालीम दिलाने का प्रबन्ध किया, इसके लिए मेरा हृदय बहुत ही एहसान अनुभव कर रहा है। इस एहसान का बदला चुकाने की मेरी हैसियत नहीं, फिर भी वीर दुर्गादास को एक लाख रुपये भेंट किये जाएँ तथा अगर वे स्वीकारें तो शाही सेना में पाँच हजारी मुंसफदारी प्रेमपूर्वक उन्हें दी जाए। उन्हें आग्रहपूर्वक कहना कि मेरी यह प्रेम भरी भेंट स्वीकार करें।" सूबेदार को शाही सन्देश मिलते ही वह अपने साले के साथ जोधपुर पहुँचा। जोधपुर में उसका खूब स्वागत हुआ। जब सूबेदार ने पूर्वोक्त शाही सन्देश सुनाया तो वीर दुर्गादास ने औरंगजेब की इन दोनों भेंटों को विनयपूर्वक अस्वीकार करते हुए कहा—"मैंने अकबर को अपना मां जाया भाई-सा माना था, इस नाते मेरे परिवार के अंगों को धार्मिक शिक्षण दिलाना तो मेरा परम कर्तव्य था। मैंने अपना कर्तव्य किसी प्रकार के बदले की आशा रखे बिना निभाया है। इसका मूल्य मुंसफदारी या रुपयों से नहीं हो सकता। फिर भी यदि बादशाह के मन में यह रंज हो कि मैं कुछ भी स्वीकार नहीं करता, तो मुझे अपना जो (जालोर परगना) था, उसे वापस दे दें, तो मैं उनका बहुत ही एहसानमन्द हूँगा। मेरे अन्तर में उसके मिलने का आनन्द होगा।"

—कहना न होगा कि औरंगजेब के पास जब दुर्गादास का यह सन्देश पहुँचा तो उसने परम उदार एवं वीर दुर्गादास को बहुत ही प्रेमपूर्वक जालोर-परगना वापस सौंप दिया। साथ ही दोनों में चल रहे युद्ध की भी पूर्णाहुति कर दी।

राज्यलोभी औरंगजेब, जो जीती हुई एक इंच जमीन भी किसी को वापस देना नहीं जानता था, उसे वीर दुर्गादास ने अपनी परधर्म-सहिष्णुता एवं परसन्तान के प्रति उदारता से अत्यन्त झुका लिया, उसके पत्थर से कठोर हृदय को भी झकझोर कर पिघाल दिया।

सच कहा है—'स्वेटमार्टेन' कि चुटकी भर उदारता (a pinful generosity) दिखाने से आप किसी भी व्यक्ति को अपना मित्र बना सकते हैं और जरा-सी अनुदारता मित्र को भी शत्रु बना देती है। भाई-भाई के विग्रह जरा-सी अनुदारता को लेकर होते हैं। यदि परस्पर जरा-सी उदारता हो तो विग्रह या विरोध हो नहीं सकता। मेवाड़ की स्वतन्त्रता के लिए दृढ़प्रतिज्ञ महाराणा प्रताप को अपने छोटे भाई शक्तिसिंह के साथ विग्रह का कारण क्या था? केवल एक मृग हीं तो! बात यह हुई कि दोनों भाई शिकार खेलने गये। दोनों के बाण एक-साथ ही हिरण को जा लगे। हिरन तो मर गया, किन्तु दोनों के हृदय में असहिष्णुता के बीज बो गया। दोनों का दावा था कि यह हिरन मैंने मारा है। दोनों ही अपनी जिद् पर अड़ गए। परिणामतः तलवारें खिंच गईं। राजपुरोहित के बीच-बिचाव से युद्ध तो रुक गया। परन्तु अपमानित शक्तिसिंह अपने भाई के विरोधी दिल्ली सम्राट अकबर के पास पहुँच गए। अकबर तो उन्हें पाकर फूला न समाया। मेवाड़ विजय की ठान ली। परिणाम आप जानते ही हैं। यह चिनगारी सम्पूर्ण मेवाड़ अकबर के हाथ में आने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर तब शान्त हुई, जब हल्दीघाटी के युद्ध में राणाप्रताप के प्राणों पर बन आई। शक्तिसिंह का भ्रातृप्रेम जागा, उसने उन्हें अपना घोड़ा देकर बचाया। यदि दोनों ने पहले ही चुटकी भर उदारता दिखाई होती तो शायद इतिहास ही बदल जाता। सांसारिक व्यवहार को सुचारु रूप से चलाने के लिए जीवन में इस चुटकीभर उदारता की जरूरत है।

सुखी गृहस्थी का मूलमंत्र : सहिष्णुता

जो बुद्धिमान गृहस्वामी होते हैं, वे अपने परिवार में छोटे-बड़े सबके साथ उदारता और सहिष्णुता रखते हैं। क्योंकि परिवार जीवन में सहिष्णुता के बिना सुख-शान्ति मिल ही नहीं सकती। परिवार के विभिन्न सदस्यों की प्रवृत्तियों और रुचियों में विभिन्नता स्वाभाविक है। किसी को खेल में विशेष रुचि है तो दूसरे को संगीत, जीवन का सार और आनन्द का स्रोत मालूम होता है। तीसरे को गम्भीर वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं अध्ययन में आनन्द आता है, चौथे को साहित्य प्रवृत्तियों, लेख-कविता आदि लिखने में रुचि है, पाँचवाँ विविध दर्शनों की चर्चाओं में दिलचस्पी रखता है। रुचि-वैविध्य होने पर भी परिवार में सहिष्णुता और पारस्परिक स्नेह-सम्मान की भावना के कारण कभी कलह नहीं होता, पारिवारिक सुव्यवस्था बनी रहती है। चाहे जितना बड़ा परिवार हो, कभी आपस में नहीं ठनती। सभी एक-दूसरे के प्रति आदर और प्रेम का व्यवहार करते हैं। सुखी गृहस्थी का मूलमंत्र भी यही है।

१७ वीं शताब्दी में जापान के बुद्धिमान-राज्यमन्त्री ओ-चो-सान का विशाल परिवार अपने सौहार्द्र व संघ के लिए सारे जापान में प्रसिद्ध था। यद्यपि उसके परिवार में लगभग एक हजार सदस्य थे; फिर भी उनके बीच एकता का अटूट सम्बन्ध था। सभी सदस्य साथ ही रहते, साथ ही खाना खाते। कलह तो उनके घर से दूर ही रहता था। ओ-चो-सान के परिवार के इस स्नेह की यशोगाथाएँ दूर-दूर तक गूंज उठी थीं। सम्राट् सामातो के कानों में भी उनके पारिवारिक सौहार्द्र की बात पहुँच गई। इसकी जाँच करने के लिए स्वयं सम्राट् भी एक दिन इस वृद्ध मन्त्री के यहाँ पहुँचे। स्वागत-सत्कार और शिष्टाचार की रश्म पूरी हो जाने पर सम्राट् ने पूछा—"मन्त्रिवर! मैंने आपके लम्बे-चौड़े परिवार की एकता, मिलनसारी और स्नेह सद्भावना की कई कहानियाँ सुनी हैं। क्या आप मुझे बतलाएँगे कि एक हजार से भी अधिक सदस्यों वाले परिवार में यह सौहार्द्र और स्नेह सम्बन्ध किस कारण बना हुआ है?" ओ-चो सान वृद्धावस्था के कारण अधिक देर तक बातें नहीं कर सकते थे। अतः अपने पौत्र को कलम, दवात एवं कागज लाने का संकेत किया। जब वह इन्हें लेकर आया तो वृद्ध मन्त्री ने कांपते हाथों से कोई सौ शब्द लिखकर वह कागज सम्राट यामातो की ओर बढ़ा दिया। सम्राट् ने बड़ी उत्सुकता से कागज पर दृष्टि डाली तो वे आश्चर्य से अवाक् रह गए। एक ही शब्द—'सहिष्णुता' को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सौ बार लिखा गया था। बुद्धिमान वृद्ध महामन्त्री ने काँपती हुई आवाज में सम्राट् से कहा—'मेरे परिवार के सौहार्द का रहस्य इसी एक ही शब्द में निहित है। मेरी सुखी गृहस्थी का मूलमन्त्र भी यही है। यही महामन्त्र हमारे बीच एकता का धागा पिरोए हुए है। इस महामन्त्र को जितनी बार दोहराया जाय, उतना ही कम है।"

कहना होगा कि जापान का सम्राट् एक नई प्रेरणा लेकर खुशी से लौटा।

इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र के माध्यम से भगवान महावीर ने अपनी देशना में कहा—

खंतिं सेविज्ज पंडिए

"पण्डित (विवेकशाली) साधक क्षान्ति का सेवन करे।" वास्तव में मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में सहिष्णुता अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना परिवार, समाज और राष्ट्र आदि का जीवन कभी सुखी, प्रभुभक्त और उदार कदापि नहीं बन सकता।

संसार में अनेक प्रकार के विभिन्न स्वभाव, रुचि, प्रकृति, संस्कार आदि के मनुष्य हैं। कई व्यक्तियों के गुण, धर्म भी एक दूसरे के विरोधी होते हैं। फलतः मूढ़ लोग बहुधा परस्पर टकराते रहते हैं, एक-दूसरे को भला-बुरा कहते रहते हैं और इसी असहिष्णुता के कारण वे अपने परिवार, समाज, जाति या राष्ट्र को नरक बना डालते हैं। आचार-विचारों के जरा-जरा-से भेद को लेकर वे आपस में सिर फुटौव्वल मचाते और नाक-भौं सिकोड़ते रहते हैं। यह द्वेषभाव फिर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। इस स्थिति को टालने का सबसे अच्छा उपाय है—सहिष्णुता। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी सुन्दर बात कही है—

'तुलसी' इस संसार में भांत भांत के लोग।
सबसे हिल मिल चाहिए, नदी नाव-संयोग॥

महाभारत (वनपर्व २९/३७) में क्षान्ति की महिमा बताते हुए कहा है—

"क्षमा ब्रह्म, क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं, क्षमयेदं धृतं जगत्॥"

'क्षान्ति ही ब्रह्म (भगवान् का निवास) है, क्षमा ही सत्य है, क्षमा ही भूत और भविष्य हैं, क्षमा ही तप है, क्षमा ही पवित्रता है। अधिक क्या कहें, क्षान्ति (क्षमा) ने यह सारा संसार धारण किया (टिकाया) हुआ है।

असहिष्णुता से कितनी हानि, कितना लाभ

सबसे खेद और परिताप की बात यह है कि जो धर्म प्रेम, सहिष्णुता, दया, अहिंसा, मैत्री, क्षमा, करुणा, एवं बन्धुता का पाठ पढ़ाने आए थे, उन्हीं धर्मों को लेकर लोग आपस में विरोध, निन्दा, एवं घोर असहिष्णुता का वातावरण बना देते हैं। धर्म, जो शान्ति प्रदान करने के लिए स्थापित किये गए थे, आज अशान्ति के केन्द्र बने हुए हैं। पानी में ही आज आग लगी हुई है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह असहिष्णुता सिर्फ अपने ही दृष्टिकोण को यथार्थ मानने, अपना मत, पंथ, अपने प्रियजन या अपनी विचारधारा ही श्रेष्ठ और दूसरों के दृष्टिकोण, मत, पंथ, प्रियजन एवं विचारधारा को निकृष्ट मानने की क्षुद्रता, संकीर्णता एवं मूढ़ता को उभारती है। यह सामाजिक विद्वेष की भावना बढ़ाती है, एक ओर असहिष्णुता घृणा को जन्म देती है तो दूसरी ओर श्रेष्ठता का दम्भ पनपाती है। दूसरे का विचार, व्यवहार हीनकोटि का लगने लगता है और उसे मिटा देने की भावना उभरने लगती है। यह क्षुद्र अहं की पराकाष्ठा ही है।

आज इसी असहिष्णुता के कारण परिवार, समाज, जाति, संस्था, संगठन एवं मंडल में संघर्ष, व्यापक कलह, फूट, द्वेष, ईर्ष्या, दलबन्दी एवं घृणा पनप रही है। जिससे न केवल वैयक्तिक तथा पारिवारिक जीवन ही छिन्न-भिन्न और अशान्त बना हुआ है, बल्कि राष्ट्रीय जीवन भी खण्ड खण्ड हो रहा है। कुछ लोग किसी सार्वजनिक विषय पर वार्तालाप करते-करते निजी प्रसंगों पर आ जाते हैं, और फिर असहिष्णु होकर परस्पर कटु आक्षेप करने लगते हैं; तथा व्यक्तिगत बुराई पर उतर आते हैं। अपनी मर्जी के खिलाफ जरा-सी बात सुनकर भड़क उठते हैं। यह असहिष्णुता मानसिक दुर्बलता ही मानी जाएगी। इसके कारण समझौते की बातचीत, सद्भावनापूर्वक बहस या सत्य के द्वार तक पहुँच पाना सम्भव नहीं होता। असहिष्णु व्यक्ति के व्यवहार से लोगों में यह भावना घर कर जाती है कि यह अपने को बढ़चढ़कर देखता है, तथा स्वयं की श्रेष्ठता की डींग हांक कर उसकी ओट में हमारा निरादर करना चाहता है। असहिष्णु व्यक्ति के प्रति प्रतिपक्षी की प्रवृत्ति प्रायः प्रतिशोधगामिनी हो जाती है। वह उसके असहिष्णु व्यवहार से दुःखी होकर उस व्यक्ति के साथ भी दुःखद व्यवहार करके बदला लेने की योजना बनाने लगता है। प्रतिक्रिया में असहिष्णुताजन्य उद्वेग बढ़ता ही जाता है। तथा विद्वेष की कष्टकारक एवं हानिकारक परम्परा बढ़ने लगती है। परिणाम में सन्ताप और अशान्ति ही पल्ले पड़ती है।

हिटलर यहूदियों के प्रति इतना अधिक असहिष्णु बन गया था कि उसने उनका भयंकर उत्पीड़न और नृशंस सामूहिक वध किया। मुसलमानों और ईसाइयों में मध्यकाल में मूर्तिपूजन के प्रति ऐसी असहिष्णुता बढ़ी कि उन्होंने इसके लिए रक्तपात से लेकर लूटपाट तक की क्रूर गतिविधियों को अपनाया।

यह निश्चित है कि जिसके प्रति व्यक्ति असहिष्णु होता है, उससे फिर उस असहिष्णु व्यक्ति का अस्तित्व सहन नहीं होता। फलतः कलह, संघर्ष और विनाश की स्थिति उत्पन्न होती है।

इसीलिए एक पाश्चात्य साहित्यकार Shelly (शेली) ने असहिष्णु होना घोर अपराध बताया है—

"It is not a merit to tolerate, but rather a Crime to be intolerant."

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

थोड़ी देर के लिए मान लें कि सहन करना कोई गुण नहीं है, परन्तु असहिष्णु होना तो महज एक घोर अपराध है।

असहिष्णुता वह भयंकर आग है, जिसमें जलकर परिवार, संस्था, जाति, समाज, राष्ट्र आदि खाक हो जाते हैं। जिसके कारण स्वर्गोपम वसुन्धरा घोर नरककुण्ड बन जाती है। कुछ व्यक्तियों की आपसी असहिष्णुता के कारण देश के देश तबाह हो जाते हैं।

रावण इतना विद्वान् होते हुए भी सहिष्णु नहीं था। अपने अतिरिक्त किसी और की विचारधारा और जीवन पद्धति उसकी दृष्टि में ठीक नहीं थी। यही कारण है कि वैदिक रामायण के अनुसार उसने इस असहिष्णुता के कारण ऋषियों का उत्पीड़न किया। इस कारण उसके प्रति चारों ओर से असम्मान, तिरस्कार और घृणा की भावना दृढ़ होती गई। रावण की असहिष्णुता उसके अहंकार की मात्रा को बढ़ाया। यही अहंकार उसके पतन का कारण बना। असहिष्णु सबल हो तो वह अहंकारी बनता है, यदि वह निर्बल हो तो मन ही मन कुढ़ता, जलता भुनता रहता है। क्षुब्ध और अशान्त बना रहता है। वह अनेक मानसिक विकृतियों का शिकार बनता जाता है। विश्व में किसी एक व्यक्ति की कभी चल ही नहीं सकती, न ही किसी एक ही विचार की सर्वमान्य स्वीकृति हो सकती है। अपने से भिन्न विचार और इच्छा या व्यवहार को सहने की मनःस्थिति न रही तो प्रतिक्षण क्लेश, अशान्ति, कटुता ही मन को कचोटती रहेगी।

सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि असहिष्णुता के इन दुष्परिणामों को देखते हुए भी अधिकांश लोगों की आँखें अभी तक खुल नहीं पा रही हैं। वे जरा भी नहीं सोचते कि यह क्षणभंगुर नाशवान शरीर क्या इसीतरह कलह, ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि में जलाने के लिए है? क्या यह देव दुर्लभ-मानव तन इन्हीं क्षुद्र झगड़ों-बखेड़ों में लगाकर सारा जीवन अशान्त बनाने के लिए है? क्यों वे इस मानव देह रूपी अमूल्य निधि का दुरुपयोग कर रहे हैं। क्यों इस आनन्दमय संसार को प्रेम पुष्पों से परिपूरित नन्दनवन न बना कर असहिष्णुता की ज्वाला से नरक बनाने पर तुले हैं? जो व्यक्ति यह सोचता है कि अमुक व्यक्तियों ने उसका अपमान या अनादर किया, उसको कष्ट पहुँचाया, अतः मुझे उसका बदला लेना चाहिए, वह व्यक्ति स्वप्न में भी मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जिसमें प्रति हिंसा की भावना भरी हुई है जो बदले की भावना को लेकर अस्थिर है, वह क्षुब्ध है। ऐसे असहिष्णु व विकारी हृदय में सच्ची शान्ति कैसे रह सकती है? घृणा और शत्रुता के, असहिष्णुता एवं विक्षोभ के भाव जितनी हानि प्रतिपक्षी को पहुँचाते हैं, उससे अधिक वे अपनी हानि करते हैं। आग जहाँ रहती है, वहाँ पहले उसी को जलाती है। दुर्भाव रखने वाला जिनके प्रति दुर्भाव रखता है, उनसे अधिक अपने लिए हानि उठाता है। यदि संघर्ष भी आवश्यक हो तो उदारता और सहिष्णुता की भावना रखकर करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में भी सहिष्णुता अनिवार्य

व्यक्तिगत जीवन में तो सहिष्णुता आवश्यक है ही। व्यक्तिगत जीवन में जो असहिष्णु होगा; उसे पद-पद पर अशान्ति का सामना करना पड़ेगा। वार्तालाप, तर्क-वितर्क एवं बहस के दौरान असहिष्णु हो जाने वाले व्यक्ति को निन्दा का पात्र बनना पड़ता है। बुरे से बुरा व्यक्ति हो, उसमें भी अच्छाई के अंश तो विद्यमान रहते ही हैं। सहिष्णु व्यक्ति यदि संयत ढंग से उसे समझाए-बुझाए और प्रेम से आवश्यक असहयोग या विरोध करे तो उसकी बुराइयाँ दूर कर सकता है। असहिष्णुता की प्रतिक्रिया में तो व्यक्ति और अधिक उद्धत हो जाता है। बदला लेने की या प्रतिहिंसा की शक्ति न होने से अनिच्छापूर्वक सहन कर लेना सच्ची सहिष्णुता नहीं है। यदि मन में प्रतिहिंसा की भावना बनी रही तो आपकी सहिष्णुता सही सहिष्णुता नहीं, निर्बलता या कायरता ही होगी और प्रति हिंसा की भावना अन्दर ही अन्दर आपके चित्त को विषाक्त बना देगी।

सहिष्णुता कायरता नहीं, वीरता है !

किसी व्यक्ति में कोई कमजोरी या चारित्रिक दुर्बलता हो तो उसके प्रति सहिष्णु बनकर ही उसे दूर की जा सकती है। सहिष्णुता होने से व्यक्ति की दोष-दुर्बलता को मिटाकर उसे अच्छाइयों की ओर प्रेरित किया जा सकता है, उसमें नैतिक दृढ़ता भरी जा सकती है। समाज में हितैषी लोग एक दूसरे की खूबियों और अच्छाइयों के सहभागी ही नहीं होते, वे एक दूसरे की कमजोरियों के प्रति भी इसलिए सहिष्णु रहते हैं, कि धीरे-धीरे समझा-बुझाकर उनकी वे कमजोरियाँ दूर की जाएँ। इसलिए सामाजिक जीवन में तो सहिष्णुता के बिना चल ही नहीं सकता, क्योंकि उसके बिना समाज में स्नेह-भाव, आत्मीयता एवं मैत्री बढ़ नहीं सकती। परन्तु इस सहिष्णुता का मतलब जी-हजूरी, कायरता या दुर्बलता नहीं है, और न किसी के दोषों को ढँकना या उनके प्रति आँखमिचौनी करना है। वह एक प्रकार की हृदय की विशालता और दूसरों को सुधारने की शक्तिशाली उदात्त भावना है, जिसमें मानवीय रुचियों, इच्छाओं और प्रयोजनों की विविधता की स्वीकृति तथा सत्यं शिवं सुन्दरम् के प्रति अविचल आस्था का समावेश रहता है। जिसके प्रति व्यक्ति उदार सहिष्णुता का रुख रखता है, वह अधिक समय तक उपेक्षा भाव बनाये नहीं रख सकता, वह भी उसके अनुकूल हो जाता है।

एक बार कुछ व्यक्ति स्वामी दयानन्द से किसी विषय पर विचार-विमर्श करने आए। अपनी मनसुहाती न सुन कर वे लोग खीज उठे और रोष में आकर बोले—"चलो, इस दुष्ट का मुँह भी देखना पाप है।" स्वामीजी के कुछ शिष्य भी उत्तेजित हो उठे। परन्तु उन्होंने आवेश में न आकर उन्हें शान्त किया और आगन्तुक महानुभावों से बोले—"भाई ! मुँह देखना पाप है तो आप लोगों के लिए पर्दे की व्यवस्था

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करा देता हूँ पर शेष चर्चा तो पूरी कर लीजिए।" आगन्तुक झेंपकर चुपचाप चल दिये।

इसलिए क्षमा करना, या सहिष्णुता रखना कायरता नहीं, अपितु वीरता है। कायर आदमी तो जल्दी उत्तेजित हो उठता है, वह मारपीट के डर से मन ही मन कांपता रहता है। वीर डरता नहीं, परन्तु क्षमा करता है। इसीलिए कहा है—**'क्षमा वीरस्य भूषणम्'** 'क्षमा वीरों का आभूषण है।' मनुष्य अपने आपको दूसरों से श्रेष्ठ दिखाना चाहता है, परन्तु केवल बातों से या किसी भौतिक वस्तु से वह लोक-हृदय में श्रेष्ठ पद पर आसीन नहीं हो सकता। उसके लिए सहिष्णुता (क्षमा) ही माध्यम है। रोम के पोप ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—

"A brave man thinks no one his superior, who does him an injury for he has it, them in his power to make himself superior to the other by forgiving it."

बहादुर आदमी अपने से उत्कृष्ट किसी को नहीं मानता, जो उसे हानि पहुँचा सके क्योंकि वह वीरता तो उसके पास है ही, परन्तु वह किसी अधिकार के प्राप्त होने पर अपने आपको उत्कृष्ट बनाने हेतु दूसरों को क्षमा करता है, यानी सहिष्णुता रखता है।"

अपराधी व्यक्ति जब दूसरे से सहिष्णुता और सहानुभूति पाता है, तो वह भी एकदम सुधर जाता है और अपने अपराधों के लिए क्षमा मांगने लगता है।

एकबार कटक का उड़िया बाजार भयंकर प्लेग का शिकार हो गया। बाबूपाड़ा साफ-सुथरी बस्ती होने के कारण अभी बचा हुआ था। अतः बाबूपाड़ा के छोटी उम्र के बच्चों ने एक सेवादल तैयार करके मोहल्लों में घूम-घूम कर रोगियों की सेवा-शुश्रूषा, सफाई और औषधि लाने का कार्य हाथ में लिया। बारह वर्षीय एक छात्र उनका नेता था। बाबूपाड़ा में हैदर नामक एक खूँखार मुसलमान रहता था, जिससे सारा मोहल्ला डरता था। जिन वकीलों ने उसे सजा दिलाई थी, उन्हें वह अपना कट्टर शत्रु मानता था। उसी मोहल्ले के लड़के उड़िया बाजार में जनप्रिय हों, यह बात हैदर को कांटे की तरह चुभ गई। उसने सेवादल के लड़कों को डरा-धमका कर भगा दिया। लड़कों में दुबारा उस मोहल्ले में प्रवेश करने की हिम्मत न रही। आखिर एक दिन हैदर का घर भी महामारी की लपेट में आ गया। हैदर के बहुत प्रयत्न करने पर भी न कोई डॉक्टर उसके घर आया, न किसी ने औषधि दी। निराश होकर घर लौटा तो हैदर यह देखकर दंग रह गया कि उसी सेवादल के लड़के उसके घर की सफाई कर रहे हैं, उसके बच्चों और बीबी को दवा पिला रहे हैं। हैदर का हृदय पिघल गया। आँखों से आंसू बहाते हुए लड़कों के पैरों में पड़कर क्षमा मांगने लगा। लड़कों ने उसे उठाया और कहा—"चाचा! आपने ऐसा कौन-सा अपराध किया है। फिर आप तो हमारे मित्र के पिता हो, इसलिए हमें तो आपसे आशीर्वाद पाने का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अधिकार है।" हैदर की सारी कटुता धुल गई। उस दिन से वह सज्जन बन गया। यह छात्र, जो सेवादल का नेता था, वही आगे चलकर भारत का महान् नेता सुभाष चन्द्र बोस के नाम से विख्यात हुआ।

क्या सहिष्णुता का यह कार्य वीरता के बिना हो सकता है? कदापि नहीं। साहित्यकारों ने वीररस के विवेचन में एक भेद क्षमावीर बताया है। तीर्थंकरों के लिए शास्त्र मे कहा गया है—'खंतिसूरा अरिहंता'। क्षमावीर अपने प्रति किये गए अपकार को भूल जाता है। वह अपराधी को क्षमा कर देता है। यदि कोई दुर्बल व्यक्ति किसी बलवान से कहे कि 'जाओ तुम्हें अमुक अपराध के लिए क्षमा करता हूँ, तो उसका यह कथन हास्यास्पद ही कहलाएगा।

एक बार फिल्म अभिनेता ओमप्रकाश विश्वविख्यात पहलवान दारासिंह से कुश्ती लड़ने के लिए अखाड़े में उतरे। उतरे क्या लोगों ने उन्हें उकसा कर उतार दिया। लेकिन पहलवान की पहली झपट भी वह न झेल पाए। चारों खाने चित्त गिर पड़े। धूल झाड़ते हुए उठे और 'जा तुझे क्षमा किया, वरना हड्डी-पसली एक कर देता; कहते हुए वे अखाड़े से बाहर निकल आये। उनके इस कथन पर दर्शकों की हँसी का फव्वारा छूट गया। राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' ने ठीक ही कहा है—

"क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो।
उसको क्या, जो दंतहीन, विषहीन, विनीत, सरल हो।

सचमुच सहिष्णुता एक प्रकार की तपस्या है, एक प्रकार की वीरता है, जो साहसहीनों, कायरों और प्राणमोहियों में सहसा नहीं आ सकती है। सहिष्णुता का व्यापक पैमाने पर प्रयोग महात्मा गांधीजी ने अफ्रीका और हिन्दुस्तान में किये थे। उनके चमत्कारी परिणाम विश्व के समक्ष आए। उनकी सहिष्णुता का अचूक प्रभाव ब्रिटिश शासकों पर भी पड़ा। अनेक प्रबुद्ध अंग्रेज उनके मित्र, प्रशंसक, सहयोगी और भक्त बन गए। सभ्य और सुसंस्कृत जातियों में सहिष्णुता के संस्कार प्रचुर मात्रा में देखने को मिलते हैं। असहिष्णुता, असंस्कारिता, असभ्यता और नादानी की द्योतक है। जो असभ्य, बर्बर एवं जंगली जातियाँ है, वे असहिष्णु हैं। प्रायः उनमें खून का बदला खून से लिया जाता है। वे किसी व्यक्ति को सुधरने का अवकाश नहीं देते। परन्तु सुसंस्कृत व्यक्ति सदैव सहिष्णु होता है।

आध्यात्मिक विकास के लिए सहिष्णुता आवश्यक

आध्यात्मिक विकास के लिए सहिष्णुता का गुण अनिवार्य है। क्रोध अभिमान ये दोनों दुर्गुण मनुष्य को असहिष्णु बना देते हैं। परन्तु जब व्यक्ति सबको आत्मीय मानने लगता है तो किसी भी व्यक्ति पर क्रोध या अभिमान करने का कोई कारण नहीं होता। कबीर का यह दोहा उसका जीवन सूत्र बन जाता है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो तोको कांटा बुवै, ताहि बोव तू फूल।
तोहि फूल को फूल हैं, वाको है तिरसूल ॥

आध्यात्मिक व्यक्ति किसी के दुर्वचनों को सुनकर क्रोध नहीं करता, न किसी प्रकार का अधिकार पाकर दूसरों की जरा-सी भूल पर कहर बरसाता है, बल्कि वह दूसरे व्यक्ति को, आध्यात्मिक रोग ग्रस्त एवं दयनीय समझ कर उस पर क्षमाभाव प्रदर्शित करता है।

संत तुकाराम को पंढरपुर तीर्थ के भक्तों ने गन्ने का एक भारा दे दिया। रास्ते में जिन्होंने माँगा, उन्हें वे एक-एक गन्ना देते गये। अन्त में सिर्फ एक गन्ना रहा, उसे लेकर वे घर पहुँचे। उनकी पत्नी ने उन्हें बहुत भला-बुरा कहा कि इस एक गन्ने से क्या होगा? घर में ४ प्राणी हैं। फिर क्रुद्ध होकर उसने तुकारामजी की पीठ पर वही एक गन्ना दे मारा। सहिष्णु तुकारामजी खिलखिला कर हँस पड़े और कहने लगे—तू कितनी भली औरत है कि चाकू से हमें ४ टुकड़े करने पड़ते, तूने सहज ही में चार टुकड़े कर दिये।"

क्षमावान् सहिष्णु में कितनी आत्मशक्ति बढ़ जाती है, इसकी महिमा में पद्मपुराण के दो श्लोक साक्षी हैं—

यस्य क्षान्तिमयंशस्त्रं, क्रोधाग्नेरुपशामनम्।
नित्यमेव जयस्तस्य शत्रूणामुदयः कुतः॥
स शूरः स सात्त्विको विद्वान् स तपस्वी जितेन्द्रियः।
येन क्षान्त्यादिखड्गेन क्रोधशत्रुर्निपातितः॥"

—जिसके पास क्षमारूपी शस्त्र है, जो क्रोधाग्नि को शान्त कर देता है, उसकी सदैव जय है, उसके शत्रुओं का उदय ही कैसे हो सकता है? जिसने क्षान्ति आदि की तलवार से क्रोध रूपी शत्रु को मार गिराया है, वही शूरवीर है, वही सात्त्विक विद्वान् है, वही तपस्वी और जितेन्द्रिय है।

कष्टसहिष्णुता : क्षान्ति का महत्वपूर्ण अंग

जो व्यक्ति कष्ट, अपमान, पीड़ा, हानि एवं वियोग को हंसते-हंसते सह लेता है, वही सच्चा सहनशील है, वही परिषह विजयी है, विश्व में जितने भी सहिष्णु मानव हुए हैं उन्होंने ही दुनिया के हृदय पर विजय प्राप्त की है। उसमें इतना आत्मबल बढ़ जाता है कि जो कुछ कहता है, लोग उसे शिरोधार्य कर लेते हैं। एक कवि ने सहिष्णु व्यक्ति का मानस चित्रण किया है—

मैंने हार नहीं मानी है!
अब भी तो मैं बाधाओं से विपदाओं से खेल रहा हूँ।
जाने में या अनजाने में कितने सुख-दुःख झेल रहा हूँ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फूल आज हैं, काँटे कल के, शूल आज के फूल बनेंगे।
फूल-शूल का भेद मिटा कर, कर कानन से मेल रहा हूँ।
नहीं फूल से प्यार, कण्टकों से घृणा न मैंने जानी है।
मैंने हार नहीं मानी है॥

कवि ने सहिष्णु जीवन के सत्य का उद्‌घाटन कर दिया है!

संस्कृत भाषा में पृथ्वी को 'क्षमा' भी कहते हैं, क्योंकि इस भूमि माता को प्राणी कितना ही रौंदते, पैरों से पीटते हैं, कूटते हैं, खोदते हैं, इस पर मलमूत्र गिराते हैं, अपने शरीर का वजन इस पर डाल देते हैं, फिर भी यह सबको क्षमा करती है, सब कुछ सहन करती है। पृथ्वी ही क्यों, सारी प्रकृति हमें सहिष्णुता का पाठ पढ़ाती है। सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास, निद्रा आदि के आवेग प्राकृतिक हैं, जिन्हें इच्छा या अनिच्छा से मनुष्य को सहन करना पड़ता है। अतः इन सब प्रतिकूलताओं को भी स्वेच्छा से सहन करने का अभ्यास करना चाहिए।

वैष्णवधर्म में यह माना जाता है कि 'ईश्वर, भक्त की परीक्षा लेने के लिए ही प्रतिकूलताओं एवं कठिनाइयों को उसके सम्मुख उपस्थित करता है। अतः प्रतिकूलताएँ देखकर घबराएँ नहीं वरन् उन्हें हिम्मत के साथ आनन्दपूर्वक सहन करने की आदत डालें। कठिनाइयों के बीच रहने और संघर्ष झेलने में आनन्द आना चाहिए। कष्ट को प्रभु का प्रसाद मानकर शिरोधार्य करना चाहिए।

एक महात्मा से एक जिज्ञासु ने पूछा—"आप में इतनी सहिष्णुता कैसे आई? मैं आपको वर्षों से सहनशील देख रहा हूँ।" महात्मा ने उत्तर दिया—"जब मैं ऊपर की ओर देखता हूँ तो तब मन में आता है मुझे ऊपर (मोक्ष या परमात्मा) की ओर जाना है, तब यहाँ पर किसी के कलुषित व्यवहार से खिन्न होकर गुस्सा क्यों करूँ? नीचे की ओर देखता हूँ तो सोचता हूँ, मुझे सोने-बैठने, उठने के लिए थोड़ी-सी जगह की आवश्यकता है, तब संग्रही क्यों बनूं? आसपास देखता हूँ तो विचार होता है, हजारों ऐसे व्यक्ति हैं, जो मुझसे अधिक दुःखी, चिन्तित और व्यथित हैं, तब मैं क्यों दुःखी बनूं! अतः इन सबको देखकर मेरे सब आवेश शान्त हो जाते हैं। मैंने इसी प्रकार सहिष्णुता का पाठ सीखा है।"

कोई व्यक्ति आपकी आलोचना या नुक्ताचीनी करता है, आक्षेप करके आपको बदनाम करता है, उस समय अगर आप भी सहिष्णुता छोड़कर आपे से बाहर हो जाएँगे, गाली का जबाव गाली से देंगे तो अशान्ति बढ़ेगी, घटेगी नहीं। इसका सर्वोत्तम उपाय है—चुपचाप सहन करना। एक भद्र महिला ने जब गाँधीजी को लिखा कि महाराष्ट्र की पत्र-पत्रिकाएँ आपके विरुद्ध झूठा प्रचार कर जहर उगल रही हैं।" गाँधीजी ने उत्तर दिया—"मैं उनसे अनभिज्ञ नहीं हूँ। पर जैसे वे निन्दा करते हैं, वैसे कई मित्र मेरी प्रशंसा भी करते हैं। फिर निन्दा-प्रशंसा में अच्छा-बुरा मानने की बात ही क्या है? निन्दा से न तो मैं घटूँगा और न प्रशंसा से बढ़ूंगा। मैं तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसा हूँ, वैसा ही रहूँगा।" कुछ ही दिनों में आलोचकों ने उनकी आलोचना करना छोड़ दिया।

कितना सुन्दर उपाय है—निन्दा बन्द कराने का ?

क्षान्ति मनोभूमि का तितिक्षायुक्त बनाना

जीवन में सभी तरह के अवसर आते हैं। सीधी पगडंडी भी मिलती हैं, प्रशस्त राजपथ भी और ऊबड़खाबड़ चट्टानें भी। नदी-नाले भी मिलते हैं, फूलों से अधिक कांटे मिलते हैं। इन सबमें होकर आगे बढ़ते जाने का एक ही उपाय है—धैर्यपूर्वक सहन करना।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में काम करते समय प्रतिकूलताएँ तो उपस्थित होती ही हैं। बना-बनाया निष्कंटक राजमार्ग कभी किसी को नहीं मिला। परन्तु प्रतिकूलताएँ उपस्थित होने पर सहिष्णु न बनकर विक्षुब्ध हो उठना, चट्टानों से सर टकराने, नदी में कूद पड़ने या कांटों को पैरों से कुचलने जैसे ही मूर्खता है। इससे स्वयं की हानि तो होती ही है, लक्ष्य तक पहुँचने में भी कुछ मदद नहीं मिलती। एक उर्दू शायर फरह की पंक्तियाँ बड़ी प्रेरणादायक हैं, इस सम्बन्ध में—

हर हाल में खुश रहना, खुश रह के अलम[1] सहना।
इक चीज जमाने में फरहत[2] की भी सस्ती है।

संत तुकाराम अपने प्रारम्भिक जीवन में जब अत्यन्त अभावग्रस्त हो गए तो उन्होंने लिखा—"भगवन् ! अच्छा ही हुआ, जो मेरा दिवाला निकल गया। दुष्काल पड़ा, यह भी ठीक हुआ। स्त्री तथा पुत्र भोजन के अभाव में मर गए और मैं भी हर तरह से दुर्दशा भोग रहा हूँ, यह भी ठीक ही हुआ। संसार में अपमानित हुआ, यह भी अच्छा हुआ। गाय, बैल तथा धन सब चला गया, यह भी अच्छा ही है। लोकलज्जा भी जाती रही यह भी ठीक है। क्योंकि इन्हीं सब बातों के फलस्वरूप तो आपकी मधुर, प्रेरणाप्रद, शान्तिपूर्ण गोद मुझे मिली है।

मानसिक दृष्टि से दुर्बल और भावावेश में बहने वाले व्यक्ति इन छोटी-छोटी प्रतिकूलताओं में अपना सन्तुलन खो बैठते हैं और परेशानी से ऐसे बौखला उठते हैं कि उनका मस्तिष्क विक्षिप्त और उद्विग्न होकर ऐसी विपन्न हालत में पहुँच जाता है कि वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। विक्षोभ की स्थिति में उठाए गए कदम या लिये गए निर्णय आमतौर पर ऐसे होते हैं, जिनसे विपत्ति से निकलने का मार्ग नहीं मिलता, उलटे कठिनाइयों के और अधिक गहरे दलदल में फँस जाने का खतरा उपस्थित हो जाता है। ऐसे समय में कई लोग घर छोड़कर भाग निकलने, आत्महत्या कर लेने या कपड़े रंगा कर बाबाजी हो जाने जैसी कुछ भयंकर गलतियाँ कर बैठते

---

१ अलम=वेदना, दुःख। २ फरहत=हर्ष, खुशी, कवि का उपनाम भी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। जिनसे बाद में केवल पश्चात्ताप करना ही रह जाता है। कई बार उद्विग्न लोग प्रतिकूलता के निमित्तों पर उबल पड़ते हैं। ऐसे असहिष्णु लोग आवेश में आकर गाली-गलौज, मारपीट, कत्ल, फौजदारी आदि कुकृत्य कर बैठते हैं। किन्तु बाद में इनकी प्रतिक्रिया में अधिक हानि उठानी पड़ती है। अतः इन सबका स्थायी और मनःशान्तिदायक उपाय है—हर हाल में मस्त रहना। प्रत्येक परिस्थिति में अपना एडजस्टमेंट कर लेना; सहिष्णु बन कर भगवत् प्रेम का चिन्तन करना।

इसी से मनोभूमि की स्वच्छता बनी रहती है कि मनुष्य दुःखों के लिए भी वैसे ही कटिबद्ध रहे, जैसे सुखों के लिए हरदम तैयार रहता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जानबूझ कर दुःखों विपत्तियों या प्रतिकूलताओं को बुलाया जाए, या उन्हें हटाने का न्यायोचित प्रयत्न न किया जाए। ऐसा तो करना होता ही है। यह तो मनुष्य का कर्त्तव्य है, मगर अपनी बुद्धिमत्ता से तथा न्यायनीतियुक्त प्रयत्नों से अनेक आपत्तियों को हटा लेने पर भी, लाख प्रयत्न करने पर भी अपूर्णता के कारण दुःखों या विपत्तियों को हटाने का प्रयत्न पूर्णतया सफल न होगा। कहीं न कहीं अपूर्णता रह ही जाएगी किसी न किसी मात्रा में अभावों या कष्टों का सामना करना ही पड़ेगा।

पूर्वकृत दुष्कर्मों के उदयवश, मानवजाति के सामूहिक कर्मवश कभी-कभी ऐसी आकस्मिक विपत्तियाँ सामने आती रहती हैं जैसे भूकम्प, बाढ़, दुर्भिक्ष, अति-वृष्टि, अनावृष्टि, युद्ध, तूफान, महामारी, बीमारी, विश्वासघात, मृत्यु, आग, दुर्घटना आदि, जिनको नियन्त्रित करना मनुष्य के बूते से बाहर की बात होती है। व्यक्ति अपनी पूरी बुद्धिमानी के साथ इन्हें पूर्णतया टाल सके या इनसे बचाव कर सके, ऐसा प्रायः कम ही होता है। ऐसी स्थिति में यदि वह अपनी मनोभूमि को पहले से ही दुःखों से लड़ने, उन्हें सहने, सन्तुलन बिगड़ने न देने स्वस्थ रखने का अभ्यस्त होता है तो उसे कठिनाई के समय भी मानसिक अशान्ति नहीं होती। सहिष्णु लोग ही पूर्वोक्त परिस्थितियों में आनन्द से अपना जीवनक्रम चलाते हैं। ऐसे भी सहिष्णु लोग हैं, जो शरीर के कमजोर हैं, कई बीमारियों से पीड़ित हैं फिर भी शान्तिपूर्वक दिन काटते हैं। ऐसे भी लोग हैं,जिनके पास पूंजी के नाम पर कुछ भी नहीं होता, केवल शरीर से मजूरी करके गुजारा चलाते हैं, फिर भी हँसते-खेलते अपनी जिन्दगी व्यतीत करते हैं। उन असहिष्णु मूढ़ व्यक्तियों को यह सोचना चाहिए कि हमसे भी बहुत गिरी, विपन्न हालत में पड़े हुए लोग अपने दिन हँसी-खुशी से काट रहे हैं, तब हम उनसे कहीं अच्छी परिस्थिति में होते हुए भी दुःखी अशान्त और उद्विग्न रहते हैं, इसका कारण वे सांसारिक परिस्थितियाँ नहीं, वरन् आन्तरिक दुर्बलताएँ हैं।

कष्ट और विपत्तियाँ संसार में हैं, परन्तु उनका प्रभाव इतना तीव्र नहीं है, जितना दुर्बल मनोभूमि के लोग महसूस करते हैं। ऐसा कोई कष्ट इस धरती पर नहीं है, जिसे धैर्यवान सहिष्णु व्यक्ति बिना दुःख महसूस किये सहन न कर सके। धर्मपालन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के लिए गजसुकुमार मुनि जैसे लोगों ने हंसते-हंसते मृत्यु का आलिंगन किया है; देश-भक्ति के लिए हंसते-गाते फाँसी के तख्ते पर झूले हैं, गोलियों से अपने सीने छिदवाए हैं, तेल के खौलते कड़ाहों में कूदे हैं, क्रूस पर लटके हैं, जहर के प्याले पीए हैं, अपने बच्चों को अपनी आँखों के सामने दीवारों में चुने जाते देखा है और भी न जाने आदर्शों के लिए कितनी-कितनी यातनाएँ धैर्य और साहस के साथ सहर्ष सही हैं; फिर यदि छोटे-मोटे संकट, जो कि प्राण-संकट जैसे खतरनाक भी नहीं हैं, उनमें भी घबराहट होती है, मानसिक सन्तुलन बिगड़ता है तो इसे मानसिक दुर्बलता ही कहा जायेगा।

व्यावहारिक जीवन में सर्वथा भले आदमियों का ही संग मिलना और सदा अनुकूलताएँ ही सामने आना सम्भव नहीं होता। झगड़ालू, कलहकारी, विक्षुब्ध, दुष्ट प्रकृति के लोगों से बचते रहने का कितना भी प्रयत्न किया जाये, फिर भी कई अधिकार प्राप्त या प्रतिष्ठित लोग होते हैं, जिनसे रोजाना पाला पड़ता है। उनके दुर्वचनों या अशोभन व्यवहारों के प्रति असहिष्णु हो जाने पर तो निरन्तर शान्ति भंग होती रहती है। अशान्त एवं उद्विग्न मनःस्थिति में कार्य भलीभाँति सम्पन्न नहीं हो पाते। शान्त और सन्तुलित मनःस्थिति में ही व्यक्ति भलीभाँति सोचने-समझने और कार्य करने की स्थिति में होता है। ऐसी मनःस्थिति बनाए रखने के लिए सहिष्णुता नितांत आवश्यक होती है।

दुःखों, आपत्तियों या प्रतिकूलताओं को सर्वथा हटाया या घटाया नहीं जा सकता, किन्तु समझदारी और तितिक्षा-सहिष्णुता क्षान्ति आदि की प्रक्रिया के द्वारा मनोभूमि इस योग्य बनायी जा सकती है, जिससे दुःखों, विपत्तियों, विपरीत परिस्थितियों या प्रतिकूलताओं के आने पर भी मन पर उनका प्रभाव न पड़े और व्यक्ति हंसते-खेलते उन विपत्तियों या दुःखों आदि को सह सके, सामना कर सके। इसी का नाम कष्ट-सहिष्णुता, क्षान्ति, परिषह-सहन या तितिक्षा है। असहिष्णु व्यक्ति को दुःख की बात सुनते ही घबराहट होती है, भय लगता है, कष्ट होता है, वैसा अप्रिय अवसर सामने आते ही मानसिक सन्तुलन बिगड़ने लगता है, विचार शक्ति भी प्रायः कुण्ठित हो जाती है, परन्तु दुःखों आदि से डरने के बजाय उन्हें हम अपना सहचर बना लें, उनका स्वागत करें, उनको सहन करने में अपने तन-मन की सारी शक्ति लगा दें तो ये सब अशोभनीय बातें आसानी से समाप्त हो जाएँगी। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में इस सम्बन्ध में सुन्दर मार्गदर्शन दिया गया है—

"पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।"

बुद्धिमान् साधक परिस्थिति, प्रसंग या व्यक्ति प्रिय हों या अप्रिय, सबको शान्तिपूर्वक सहन करें।

कठिनाइयों से डर कर, हिम्मत हार कर मनुष्य बैठ जाए तो बात अलग है, परन्तु प्राणी में जो एक विशिष्ट शक्ति है, जिसे क्षान्ति या तितिक्षा कहा गया है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उससे काम ले तो मनुष्य में इतनी अधिक सुदृढ़ता और शक्ति आ जाती है कि वह स्वयं आश्चर्य चकित हो जाएगा। क्योंकि मनुष्य ज्यों-ज्यों कष्ट सहन करने का अभ्यास करता है, त्यों-त्यों उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। तितिक्षा के रूप में जब उसकी शक्ति विकसित होती है तो कष्टसाध्य समझी जाने वाली परिस्थितियों से भी जूझने के लिए खड़ी हो जाती है।

उत्तरी ध्रुव पर रहने वाले एस्किमो जाति के लोग चिरकाल से वहाँ घोर शीत में रहते हैं। वहाँ सदा बर्फ जमी रहती है, न अन्न होता है, न वनस्पति ही फिर भी वे जीवित हैं, परिपुष्ट भी हैं, अपनी समझ से वे निश्चिन्त व सुखी हैं। सन्तोषपूर्वक जीवनयापन करते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अभ्यास से मनुष्य अत्यन्त शर्दी, अत्यन्त गर्मी, भूख, प्यास आदि द्वन्द्वों को मन पर न लाकर सह सकता है। महान् निर्ग्रन्थ जैनमुनि भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, डांस, मच्छर आदि २२ परिषहों को सहन करते ही हैं। तितिक्षा से मानसिक ढाँचे के साथ-साथ शारीरिक क्षमता भी बढ़ जाती है। और प्रकृति में भी ऐसा हेरफेर हो जाता है कि कठिन समझी जाने वाली परिस्थितियाँ भी सरल प्रतीत होने लगती हैं। अतः परिस्थिति को अनुकूल बनाने के साथ-साथ अपने-आपको परिस्थिति के अनुरूप ढालने की मनस्विता एवं तितिक्षा के लिए भी तत्पर रहना चाहिए। मनुष्य जितना नाजुक बनता जाएगा, उतना ही तन-मन से दुर्बल बनेगा और परिस्थितियाँ उस पर हावी हो जाएँगी। इसके विपरीत यदि वह तितिक्षा, क्षान्ति, दृढ़ता, कष्ट-सहिष्णुता, और सहनशक्ति साहसिकता अपनाता चले तो केवल शरीर ही नहीं मन और आत्मा की तमाम शक्तियाँ विकसित होंगी। कठिनाइयाँ तो प्रत्येक कार्य में होती हैं, परन्तु यदि मनुष्य धर्माचरण या धर्मपालन के लिए इन्हें सहन करना अथवा इनसे सामना करना अनिवार्य समझे, तो इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अगर सत्कार्य में कष्ट, कठिनाइयाँ, विघ्न, परिषह आदि न होते तो कोई भी व्यक्ति साधना न करता, आलसी और अकर्मण्य बन जाता। इसलिए कष्ट, कठिनाइयाँ या परिषह मनुष्य की शक्तियों को बढ़ाते हैं, उसके तन-मन को मजबूत बनाते हैं। इनसे घबराना या डरना नहीं चाहिए। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

'खंतीए परीसहे जिणइ'

क्षान्ति से साधक परिषहों को जीत लेता है।

सहिष्णुता का मुख्य कारण : धैर्य

वास्तव में देखा जाए तो असहिष्णुता का जन्म आतुरता से होता है। हथेली पर सरसों जमी देखना चाहने वाली बाल बुद्धि में सहिष्णुता और धैर्य कहाँ से आए? प्रतिकूलताओं की चुनौती हमारी सहिष्णुता और धीरता की परीक्षा है। विश्व में जिन लोगों ने सफलताएँ अर्जित की हैं, वे सब धैर्यवान एवं सहिष्णु रहे हैं। सहिष्णुता समुद्र की-सी गम्भीरता एवं धीरता का नाम है। असहिष्णुता क्षुद्रता और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उथलापन है। धैर्यवान मनुष्य के अन्तःकरण में ही सहिष्णुता, शान्ति, भविष्य की सुखद आशा और उदारता रहती है। वह कु-दिन के फेर में पड़कर भी घबराता नहीं, बल्कि उन दिनों को हंसते हुए टालने की चेष्टा करता रहता है। जिसे अपने पर पूर्ण भरोसा होता है, वही धैर्यवान और सहिष्णु होता है।

महादेव गोविन्द रानाडे के एक सहपाठी मित्र थे—कुण्टे। सन् १८८५ में जब लार्ड रिपन ने भारतवासियों को स्वायत्त शासन (नगरपालिका) का अधिकार दिया तो उसके चुनाव के समय दोनों में मतभेद हो गया। रानाडे चाहते थे अधिकाधिक संख्या में भारतीय सदस्य रखे जाएँ, और कुण्टे चाहते थे, अंग्रेज सदस्य रखना। एक दिन रानाडे ने कुण्टे को अंग्रेजपरस्त नीति के लिए फटकारा तो वे क्रुद्ध हो गए और खुलेआम अंग्रेज अफसरों के चुने जाने का प्रचार करने लगे, साथ ही रानाडे पर आक्षेप भी। रानाडे एक दिन इस झगड़े का अन्त करने के लिए स्वयं ही कुण्टे की सभा में चले गए। कुण्टे ने इन पर खूब आक्षेप किए, पर इसकी जरा भी परवाह किये बिना भाषण समाप्त होने पर स्वयं रानाडे उनके पास पहुँचे। कुण्टे ने नाराजगी से अपना मुँह फेर लिया, पर वे उनके और भी पास चले गए और जबर्दस्ती बातें करने लगे। फिर उन्होंने कुण्टे से अपनी गाड़ी में बैठकर चलने को कहा तो कुण्टे ने इन्कार कर दिया। इसके बाद जब कुण्टे अपनी गाड़ी में जाकर बैठे तो ये भी उसी गाड़ी में जा बैठे और कहा—यदि आप मेरी गाड़ी में नहीं चल सकते तो मैं आपकी गाड़ी में चलूँगा। कहना न होगा कि रास्ते में दोनों में जो वार्तालाप हुआ, उससे कुण्टे महोदय ठिकाने आ गए और उन्होंने अंग्रेज अफसरों का पक्ष लेना छोड़ दिया। सुधार के लिए इतनी सहिष्णुता व धैर्य तो आवश्यक है ही जो रानाडे में था।

गुजराती भाषा में इस प्रकार की सहिष्णुता या धीरज को 'खंत' कहते हैं, जो क्षान्ति का ही अपभ्रंशीय रूप है। धीर या सहिष्णु को 'खंतीला' कहा जाता है।

क्षमा का आदान-प्रदान

क्षान्ति का मुख्य एवं प्रचलित अर्थ, जिसमें इन सभी पूर्वोक्त अर्थों का समावेश हो जाता है, वह है क्षमा। जहाँ व्यक्ति स्वयं किसी दूसरे का कोई अपराध कर बैठता है, कोई सामाजिक मर्यादा भंग कर देता है या भूल कर बैठता है, वहाँ वह तत्सम्बद्ध व्यक्ति या व्यक्तियों से क्षमा माँगता है और जहाँ दूसरे व्यक्ति उसका अपराध कर बैठे हैं, उसकी कोई क्षति या हानि पहुँचाई है, वहाँ दूसरे व्यक्ति उससे क्षमायाचना करते हैं, तब वह उन्हें क्षमादान देता है। क्षमा की ये दोनों ही प्रक्रियाएँ समाज में प्रचलित हैं और इनसे दुःसाध्य समझी जाने वाली समस्याएँ हल हो जाती हैं, कदाचित् देर हो सकती है, पर उसका चिरस्थायी प्रभाव व्यक्तियों के जीवन पर पड़ता है। क्षमा की महिमा निम्न पंक्तियों में देखिए—

क्षमा समान ज्येष्ठ श्रेष्ठ धर्म और कौन है ?
भला सुमेरु से बड़ा महोध्र और कौन है ?॥१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षमा बिना समग्र उग्र कर्मकाण्ड व्यर्थ हैं।
अभीष्ट स्वर्ग-मोक्ष-सौख्यदा यही समर्थ है ॥२॥
सदा प्रचण्ड क्रोध की दवाग्नि से जला मरे।
मनुष्य क्या पिशाच है, जरा न जो क्षमा करे ॥३॥
क्षमा वही स्वमित्र के समान शत्रु को लखे।
कभी किसी प्रकार की विरोधिता नहीं रखे ॥४॥
प्रशान्तचित्त से सदैव स्नेह-स्रोत-सा बहे।
मुखारविन्द पै कृपामयी प्रसन्नता रहे ॥५॥
असह्य भर्त्सना सदा वध-प्रहार भी सहे।
अखण्ड श्रेय सर्वथा स्वशत्रु का सदा चहे ॥६॥

क्षमा की शक्ति का चमत्कार तो व्यक्ति को स्वतः उसका आचरण करने से ज्ञात हो जाता है।

महात्मा गाँधी जी ने यौवनावस्था में कई गलतियाँ बेसमझी से कर लीं, परन्तु जब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई तो अपने पिताजी को विस्तृत पत्र लिखकर उनसे क्षमा मांगी, और भविष्य में वे अपराध न करने का विचार भी प्रकट किया। गाँधीजी के पिता ने अश्रुपूरित नयनों से अपने पुत्र को क्षमा प्रदान किया। यह हुआ क्षमायाचना का प्रकार। दूसरा प्रकार है—क्षमाप्रदान का। वह इससे भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण है।

महाभारत में द्रौपदी की क्षमाशीलता का वर्णन है। महाभारत युद्ध का अन्त हो रहा था, दुर्योधन भी अन्तिम सांस ले रहा था, उसी दौरान रात्रि के समय द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा पाण्डवों के खेमे में घुस गया और अपने पिता के वध का बदला लेने के लिए उसने पांडवों के पांचों बालकों को पाण्डव समझकर मौत के घाट उतार दिये। सारे पाण्डव शिविर में हा-हाकार मच गया। द्रौपदी विलाप कर रही थी। तभी भीम अश्वत्थामा को बाँधकर द्रौपदी के सामने लाए। द्रौपदी को अपने पुत्रघाती द्रौणपुत्र को मारने के लिए कहा गया। परन्तु द्रौपदी का मातृहृदय ऐसा करने के लिए तैयार न हुआ। उसने सोचकर कहा—"जाने दो इसको। इसे मारने से मेरे पुत्र तो जीवित होंगे नहीं। उलटे, इसकी माता को भी मेरी तरह दुःख होगा। अतः मैं इसे क्षमा करती हूँ।"

इस प्रकार पुत्र हत्यारे अश्वत्थामा को वीरांगना द्रौपदी ने क्षमा कर दिया। इस प्रकार का क्षमा-प्रदान समस्त वैर-विरोधों को धो डालता है। जन्म-जन्म के पापों और अपराधों को धो डालने की शक्ति क्षमा में है। आप भी क्षमा के इन विविध रूपों को अपनाइए और अपने जीवन में आई हुई कलुषिता, कुत्सा और असहिष्णुता को समाप्त करिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५

धर्म-नियन्त्रित अर्थ और काम

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

पिछले प्रवचनों में मैं अर्थपरायण, कामपरायण, एवं क्षान्ति (धर्म) परायण जीवन के सम्बन्ध में काफी विस्तार से प्रकाश डाल चुका हूँ। अब गौतमकुलक के चौथे सूत्र में धर्म से नियन्त्रित अर्थ-कामयुक्त जीवन के सम्बन्ध में कहना चाहता हूँ। इसे यों भी कहा जा सकता है—धर्ममूलक अर्थकामयुक्त जीवन अथवा धर्मानुसारी अर्थ और काम से युक्त जीवन।

चार पुरुषार्थ : चार साधन

भारतीय संस्कृति में गृहस्थजीवन को सुन्दर, व्यवस्थित और सुखशान्तियुक्त बनाने के लिए चार पुरुषार्थों का वर्णन किया गया है। वे चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमें मोक्ष। चूँकि धर्म पुरुषार्थ की अन्तिम परिणति है, तीनों पुरुषार्थों का साध्य है, इसलिए इसे धर्म के अन्दर ही मिला दिया गया है। धर्म से मोक्ष को अलग नहीं माना गया। सामान्य मानव जीवन के चार आधारभूत तत्त्व हैं जो मानव जीवन में पुरुषार्थ करने के लिए मुख्य चार साधन माने गए हैं—शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा। ये चारों साधन इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति से कृतार्थ और सन्तुष्ट होते हैं। शरीर अर्थ से सन्तुष्ट होता है, मन काम से सन्तुष्ट होता है, बुद्धि धर्म से सन्तुष्ट होती है और आत्मा अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को पाकर सन्तुष्ट और संतृप्त होती है।

धर्मानुसारी अर्थकामसेवी

प्रश्न होता है कि जब जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है, तो उसी के लिए पुरुषार्थ होना चाहिए। जैसा कि साधक के लिए आचारांग सूत्र में कहा गया है—

तद्दिट्ठिए, तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे.....

अर्थात्-'मुमुक्ष साधक की दृष्टि मोक्ष की ओर होती है, मोक्ष के लिए ही उसका कर्ममुक्ति का पुरुषार्थ होता है, मोक्ष को आगे करके ही वह बढ़ता है।

जिस प्रकार पंचमहाव्रतधारी निर्ग्रन्थ साधु मुख्यतया मोक्ष की दिशा में ही पुरुषार्थ करता है, उसी प्रकार गृहस्थ-साधक का भी मोक्ष की दिशा में ही मुख्यतया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषार्थ करना चाहिए ऐसी स्थिति में धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—यद्यपि साधु और गृहस्थ दोनों ही साधक हैं, दोनों मोक्ष पुरुषार्थ को ही परमार्थ और परमतत्त्व मानते हैं। दोनों के लिए प्राप्तव्य और अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही है। परन्तु दोनों प्रकार के साधकों की भूमिका में बहुत अन्तर है। पंचमहाव्रती साधु उच्चकोटि का साधक है, यद्यपि वह सम्यग्दर्शन,-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्र रूप मोक्षमार्ग को जानता है, मोक्ष को परमार्थरूप से पहचानता है, तथापि हीनसत्त्व एवं अल्पशक्ति के कारण वह उसमें पूर्णतया पुरुषार्थ नहीं कर सकता। वह रत्नत्रय रूप धर्म का पूर्णरूप से आचरण नहीं कर सकता। सांसारिक पदार्थों को वह असार समझाता है. कामभोगों के भी क्षणिक स्वरूप को समझता है कि ये जीवको उन्मार्ग में ले जाते हैं, इसका परिणाम बहुत ही कटु एवं भयंकर है। परन्तु पूर्वकुसंस्करवश विषयों के माधुर्य, इन्द्रियों के चापल्य, मोहकर्म के प्राबल्य के कारण वह अर्थ-काम दोनों पुरुषार्थों का सेवन करता है, परन्तु करता है धर्म से अविरुद्ध अर्थ काम का। यही कारण है कि वह निर्ग्रन्थमुनियों के योग्य महाव्रतों को स्वीकार नहीं कर सका, मुनिदीक्षा नहीं ले सका, उसने गृहस्थ-जीवन में ही रहकर सम्यग्दृष्टि, जीव-अजीव आदि तत्त्वों को एवं वीतराग वचनों को जान लिए हैं, यथाशक्ति श्रावकव्रतों को भी अंगीकार करता है। तात्पर्य यह है कि वह उतने ही और उन्हीं अर्थ-कामों का सेवन करता है, जो धर्म से विरुद्ध न हो। उसके जीवन में अर्थ और काम दोनों पुरुषार्थ धर्म से संयत रहते हैं, उसमें तीनों पुरुषार्थ मिलेजुले रहते है। इसीलिए गौतमकुलक में कहा गया है।

'मिस्सा नरा तिण्णिवि आयरंति'

मिश्र मानव तीनों (पुरुषार्थों) का आचरण करते हैं। मिश्र मानव का अर्थ है—जो एकान्त रूप से अर्थार्थी भी नहीं हैं, न एकान्त रूप से कामार्थी हैं और न सर्वथा धर्मार्थी (क्षमार्थी) हे क्षान्ति धर्म का मुख्य कारण होने से क्षान्ति शब्द को यहाँ धर्म के अर्थ में समझना चाहिए।

महाव्रती साधु, चूंकि घर, परिवार; जाति, समाज; राष्ट्र आदि से सम्बन्ध तोड़कर विश्वकुटुम्बी बन चुका है। वह एकाकी होकर आत्मसाधना के पथ पर बढ़ा है, वहाँ उस पर न तो कुटुम्ब, परिवार, या पत्नी-बालकों की कोई जिम्मेवारी है, और न ही समाज एवं राष्ट्र के आर्थिक या औद्योगिक विकास या अर्थोपार्जन या आजीविका के लिए उद्यम की कोई चिन्ता है। इसलिए उसका पथ धर्म से ही सीधा मोक्ष की दिशा में बढ़ता चला जाता है। इसके विपरीत गृहस्थ अभी अपने घर की जिम्मेवारी लेकर बैठा है, अपने परिवार के भरणपोषण का दायित्व लेकर बैठा है, जाति, समाज एवं राष्ट्र की भी अमुक जिम्मेवारियाँ लेकर चला है, इसलिए उसके समक्ष धर्म के साथ ही अर्थ और काम का क्षेत्र भी आता है। अर्थ पुरुषार्थ के बिना उसके व परिवार आदि के जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकतीं और काम पुरुषार्थ के बिना संसार की, परिवार एवं समाज की वृद्धि नहीं होती। गृहस्थ को अपने वंश एवं परिवार की परम्परा भी चलानी होती है। इनके लिए अर्थ और काम दोनों ही उसके जीवन में आवश्यक रूप में रहते हैं। इसीलिए आचार्यों ने गृहस्थ जीवन में धर्म के साथ अर्थ एवं काम पुरुषार्थ को क्षम्य माना है। योगशास्त्र में निर्दिष्ट मार्गानुसारी के ३५ गुणों में से एक गुण यह भी बताया है—

'अन्योऽन्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयेत्।'

'मार्गानुसारी गृहस्थ परस्पर अविरोधी भाव से त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की साधना करे।'

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ अवसर आने पर धनोपार्जन भी करता है, यथावसर विषय-सेवन भी करता है, परन्तु करता है, वह धर्म-मर्यादा में रहकर। गृहस्थ धर्म की जो मर्यादाएँ है, जो नैतिक सीमाएँ है, आचार-विचार की जो परम्पराएँ हैं, उनका उल्लंघन करके वह अर्थ और काम का सेवन नहीं करता। वह अपने जीवन में जो भी प्रवृत्ति करता है, वह धर्म मर्यादा के प्रकाश में ही करता है, यथावसर वह जब धर्मसाधना करता है, तब पूर्णरूप से धर्म पुरुषार्थ का सेवन भी करता है, उस दौरान वह अर्थ और काम से बिलकुल अछूता रहता है। उसकी प्रकृति जिज्ञासु, भद्रिक एवं मुमुक्षु होती है। उसमें दया, क्षमा, करुणा, सेवा, सरलता, कोमलता एवं नम्रता आदि गुण होते हैं। लोभ से उसका चित्त सराबोर नहीं रहता। दान, शील, तप और भाव धर्म के इन चारों अंगों में वह रुचि रखता है, प्रयत्न भी करता है। ऐसे गृहस्थ समाज और राष्ट्र में धर्मात्मा और मान्य होते हैं। परन्तु गृहस्थ जीवन के दायित्वों की अमुक विवशताओं के कारण वह सहसा पूर्णरूप से अर्थ और काम का परित्याग नहीं कर पाता। गृहस्थ श्रावक के तीन मनोरथों के अनुसार वह अर्थ-काम और तत्सम्बन्धित आरम्भ का सर्वथा त्याग करने की शुभ भावना अवश्य करता है। दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति (२६४) में महान् श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने संयम और विवेक के साथ अर्थ और काम को जिन प्रवचन में स्वीकार किया है—

जिणवयणम्मि परिणए,
अवत्थविहि आणुठाणओ धम्मो।
सच्छासयप्पओगो अत्थो,
विसंभओ कामो ॥"

अपनी भूमिका के योग्य विहित धर्म का अनुष्ठान, स्वच्छ (पवित्र) आशय के साथ प्रयोग (अर्जित और विसर्जित) हुआ अर्थ और मर्यादा के अनुसार स्वीकृत (सेवित) काम—ये तीनों ही जिन वचन में परस्पर अविरोधी हैं।

कई लोग कह देते हैं कि जैनधर्म में तो अर्थ और काम पुरुषार्थ को कोई स्थान नहीं है; परन्तु वे उपासकदशांगसूत्र को उठाकर देखें तो उन्हें यह स्पष्ट प्रतीत हो जाएगा कि गृहस्थ श्रमणोपासकों ने अपने जीवन में किस प्रकार अर्थ और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काम का सेवन करने की छूट रखी थी। आनन्द, कामदेव आदि गृहस्थ जब श्रमण भगवान् महावीरस्वामी का धर्मोपदेश सुनने आये, तब भगवान् महावीर ने उनके समक्ष साधु-मार्ग और गृहस्थ-मार्ग दोनों ही धर्म प्रस्तुत किये। उन्होंने सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य एवं सीमित ब्रह्मचर्य तथा सम्पूर्ण अपरिग्रह एवं सीमित अपरिग्रह (परिग्रह-परिमाण) दोनों ही कोटि के व्रतों का विधान किया। उन्होंने किसी भी व्यक्ति से यह आग्रह नहीं किया कि वह पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य को स्वीकार करे या मर्यादित ब्रह्मचर्य (स्वदार-सन्तोष) को स्वीकार करे, तथा परिग्रह का सर्वथा त्याग करे या सीमित त्याग करे। यह उसकी रुचि, योग्यता, शक्ति, परिस्थिति और क्षमता पर उन्होंने छोड़ दिया था। यदि भगवान् महावीर ने आगन्तुक श्रोताओं से पूर्ण ब्रह्मचर्य एवं पूर्ण अपरिग्रह महाव्रत का ही आग्रह किया होता और स्वदार-सन्तोष एवं परिग्रह-परिमाणव्रत का कोई निर्देश न किया होता, तब तो यह माना जा सकता था कि जैनधर्म में अर्थ और काम को कोई स्थान नहीं है। किन्तु ऐसा है नहीं। इसका मतलब है कि यहाँ अर्थ और काम-पुरुषार्थ का गृहस्थ जीवन में स्वीकार तो किया गया है, परन्तु किया गया है, वह धर्म के नियंत्रण में ही।

धर्म मुख्य और अर्थ-काम गौण

अर्थ और काम को अध्यात्ममनीषियों ने मुख्य स्थान नहीं दिया है, न अर्थ काम को नेतृत्व ही सौंपा है। इसका अर्थ है, मानव जीवन में अर्थ और काम गौण हैं, धर्म मुख्य है। धर्म के नेतृत्व या अंकुश में ही अर्थ और काम रहें, यही भारतीय धर्मों और दर्शनों ने उचित माना है। इसीलिए कहा है—

'तत्राऽपि धर्मं प्रवरं वदन्ति'

धर्म, अर्थ और काम तीनों में धर्म को श्रेष्ठ कहते हैं। इसीकारण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों में धर्म पुरुषार्थ को सबसे आगे रखा गया है और अन्त में मोक्ष को। जिसप्रकार रेलगाड़ी में सबसे आगे एंजिन होता है, ड्राइवर (चालक) उसी में रहता है और अन्त में रहता है—गार्ड। बीच में यात्रियों के डिब्बे रहते हैं, ताकि चालक उसे ठीक रास्ते से ले चलता रहे और गार्ड उसकी देखभाल करता रहे; इसी प्रकार यह पुरुषार्थी जीवन की रेलगाड़ी है, इसके द्वारा गन्तव्यस्थान-मोक्ष पहुँचना है। इसके आगे धर्म चालक है, जो सबसे आगे है, वही उसे सही दिशा में उचित मार्ग पर ले चलता है। बीच में अर्थ-कामरूपी जीवन यात्रियों के डिब्बे हैं, वे इधर-उधर भटक न जायें, पथभ्रष्ट न हो जायें, इसीलिए डिब्बों का नियंत्रण धर्मरूपी चालक के हाथ में है, और अन्त में मोक्षपुरुषार्थी गार्ड, जो कहीं भूल या गड़बड़ होती हो, जीवन यात्रा विपरीत दिशा में हो रही हो या मार्ग में कहीं खतरा हो तो मार्गदर्शन देता रहता है। संक्षेप में धर्म के नेतृत्व में अर्थ और काम को रखने का यही उद्देश्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन-वृक्ष का धर्म-मूल सूखने पर

आपने देखा होगा जिस वृक्ष का मूल सूख जाता है, उसके पत्तों और डालियों को सींचते रहने से वह कभी हराभरा नहीं रह सकता। जीवन-वृक्ष का मूल धर्म है, अर्थ और काम उसके पत्ते और डालियाँ हैं। वह व्यक्ति अपने जीवन-वृक्ष को कभी हराभरा नहीं रख सकता, जो उसके केवल अर्थ रूपी पत्तों को सींचता है या सिर्फ कामरूपी शाखाओं पर ही पानी डालता है। जीवन-वृक्ष तभी तक सजीवन रह सकता है, जब तक इसके धर्मरूपी मूल को सींचा जाता है। धर्मरूपी मूल सुरक्षित रहेगा तो आपके जीवन में सुख-शान्ति सुव्यवस्था, सौभाग्य और उन्नति होती रहेगी, परन्तु याद रखिये, जिस दिन आपका धर्मरूपी मूल उखड़ गया, उस दिन से ये सब एक-एक करके विदा हो जायेंगे।

एक वटवृक्ष बसन्तऋतु में खूब ही खिला हुआ था। उसकी सघन छाया के नीचे अनेक पथिक आकर बैठते थे। पक्षी दूर-दूर से आकर उस पर चहचहाते थे। पतझड़ आई। वटवृक्ष के सभी पत्ते झड़ गए। डालियाँ सूख गयीं। श्रीहीन हो जाने से अब उस वट के पास कोई पथिक या कोई पक्षी नहीं फटकता था। बिलकुल अकेला, नीरस, सूखा ठूंठ होकर वह बड़ वहाँ खड़ा था। एक पथिक वहाँ से गुजर रहा था, उसने वटवृक्ष से पूछा—"अरे बड़ ! आज तेरी कैसी दशा हो गई है। तुझे अपनी इस हालत पर दुःख होता है या नहीं ? तुझे यह अकेलापन खटकता है या नहीं ?"

बड़ ने कहा—"भाई ! तुम्हारी बात सही है। पर जब तक मेरा मूल सजीवन है, तब तक मुझे कोई आपत्ति नहीं। बसन्तऋतु आने के दिन दूर नहीं हैं, इसके आते ही मैं पुनः हराभरा हो जाऊँगा, मेरी छटा फिर अनोखी हो जाएगी।"

आपको भी वटवृक्ष की तरह अपने जीवनवृक्ष के मूल, धर्म को सजीवन रखना है, सबसे अधिक चिन्ता इसी की रखनी है। आपके जीवन में कभी अर्थ की पतझड़ आ सकती है, कभी कामवासना की गर्म लू आपको सता सकती है, बीमारी की बर्फीली हवाएँ आपके जीवन-वृक्ष को जड़-सा बना सकती हैं, परन्तु आपको जीवन वृक्ष की धर्मचेतनारूपी जड़ हरी-भरी रखनी है। कदाचित् अनीति-अन्याय से प्रचुरमात्रा में धन कमा लेने का प्रलोभन आये अथवा कामवासना के प्रलोभन आएँ, अथवा कामज्वर पीड़ित करने लगे, उस समय आपको जीवन वृक्ष की धर्मरूपी जड़ को सुरक्षित रखना है, प्रलोभनों या हानि के भ्रमों के चक्कर में नहीं पड़ना है। अगर अपने धर्मरूपी मूल को सुरक्षित रखा तो एक दिन आपके जीवन में धन और सुखसाधन का वसंत आ सकता है, आपका काम अब मादक न रहकर वात्सल्यमार्ग की ओर मुड़ सकता है, जो आपको स्थायी आनन्द प्रदान कर सकता है।

इसीलिए मनुस्मृति में निरंकुश अर्थ-काम के कुपथ पर दौड़नेवालों को चेतावनी दी गई है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्ययम्॥

अधर्म करने वाले पापियों को सुखी, धनी और धार्मिकों को दुःखी और निर्धन देखकर भी अधर्म में मन नहीं लगना चाहिए।

कमजोर नींव का सुन्दर महल

एक महल की दीवारें बहुत मजबूत हैं, उस पर बहुत ही सुन्दर रंग-रोगन किया हुआ है, उसमें फर्नीचर सजा हुआ है प्रतिदिन महफिल जमती है, किन्तु उसकी नींव कच्ची है, बालू पर टिकी हुई है तो भला बताइए वह सुन्दर महल कितने दिनों तक टिका रह सकेगा? वह एक आँधी का झोंका आते ही धराशायी हो जाएगा। इसीप्रकार हमारे जीवन महल की धनसम्पत्ति रूपी दीवारें बहुत सुदृढ़ हों, उसमें विषय सुखों की खूब ही रँगरेलियाँ होती हों। आप भी रागरंग में खूब मशगूल रहते हों, परन्तु उस जीवन महल की धर्मरूपी नींव कमजोर हो, कमजोर क्या बिलकुल ही कच्ची हो, केवल दिखावे का क्रियाकाण्ड हो, अन्दर पोलमपोल हो तो बताइए धर्म की सुदृढ़ नींव से रहित आपका वह जीवन महल कितने दिन टिकेगा? आप उसमें कितने दिन आनन्द मना सकेंगे? आपका अर्थ का ढाँचा चरमराते ही और काम के साधनरूप शरीर, इन्द्रियाँ, अंगोपांग आदि ढीले पड़ते ही क्या आपका जीवन दुःख और अशान्ति से परिपूर्ण नहीं हो जाएगा? और अकाल में ही वज्रपात सा धक्का आपको नहीं लगेगा? सचमुच धर्मविहीन जीवन की दशा यही है। धर्मविहीन जीवन या तो धन के पीछे दीवाना होकर लोभी और कंजूस बन जाता है, या फिर कामवासना के चक्कर में पड़कर विषय-लम्पट बन जाता है। दोनों ही प्रकार के धर्महीन जीवन बर्बादी के रास्ते पर दौड़ लगाने लगते हैं। उसका जीवन ऐसा घोड़ा बन जाता है, जिसके कोई लगाम नहीं है। ऐसा घोड़ा सवार को या तो ऊजड़ रास्ते में ले जाकर भटका देता है या उसे नीचे गिराकर उसकी हड्डी-पसली चूर-चूर कर देता है। ये दोनों ही परिणाम धर्म के अंकुश से रहित अर्थ और काम का सेवन करने वाले के जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं।

धर्म का पलड़ा अर्थ-काम से भारी हो

धर्म का पलड़ा अर्थ-काम के पलड़े से वजनदार हो, तभी जीवन सुख शान्तिमय हो सकता है। आपने देखा होगा, भूख के अनुपात में रोटी खाने से ही शान्ति होती है, नींव की गहराई के अनुसार ही मकान बनाया जाता है, रोग के वेग के हिसाब से ही दवा की मात्रा दी जाती है, आय के अनुसार ही व्यय किया जाता है टंकी की ऊँचाई के अनुरूप ही जल ऊँचा चढ़ाया जाता है, इसी प्रकार अर्थ-काम की मात्रा के अनुपात में धर्म की मात्रा हो या धर्म का पलड़ा भारी हो, तभी आत्मा का विकास स्वाभाविकरूप से हो सकेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म-संतुलित अर्थ-काम न होने पर हानि

अर्थ और काम दोनों का सन्तुलन रखने वाला धर्म है। अर्थ कहीं धर्ममर्यादा से आगे न बढ़ जाय, इसी प्रकार काम भी धर्म के नियंत्रण से बाहर न हो जाए, इसलिए इन दोनों पर धर्म की लगाम रखनी आवश्यक है। आज हम देखते हैं कि शिक्षा चिकित्सा, वकालात, व्यापार, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में धर्म अंकुश समाप्त होता जा रहा है। इन क्षेत्रों के निरंकुश हो जाने का परिणाम यह आया कि शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी अनुशासनहीन, अविनीत, स्वच्छन्दी और असंयमी बन रहे हैं, अध्यापक भी चरित्रहीन और गैर जिम्मेदार बन गये हैं। पैसे के लोभ में आकर वे चाहें जिस विद्यार्थी को उत्तीर्ण कर या करा देते है। शिक्षण जब धर्म के अंकुश में था, तब तक वहाँ विद्यार्थियों में विनय, अनुशासन, चरित्रनिर्माण की रुचि और संयम था अध्यापकों में विद्यार्थियों के जीवननिर्माण के प्रति लगन थी, चरित्रशीलता थी, अध्ययन के साथ-साथ वे जीवन शिक्षण भी देते थे।

वकालात के क्षेत्र में धर्म-विमुखता के कारण झूठ-फरेब, तिकड़मबाजी, झूठे मुकद्दमे लेकर जिताना, जैसे-तैसे धन बटोरना ही प्रायः वकीलों का लक्ष्य रह गया।

यही बात चिकित्सा के क्षेत्र में धर्म-विहीनता के कारण आई। डाक्टर रोगी के प्रति लापरवाह हो गये, रोग मिटाना या रोगोत्पत्ति का कारण बताना उनका लक्ष्य न होकर रोग बढ़ाना और दवा इन्जेक्शन देकर अधिकाधिक पैसे कमाना ही प्रायः उनका लक्ष्य बन गया है।

धर्म की उपेक्षा करके अर्थ-काम की उपासना करने वाले व्यापारी का भी यही लक्ष्य बन गया है। ग्राहक को कैसे ठगना, कैसे अधिक मुनाफा कमाना, किस प्रकार माल में मिलावट करके तौलनाप में गड़बड़ करके पैसे अधिक कमाना इत्यादि लक्ष्य व्यापारी जगत् का बन गया है। बन्धुओ! आप लोगों में से अधिकांश व्यापारी हैं। प्राचीन काल के व्यापारी श्रावक कैसे होते थे? इसका आदर्श-चित्र शास्त्रों में मिलता है—

धम्मिया धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरइ'

वे धार्मिक थे, धर्म दृष्टि से ही आजीविका करते हुए जीवन यात्रा चलाते थे।"

आप लोग इस पर विचार करिये। धर्म के नियंत्रण में अगर आप अर्थोपार्जन करते हैं तो उससे आपको दोहरा लाभ है—व्यापार द्वारा समाज की सेवा हो जाती है और आपका जीवन भी धर्ममर्यादा में रहकर मोक्षपथ पर अग्रसर होता है। इससे व्यापारी का जीवन स्वस्थ और शान्त रहता है। और विज्ञान के क्षेत्र में भी धर्म का कोई अंकुश नहीं रह गया है। यही कारण है कि निरंकुश विज्ञान संहारक अस्त्र-शस्त्र बनाकर मानव जीवन के लिए अभिशाप बन गया है। हीरोशिमा और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नागासाकी पर बम वर्षा करके विज्ञान ने असंख्य प्राणियों का संहार कर दिया, इसका कारण है—धर्म के नियन्त्रण से बाहर हो जाना। अगर विज्ञान पर धर्म का अंकुश रहे तो संसार में स्वर्ग उतर सकता है।

सुरक्षा और सुख शान्ति : अर्थ काम से या धर्म से ?

प्रत्येक व्यक्ति की सुख शान्तिपूर्वक जीने की इच्छा होती है। इसमें दो तत्त्व मिश्रित हैं— एक जीना और दूसरा है—सुख-शान्ति प्राप्त करना। जीने का मतलब है—अपने अस्तित्व की रक्षा करना और सुख-शान्ति का मतलब है—अपनी अभिलाषाओं और कामनाओं की पूर्ति करना। इन दोनों तत्त्वों की पूर्ति के लिए साधारण अदूरदर्शी मानव दो चीजें अपनाता रहा है। वे हैं—अर्थ और काम। वह सोचता है—अर्थ होगा तो मेरी जिंदगी की रक्षा हो सकेगी, और काम होगा तो—मुझे सुख शान्ति मिलेगी। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर ये दोनों ही पुरुषार्थ—अर्थ और काम आगे चलकर मनुष्य को धोखा देते हैं। आराम देह जीवन की सुविधाएँ सुख-शान्ति का कारण नहीं है, अर्थ से शान्ति प्राप्त होने की बात विवेकहीन सोचता है; बल्कि निर्विघ्न तथा निर्द्वन्द्व जीवन प्रवाह ही सुख-शान्ति का हेतु है, जिसका कारण धर्म है। इसके विपरीत जो व्यक्ति उद्वेगपूर्ण, चिन्तायुक्त एवं अस्वाभाविक जीवन यापन करता है, वह दुःखी तथा अशान्त रहता है। विविध प्रकार के कष्ट एवं क्लेश उसे घेरे रहते हैं। ऐसा व्यक्ति एक क्षण के सुखचैन के लिए तरसता है। कभी उसे शारीरिक व्याधियाँ सताती हैं तो कभी वह मानसिक क्लेशों से पीड़ित रहता है।

एक बार भारतवर्ष के एक धनाढ्य व्यक्ति मुझे मिले। वे कुछ ही अर्से पहले अफ्रीका से काफी पैसा कमा कर लौटे थे। उनकी बातचीत से मुझे लगा कि वे अशान्त और दुःखी हैं। मैं उनके दुःख का कारण भांप नहीं सका, इसलिए पूछा—"सेठजी ! आप तो अफ्रीका से बहुत अच्छी कमाई करके आए हैं, फिर यों निराश क्यों दिखाई दे रहे हैं ?"

उन्होंने कहा—बेशक, महाराजश्री ! मैं बहुत अच्छी कमाई करके आया हूँ। परन्तु धन का ढेर होने मात्र से थोड़े ही सुखशान्ति मिल जाती है ? पैसों से सुख सुविधा के साधन जुटाए जा सकते हैं, अच्छा खाया-पीया जा सकता है, परन्तु सुख तो तब मिलता है, जब मन में शान्ति हो, शरीर और मन स्वस्थ हो, घर का वातावरण खुशनुमा हो, इसलिए मेरी तो यह धारणा पक्की बन गई है कि धन से—केवल धन से सुखशान्ति नहीं मिल सकती।"

मैंने कहा—"लोग तो पैसे के पीछे इतना दूर-दूर भागते फिरते हैं, पैसे को परमेश्वर से भी बढ़कर महत्त्व देते हैं, ऐसा क्यों ?"

अपने हृदय की भाप निकाले हुए वे बोले—अजी महाराज ! इस पैसे ने तो सुख और शान्ति के बदले दुःख और आफत खड़ी कर दी है। जब मेरे पास पैसा नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

था, तब मेरा परिवार सादगी से रहता था, सुख से जीता था, पुत्र भी आज्ञाकारी था, पत्नी भी मेरी सेवा करती थी। हम सब प्रेम से रहते थे। पता नहीं, यह लड़ाई का धन ही ऐसा आ गया है कि अब धन से सम्पन्न होने के बाद कोई किसी की नहीं मानता। सब अपना-अपना अलग राग अलापते हैं। पुत्र अपनी मस्ती में रहता है, पुत्री का राग भी अलग है और मेरी पत्नी की भी तर्ज बदल गई है। सब अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं। मैं दिन भर का थकामांदा शाम को घर आता हूँ, तो पत्नी सिनेमा देखने पहुँच चुकी होती है या सैरसपाटे के लिए निकल गई होती है, पुत्र किसी और कार्यक्रम में व्यस्त होता है। मुझे तो रसोइया जैसा जो थाली में परोस देता है, वही झटपट खा-पीकर घर से भागने को जी होता है। मानो घर मुझे काट खाने दौड़ रहा हो! क्या करूं, इतना पैसा होते हुए भी मुझे सुख-शान्ति नहीं है।"

उनकी बात पूरी होते ही मैंने कहा—"शास्त्र में श्रावकों के लिए नीति-न्याय और धर्मपूर्वक ही अर्थोपार्जन करने का निर्देश है, जहाँ पैसा अनीति, अन्याय या अधर्म से आता है, वहाँ वह अशान्ति और व्यथा उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। अनीति-अधर्म के पैसे से मनुष्य थोड़ी देर के लिए मन को मना लेता है कि मैं सुखी बन जाऊंगा, पर वह तो सुख की मृगतृष्णा है। वास्तविक सुख शान्ति से वह कोसों दूर हो जाता है।"

अतः धर्म मर्यादा से रहित अर्थ जीवन में सुख-शान्ति नहीं दे सकता। इसी प्रकार बिना ही मतलब के पैसे इट्ठका कर लेने मात्र से भी सुख नहीं मिलता; क्योंकि उस पैसे की रक्षा करने में दुःख, फिर उसका नाश हो जाय तो भी दुःख होता है, वह पैसा खर्च करने में भी दुःख और कमाने में भी दुःख होता है। यों धर्मरहित धन के पीछे कई दुःख लगे हुए हैं।

मानव जीवन का लक्ष्य अक्षय सुख-शान्ति प्राप्त करना है। उसके जीवन के सारे उपक्रम और कार्यक्रम इसी अक्षय सुख को प्राप्त करने का प्रयास है। सुख-शान्ति की स्थिति में ही मनुष्य आत्मविकास, आध्यात्मिक उन्नति, मस्तिष्कीय सन्तुलन, आत्म-प्रसन्नता, मानसिक स्थिरता आदि प्राप्त कर सकता है। इसलिए सुख-शान्ति की प्राप्ति की आकांक्षा तो उचित है, परन्तु जो व्यक्ति मानसिक संघर्ष में फँसा है, मोहमाया से संत्रस्त है, कामनाओं और वासनाओं के बन्धन में ग्रस्त है, वह लोकोत्तर तो क्या, लौकिक उन्नति भी नहीं कर सकता। संसार में कितना ही क्यों न भटका जाए, कितनी ही विषयवासनाओं का भोगविलास क्यों न किया जाए, कितने ही तथाकथित सुख-साधन क्यों न एकत्रित कर लिये जाएँ, किन्तु मनुष्य तब तक अक्षय सुख-शान्ति को नहीं प्राप्त कर सकता, जब तक कि उसकी दृष्टि धर्मलक्षी न हो जाए। एक ही उपाय है, धर्म के नियंत्रण में अर्थ-काम की आवृति। इसीलिए व्यासजी ने सारे संसार को यही संदेश दिया—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्चकामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ?"

मैं भुजा उठाकर चिल्ला रहा हूँ, परन्तु मेरी बात कोई भी नहीं सुनता । धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है । अतः उस शुद्ध धर्म का आचरण क्यों नहीं करते ?"

मिडास बहुत ही धनलोलुप था । उसके मन में यह भ्रान्ति दृढ़ हो गई कि सुख धर्म में नहीं, धन में रहता है । अतः उसने अपने इष्टदेव को प्रसन्न करके वरदान मांग लिया कि 'वह जिस वस्तु को छुए वही सोने में बदल जाए । वह खुश होकर घर आया । आते ही अपने मकान, पलंग और पोशाक को छूकर सोने का बना लिया । मन ही मन खुश होने लगा कि अब तो चारों ओर सुख ही सुख है । कुछ देर बाद उसे भूख लगी । भोजन की थाली छूते ही सोने की बन गई और जो भी खाने की चीजें थीं, वे सब सोने की हो गईं, पानी को छुआ तो वह भी सोने का हो गया । बड़ा परेशान हो गया वह । आखिर भूख-प्यास को कहाँ तक बर्दाश्त करता । सोने की रोटी और सुनहरा पानी खाने-पीने के क्या काम आ सकता था ? आखिर परेशान होकर उसने फिर इष्टदेव से प्रार्थना की कि अपना वरदान वापस ले लो । मैं जिस स्थिति में था, उसी में सुखी था । मैं अब समझ गया कि कोरे धन से सुख नहीं मिल सकता ।"

हाँ तो मैं कह रहा था कि कोरे अर्थ से, या धर्मरहित अर्थ से सुखशान्ति का प्रश्न हल नहीं हो सकता । जो बेचैन है, अशान्त है पीड़ित है वह भला काम-सुख कैसे पा सकेगा ? उसे घर में इन्द्रियों के सभी विषय सामग्री होते हुए भी वे काले साँप-से लगेंगे । परिस्थिति, संयोग या भाग्य से यदि किसी को धन-सम्पन्नता प्राप्त भी हो गई तो धर्म की कमाई न होने के कारण या उस अर्थ का धर्म-कार्य में व्यय न होने के कारण केवल कृपणता से धन पर सांप की तरह कुंडली मार कर बैठ जाने से क्या सुखशान्ति मिलेगी ? न तो वह उस धन से सुखशान्ति प्राप्त कर सकेगा, न ही उसका उपभोग कर सकेगा ।

ऐसे धन से मानव-जीवन की सुरक्षा का स्वप्न भी कैसे पूरा होगा ?

एक सेठ अत्यन्त कृपण था । उसने बहुत धन जोड़-जोड़ कर तिजोरी में इकट्ठा कर लिया था । न तो स्वयं उस धन का उपयोग कर सकता था, न वह किसी जरूरतमन्द को देता था, न किसी सेवाकार्य में व्यय करता था । बल्कि गरीबों को ऊँचे ब्याज पर पैसा देता और उसमें भी बेईमानी से एक शून्य बढ़ाकर वसूल करता था । इतना हृदयहीन कृपण सेठ एक दिन बड़ी तिजोरी में बैठा नोट गिन रहा था, धन देखकर वह प्रसन्न हो रहा था, परन्तु अचानक बाहर से किसी व्यक्ति को आते देख उसने तिजोरी का दरवाजा बंद कर लिया । संयोगवश वह तिजोरी बंद हो जाने के बाद बाहर से ही खुलती थी, अन्दर से नहीं । अतः सेठ तिजोरी खोल न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सका। नोट गिनते-गिनते ही दम घुट कर वह वहीं खत्म हो गया। बताइए, ऐसा अधर्म का या धर्म के अंकुशरहित अर्थ किस काम आया उस सेठ के ?

दौलत के नशे में मनुष्य अहंकारी होकर अंधा होते देखा गया है। अहंकारी धनिक दूसरों का तिरस्कार करते देर नहीं लगाता। कभी-कभी वह जरूरतमन्दों को दुत्कार कर मारपीट भी कर देता है।

अत्याचारी शासक तैमूरलंग के जीवन का एक रोचक किस्सा है। एक बूढ़ी गायिका, जो अंधी थी उसने तैमूरलंग को गाना सुनाया, जिसे सुनकर वह खुश हुआ। उसने उसे एक हजार रुपये इनाम दिये। जब वह खुश होकर जाने लगी तो बादशाह ने उसका नाम पूछा। बुढ़िया ने कहा—'दौलत'। नाम सुनकर ताना कसते हुए बादशाह बोला—"क्या दौलत अंधी होती है ? तुम तो अन्धी हो।" वह भी कब चूकने वाली थी ? बोली—जहाँपनाह ! दौलत तो हमेशा से अंधी होती है। तभी तो देखिये न, वह एक लंगड़े आदमी के पास गई है।

लंगड़ा तैमूरलंग सुनकर झेंप गया और बुढ़िया के कटु सत्य कथन के बदले उसने उसे और १० हजार का पुरस्कार दिया।

कई बार यह देखा जाता है कि घर में बेईमानी से कमाई हुई प्रचुर सम्पत्ति है। सुन्दर मकान, आज्ञाकारिणी पत्नी, स्वामिभक्त सेवक, सज्जन, परिवार सभी कुछ हैं, शरीर भी पूर्ण स्वस्थ एवं बलिष्ठ है। पर इन्कमटैक्स, सेलटैक्स तथा सरकार के अन्य कानून कायदों के कारण रातदिन गिरफ्तारी, बेइज्जती एवं सज्जा का भय और आतंक छाया रहता है। कभी हिस्सेदारों या परिवार के जबर्दस्त व्यक्ति का भय रहता है कि कहीं वे अपना हिस्सा माँग न बैठें। इसलिए कहा है—'सुखी न भयऊँ, अभय की नाईं।" और अभय का वरदान उसे तभी मिल सकता है जब वह ईमानदारी एवं न्यायनीति से धर्मयुक्त धन का उपार्जन करे, चाहे वह थोड़ा ही हो। उस धन के साथ भय और आतंक का दौर नहीं है, निश्चिन्तता है, संतोष की सांस है।

इसीलिए महात्मागाँधीजी ने कहा था—"धर्मरहित अर्थ त्याज्य है, इसी प्रकार धर्मरहित राजसत्ता राक्षसी है।"

किसी पूर्व जन्म में तथागत बुद्ध एक ब्राह्मण से वैदर्भमंत्र सीखते थे, जिसके बल से वह अमुक नक्षत्र आने पर स्वर्णमुद्राएँ बरसा सकता था।

एकदिन बुद्ध को लेकर वह ब्राह्मण किसी कार्यवश विन्ध्य पर्वत की ओर चल पड़ा। मार्ग बड़ा विकट था। घोर जंगल में दस्युओं ने दोनों को पकड़ लिया। फिर उन्होंने बोधिसत्व को धन लाने भेजा और उनके गुरु—ब्राह्मण को बंदी बनाये रखा। बोधिसत्व ने चलते समय गुरु से कह दिया कि आज रात को आप मंत्र बल से स्वर्णमुद्रा बरसाने का प्रयोग मत करना, अन्यथा आपके साथ-साथ सभी दस्युओं का नाश हो जाएगा। पर उतावले गुरु ने बोधिसत्व की बात पर उपेक्षा करके जल्दी छूटने के लोभ से मंत्रबल के प्रयोग से स्वर्णमुद्रा बरसा दी। डाकू धन समेट कर आगे बढ़े ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

थे कि दूसरे दल के सौ डाकू और मिले और उन्होंने इन ५० डाकुओं को पकड़ लिया। पकड़े हुए डाकुओं ने उस ब्राह्मण से अपनी तरह धन प्राप्त करने को कहा। परन्तु धन बरसाने का मंत्रयोग निकल चुका था अतः वह सफल न हुआ, इससे क्रुद्ध डाकुओं ने उसे मार डाला। ५० डाकुओं का सफाया करके उनका धन छीन लिया। आगे चलकर प्रचुर धन के लोभवश उन डाकुओं में दलबंदी हुई। युद्ध छिड़ा जिसमें दो को छोड़ शेष ९८ डाकू मारे गये। धन समेट कर उन्होंने झाड़ी में छिपा दिया। खाने पीने की तजबीज में एक डाकू चावल बनाने लगा। दूसरा शौच आदि से निवृत्त होने गया लोभवश उसने चावल में जहर मिला दिया। शौच जाकर आते ही दूसरे ने उस पर तलवार से प्रहार किया। वह मर गया। क्रूर डाकू ने जब जहरीले चावल खाये तो वह भी थोड़ी देर में मर गया। इस पर तथागत ने अपने प्रवचन में अपने शिष्यों से कहा—अनुचित रीति से धन कमाने और अनुपयुक्त मार्ग से उन्नति की बात सोचने वाले व्यक्ति लाभ नहीं, हानि ही उठाते हैं। अपने साथ औरों को भी ले डूबते हैं।"

इसी प्रकार कामान्ध व्यक्ति भी धर्म-मर्यादा को नहीं देखता, वह भी येन-केन प्रकारेण अपनी कामवासना को तृप्त करना ही अपना लक्ष्य समझता है। परन्तु उससे कितनी हानि होती है ? यह वह नहीं सोचता। क्षणिक कामसुख अनेक घोर दुःखों को बुला लेता है।

कुणाल था तो सम्राट अशोक का ही पुत्र—अपने पति की ही सन्तान; परन्तु सौतिया माता तिष्यरक्षिता ने कुणाल को अपने कामजाल में फँसाने का प्रयत्न किया। कुणाल ने कहा—'माँ ! पुत्र के प्रति ऐसी अनुचित भावना ?" बस, नागिन की तरह फुफकार उठी वह, बदला लेने की ठान बैठी। कुणाल को विद्रोह शान्त करने के लिए महारानी के कहने से सम्राट ने तक्षशिला भेज दिया। विद्रोह शान्त हो जाने पर अस्वस्थ सम्राट् की राजमुद्रा लगाकर उनकी कृपापात्र कुटिल तिष्यरक्षिता ने तक्षशिला के अमात्य के नाम पत्र में लिखा—'कुमारः अन्धीयताम्'। अन्धीयताम् के आदेश अनुसार कुणाल की आँखें फोड़ डाली गईं। बाद में जब सम्राट को पता चला तो उन्होंने रानी को कठोर दण्ड सुनाया। परन्तु कुणाल के कहासुनी करने से माफ कर दिया मगर तिष्यरक्षिता सम्राट अशोक के मन में घृणापात्र हो गई।

यह है धर्मरहित काम का दुष्परिणाम ! इसने असंख्य नरनारियों का जीवन बर्बाद कर दिया। इसलिए यह निर्विवाद है कि धर्म-मर्यादारहित अर्थ और काम से कभी सुखशान्ति नहीं मिल सकती। धर्म के बिना अर्थ और काम एक अंक के बिना शून्य की तरह हैं। उनका कोई पारमार्थिक मूल्य नहीं है।

परन्तु अफसोस तो यह है कि वर्तमानयुग का मानव धर्म पर निष्ठा खोता जा रहा है, या तो उसकी निष्ठा अर्थ पर है या सांसारिक विषय-सुखोपभोग पर। एक पाश्चात्य लेखक Cecil (सिसिल) ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"A man who puts aside his religion because he is going into society, is like one taking his sohes of because he is about to walk upon thorns."

"जो मनुष्य धर्म को एक ओर ताक में रख देता है, क्योंकि उसे समाज में जाना है, वह उस व्यक्ति की तरह है जो काँटों पर चलने के मौके पर अपने जूते पैरों से निकाल देता है।"

धर्मरहित जीवन पाशविक या आसुरी

जो व्यक्ति जितना ही स्वार्थी है, जिसकी भावनाएँ संकीर्ण हैं, दूसरों के दुःखदर्द में जिसे अरुचि है, वह केवल अपने ही अर्थ-काम-सेवन के चक्कर में रहता है। यह पशुता का चिह्न है। पशु केवल अपनी ही बात सोचता है। वह तमोगुणी होता है। उसके दिमाग में अपने अर्थ से दूसरों की भलाई करने का या अपनी काम शक्ति से दूसरों से मैत्री करने, दूसरों को सुखी बनाने का विचार ही नहीं आता।

जब यह दुर्भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरों को हानि पहुँचा कर और उनका अनुचित और अनिष्ट करके भी अपना अर्थ-काम सिद्ध किया जाता है, अथवा बिना ही किसी अपने या दूसरों के लोभ के दूसरों का अहित सोचा या किया जाता है, वहाँ असुरता का चिह्न समझना चाहिए। नरपिशाचों की कुटिल गति-विधियाँ ही ऐसी होती हैं जो छोटे से लाभ के लिए दूसरों का बड़ा से बड़ा अनर्थ करने में नहीं चूकते।

परन्तु धर्मयुक्त अर्थ-काम का सेवन करके जीने वाले व्यक्ति मानवता से युक्त होते हैं। वे दूसरों की सुख-सुविधाओं, उनके उचित अधिकारों का ध्यान रखते हुए ही अपनी सुविधा एवं उन्नति की व्यवस्था करते हैं।

इसीलिए जीवनद्रष्टा कहते हैं—

"प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किंनु मे पशुभिस्तुल्यं, किंनु सत्पुरुषैरिव॥"

मानव को प्रतिदिन प्रभातकाल में अपने चरित्र का अपने बहते हुए जीवन प्रवाह का अवलोकन करना चाहिए कि मेरा जीवन पशु तुल्य या असुरतुल्य है या सत्पुरुषों के जीवन जैसा सात्विक एवं निर्मल है?

सच्ची आयु का प्रारम्भ धर्माचरण के बाद से

मनुष्य की आयु जीवन द्रष्टाओं की दृष्टि में तब तक गौण है, वास्तविक आयु तो तभी गिनी जाती है, जब जीवन में धर्ममर्यादित अर्थ काम का प्रारम्भ हो। उससे पहले की आयु पाशविक जीवन की या आसुरी जीवन की समझी जाती है।

एक युवक सन्त किसी गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए पहुँचे। घर का मुखिया एक बूढ़ा अन्दर ही बैठा अपना हिसाब-किताब कर रहा था। उसे कोई मतलब नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

था, कौन अतिथि या साधु घर में आता है, उसके प्रति क्या कर्तव्य हैं ? साधु रसोई घर में गया। उस गृहस्थ की पुत्रवधू बड़ी धार्मिक थी' उसने बड़ी भावभक्ति से सन्त को भिक्षा दी। साथ ही सन्त का इस छोटी-उम्र में वैराग्य देखकर उसने पूछा-"मुनिवर ! अभी तो सवेरा है।" मुनिवर ने कहा—"बहन ! काल का पता नहीं था।" बूढ़ा ! जो अब तक अपने हिसाब-किताब में मग्न था, चौकन्ना होकर दोनों का वार्तालाप सुनने लगा। वह प्रश्नोत्तर सुनकर मन ही मन सोचने लगा—ऐसी मूर्ख पुत्रवधू है और ऐसा ही मूर्ख यह सन्त है। दोपहर होने आया हैं, फिर भी दोनों को समय का पता नहीं हैं, आश्चर्य है।'

मुनिवर ने बहन को धार्मिक समझ कर पूछा—"बहन ! तुम्हारे घर का क्या आचार है ?" वह बोली—"हम तो बासी भोजन करते हैं ? यह सुनकर बूढ़ा अत्यन्त खीज उठा ! ओह, कितना झूठ ? हमारे घर की बदनामी करती है यह तो ! मुनि ने पूछा—"बहन ! तुम्हारे पति की उम्र कितनी है ? तुम्हारे पुत्र की एवं तुम्हारे श्वसुर की कितनी उम्र है ? और तुम्हारी आयु कितनी है ?"

उसने कहा—"मेरे पति की उम्र चार वर्ष की है, पुत्र की बारह वर्ष की है, मेरे श्वसुर तो अभी पालने में झूल रहे हैं और मैं बीस वर्ष की हूँ।" यह सुनते ही श्वसुर एकदम कोपायमान हो गए। कितनी गप्प हाँकती है यह ?" मुनिवर तो यों कहकर चले गए। बूढ़ा एकदम तन कर आया और पुत्रवधू से पूछने लगा—"तुम दोनों क्या अटपटी बातें कर रहे थे ? तुमने बासी भोजन के तथा उम्र के विषय में जो अंटसंट गप्पे हांकी हैं उसका क्या अर्थ है ?" पुत्रवधू ने अत्यन्त नम्रता से कहा "पिताजी ! आपको इन बातों का रहस्य समझना हो तो गुरु महाराज के पास पधार जाइए। मैं आपसे बहस करूँ, यह छोटे मुँह, बड़ी बात होगी।"

बूढ़ा सेठ सीधा उपाश्रय में पहुँचा और युवक संत के गुरु से विवाद करने लगा। मुनिवर ने उन युवक मुनि को बुलाकर पूछा—ये सेठ, जो कुछ कह रहे हैं, उसका समाधान करो। युवक संत ने कहा—तुम्हारी पुत्रवधू बहुत गुणवती एवं धार्मिक है। उसने यौवन में वैराग्य देखकर मुझसे पूछा था—अभी तो बहुत ही छोटी उम्र है, इस उम्र में यह वैराग्य कैसे ? मैंने उसका उत्तर दिया था कि काल का पता नहीं, कब आ धमके, इसलिए मैंने यह वैराग्य लिया है। फिर मैंने घर के आचार के विषय में पूछा तो उसने कहा—यहाँ तो सब बासी खाते हैं। बासी खाने का मतलब है—पूर्वजन्म की जो धर्म-कमाई है उसी को अभी तक खा रहे हैं, नई कोई धर्म कमाई अभी नहीं कर रहे हैं, फिर मैंने उम्र के बारे में पूछा था। उम्र की वास्तविक शुरूआत तभी मानी जाती है, जब धर्माचरण का जीवन में श्रीगणेश हो। आपकी पुत्रवधू ने जो बताया उसका रहस्य यही है कि मेरे पति ४ वर्ष से धर्माचरण में लगे हैं, पुत्र १२ वर्ष से लगे हैं, स्वयं बीस वर्ष से लगी हुई है, और आपके लिए कहा कि श्वसुरजी तो अभी धर्म-ध्यान में लगे ही नहीं हैं। अभी तो वे अर्थ-काम के पालने में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सांसारिक स्वार्थ के झूले में ही झूल रहे हैं। क्यों बात ठीक है न ? आपकी पुत्रवधू ने अपने परिवार की स्थिति का सही चित्रण किया या नहीं ? सेठ के दिमाग की खिड़कियाँ खुल गईं। उसने अपनी गलती स्वीकार की और भविष्य में कोरे सांसारिक अर्थ-काम के प्रपंच में न रहकर धर्माचरण करने का संकल्प किया।

वास्तव में धर्म के बिना मानव केवल श्वांस लेने वाला चलता-फिरता प्राणी है, उसे जीवित मानव नहीं कहा जा सकता। वही जीवित है, उसका ही जीवन सच्चा जीवन है, जो अर्थ-काम का सेवन भले ही करता हो, पर धर्ममर्यादा को छोड़कर कदापि नहीं।

इसी जीवन का रेखाचित्र एक कवि ने खींचा है—

चलता चले वह आदमी,
बढ़ता चले वह आदमी,
उत्सर्ग पथ पर शूल से
लड़ता चले वह आदमी,
है आदमी तो वह कि जिसका धर्म ही संग्राम है।
जीवन इसी का नाम है।

कवि ने कितना मार्मिक सत्य कह दिया है।

धर्माचरण क्यों करें ?

बहुत-से लोग धर्म का उपहास करते हुए कहते हैं हमारे पास सभी प्रकार के साधन हैं, पैसा है, बंगला है, कार है, परिवार अच्छा है, रोजगार-धंधा अच्छा चलता है, शरीर स्वस्थ है; फिर क्या जरूरत है धर्माचरण करने की या हमारे अर्थ-काम के क्षेत्र में धर्म को बीच में लाने की ? धर्म करना होगा तो हम बुढ़ापे में कर लेंगे या जिंदगी के अन्तिम दिनों में कर लेंगे, अभी तो हमें अपने कमाने-खाने से ही फुरसत नहीं है।" परन्तु उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि ये सब सांसारिक पदार्थ या उनका उपभोग तभी उपलब्ध हो सकता है, जब पुण्य प्रबल हो, इसके अतिरिक्त इन चीजों का भी कोई ठिकाना नहीं है कि ये सदा ही बनी रहें। धन आदि पदार्थ जैसे नाशवान है, वैसे शरीर भी नाशवान है। बुढ़ापा आएगा तब कैसी मनःस्थिति, रहेगी, कौन जानता है ? बुढ़ापा भी आएगा, इसकी भी कौन-सी गारन्टी है ? अतः इन सब नाशवान वस्तुओं के चक्कर में पड़कर धर्माचरण करने में लापरवाही नहीं दिखाना चाहिए। नीतिकार ठीक ही कहते हैं—

"अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
मृत्युः सन्निहितो नित्यं, कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः॥"

शरीर अनित्य है, वैभव भी शाश्वत नहीं है, मृत्यु प्रतिदिन निकट आती जा रही है, इसलिए मनुष्य को धर्म-संचय करते रहना चाहिए।

जोधपुर निवासी सेठ बच्छराजजी सिंघी की धर्माचरण के प्रति उदासीनता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देखकर एकबार पूज्य श्रीरघुनाथजी महाराज ने कहा—सिंघीजी। मानवजन्म अत्यन्त दुर्लभता से मिला है। इसे धर्माचरण करके सार्थक करना चाहिए।" इस पर उन्होंने कहा—"मेरे पास बड़ी हवेली है। सुन्दर सुशील पत्नी है। नौकर चाकर हैं। सब तरह का ठाठ है। फिर धर्माचरण करने से क्या होगा? क्या जरूरत है—धर्माचरण करने की?

"मेरी बात कड़वी न मानो तो कहूँ?" पूज्य श्री ने कहा।

सिंघीजी बोले—"हाँ कहिए न महाराज साहब!"

पूज्यश्री ने कहा—"अगर आप मरकर कुत्ता बन गये तो क्या इस हवेली में आपको घुसने देंगे, आपके परिवार वाले लोग?"

सिंघीजी—"नहीं, महाराज! तब तो डंडा मारकर भगा देंगे।

पूज्यश्री—इसलिए तो मैं कहता हूँ, आप धर्म-साधना करिये, वही आपको इहलोक-परलोक में सुखी बनाएगी। सभी स्थितियों में धर्म-साधना जीवन के लिए सुख-शान्तिदायक है। आप अपने परिवार का पालन करें, पर धर्ममर्यादा में रहकर।"

सिंघीजी सारी बात समझ गए। तभी से उन्होंने अपना जीवन धर्म ध्यान में लगा दिया।

आनन्द, कामदेव वगैरह गृहस्थ श्रावकों के पास सम्पत्ति की कमी नहीं थी, कामभोग के सभी साधन भी थे, वे इन्द्रिय-विषयों का यथावसर उपभोग भी करते थे, परन्तु उनका अर्थ और काम का सब कुछ पुरुषार्थ धर्म की मर्यादा में होता था।

इतनी धर्मकरणी होने पर भी जनता दुःखी क्यों?

कई वर्तमान परिस्थिति से असंतुष्ट लोग यों कहा करते हैं कि आज पहले की अपेक्षा अधिक संख्या में मन्दिर, उपाश्रय, गुरुद्वारे, मस्जिद आदि धर्मस्थान बन गए हैं, बनते जा रहे हैं। लोग भी बड़ी भारी संख्या में धर्म-श्रवण करने आते हैं। धर्म स्थानों में भी भीड़ रहती है। धर्मक्रिया भी बहुत करते हैं, पर्युषण के दिवसों में तो धर्म ध्यान का ठाठ लग जाता है, फिर भी हम देखते हैं कि लोग दुःखी हैं। चिन्तित हैं, अस्वस्थ हैं, मानसिक क्लेश से पीड़ित रहते हैं। उन्हें अच्छा परिवार नहीं मिलता इसका क्या कारण है?

मेरी दृष्टि में तो इसका कारण यह मालूम होता है कि आज धर्माचरण तो बहुत कम होता है, धर्म का दिखावा ज्यादा होता है। बड़े-बड़े शहरों में आपने 'शोरुम' देखे होंगे। उनमें अच्छी से अच्छी वस्तु सजाई हुई रहती है, परन्तु वे चीजें केवल देखने भर की होती हैं, आपको मिल नहीं सकती वहाँ से। इसी प्रकार धर्म की व्यास पीठ पर से जितने भाषण होते हैं, और जितने श्रोता आते हैं, उनमें से धर्माचरण करने वाले बहुत ही कम मालूम होंगे। यही कारण है कि आज धर्मक्रिया या धर्म-स्थानों में लोगों की भीड़ बहुत होती है, परन्तु उनमें वास्तविक धर्माचरण करने वाले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विरले ही होते हैं। इसीकारण वे धर्मपालन में दुःख और कष्ट महसूस करते हैं। दुःख तो धर्मात्मा पर भी पड़ता है, परन्तु वह दुःख को इतना अनुभव नहीं करता। उसमें इतनी सहनशक्ति आ जाती है कि वह कष्ट को कष्ट नहीं समझता, हँसते-हँसते सह लेता है।

'पीटर दि ग्रेट' रूस का एक बहुत क्रान्तिकारी, उदार और विद्वान बादशाह (जार) हुआ है। उसने मॉस्को में एक गिरजाघर (चर्च) बनवाया, उसमें वह हर रविवार को स्वयं प्रार्थना करने आता था। जनता की संख्या यहाँ तक बढ़ी कि हर रविवार को ५० हजार की संख्या प्रार्थना में उपस्थित हो जाती। एक दिन पीटर ने पादरी से कहा—"मेरी जनता कितनी धार्मिक और ईश्वरभक्त है ?" इस पर पादरी ने कोई उत्तर नहीं दिया। मगर दूसरे शनिवार की रात को पादरी ने मॉस्को की आम जनता में यह शोहरत करवा दी कि "कल प्रार्थना में बादशाह नहीं आएँगे।" दूसरे दिन बादशाह (पीटर) प्रार्थना करने उपस्थित हुए तो आश्चर्य चकित हो गए; क्योंकि वहाँ केवल सात व्यक्ति थे। पादरी ने बादशाह से कहा—जनता बादशाह की भक्त है, ईश्वर की नहीं। जनता केवल आपकी निगाह में आने के लिए, समाज में सम्मान पाने के लिए, अपनी कई प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि के लिए, धार्मिक स्थानों पर आती है, ईश्वर की पूजा या धर्माचरण से जीवन को ओतप्रोत बनाने के लिए नहीं।

केवल ईसाई धर्मियों की नहीं, प्रत्येक धर्म वालों की आज प्रायः यही स्थिति है। प्रत्येक धर्म के सिद्धान्त बहुत ऊँचे-ऊँचे हैं, पर उन सिद्धान्तों पर चलने वाले आपको मुट्ठी भर मिलते हैं।

यही कारण है कि धर्म को लोगों ने फर्नीचर की तरह सजावट और दिखावट की चीज बना दी है। बाहर से तो धर्म पर बड़े-बड़े भाषण देंगे, विवाद करेंगे, लड़ेंगे-मरेंगे, पर धर्ममय जीवन जीने के लिए कम तैयार होंगे। इसीलिए पाश्चात्य विचारक कॉल्टन (Colton) कहता है—

"Men will wrangle for religion; write for it; fight for it; die for it, anything but live for it."

मनुष्य धर्म के लिए विवाद करेंगे, इसके लिए लिखेंगे, लड़ेंगे, मर जायेंगे, सिवाय धर्ममय जीवन जीने के वे सब कुछ करेंगे।

महामहिम धर्म दिखाई क्यों नहीं देता ?

कुछ लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि धर्म जब इतना व्यापक है कि झोंपड़ी से लेकर महलों तक सभी लोग इसका आचरण कर सकते हैं, यह इतना तेजस्वी है कि जीवन में नवसंस्कारों के प्राण फूंकना है, मनुष्य को ऊर्ध्वगामी बनाता है, मोक्ष प्रदान करा देता है, मानवत्व से देवत्व तक प्रतिष्ठित करा देता है, जिस व्यक्ति में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूप, स्वास्थ्य, बल वगैरह कुछ न हो, उसे भी धर्म पवित्र बनाकर उच्चता के सिंहासन पर बिठा देता है, तब हमें विचार आता है कि धर्म अगर जीवन में इतना व्यापक है तो वह दिखाई क्यों नहीं देता ? उसका तेज या प्रकाश अथवा चमत्कार कुछ न कुछ तो दिखाई देना चाहिए न ? भूख लगती है, तब वह खाने के काम नहीं आता प्यास लगती है, तब धर्म पीने में काम नहीं आता, ठण्ड लगती है, तब धर्म ओढ़ा नहीं जा सकता, ऋण चुकाना हो तो साहूकार को पैसों के बदले धर्म नहीं दिया जा सकता, व्यवहार में किसी भी वस्तु के विनिमय में धर्म उपयोगी नहीं होता, फिर धर्म की उपयोगिता और महत्ता क्या है ?

इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि धर्म वृक्ष के मूल की तरह है। मूल फल की तरह खाने के काम नहीं आता, न मूल वृक्ष के दूसरे अंगों की तरह बाहर दिखाई देता है, वह जमीन के अन्दर दबा हुआ, छिपा हुआ रहता है। अगर मूल न होतो वृक्ष में टिके रहने की ताकत नहीं होती। वृक्ष फलित-पुष्पित होते हैं, मीठे फल देते हैं, हरे-भरे होकर पथिक को छाया देते हैं, पक्षियों को बसैरा देते हैं, इन सब बाहर से दिखाई देने वाली क्रियाओं का आधार तो उनका मूल ही है। इसीप्रकार धर्म भी जीवन वृक्ष का मूल है। जीवन में जो कुछ दान दिया जाता है, शील पालन किया जाता है, तपस्या की जाती है, परोपकार के कार्य किये जाते हैं, दूसरों के प्रति मैत्री, करुणा, सेवा, क्षमा, दया आदि का व्यवहार किया जाता है, इन सब क्रियाओं का आधार तो धर्मरूपी मूल है। एक पश्चिम के विचारक T. L. Cuyler के शब्दों में कहूँ तो—

Let your religion be seen. Lamps do not talk, but they do shine. A light-house sounds no drum, it beats no gong; yet far over the waters its friendly light is seen by the mariner.

—तुम्हारा धर्म भी दिखाई देना चाहिए। बत्तियाँ बोलती नहीं, लेकिन वे प्रकाश देती हैं। प्रकाश गृह ढोल नहीं पीटते, और न झांझरी ही बजती है, किन्तु दूर-सुदूर समुद्र के पानी में इसकी दोस्तीभरी रोशनी सामुद्रिकनाविकों को दिखाई देती है।

हाँ, तो धर्म भी चाहे बाहर से न दिखाई देता हो, इसका प्रकाश प्रत्येक मानव में किसी न किसी रूप में पड़ता ही हैं। चाहे वह किसी भी देश, वेश, धर्म-परम्परा, जाति या प्रान्त का हो। अगर मनुष्यों में धर्म न होता तो आप और हम यहाँ शान्ति से बैठ नहीं सकते थे। जो राष्ट्र धर्म को अफीम बताते हैं, वे भी सद् धर्म के सत्य, अहिंसा आदि अंगों को मानव जीवन के अनिवार्यरूप से मानते हैं। यह धर्म का ही कारण है कि इतने शासक, राष्ट्र एवं ग्राम, नगर आपस में सौहार्द से रह सकते हैं, विचार विनिमय कर सकते हैं, सहयोग दे-ले सकते हैं। मैत्री का हाथ बढ़ा सकते हैं। इसलिए वैदिक ऋषि ने कहा था—

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'

धर्म ऐसा जगत् का मूलाधार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके बिना संसार का अस्तित्व टिक नहीं सकता। यही कारण है कि धर्म का लक्षण जैनाचार्य ने किया है—"**यो धरत्युत्तमे सुखे।**" जो जनता को उत्तम सुख में धारण करता है, समस्त लोक का धारण-पोषण-रक्षण करता है, वही धर्म है।

जो धारण पोषण करे, सुखमय करे समाज

भारतीय संस्कृति की नींव धर्म पर टिकी हुई है। भारत के धर्मों ने मानव जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ धर्म को श्वासोच्छ्वास की तरह जोड़ा। उनका कहना है खाना पीना, उठना, बैठना, सोना, चलना, विवाह आदि करना आदि प्रत्येक प्रवृत्ति को करने की मनाही नहीं है, परन्तु उस पर धर्म का नियंत्रण रखो, धर्म की मर्यादा को देखो। साथ ही महाभारत में चारों वर्णों के व्यावसायिक धर्म अलग-अलग बताये हैं। डाक्टर, वकील, व्यापारी, किसान, मजदूर, उद्योगपति, स्वामी-सेवक, पति, पत्नी, माता-पुत्र, भाई-बहन, भाई-भाई आदि पारिवारिक एवं सामाजिक क्षेत्र के सभी व्यक्तियों के नैमित्तिक धर्म अलग-अलग हो सकते हैं, परन्तु इन सबके नित्य धर्म-अहिंसा, सत्य आदि तो एक ही हैं, ये शाश्वत हैं। धर्म के इन दोनों रूपों को देखते हुए अर्थ और काम-सम्बन्धी प्रवृत्ति हो तो समाज, राष्ट्र परिवार एवं व्यक्ति का जीवन सुव्यवस्थित, सुरक्षित, सुसंस्कृत बना रह सकता है। यही धर्म का चमत्कार है, जिसे धार्मिक परिवारों में देखा जा सकता है। धर्म पुरुषार्थों के लिए प्रमुख मार्गदर्शक हैं। जीवन के समस्त आदर्शों का समावेश धर्म में हो जाता है। फिर यह धर्म केवल इहलोक के सुख के लिए ही नहीं है, परलोक में भी धर्म सुख-साधनों को प्राप्त करता है। इसीलिए जैन शास्त्रों में धर्म के लिए कहा है—

"**इहलोग-परलोग हियाए निस्सेसाए, खेमाए, अणुगामियत्ताए भवइ**'

धर्म इहलोक एवं परलोक के हित के लिए, निःश्रेयस के लिए, क्षमता प्राप्ति के लिए और अनुगामित्व के लिए है।'

पंचाध्यायी में धर्म को एक विशिष्ट आत्मशक्ति का संचालक माना है—

शक्तिः पुण्यं, पुण्यफलं संपच्च, सम्पदः सुखम्।
अतो हि चयनं शक्तेर्यतो धर्मः सुखावहः॥

'शक्ति (नियम, त्याग, व्रताचरण आदि से प्राप्त आत्मबल) पुण्य है, पुण्य का फल वैभव है और वैभव से सुख प्राप्त होता है। इसलिए शक्ति का संचय अवश्य ही धर्म है और वह सुखावह है।'

निष्कर्ष यह है कि अगर आपकी प्रत्येक गति-प्रगति, प्रवृत्ति में धर्म का स्पर्श बना रहेगा तो पथभ्रष्ट नहीं होंगे, इधर-उधर भटकोंगे नहीं। धर्म आपके मनमाने व्यवहार पर अंकुश है। आप किसी भी प्रवृत्ति को करते समय धर्म की अंगुलि पकड़े रहेंगे तो आपकी आत्मा की सुरक्षा भी होगी, आपके जीवन में सुखशान्ति भी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'धर्मो रक्षति रक्षितः' सूत्र याद रखें

क्या आप भारतीय संस्कृति का वह सूत्र भूल गए ? जिसमें कहा गया है—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः

जो धर्म का नाश कर देता है, धर्म उसे नष्ट कर देता है; किन्तु जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

लाखों वर्षों का अनुभव यह सिखाता है कि धर्म की रक्षा करने से अपनी रक्षा होती है।

एक प्राचीन उदाहरण लीजिए—

विजयपुर नगर के धनश्रेष्ठी जब वीतराग धर्म के सम्मुख हुआ, तब उसकी पत्नी धनश्री के गर्भ रहा। पुत्र जन्म होने पर धूमधाम से जन्ममहोत्सव किया। पुत्र का नाम रखा जिनचन्द्र। धर्मसंस्कारी जिनचन्द्र युवक एक दिन अपने मित्र के साथ खेल रहा था, तभी किसी हितैषी पुरुष ने नीतिशास्त्र की एक बात कही—'सोलह वर्ष का होने पर जो लड़का अपने पिता की कमाई हुई सम्पत्ति का उपभोग करता है, वह पिता का कर्जदार हो जाता है।" अतः इस पर दीर्घदृष्टि से विचार कर जिनचन्द्र अपने भाग्य को अजमाने के लिए सिर्फ पहने हुए वस्त्रों के सिवाय और कुछ न लेकर परदेश जाने के लिए घर से चल पड़ा। अनेक गाँवों, नगरों और जंगलों को पार करके वह समुद्र के किनारे आया। वहाँ एक पथिक आया, उसके मुंह से समुद्र की निन्दा सुनकर धर्मसंस्कारी गुणग्राही जिनचन्द्र ने उसे कहा—"भाई ! समुद्र में अनेक गुण हैं। वह रत्नों का भंडार है, गम्भीर है, मर्यादावान् है।" समुद्र के गुणगान सुनकर उस समुद्र के अधिष्ठायक देव ने प्रसन्न होकर जिनचन्द्र को एक-एक करोड़ मूल्य के पाँच रत्न दिये। रत्न पाकर जिनचन्द्र किसी के जहाज में बैठकर ताराद्वीप पहुँचा। वहाँ तारापुर के उद्यान में देवरमण नामक यक्ष के देवालय में उसने पड़ाव डाला। कुछ ही देर बाद उस उद्यान में चार कुमारियाँ क्रीड़ा करने आईं। उनमें एक थी—भुवनशेष राजा की पुत्री रूपरेखा, दूसरी भुवनतिलक मंत्री की पुत्री रूपनिधि। तीसरी भुवनसुन्दर सार्थवाह की पुत्री रूपरीति थी, और चौथी भुवनचन्द्र सेठ की पुत्री रूपकला थी। चारों परस्पर सहेली थीं। चारों ने एक दिन राजमहल में बैठे-बैठे ऐसी मंत्रणा कर ली थी कि हम चारों का एक दूसरे से वियोग न हो इसलिए हम चारों एक ही पति का वरण करेंगी। अपना यह मनोरथ पूर्ण हो, इसके लिए हम उद्यान के देवालय के यक्ष से प्रार्थना करें।" इसी विचार से आज वे चारों मिल कर आई थीं। परन्तु यक्ष के देवालय में प्रवेश करते ही चारों ने रूपराशि जिनचन्द्र को देखा। विस्मय विमुग्ध होकर चारों ने अपने हृदय में जिनचन्द्र को धारण करके यक्ष की पूजा की। जिनचन्द्र भी इन चारों के रूप, सौभाग्य और चातुर्य को देख प्रसन्न हुआ, परन्तु धर्ममर्यादा के अनुसार जब तक विधिवत् पाणिग्रहण न हो जाए, तब तक किसी प्रकार की ऐसी बातचीत करना नीतिधर्म विरुद्ध यों जानकर चुप रहा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फलाहार करके उसने वह दिन वहीं बिताया। रात को उसने भी अपने पास जो ५ रत्न थे उन्हें यक्ष को चढ़ाकर खूब भक्तिपूर्वक पूजा की। यक्ष तुष्ट होकर जिनचन्द्र के वे ५ रत्न सौंपता हुआ बोला—"वत्स ! मैं तेरी भक्ति से बहुत प्रसन्न हूँ। ये चारों कन्याएँ मैं तुम्हें देता हूँ। वरदान माँग !" जिनचन्द्र यक्ष को प्रणाम करके बोला—"मैं इतना ही वरदान आपसे चाहता हूँ कि जब मैं किसी कार्यवश आपको स्मरण करूँ तब आप आकर मुझे सहायता करना।" यक्ष ने वचन दिया और जिनचन्द्र को उठाकर उसने राजमहल में पहुँचाया। वहाँ चारों कुमारियाँ जिनचन्द्र को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं। यक्ष ने चारों कन्याओं के साथ जिनचन्द्र का पाणिग्रहण कराया और वहाँ से चला गया।

प्रातःकाल होते ही चारों कन्याओं के पिताओं ने अपनी पुत्रियों के विवाहित होने का रंग ढंग देखा तो विस्मित होकर पूछा। कन्याओं ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सभी अत्यन्त प्रसन्न हुए और जिनचन्द्र का हाथी, घोड़े आदि देकर सत्कार किया। जिनचन्द्र ने अपनी प्रत्येक पत्नी को एक-एक रत्न दिया और एक रत्न अपने हार में जड़वा कर पहन लिया।

कुछ दिनों बाद जिनचन्द्र राजा आदि से आज्ञा लेकर अपनी पत्नियों सहित वहाँ से विदा हुआ। एक जहाज पर चढ़कर वह अपने देश की ओर आ रहा था। दुर्भाग्य से रास्ते में ही जहाज टूट गया। जिनचन्द्र समुद्र में कूद पड़ा, उसके पीछे उसकी चारों स्त्रियाँ भी कूदीं। धर्म के प्रताप से अचानक वहाँ एक जलहस्ती आया उसने इन पाँचों को अपनी पीठ पर बिठा कर रत्नद्वीप पहुँचा दिया। वहाँ एक मुनिराज के दर्शन हुए। जिनचन्द्र ने रत्नद्वीप के जौहरी बाजार में जाकर अच्छे-अच्छे पाँच हजार रत्न खरीदे। किसी वणिक् को किराया देकर जिनचन्द्र अपनी पत्नियों सहित उसके जहाज में बैठा। परन्तु चालाक और लोभी बनिये ने रत्न तथा स्त्रियों के लोभ में आकर जिनचन्द्र को रात्रि में ही समुद्र में धकेल दिया। सुबह जब चारों स्त्रियों ने अपने पति को नहीं देखा, तो अत्यन्त शोकमग्न हो गईं। कामी और लोभी वणिक् ने उन स्त्रियों को कामभोग के लिए बहुत प्रार्थना की लेकिन वे अपने धर्म से जरा भी विचलित न हुईं। क्रोधातुर वणिक् ने चन्द्रपुर आकर चन्द्रादित्य राजा को वे चारों स्त्रियाँ भेंट कर दीं। राजा ने उन्हें अपने अन्तःपुर में एक जगह निवास के लिए दे दी।

इधर जिनचन्द्र को समुद्र में लकड़ी का एक तख्ता मिल गया, उसके सहारे तैर कर वह तीसरे दिन चन्द्रद्वीप के किनारे पहुँचा। निकटवर्ती वन में एक योगी को जिनचन्द्र ने मंत्र सिद्ध करने में सहायता की, उसने प्रसन्न होकर जिनचन्द्र को रूपपरावर्तिनी गुटिका तथा अदृश्यकरण अंजन की दो गोलियाँ दी। जिनचन्द्र वहाँ से आगे बढ़ा रास्ते में उसने अपने इष्ट यक्षदेव का स्मरण किया। यक्ष के आते ही जिनचन्द्र के कहे अनुसार उसने उसकी स्त्रियों से मिलाने के लिए चन्द्रपुर के बाहर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पहुँचा दिया और एक चिन्तामणि रत्न देकर वह अदृश्य हो गया। जिनचन्द्र अदृश्य-करणी गोली के प्रभाव से अदृश्य होकर राजा के पास पहुँचा। वहाँ चारों स्त्रियाँ विश्वासपूर्वक यह बातचीत कर रही थीं कि 'हमारे धर्मिष्ठ पति हमें अवश्य मिलेंगे।' राजा ने जब यह बातचीत सुनी तो चारों को कुलांगना समझकर प्रातःकाल राज-सभा में बुलाया। उनसे परिचय पूछा गया तो वे बोली नहीं। फिर उस दुष्ट बनिये से पूछा तो उसने कहा—"मैं परदेश से ऊँची कीमत में खरीदकर आपको भेंट देने के लिए इन्हें लाया हूँ।" परन्तु मन्त्री ने इसे असम्भव बताया। जिनचन्द्र भी रूप-परिवर्तन करके वहाँ उपस्थित था। उसने एक श्लोक कहा—जिसमें संकेत कर दिया था, अपने परिचय का। स्त्रियाँ उसे पहचान न सकीं। मन्त्री और राजा ने परिवर्तित रूप में बैठे जिनचन्द्र से श्लोक का रहस्य पूछा, तब उसने आद्योपान्त सारी घटना कह दी। राजा ने उस बनिये से जिनचन्द्र को ५ हजार रत्न वापस दिलाकर उसे देश निकाला दे दिया। चारों स्त्रियाँ जिनचन्द्र को सौंपी, उसने जब अपना असली रूप बनाया तो वे चारों अत्यन्त हर्षित हुईं। राजा के यहाँ कुछ दिन तक रहकर जिनचन्द्र चारों स्त्रियों को लेकर अपने नगर को लौटा। माता-पिता सब उसे देख-कर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

एक दिन चार ज्ञान के धारक श्री भुवनभानु मुनि नगर में पधारे। उनका धर्मोपदेश सुनकर जिनचन्द्र ने श्रावक धर्म अंगीकार किया। चिन्तामणि रत्न के प्रभाव से वह सब जीवों को अभयदान देता हुआ, दान-शील-तप भाव की आराधना करता हुआ गृहस्थ धर्म का पालन करता रहा। अन्तिम समय में समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त कर बारहवें देवलोक के इन्द्र का सामानिक देव बना। क्रमशः मोक्षगामी बनेगा।

यह है अर्थ-काममुक्त धर्माचरण का प्रभाव! जिससे जिनचन्द्र संकट के समय भी धर्म-प्रभाव से बचकर सहीसलामत रह सका।

धर्ममूलक अर्थकामसेवी की धर्मनिष्ठा

इसीलिए गौतमकुलक में कहा गया है—

'मिस्सा नरा तिन्नि वि आयरंति'

धर्ममर्यादित अर्थ-काम का सेवन करने वाले (मिश्र) पुरुष इन तीनों का आचरण करते हैं।

ऐसा व्यक्ति धन भी कमाता है, सांसारिक सुखों के अनेक साधन भी जुटाता है, और विवाह करके कामसुखों का भी अनुभव करता है, सन्तान भी पैदा करता है, परन्तु यह सब धर्ममर्यादा के नियन्त्रण में ही करता है।

वह केवल संग्रह के लिए, धन को तिजोरी में बन्द करके रखने के लिए अर्थोपार्जन नहीं करता; न ही किसी का शोषण करके अन्याय-अनीति एवं अधर्म से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

या बेईमानी से धन कमाता है। वह परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के प्रति अपने कर्तव्यों एवं दायित्वों के निर्वाह के लिए किसी न किसी योग्य आजीविका से धन कमाता है। समय आने पर वह खेमाशाह देदराणी की तरह या जगडूशाह की तरह अपने धन का समाज पर आए हुए संकट के निवारणार्थ खुलकर उपयोग करता है, दीन-दुखियों को सहायता देता है, कभी किसी को अपने घर से निराश नहीं लौटाता। समय आने पर अहमदाबाद के नगरसेठ खुशालचन्द्र ने जैसे एक विदेशी शासक के घातक हमले, आगजनी एवं लूटपाट से अपनी सर्वस्व सम्पत्ति देकर अहमदाबाद को बचाया। वैसे ही आप लोग भी धर्ममूलक अर्थकामसेवी का-सा जीवन जीएँ। धन से ही नहीं, अपने शरीर और बुद्धि से भी दूसरों की सेवा और संकट में सहायता करके परोपकारी कार्य कर सकते हैं।

जिस प्रकार कच ने अपने विद्यागुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी की प्रणय (काम) याचना ठुकरा दी और उसे भगिनी मानकर अपने धर्म की रक्षा की, वैसे ही आपको काम और धर्म के संघर्ष में अपने धर्म की रक्षा करनी है। वाचस्पतिमिश्र ने जैसे काम और धर्म के संघर्ष में कामवृत्ति या कामशक्ति को ब्रह्मसूत्र आदि के लेखन कार्य में लगा कर उसको धर्मलक्षी बना दी, वैसे ही आप भी काम प्रवाह को धर्मप्रवाह की ओर मोड़ सकते हैं। इसी प्रकार जब भी आपके सामने अर्थप्रलोभन आकर आपके धर्म का हरण करना चाहे वहाँ आप न्यूयार्कटाइम्स के तत्कालीन सम्पादक जॉर्जजोन्स की तरह धन को ठुकराकर अपने धर्म की रक्षा करें, जिन्हें ३३ लाख रुपयों का लोभ देकर अपनी बुराइयों के विषय में पत्र में न छापने के लिए कहा गया, परन्तु वह धर्मवीर इस प्रलोभन के चक्कर में नहीं आया और इतना बड़ा लोभ छोड़कर भी अपनी नीतिमत्ता में दृढ़ रहा।

वास्तव में अर्थ-काम की प्रवृत्ति के समय आपकी धर्मनिष्ठा पक्की होनी चाहिए, तभी आपका जीवन धर्मपुनीत गृहस्थ का-सा जीवन होगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६
पण्डित रहते विरोध से दूर

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

संसार में अनेकों कोटि के मानव-जीवन होते हैं. पिछले प्रवचनों में मैं अर्थ-परायण, कामपरायण, क्षान्तिपरायण एवं धर्ममर्यादित अर्थ-कामयुक्त जीवन के सम्बन्ध में प्रकाश डाल चुका हूँ। आज एक विशिष्ट कोटि के जीवन के सम्बन्ध में चर्चा करूँगा। वह जीवन है—पाण्डित्ययुक्त जीवन। यह जीवन पहले के जीवनों से उच्चकोटि का है। पण्डित के जीवन का अर्थ है—समझदारी और विवेक के प्रकाश से देदीप्यमान जीवन।

पण्डित जीवन की उपयोगिता क्यों ?

जिस मनुष्य के जीवन में धन प्रचुर मात्रा में हो, सुख के साधन भी बहुत हों, विषयोपभोग की सामग्री भी पर्याप्त हो, धार्मिक नियम, व्रत, तप, जप आदि धर्माचरण भी हो, अर्थ-काम का सेवन भी धर्ममर्यादा में होता हो, उसने व्यावहारिक शिक्षा भी अच्छे ढंग से प्राप्त की हो, उस व्यक्ति का परिवार भी भरा-पूरा हो, लौकिकविद्याओं में भी उसने पाण्डित्य प्राप्त कर लिया हो; इतना होने पर भी उसमें बुद्धि कौशल न हो, विवेक और समझदारी न हो, उसे यथार्थरूप से जीवन-यापन करना न आता हो तो उसका जीवन सफल नहीं कहा जा सकता। इसलिए आज के प्रवचन में यह बताया जाएगा कि पण्डित का जीवन किस प्रकार का होना चाहिए ?

हमारे शास्त्रों में **'पण्डितमरण'** का उल्लेख आता है। पण्डितमरण भी उसी का सफल माना जाता है, जिसका पण्डित जीवन सफल हो। जो अपने जीवन में पण्डित जीवन जी चुका है, समझदारी और विवेक से धर्मयुक्त जीवन व्यतीत कर चुका है, वही अपनी मृत्यु को सफल बना सकता है। मृत्यु के समय वही पूरी समझदारी, विवेक, शान्ति और समाधि के साथ रहकर यहाँ से विदा हो सकता है। अपने शरीर को हँसते-हँसते प्रसन्नतापूर्वक छोड़ सकता है। इस दृष्टि से पण्डित जीवन का कितना महत्व है ? यह आप भलीभाँति समझ सकते हैं।

जिस व्यक्ति के पास धन, साधन, सुख-सामग्री आदि पर्याप्त मात्रा में हों, स्वस्थ शरीर हो, बुद्धि उर्वरा हो, शिक्षा भी अर्जित कर ली हो, परन्तु इतना पाण्डित्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होते हुए भी बात-बात में वह भड़क उठता हो, चलती राह दूसरों से झगड़ा कर बैठता हो, पद-पद पर विरोध मोल ले लेता हो, हर बात में लोगों की नुक्ताचीनी, आलोचना और निन्दा करने लगता हो, प्रत्येक व्यक्ति के दोष देखने का आदी हो, दूसरों के प्रति ईर्ष्या और द्वेष से उसका मन-मस्तिष्क सन्तप्त रहता हो, उसकी जबान में कटुता हो, उसका जीवन नीरस, शुष्क और मनहूस बन जाता है, विरोध, संघर्ष और लड़ाई करने की वृत्ति उसके मन को उद्विग्न और अशान्त बना देती है। ऐसी स्थिति में न तो उसे किसी का सहयोग मिलता है, न सद्भावना ही। परिवार में भी उससे लोग अधिक बोलना पसन्द नहीं करते; समाज में भी प्रतिक्रियास्वरूप कुछ लोग उसके अत्यन्त विरोधी और कट्टर दुश्मन तक बन जाते हैं। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि उसे सुन्दर रीति से जीवन जीना नहीं आता। पण्डित होते हुए भी वह व्यक्ति पढ़ा-लिखा मूर्ख है, विद्वान् होते हुए भी वह असहिष्णु है, शिक्षित होते हुए भी वह सबका विरोधी है। इसीलिए गौतमकुलक के पाँचवें सूत्र में, पण्डित-जीवन कैसा होना चाहिए? इसके सम्बन्ध में बताया गया—

"ते पंडिया जे विरया विरोहे"

पण्डित वे ही हैं, जो विरोध से विरत—दूर होते हैं। अर्थात्—पण्डित वे हैं, जो तमाम विरोधों से दूर रहते हों, जिनके जीवन में विरोधों का नामोनिशान न हो। वे इतने विचक्षण हों कि जहाँ विरोध का प्रसंग आता हो, वहाँ दूर से ही उसका त्याग करें, अगर विरोध सर पर खड़ा हो, तो उसे शमन करें। सहिष्णु, मिलनसार, नम्र और निरहंकारी बनकर वे विरोध और संघर्ष के मौकों पर मध्यस्थ और तटस्थ की भूमिका निभाएँ, स्वयं किसी प्रकार का विरोध खड़ा न करें।

पण्डित की पहिचान

आज दुनिया में पोथीपण्डित तो सैकड़ों हजारों मिलेंगे, लेकिन वास्तविक पण्डित का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। एक संस्कृत के कवि ने ऐसे नामधारी पण्डित चार प्रकार के बताए हैं—

सभायां पण्डिताः केचित्, केचित् पण्डित-पण्डिताः।
गृहेषु पण्डिताः केचित्, केचिन्मूर्खेषु पण्डिताः॥

कई लोग केवल सभाओं में गर्जने वाले पण्डित होते हैं, कई ऐसे होते हैं, जो केवल पण्डितों में ही पाण्डित्य बघारने वाले होते हैं, कई सिर्फ घर में ही पण्डित होते हैं, वे आलसी बने पड़े रहते हैं, केवल यजमानी के आधार पर अपना गुजारा चलाते हैं और कई पढ़े-लिखे तो कम होते हैं, पर मूर्खों में अपनी चातुरी बता कर उनके पण्डित बने रहते हैं।

जो पण्डित सभाओं में लम्बी-चौड़ी बातें करने वाले होते हैं, वे अधिकांश तो पोथीपण्डित होते हैं, उनके जीवन व्यवहार और सिद्धान्त में रात-दिन का अन्तर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है। वे अपने उपदेश में सिद्धान्तों की बहुत ही सूक्ष्म व्याख्या करते हैं परन्तु उनका जीवन उनसे बिलकुल रीता होता है। जिसके पठन और आचरण में या उपदेश और व्यवहार में बहुत ही विरोध है, उसे गौतम ऋषि जी की दृष्टि में पण्डित नहीं कहा जा सकता।

एक पण्डितजी प्रायः रोजाना बैंगन का साग खाते थे। एक दिन वे अपने उपदेश में बैंगन की बहुत ही निन्दा करने लगे कि "यह बहुत रद्दी साग है, वायुकर्ता है, इसमें उनके अवगुण हैं, इसीलिए तो भगवान् ने इसका मुँह बैंगनी रंग से पोत दिया। सबको इसका त्याग करना चाहिए।"

संयोगवश पण्डितजी की लड़की भी उपदेश में बैठी हुई थी। उसने जब बैंगन की निन्दा सुनी तो झट दौड़कर घर पहुँची और अपनी माँ से बोली—"माताजी! आज बैंगन का साग मत बनाना, क्योंकि पिताजी ने बैंगन को त्याज्य बताया है। इसलिए आज वे बैंगन का साग नहीं खायेंगे।" माँ ने लड़की की बात पर विश्वास करके बैंगन का साग नहीं बनाया। कुछ ही देर बाद पण्डितजी कथा करके घर आए। पण्डितानी ने उनके लिए थाली में भोजन परोसा। भोजन की थाली देखते ही बैंगन के शौकीन पण्डितजी पूछने लगे—"आज बैंगन का साग क्यों नहीं बनाया? यह कैसा साग बनाया है तुमने?" पण्डितानी ने तपाक से कहा—"पूछो अपनी बिटिया से। इसने आते ही कहा कि आज पिताजी बैंगन नहीं खाएँगे, उन्होंने उपदेश में बैंगन की निन्दा की है।"

"अरी! वे तो पोथी के बैंगन थे! यों अगर हम पोथी में लिखे अनुसार बैंगन छोड़ने लगे तो हमारा गुजारा ही नहीं चलेगा।"

बन्धुओ! इसी प्रकार संसार में ऐसे उपदेशक पण्डित बहुत से मिलते हैं, जिनके उपदेश और आचरण में विरोध होता है। इसीलिए रामचरितमानस में कहा है—

"पर-उपदेश-कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे।"

मैंने एक जगह एक पण्डित को देखा, जो रामायण का विशेषज्ञ और नामी रामायणी था। वह एक चौपाई पर लगभग १८ दिन तक व्याख्यान देता था, परन्तु जब उसके गन्दे आचरण के विषय में सुना तो सोचा, वास्तव में यह केवल नाम का पण्डित है। इसकी कथनी और करणी में तो राई और पहाड़ जितना अन्तर है।

इसीलिए एक अनुभवी विद्वान् ने केवल गाल बजाने वाले पण्डित नाम-धारियों की कड़ी खबर लेते हुए कहा है—

पाठकाः पठितारश्च, ये चाऽन्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खाः यः क्रियावान् स पण्डितः॥

पढ़ाने वाले और पढ़ने वाले तथा जो शास्त्रों का केवल चिन्तन करने वाले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं, वे सब पठनव्यसनी एवं मूर्ख हैं, वास्तविक पण्डित तो वही है, जो पाठन-पठनादि के अनुसार क्रिया (आचरण) करता है।

दूसरों को कोरा उपदेश देने वाले एकांगी पण्डित, जो परोपकार, सहिष्णुता, सेवा आदि का उपदेश तो देते हैं पर समय आने पर उस उपदेश पर स्वयं नहीं चलते। **'वदतो व्याघात'** न्याय की तरह वे अपनी ही बात का स्वयं विरोध उपस्थित कर देते हैं।

एक बालक किसी तालाब में डूब रहा था। दैवयोग से उसे पढ़ाने वाले पण्डित उधर से गुजरे। पण्डितजी विद्यार्थियों को परोपकार का उपदेश यदा-कदा दिया करते थे। परन्तु आज बालक को डूबता देखा तो, सीढ़ियों पर खड़े-खड़े ही डाँटने लगे—"क्यों रे बदमाश! तैरना नहीं आता था, तो पानी में क्यों कूदा? तुझे मैंने कितनी ही बार मना किया था कि तालाब या नदी में नहीं कूदना चाहिए। मेरा कहा न मानने का अब मजा चख! शैतान कहीं का।" यों पण्डितजी बेचारे उस डूबते हुए बालक को उपदेश झाड़े जा रहे थे; तभी एक किसान आ पहुँचा। वह बालक को डूबते देख एकदम पानी में कूदा और बालक को बाहर निकाल लाया। उपदेश बघारने वाले पण्डितजी से उसने कहा—"पण्डितजी! उपदेश तो पाठशाला में दिये जाते हैं, इस समय तो इस बच्चे को डूबने से बचा कर अपने परोपकार के उपदेश को अमल में लाने की जरूरत थी।" इसीलिए हितोपदेश में कहा गया है—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः॥

'दूसरों को उपदेश देने में पाण्डित्य दिखाना सब मनुष्यों के लिए आसान है, लेकिन उपदेश के अनुरूप धर्म में अपना आचरण तो किसी विरले ही महान् आत्मा का होता है।'

कई बार तो यह देखा गया है कि कई पण्डित अपने उपदेश से बिलकुल उलटा आचरण करते हैं। ऐसे लोग न तो अपना भला कर सकते हैं और न दूसरों का क्योंकि उनके उन थोथे उपदेशों का असर दूसरों पर कुछ नहीं पड़ता। ऐसे ही पण्डितों के लिए कहा गया है—**"कुकृत्ये को न पण्डितः?"**

कुकर्म करने में कौन पण्डित नहीं है? कुकृत्य करने के लिए किसी विद्यालय में पाण्डित्य सीखने की आवश्यकता नहीं रहती।

एक पण्डितजी थे। वे स्वयं बोतलवासिनी सुरादेवी की उपासना करते थे, परन्तु विद्यार्थियों को उपदेश दिया करते थे—"शराब कभी मत पीना, यह बहुत बुरी चीज है।" एकदिन पण्डितजी पाठशाला में देर से आए। बालकों ने देर से आने का कारण पूछा तो उन्होंने झूठ-मूठ कोई कारण बता दिया, परन्तु पण्डितजी की आँखें बता रही थीं कि वे शराब पीकर आए हैं। बच्चों में आपस में काना-फूसी होने लगी तो उन्हें डन्डा उठाकर पीटने लगे। क्या ऐसे कुकृत्यगामी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति को पण्डित की कोटि में रखा जा सकता है ? कदापि नहीं। फक्कड़ सन्त कबीर ऐसे लोगों के लिए साफ-साफ कह देते हैं—

पण्डित और मसालची दोनों सूझे नाहिं।
औरन को करे चांदना, आप अन्धेरे माहिं॥

जो सच्चा पण्डित होगा, वह उपदेश और आचरण के इस प्रकार के विरोध से दूर होगा। वह अपने जीवन में कोई दुर्बलता होगी तो उसे प्रकट कर देगा या उस सम्बन्ध में दूसरों को उपदेश नहीं देगा। पण्डित का जीवन अपने कथन से बिलकुल विपरीत तो कदापि नहीं होगा। वह सिद्धान्त के अनुरूप अपने जीवन व्यवहार को ढालने का प्रयत्न करता है। सिद्धान्त और जीवन व्यवहार के विरोध को वह कदापि पसन्द नहीं करता।

कई पण्डित केवल पण्डितों के बीच में ही पण्डित होते हैं। वे अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन सभा सोसाइटियों में नहीं कर पाते ! वे पण्डितों के साथ ही विवाहादि अवसरों पर शास्त्रार्थ करके पण्डितमानी बन जाते हैं। ऐसे दो पण्डित कहीं मिल जाते हैं, या किसी यजमान के यहाँ एकत्रित हो जाते हैं तो प्रातः एक दूसरे का विरोध (बुरा बोलकर एक दूसरे के पाण्डित्य की मौखिक निन्दा) किया करते हैं। इसीलिए ऐसे पण्डितों पर किसी ने व्यंग कसा है—

पण्डितो पण्डितं दृष्ट्वा मिथः घुरघुरायते।

एक पण्डित दूसरे पण्डित को देखकर ईर्ष्या से घुरघुराता है।

एक बार दो पण्डित एक साथ दक्षिणा की आशा से एक सेठ के यहाँ पहुँच गए। सेठ ने विद्वान् समझ कर उनकी बड़ी आवभगत की। एक पण्डित जब स्नानादि करने गए तो सेठ ने दूसरे से पूछा—"महाराज ! आपके साथी तो महान् विद्वान् मालूम होते हैं !" पण्डितजी में इतनी उदारता कहाँ कि वे दूसरे पण्डित की प्रशंसा सुन लें, विरोध न करें ? वे मुँह बिगाड़ कर बोले—"विद्वान् तो इसके पड़ौस में भी नहीं रहते। यह तो निरा बैल है।" सेठ चुप हो गए। जब उक्त पण्डित सन्ध्यादि करने बैठे तो पहले पण्डित से उन्होंने कहा—"आपके साथी तो बड़े विद्वान् नजर आए !" ईर्ष्यालु पण्डित अपने हृदय की गंदगी बिखेरते हुए बोले—"विद्वान्-उद्वान कुछ नहीं है, कोरा गधा है।" भोजन के समय सेठ ने एक की थाली में घास और दूसरे की थाली में भुस परोस दिया। इसे देख दोनों पण्डित आगबबूला हो गए। बोले—"सेठजी ! हमारा यह अपमान ! इतनी धृष्टता !" सेठजी ने कहा—"महाराज ! आप ही लोगों ने एक दूसरे को बैल और गधा बताया है। मैंने तो दोनों के लायक खुराक थाली में रखी है।" दोनों पण्डित अत्यन्त लज्जित हुए और अपना-सा मुँह लेकर चले गए।

हाँ, तो इस प्रकार के जो साक्षर होते हैं, उनमें एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उदारता और सहानुभूति नाममात्र को नहीं होती, इसलिए इन्हें सच्चे पण्डित नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही लोगों के लिए कहा गया है—

'साक्षरा विपरीता चेत् राक्षसा भवन्ति'

अक्षर ज्ञान प्राप्त किये हुए लोग विपरीत होने पर राक्षस हो जाते हैं।

तीसरे प्रकार के पोथीपण्डित घर में ही आलसी बनकर पड़े रहते हैं। वे घर में गैर-जिम्मेवार, आलसी एवं अकर्मण्य बनकर पड़े रहने के कारण परिवार के सदस्यों में अपने होने वाले विरोध को दूरदर्शी बनकर नहीं सोच पाते।

प्रमादशंकर मामूली पढ़ा-लिखा ब्राह्मण था। ब्राह्मण होने के नाते लोग उसे पण्डित कहते थे, पर वह कुछ कमाता नहीं था। अपने नाम के अनुरूप ही वह प्रमाद का पुतला था। खाना-पीना, सोना, विषयसुखों का आनन्द लूटना, यही उसका दैनिक कार्यक्रम था। न तो वह धर्माचरण करता था, न परोपकार का कोई काम करता। घर वाले सभी उसे बार-बार कोसते रहते। उसकी पत्नी भी बार-बार झिड़कती थी, पर वह ढीठ होकर सुन लेता। एक बार पत्नी ने लड़कर उसे राजा चन्द्रसिंह के पास आशीर्वाद देने भेजा। राजा ने उसे दरिद्र समझकर भण्डारी पर चिट्ठी लिख दी और कहा—यह चिट्ठी बताते ही अभी से सूर्यास्त तक जितना धन तुमसे ले जाया जा सकेगा, वह ले जाने देगा।" यह सुनकर प्रमादशंकर फूला न समाया। वह चिट्ठी लेकर सीधा घर पहुँचा। पत्नी को चिट्ठी बताई। पत्नी ने कहा—यहाँ क्यों आए? जल्दी पहुँच जाओ न दरबारगढ़ में। परन्तु प्रमादशंकर ने कहा—"खाना खाकर चला जाऊँगा।" पत्नी ने खाना खिलाया। परन्तु प्रमादशंकर खाना खाते ही प्रतिदिन की आदत के अनुसार लेट गया। पत्नी ने झकझोर कर जगाया, और बड़ी मुश्किल से समझा-बुझा कर घर से रवाना किया। मगर वह प्रमादशंकर ही ठहरा। रास्ते में एक विशाल पेड़ की छाया देखकर फिर सो गया। जब नींद खुली, तब शाम होने आई थी। प्रमादशंकर भागा-भागा दरबारगढ़ में पहुँचा। भण्डारी भण्डार बन्द करके अपने घर जा रहा था। प्रमादशंकर ने चिट्ठी दिखाकर बहुत अनुनय-विनय किया, तब वह उसे राजा के पास ले गया। राजा ने इतनी देर होने का कारण पूछा तो प्रमादशंकर बोला—"राजन्! जरा खाने-पीने और आराम करने में देर हो गई।" राजा को बहुत गुस्सा आया। उसने अपने सेवक को आदेश दिया—'इसे दो थप्पड़ देकर निकाल दो, फिर कभी न आने देना। इसप्रकार पण्डित प्रमादशंकर को आलस और अव्यावहारिकता के कारण घर और बाहर सर्वत्र विरोध का वातावरण ही मिलता है।

प्रमादशंकर जैसे विरोधलिप्त मूर्ख पण्डितों को कौन सच्चा पण्डित कहेगा? यह तो पण्डितपद की विडम्बना है।

चौथे प्रकार के पण्डित मूर्खों में पूजे जाने वाले पण्डित होते हैं। वे लाल-बुझक्कड़ की तरह कोई अनोखी बात गँवारों को बता देते हैं, बस गाँव वाले उन्हें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पण्डित कहने लगते हैं। न उनमें कोई पाण्डित्य होता है और न ही उनमें विरोध से विरत होने की तमन्ना होती है। वे अपनी शेखी बघार कर गाँव में कई लोगों को अपने विरोधी बना लेते हैं। भोले-भाले लोगों को शाप दे देने या तिकड़मबाजी करके किसी की हत्या करा देने की धमकी देते हैं, कभी हत्या करा भी देते हैं, या आग लगवाकर नुकसान पहुँचा देते हैं। इस प्रकार वे अपनी करतूतों से अनेक लोगों को अपने विरोधी या शत्रु बना लेते हैं।

कुछ भी हो, चाहे पढ़-लिखकर ऐसे लोग धुरन्धर विद्वान् भी बन जाय, मगर उनमें व्यवहार-कुशलता न हो, किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए? कौन व्यक्ति कैसा है? उसके प्रति मेरा क्या कर्तव्य है? इस प्रकार सहिष्णुता, मिलनसारी, उदारता, गुणग्राहकता, निरहंकारिता, प्रेम और आदरभाव आदि विरोधशमन के गुण न हों, वहाँ तक उनका पाण्डित्य भी भारभूत है, ऐसे लोग प्रायः अव्यावहारिक एवं रूखे-सूखे होते हैं।

चार ब्राह्मण पुत्र काशी से पढ़कर अपने-अपने विषय में धुरन्धर विद्वान् बन कर अपने गाँव को लौट रहे थे। उनमें से एक ज्योतिषाचार्य था, दूसरा व्याकरणाचार्य था, तीसरा न्यायाचार्य था और चौथा आयुर्वेदाचार्य था। पर थे चारों पूरे व्यवहारकुशलता से शून्य, दूसरे किसी से कुछ पूछने में वे अपनी तौहीन समझते थे। अहंकारी भी कम न थे। काशी से चलकर वे एक गाँव में पहुँचे। एकत्र छोटी-सी धर्मशाला में उन्होंने डेरा डाला। चारों को कड़ी भूख लगी थी। खाने-पीने का सामान लेने और रसोई बनाने का काम चारों ने बाँट लिया। व्याकरणाचार्य के जिम्मे सामान आ जाने पर रसोई बनाने का काम सौंपा गया। आयुर्वेदाचार्य को साग लाने का काम सौंप दिया। न्यायाचार्य को घी लाने का और ज्योतिषाचार्य को अन्य खाद्य-सामग्री लाने को कहा गया। आयुर्वेदाचार्य सबसे अच्छा गुणकारी साग-नीम का समझकर ले आया। न्यायाचार्य एक बर्तन में घी ले रहा था, तभी उसके दिमाग में तर्क उठा—यह घी पात्र (बर्तन) के आधार पर है या बर्तन घी के आधार पर है? इसका निर्णय करने के लिए उसने घी का बर्तन औंधा कर दिया। बस फैसला हो गया, घी सारा का सारा जमीन पर गिर गया। नैयायिक जी खाली हाथ लौट आए। ज्योतिषाचार्य अच्छा मुहूर्त देखकर खिचड़ी का सामान ले आए और व्याकरणाचार्य को सौंप दिया। उन्होंने हँडिया में पानी और खिचड़ी डाल कर चूल्हे पर चढ़ा दिया। आग की गर्मी से खिचड़ी खद-बद करने लगी। वैयाकरण भला इस अशुद्ध उच्चारण को कैसे सहते? उन्होंने डण्डा उठा कर हँडिया से दे मारा। हँडिया फूट गई। अब खदबद शब्द होना बन्द हो गया। हँडिया फूटने से सारी खिचड़ी धूल में मिल गई।

बेचारे चारों अहंकारी शुष्क पण्डित भूखे के भूखे रहे। सिद्धान्त और व्यवहार में मेल न कर सकने के कारण चारों पण्डित का बुरा हाल हुआ। हाँ, तो ऐसे पोथी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पण्डितों को क्या आप सच्चे पण्डित कह सकते हैं ? इसीलिए कबीर जी ने ऐसे पण्डितों को भारभूत एवं अनेक विरोधों में ग्रस्त बनाकर सच्चे पण्डित की पहचान बताई है—

"पोथी पढ़-पढ जग मुआ, पण्डित हुआ न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम के, पढे सो पण्डित होय॥"

केवल पुस्तकें पढ़ लेने मात्र से कोई धर्मनिष्ठ और विवेकी पण्डित नहीं बन जाता, जो विरोधों से दूर हो। ऐसे पोथीधारी पण्डित तो ऊपर बताए गए पण्डितों की तरह होते हैं, जो व्यावहारिक तथ्यों का अनुशीलन नहीं कर पाते। जिसके हृदय में समस्त प्राणियों के प्रति अविरोध का कारण—निःस्वार्थ प्रेम नहीं, वह पढ़-लिखकर और बुद्धि से चतुर होने पर भी वास्तविक पण्डित नहीं। क्योंकि स्वार्थ, अहंकार, ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, असहिष्णुता, नुक्ताचीनी आदि दुर्गुण विरोध के कारण हैं, ये प्रेम के आग लगाने वाले हैं। ऐसे प्रेममयी पण्डित का प्रत्येक व्यवहार या कार्य अपने स्वार्थ, अपने विषय भोग के संकल्प से रहित होता है। इस प्रकार का अजातशत्रु पण्डित अहंकर्तृत्व, अहंत्व-ममत्व से दूर रह कर आत्मौपम्य की ज्ञान-रूपी अग्नि से कर्मों को जला डालता है। भगवद्गीता में ऐसे उच्चकोटि के पण्डित के लिए कहा गया है—

"यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥"

जिसके समस्त समारम्भ (प्रवृत्तियाँ) काम के संकल्प से रहित हैं, इस कारण जिसने ज्ञानरूपी अनल से कर्मों को भस्म कर दिया है, उसे ज्ञानी पुरुष पण्डित कहते हैं।

प्रेम-साधना में तो विरोध का कोई काम नहीं है। विरोध तो वहाँ होता है, जहाँ व्यक्ति अपने-पराये का द्वन्द्व खड़ा करता है, अपने कार्य-कलापों के पीछे स्वार्थ-भावना छिपी रहती है। जहाँ सभी के प्रति आत्मीयता होती है, वात्सल्यभाव होता है, वहाँ आदि से अन्त तक माधुर्य और सौन्दर्य होता है, प्रेम के द्वारा सर्वांगीण कल्याण की साधना होती है। जब व्यक्ति के प्रेम की परिधि सारे विश्व तक पहुँच जाती है, उसका अपना 'स्व' कुछ शेष नहीं रहता वहाँ न तो अपना निजी कोई अर्थ रह जाता है, न निपट निजी काम-साधन रह जाता है, वह सबका और सब उसके बन जाते हैं। ऐसे परम पण्डित के लिए चाणक्यनीति में कहा है—

"मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥"

—जो काम की प्रतीक परस्त्री को माता की तरह देखता है, अर्थ के प्रतीक परद्रव्य को ढेले की तरह देखता है तथा समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य जानता है, वही वास्तव में पण्डित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सबको आत्मवत् देखने वाला पण्डित परदोषदर्शी नहीं होता, क्योंकि उसके लिए कोई पराया है ही नहीं, विरोधी है ही नहीं, तब वह किसके दोष और अवगुण देखेगा, अगर कोई दोष और अवगुण हैं तो उसके अपने हैं। ऐसा पण्डित स्वयं कष्ट और दुःख सह कर भी संसार के प्राणियों को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करता है, सांप, बिच्छू, सिंह, बाघ, आदि हिंस्र जन्तु भी उसे अपने परम मित्र लगते हैं। जैनशास्त्रों की भाषा में ऐसे श्रेष्ठ पण्डितों को **'पंडिया पविमक्खणा'** (प्रविचक्षण पण्डित) कहा गया है। धम्मपद में ऐसे पण्डितों के लिए कहा गया है—**'अत्तानं दमयंति पंडिता'** अर्थात् जो अपनी आत्मा का दमन करते हैं, अपना सर्वस्व आत्मीयतावश दूसरों के हित में लगा देते हैं, वे पण्डित हैं। जहाँ ऐसा विरोध का एवं विकट शत्रुता का वातावरण हो, वहाँ भी वे निर्विरोध रह कर अपनी क्षमा भावना, सहिष्णुता एवं विचारशीलता से विरोध को प्रेम में बदल देते हैं, विकट शत्रुता को मित्रता में बदल डालते हैं।

महात्मा गाँधीजी अफ्रीका की जेल में थे। उस समय एक जूलु जाति का खूँखार और अभद्र व्यक्ति उनकी सेवा में रखा गया था। परमसहिष्णु गाँधीजी उसके अभद्र व्यवहार से कभी अप्रसन्न नहीं होते थे। एक बार उस जूलु जातीय सेवक को अफ्रीका के अत्यन्त जहरीले बिच्छू ने काट खाया। वह घोर वेदना के कारण छटपटा रहा था। गाँधीजी ने चाकू से उस जहरीले स्थान को काट कर मुँह से वहाँ का जहर चूस कर थूक दिया और फिर एक वनस्पति का लेप लगा कर पट्टी बांध दी। कुछ ही देर में उसे आराम हो गया। महात्मा गाँधीजी से वह इतना प्रभावित हो गया की उसी दिन से वह एक नम्र सेवक और मित्र बन गया। यह है सच्चा पाण्डित्य, जिसमें विरोध के विष को अमृत में परिणत करने की शक्ति है।

जिसके हृदय में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और आत्मीयता होती है, जैसे सृष्टि के किसी भी प्राणी में उच्चता या नीचता दृष्टिगोचर नहीं होती। छोटे-बड़े उच्च-नीच या छूत-अछूत का भाव रखना प्रेम नहीं, विरोध है, घृणा है, द्वेष है। प्रेम या मैत्री आत्मा का सहज अविरोधी गुण है, जबकि घृणा द्वेष, बैर, आदि आत्मा का विरोधी दुर्गुण है। जो पण्डित होगा, वह इन आत्मविरोधी दुर्गुणों को अपने जीवन में स्थान नहीं देगा। इसीलिए गीता में पण्डित की दृष्टि के विषय में कहा गया है—

"विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥"

"विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण के प्रति, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल के प्रति पण्डित समदर्शी होते हैं।"

अपने पत्नी बच्चों तथा रिश्तेदारों तक ही प्रेम को प्रतिबन्धित रखना स्वार्थ है। इसे प्राणिमात्र तक फैलाना ही परमार्थ है। ऐसा पारमार्थिक प्रेम जिसमें आ जाता है, वह व्यक्ति सभी प्राणियों के प्रति समदर्शी हो जाता है। उसकी दृष्टि में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इतनी समता आ जाती है कि वह दूसरों को दुःखी देखकर अपने प्राण भी देने को तैयार हो जाता है।

रामगढ़ का राजा रामसिंह उदार विद्वान और न्यायपरायण था। उसकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी। श्यामगढ़ के राजा श्यामसिंह को ईर्ष्या हुई। वह रामसिंह जैसे विद्वान और उदार राजा को मिटाने के लिए तत्पर हो गया। अचानक ही एक दिन श्यामसिंह ने रामगढ़ पर चढ़ाई कर दी। रामसिंह ने जब यह अप्रत्याशित हमला देखा तो सोचा—"युद्ध तो अनेक वैरविरोधों की जड़ है। मुझे वैरविरोध से दूर रहना है। अन्यायी और विरोधी को मिटाने की अपेक्षा मेरी नीति उसके अन्याय और विरोध को मिटाने की है। शत्रु को नहीं, उसकी शत्रुता को मिटाना चाहता हूँ तो मुझे आक्रमण के बदले प्रत्याक्रमण नहीं करना चाहिए। क्योंकि युद्ध में हजारों निर्दोष आदमियों का संहार हो जाएगा। जिन्हें जय-पराजय से कोई मतलब नहीं है। उनकी मृत्यु से उनके स्त्री-बच्चे अनाथ हो जाएँगे। हजारों व्यक्तियों का शाप मुझे लगेगा। मैं अपनी विजय के लिए उनको मरवाऊँ यह तो घोर स्वार्थ है। इससे बेहतर यह है कि मैं ही चुपचाप राज्य का मोह छोड़कर अपना जीवन यापन करने कहीं चलाजाऊँ।" यों सोच कर राजा रामसिंह ने महल से निकलकर जंगल में पहाड़ की एकान्त गुफा में अपना डेरा जमाया। एकान्त और शान्ति के वातावरण में वह अपनी साधना में लीन रहने लगा। एक दिन गाँव के दो गरीब चमार जंगली और मंगली वहाँ लकड़ी काटने आये। वे गुफा के पासवाले वृक्ष से लकड़ी काट रहे थे। मंगली जंगली से कहने लगा—अरे! राजा श्यामसिंह की घोषणा तूने नहीं सुनी। रामसिंह को कोई ले आयेगा, उसे वे एक लाख रुपये देने को तैयार हैं। अगर यहाँ रामसिंह मिल जाता तो हम उसे पकड़ ले जाते और हमारा दारिद्र्य दूर हो जाता है।" जंगली ने उसका प्रतिवाद किया कि हमें ऐसे दयालु धर्मात्मा और सज्जन को पकड़ने का विचार ही नहीं करना चाहिए।" यह चर्चा गुफा में बैठे राजा रामसिंह ने सुनी। वे सहसा गुफा से बाहर आकर उन दोनों गरीब चमारों के पास खड़े हो गए, कहने लगे—अगर तुम दोनों का दारिद्र्य मेरे निमित्त से दूर होता है तो मेरे लिए बहुत सुन्दर परोपकार का अवसर है मैं तुम दोनों को अपने ही समझता हूँ। तुम दोनों मुझे राजा श्यामसिंह के पास ले चलो और उनसे लाख रुपये इनाम पा लो "नहीं, दयालु महाराज! हमसे आप जैसे धर्मात्मा सज्जन को मरवाने का पाप नहीं हो सकता।" यह बात हो रही थी, इतने में वहाँ चार पथिक आ गये। उन्होंने राजा रामसिंह को पहचान कर पकड़ लिया और लेकर सीधे राजा श्यामसिंह के पास पहुँचे। जंगली भी रोता-रोता उनके पीछे-पीछे श्यामसिंह के निकट पहुँच गया। राजा ने पूछा—क्या तुमने इन्हें पकड़ा है? बहुत अच्छा किया।" वे चारों हाँ कह रहे थे, लेकिन राजा को उनकी बात सच न लगी। उसने राजा रामसिंह की ओर जिज्ञासापूर्वक दृष्टि की। रामसिंह ने कहा—आप सच्ची बात जानना ही चाहते हैं तो मैं कहूँगा—इन चारों ने मुझे नहीं पकड़ा, पकड़ा है उसने, जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(जंगली) सामने उस कोने में खड़ा है। पर मेरी प्रार्थना है कि इन चारों को आप कोई दण्ड न दें।

राजा ने जंगली को बुला कर सारी हकीकत पूछी और एक लाख रुपये इनाम दे दिया। इन चारों को प्रत्येक को पाँच-पाँच रुपये देकर विदा किया। फिर श्यामसिंह सिंहासन से उतरे और रामसिंह को छाती से लगा लिया। कहने लगे—"जैसा सुना था, वैसे ही आप निकले। परोपकार के लिए आपने अपनी जान खतरे में डाल दी। मैं सात जन्म में भी आपके चरणरज की समानता नहीं कर सकता। लीजिए, आप अपना राज्य महल और खजाना संभालिए। आप ही इस राज्य के लिए योग्य हैं। मैंने आपकी परीक्षा कर ली।"

रामसिंह ने पहले तो बहुत आनाकानी की, लेकिन राजा रामसिंह एवं जनता की आग्रह प्रार्थना पर सेवाभाव से राज्य संचालन का भार स्वीकार किया। गद्दी पर बैठकर अजातशत्रु राजा रामसिंह ने घोषणा की—"शत्रु को कभी मत मारो, उसकी शत्रुता को मारो।"

यह है, विरोधी शत्रु को अविरोधी—मित्र में बदलने का ज्वलन्त उदाहरण। यही वास्तव में पण्डित का यथार्थ लक्षण है जो चलाकर किसी से विरोध नहीं करता, न विरोध के कारण उपस्थित करता हैं, बल्कि विरोध के सामने नहीं झुककर उसे अनुकूलता में ढाल लेता है।

कई बार समाज में संकीर्णवृत्ति के, गतानुगतिक, परम्परा के अन्ध-अनुगामी कूपमण्डूक लोग, ऐसे लोगों का विरोध करते हैं जो, उदारवृत्ति के, सबको अपना मान कर अपनाने वाले, पुराने विकास-घातक, समाज के लिए अहितकर किसी सिद्धान्त-विरोधी युगबाह्य नियमोपनियम परम्परा और रीतिरिवाज को बदलकर प्रगति एवं विकास के नव्यपथ की ओर समाज को ले जाते हैं। ऐसे संकीर्ण स्वार्थवृत्ति के लोग ईर्ष्या, द्वेष या स्वार्थ से प्रेरित होकर ऐसे सज्जन के मार्ग में रोड़ा अटकाते हैं। उसकी मजाक उड़ाते हैं, उसे भला-बुरा कहते हैं। उनके इसप्रकार के विरोधी व्यवहार का विद्वान अहिंसक ढंग से शान्तभाव से प्रतीकार करता है और उन दुर्वृत्तिवाले लोगों के विरोध को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। अपनी सज्जनता और शालीनता वह नहीं छोड़ता। नतीजा यह होता हैं, कुछ ही दिनों में उनका विरोध का बवंडर अपने आप शान्त हो जाता है। वे हार-थक कर अपने आप बैठ जाते हैं।

काशी के ओरियंटल महाविद्यालय के सभाभवन में पण्डित मदनमोहन मालवीय ने एक सभा का आयोजन किया। सभा में देश के विभिन्न भागों से प्रकाण्ड पण्डितों को आमंत्रित किया था। सभा कार्यवाही के प्रारम्भ में पण्डितजी ने बड़े ही नम्र शब्दों में यह बात रखी कि हरिजन भाई हिन्दू समाज के एक अंग बने रहें, ब्राह्मण उन्हें भी बराबरी का स्थान दें और उनके साथ कोई भी सवर्ण छुआछूत का व्यवहार न करें तो वे भी अपने को सहयोगी मानते रहेंगे, तथा देश को स्वतन्त्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कराने में उनसे जो बन सकेगा, उसे करने में पीछे न रहेंगे। आप लोग इस समस्या को युग की पुकार समझकर अपने-अपने विचार प्रगट करने का कष्ट करें।"

इस अपील पर जहाँ प० प्रमथनाथ तर्कभूषण जैसे पण्डितों ने उनकी बात का समर्थन किया वहाँ कई कट्टर ब्राह्मणों ने इस प्रश्न को निन्दनीय बताया। एक सज्जन ने उनके प्रयास की आलोचना करते हुए यहाँ तक विरोध किया और कहा कि मालवीय को इन कार्यों से नरकगामी होना पड़ेगा।"

यह सुनते ही मालवीयजी हंसकर कहने लगे—"सज्जनो ! अगर इस प्रकार की मानवता एवं समाज की एकता का कार्य करते हुए मुझे एक बार नहीं, हजार बार भी नरक जाना पड़े तो मैं वहाँ के कष्टों के लिए सहर्ष तैयार हूँ। अब तो आपको मेरी बात का समर्थन करना चाहिए।" सभी आलोचक और विरोधी पानी-पानी हो गए। यह है सच्चे पण्डित की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति !

इसी सन्दर्भ में चाणक्यनीति में पण्डित का लक्षण बताया है—

"प्रस्तावसदृशं वाक्यं स्वभावसदृशं प्रियम्।
आत्मशक्तिसमं कोपं, यो जानाति स पण्डितः॥"

पण्डित वही है, जो विरोधी से विरोधी वातावरण में भी प्रस्तुत प्रसंग के अनुकूल कथन करता है, अपने स्वभाव के अनुकूल दूसरे का प्रिय करता है, और अपनी शक्ति के समान कोप को जानता है।

प० मदनमोहन मालवीय ने वर्तमान युग की मांग के अनुकूल प्रस्ताव रखा था, उसी के अनुरूप बोले थे।

सन् १९३४ में अस्पृश्यतानिवारण हेतु महात्मा गाँधीजी ने सम्पूर्ण भारत का दौरा किया। वे उड़ीसा के एक गाँव जीजापुर में तेज धूप में दस मील पैदल चलकर पहुँचे थे। वहाँ उन्हें एक झौंपड़ी में ठहराया गया था। गाँधीजी अभी लेटे ही थे कि ५-६ ब्राह्मण पण्डित अस्पृश्यता के सम्बन्ध में उनसे शास्त्रार्थ करने आ गए।

अपने दयालु स्वभाव के अनुरूप गाँधीजी ने उन ब्राह्मणों को देर तक बिठा कर समय बर्बाद करना उचित न समझ कर स्वीकृति दे दी। झौंपड़ी में प्रवेश करते ही गाँधीजी ने नम्रतापूर्वक उन ब्राह्मणों से आने का प्रयोजन पूछा। वे बोले—"आपका अस्पृश्यतानिवारण आन्दोलन अशास्त्रीय और धर्मविरुद्ध है। अतः हम सब आपसे इस सम्बन्ध में शास्त्रार्थ करने आए हैं।"

गाँधीजी ने उन ब्राह्मणों के सारे तर्क सुने और अन्त में मुस्कराते हुए बोले—"भाइयो ! मैं अपनी हार स्वीकार करता हूँ। अब शायद आप लोगों की बातें भी खत्म हो जाएँ। पर हाँ, इतना मैं अवश्य कहूँगा कि अस्पृश्यता हमारे धर्म का एक कलंक है। मेरी इस दृढ़निष्ठा को आपका कोई धर्म ग्रन्थ काट नहीं सकता।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सचमुच, इस तरह के विरोधी बहुत ही छोटी बुद्धि के निम्न स्तर के लोग होते हैं, जो अकारण ही जलते-भुनते रहते हैं। ऐसे लोगों से उलझने में पण्डित वृत्ति का व्यक्ति अपनी शक्ति व्यर्थ नष्ट नहीं करता। पण्डितजन सदैव ऐसे संकीर्ण स्वार्थी विरोधियों के आचरण कृत्य और हावभावों की उपेक्षा करते रहते हैं। वे ऐसे लोगों से विवाद में समय नष्ट नहीं करते, न व्यर्थ ही सिर खपाते हैं, बल्कि अपने निश्चित कार्य को करते जाते हैं। इसी सन्दर्भ में विदुरनीति (अ-१/२९) में पण्डित का लक्षण बताया है—

निश्चित्य यः प्रक्रमते, नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा, स वै पण्डित उच्यते॥

जो पहले भलीभाँति निर्धारित करके कार्य प्रारम्भ करता है, कार्य के बीच में विरोध आने पर घबरा कर रुकता नहीं। अपने समय को नहीं खोता, और अपनी आत्मा को वश में रखता है।

गाँधीजी के ही जीवन का एक प्रसंग है। वे विमान से लन्दन जा रहे थे। एक अंग्रेज अधिकारी भी उसी विमान से यात्रा कर रहा था। वह गाँधीजी से बहुत चिढ़ता था। विमान में और तो कुछ सम्भव न था। उसने दो-तीन पृष्ठ गालियों से भर कर आलपिन लगा कर गाँधीजी को दे दिये। गाँधीजी ने उन्हें पढ़े बिना ही धीरे से उन पृष्ठों में लगी आलपिन निकाल कर रख ली और वे पन्ने रद्दी की टोकरी में डाल दिये। चिढ़ाने की दृष्टि से उस अंग्रेज ने कहा—इसमें कुछ सार भी है या नहीं ? आपने पढ़ा या नहीं इसे ?" इस पर गाँधीजी ने मुस्करा कर उत्तर दिया—'जो सार था, वह तो डिबिया में रख लिया है। अनावश्यक को रद्दी की टोकरी में डाला जाता है।"

वास्तव में गाँधीजी ने उन अनावश्यक पन्नों को पढ़ने में समय बर्बाद नहीं किया और क्षुब्ध हुए बिना उसमें लगा पिन निकाल कर रख लिया तथा प्रस्ताव के अनुरूप ही कह दिया।

इसी सन्दर्भ में विदुरनीति में पण्डित का एक लक्षण दिया है—

'नहृष्यत्यात्मसम्माने, नावमानेन तप्यते।
गांगो ह्रद इवाक्षोभ्यो, यः स पण्डित उच्यते॥'

जो अपना सम्मान होने पर फूलता नहीं, और न अपमान से संतप्त होता है तथा गंगा के ह्रद के समान सदा अक्षुब्ध रहता है वही पण्डित कहलाता है।

सम्मान और अपमान ये दोनों द्वन्द्व हैं, आत्मविरोधी हैं। पण्डित चापलूस या विरोधी लोगों के द्वारा की गई झूठी प्रशंसा में फूलकर वह अपनी आत्मा की आवाज को ठुकराता नहीं और न ही क्षुब्ध होकर उलटे अनैतिक काम में प्रवृत्त होता है। गंगा का ह्रद जिस प्रकार अधिक पानी आ जाने पर भी बाढ़ का रूप धारण नहीं करता और न ही छिछला रूप धारण करके उछलता है, उसी तरह पण्डित भी न तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपमान से त्रस्त होकर अपने आपे से बाहर होता है, और न ही 'अधजल गगरी छलकत जाय' की तरह अपनी डींग हाँकता है।

यद्यपि गाँधीजी या मालवीयजी चाहते तो उक्त पण्डितों से शास्त्रार्थ करके युक्तियों से कायल कर सकते थे, परन्तु उन्होंने नम्रतापूर्वक विवाद को शान्त कर दिया, आगे बढ़ा कर वातावरण को विरोधी, क्षुब्ध एवं गर्म नहीं बनाया।

कई बार शास्त्रों का अध्ययन करनेवालों की दृष्टि संकीर्ण बन जाती है और वे शास्त्रीय पाठों का जब अर्थ करते हैं तो उनमें पूर्वापर विरोध प्रतीत होने लगता है। उनकी संकीर्णदृष्टि इसका ठीक समाधान नहीं कर पाती। फलतः शास्त्रों में पूर्वापर विरोधी बातों के कारण पाठक या श्रोता की श्रद्धा डगमगा जाती है, वह शास्त्र की बातों को असंगत मानने लगता है। इसलिए विरोध से विरत पण्डित के लिए ऐसे पूर्वापर विरोधी दिखाई देने वाले पाठों के सम्बन्ध में कहा गया है—

'आर्षं संदधीत, न तु विघट्टयेत्।"

शास्त्र के ऋषि वाक्यों का परस्पर मेल बिठाए, किन्तु उनका विघटन—खण्डन न करो।

संक्षेप में, शास्त्र की बातों में जहाँ पूर्वापर विरोध प्रतीत होता हो, वहाँ पण्डित सापेक्ष-दृष्टि से उनकी परस्पर संगति बिठाता है। किन्तु उन बातों का विरोध या खण्डन करके लोक-श्रद्धा को डगमगाता नहीं।

पण्डित का जीवन बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। चाहे वह बड़ी ही उम्र का हो, अपना दृष्टिकोण अपनी मानवता या अपनी बात किसी पर बलपूर्वक थोपता नहीं, वह जानता है कि ऐसा करने से व्यक्ति गेंद की तरह और अधिक उछलता है तथा सबको अपना मत व्यक्त करने का अधिकार है। यद्यपि कई बार वे मत अपनी भावना के अनुकूल नहीं होते, न हितकर ही होते हैं, फिर भी जो अपने दिल-दिमाग के दरवाजे बन्द करके हठाग्रह पर ही उतर जाता है, उसे समझाना या बलपूर्वक अपनी बात मनवाना टेढ़ी खीर होती है। ऐसे समय में हठधर्मी पर अड़े रहना या दूसरे की कही बात से अपना अपमान समझना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। पण्डितजन को इतना उदार होना चाहिए कि वह ऐसे उग्र विवाद या जिद् भरी बहस के अवसरों को हंस कर टाल दिया करे या उनकी उपेक्षा कर दिया करे। उस व्यक्ति को क्षम्य समझना चाहिए, जो अल्प बुद्धि के कारण ऐसी बात कह रहा है या ऐसे काम कर रहा है, जो स्वयं की दृष्टि में अनुचित या अनपेक्षित हो।

कोई व्यक्ति यह चाहता हो कि मेरे समीपवर्ती सभी मेरी इच्छाओं के अनुगामी बन जाएँ, तो ऐसा होना असम्भव है। भगवान महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण और ईसा के समीपवर्ती सभी उनके मतानुयायी या इच्छानुकूल नहीं बन गए। फिर भी उन्होंने उनके प्रति प्रेम और सहयोग की भावना नहीं छोड़ी। अतः पण्डितजन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की परख यही है कि मानवीय भूलों को वह उदारतापूर्वक क्षमा करता रहता है, जिससे सम्बन्धों में कटुता नहीं, बल्कि मधुरता बनी रहती है, और बारबार गलतियाँ करने वाले के प्रति पण्डित की क्षमा उसे सही रास्ते पर ला देती है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि जो गलती करता जाता है, उसे पण्डित समझाता ही नहीं, वह समझाता है, आवश्यकता पड़ने पर मधुर उपालम्भ भी देता है, प्रेम-भरी धमकी भी देता है, किन्तु देता है उपयुक्त अवसर पर ही। वह जब-तब बार-बार उलाहने, शब्दों की मार, नुक्ताचीनी, तानाकशी या व्यंग कसना आदि बातें प्रतिशोध या घृणा से प्रेरित होकर नहीं करता, क्योंकि ये दोष शरीर को कमजोर, स्वभाव को चिड़चिड़ा, मस्तिष्क को खोखला और आत्मा को अपवित्र बनाते हैं। उपयुक्त समय पर कही हुई कड़वी बात भी मीठी लगती है। प्रातःकाल सूर्य की किरणें मुलायम और मधुर लगती हैं, आरोग्यवर्धक होती हैं, वे ही दोपहर में प्रचण्ड हो उठती हैं और लोगों को बीमार तक कर देती हैं। यह समझकर पण्डित पुरुष आवेशपूर्ण स्थिति को टाल देता है। फिर जब उग्रता का वातावरण समाप्त हो जाता है, या एकान्त में प्रिय व्यक्ति से मिलता है, तब वह उसको अपनी बात नम्रता-पूर्वक समझाता है। समझाने में अगर परिहास या कटुता नहीं होती हैं तो पण्डित की कही हुई बात को समर्थन और सफलता मिलती है।

पण्डित की सारी बुद्धिमत्ता और विचारशीलता परिस्थितियों, समस्या और झगड़ों को शान्तिपूर्वक सुलझाने में है। कलह और कटुता तो समस्याओं को और उलझाकर उन्हें बिगाड़ देती हैं। क्षमा, मधुरता, नम्रता, सहनशीलता आदि पण्डित के गुण ऐसे हैं जो विरोधों को शान्त कर सकते हैं। पण्डित का सारा व्यक्तित्व ही एक तरह से जीवन का कठोर परीक्षण है। जो जितना विचारशील और बुद्धिमान है, उसे उतना ही उदार और क्षमाशील होना चाहिए। क्षमाशील एवं उदार व्यक्ति के लिए संसार में कौन शत्रु है।

इसीलिए पण्डितजन के ८ गुण बताए हैं, जो विरोध विरति से सम्बन्धित हैं—

दम्भं नोद्वहते न निन्दति परान्, नो भाषते निष्ठुरम्।
प्रोक्तं केनचिदप्रियञ्च सहते क्रोधञ्च नालम्बते॥
ज्ञात्वा शास्त्रमपि प्रभूतमनिशं सन्तिष्ठते मूकवत्।
दोषांश्छादयते गुणान् वितुनते चाष्टौ गुणाः पंडिते॥

अर्थात्—पण्डित में ८ गुण होते हैं। जैसे कि—

(१) जो दम्भ दिखावा नहीं करता।
(२) जो दूसरों की निन्दा नहीं करता।
(३) कठोर नहीं बोलता।
(४) किसी के द्वारा कथित अप्रिय वचन सहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) क्रोध नहीं करता।
(६) अनेक शास्त्रों का जानकार होते हुए भी मूकवत् रहता है।
(७) दूसरे के दोषों को ढकता है।
(८) उनके गुणों को प्रकाशित करता है।

वास्तव में ये गुण पण्डित के विरोध से दूर रहने के विशिष्ट गुण के अन्तर्गत हैं। इन गुणों को अपना कर ही पण्डित विरोध से विरत रह सकता है। बड़े से बड़े विरोध का शमन कर सकता है।

प्रसिद्ध विद्वान् पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एक बार ट्रेन से यात्रा कर रहे थे। वे जिस डिब्बे में चढ़े थे, वह भरा हुआ था, सिर्फ एक जगह दो अंग्रेजों के बीच में एक आदमी के बैठने लायक जगह खाली थी। लोग डरके मारे वहाँ बैठने का साहस नहीं कर रहे थे, क्योंकि उन दिनों काले आदमी गोरों से बहुत डरते थे। लेकिन विद्यासागर खाली जगह देख कर वहाँ बैठ गए। एक आदमी का इस प्रकार का साहस देखकर बैठे हुए अंग्रेजों में साश्चर्य क्रोध उभरा। एक ने आँखें तरेर कर कहा—गधा और दूसरे ने कहा—उल्लू। यह सुनकर उन्होंने दोनों को बारी-बारी से देखा और कहा—हाँ, मैं उन दोनों के बीच में बैठा हूँ।" यह सुनकर दोनों गोरों का क्रोध शान्त हो गया। वे एक दूसरे का मुंह देखने लगे।

यह है विरोधविरत सच्चे पण्डित की पहिचान। अब आपको पण्डित को पहचानने में भूल नहीं होगी।

संक्षेप में कहें तो सच्चा पण्डित वह है, जिसकी दृष्टि में, स्वभाव में, व्यवहार में, आचरण में विरोध न हो, जिसके जीवन में सिद्धान्त और व्यवहार, उपदेश और आचरण, अध्ययन और व्यवहार में कोई विरोध न हो। जो लोकसम्मत आचार या शिष्ट-आचार से विरुद्ध प्रवृत्ति न करता हो, क्योंकि पण्डित का इस प्रकार का विरोधी आचरण भी विरोध का कारण बन जाता है।

पण्डितों की विशेषताएँ

अब मैं ऐसे वास्तविक पण्डित की कुछ विशेषताएँ बताता हूँ, जो उनके जीवन में स्वाभाविक होती हैं। नीतिकार इस सम्बन्ध में कहते हैं—

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे-दिवसे मूढ़मावि‌शन्ति न पण्डितम्॥[1]

संसार में हजारों चिन्ताएँ और शोक लगे हुए हैं, हजारों भयस्थान-खतरे हैं, प्रतिदिन इन्हें मूढ़ व्यक्ति अनुभव करता है, उसके दिमाग में इनका विषाद घुस जाता है, लेकिन जो पण्डित है, उसके दिमाग में ये चीजें घुसती ही नहीं हैं, क्योंकि वह

---

१ हितोपदेश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हर्ष-शोक, विषाद, चिन्ता, उद्विग्नता आदि द्वन्द्वों—स्वभाव-विरुद्ध बातों से सदैव दूर रहता है। चिन्ता और भय तो उसे सताते हैं, जिसमें अपने और अपनों के प्रति आसक्ति हो और दूसरों के प्रति घृणा अथवा अपने स्वार्थ में अनुरक्त हो और परमार्थ से विरक्त। जब पण्डित लोग अपने स्वार्थ में तल्लीन हो जाते हैं, दूसरे की सुखसुविधाओं या लाभों का बिलकुल ध्यान नहीं रखते, तभी दुःख, विपत्ति, कष्ट और भय उपस्थित होते हैं। स्वार्थपरता के कारण उन पण्डितों की बुद्धि बिलकुल मोहावृत एवं पक्षपात युक्त हो जाती है। परन्तु जो सच्चे पण्डित होते हैं, अर्थविभाग या बंटवारा करते समय भी उनके मन में पक्षपात या स्वार्थभाव नहीं आता, यही कारण है कि वैरविरोध या मनमुटाव उनके यहां नहीं फटकते।

नवद्वीप (नदिया) के प्रसिद्ध विद्वान् रामशिरोमणि और उनका छोटा भाई रघुमणि विद्यारत्न साथ-साथ रहते थे। वे जितने विद्वान् थे, उतने समझदार और संप से रहने वाले थे। उन्होंने बहुत धन कमाया, फिर भी सम्पत्ति का बंटवारा नहीं किया। एक दिन रामशिरोमणि ने रघुमणि से कहा—"भाई! अब हम सम्पत्ति का बंटवारा कर लें तो अच्छा है।" रघुमणि बोले—'क्या कहा आपने? जो मूर्ख होते हैं, वे अलग होते हैं, हम पण्डित होकर क्या अलग होंगे? अलग होते हैं, वे स्वयं विरोध के विष से युक्त हो जाते हैं और अपनी संतान में भी विरोध का विष बीज बो जाते हैं। "लोग हमें क्या कहेंगे? रामशिरोमणि बोले—"हमें अलग नहीं होना है, परन्तु लड़कों को सम्पत्ति बाँट दें तो अच्छा है, अन्यथा भविष्य में हमारी तरह एकता और अविरोधी प्रेम से रह सकें, ऐसी सम्भावना कम है।" रघुमणि ने कहा—"दादा! जैसी आपकी इच्छा!' रामशिरोमणि ने सारी सम्पत्ति के दो हिस्से किये। एक में अपने तीन पुत्रों का हिस्सा और दूसरे में अपने छोटे भाई के एक पुत्र का हिस्सा। यह बंटवारा देखकर रघुमणि ने कहा—"भाई! यह आपने क्या किया? अगर हम अलग हुए होते तो दो हिस्से करने ठीक थे। परन्तु अलग तो पुत्र हो रहे हैं। इसलिए चारों पुत्रों के चार हिस्से कर दीजिए। इसी में मेरा मन प्रसन्न रहेगा। परन्तु पण्डित शिरोमणि नहीं माने। उन्होंने दोनों भाईयों के दो हिस्से ही किये। मगर रघुमणि ने अपने पुत्र के हिस्से में से दो हिस्से और करके समविभाग कर दिया।

वास्तव में जो पण्डित होते हैं, वे संकीर्ण स्वार्थबुद्धि नहीं होते। वे उन चार मूढपण्डितों की तरह अतिस्वार्थी नहीं होते, जिन्होंने अपनी बारी पर गाय को दूह लिया, मगर उसे चारा दाना नहीं खिलाया। पण्डितों की बुद्धि की विशेषता बताते हुए कहा है—

ना प्राप्यमभिवाञ्छंति नष्टं नेच्छंति शोचितुम्।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः॥

पण्डितबुद्धि वाले मनुष्य अप्राप्तव्य को, जो वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती उसे प्राप्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करने की इच्छा नहीं रखते, जो नष्ट हो गई है, उसकी चिन्ता नहीं करते, आपत्तियाँ आने पर वे घबराते नहीं।

इसी प्रकार पण्डितों के समागम से मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी बुद्धिमान हो जाता है। भट्टेन्दुराज ने कहा है—

"शून्यमापूर्णतामेति, मृतञ्चामृतायते।
विपद् सम्पदिवाभाति विद्वज्जन समागमात् ॥"

विद्वानों के सम्पर्क से शून्यता पूर्णता में सम्पन्न हो जाती है, जो मरा-मरा-सा है, वह अमर हो जाता है एवं विपदाएँ सम्पदाओं-सी प्रतीत होती हैं।'

विपत्तियाँ आती हैं, परन्तु पण्डित की बुद्धि उसका तुरन्त कोई न कोई उचित हल निकाल लेती है, जिससे विपत्ति-विपत्ति मालूम नहीं होती।

चाणक्यनीति में पण्डित की एक खास विशेषता की ओर सकेत किया है—

"यस्य कृत्यं न विघ्नंति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा, स वै पण्डित उच्यते ॥"

जिसके किसी भी कार्य में शीत, उष्ण, भय, अनुराग, समृद्धि या असमृद्धि रुकावट नहीं डाल सकती, वही पण्डित कहलाता है। अर्थात्-सर्दी हो या गर्मी, कोई भय या खतरा हो, परिवार आदि में किसी के प्रति अनुराग हो, वैभव अधिक हो या गरीबी हो; पण्डित के कर्तव्यपालन में किसी प्रकार से ये चीजें बाधक या विघ्न-कारक नहीं बन सकतीं। वह इन चीजों के रहते भी कर्तव्य का पालन किये बिना नहीं रहता।

मिथिला के पण्डित गंगाधर शास्त्री जिस विद्यालय में पढ़ते थे, उसमें उनका पुत्र गोविन्द भी पढ़ता था। कभी अनुपस्थित न होने वाला सहृदय छात्र गोविन्द उस दिन नहीं पहुँचा तो सहपाठी छात्रों को कुछ बेचैनी हुई। शास्त्रीजी प्रतिदिन की तरह सायंकाल तक सभी कक्षाओं में उसी तन्मयता, एकाग्रता और माधुर्य के साथ पढ़ाते रहे। उनकी मुखमुद्रा पर कोई भी ऐसा भाव नहीं परिलक्षित होता था कि उन्हें एकबार भी गोविन्द की याद आई हो। विद्यालय की छुट्टी हुई तो एक छात्र ने उत्सुकतावश पूछ ही लिया—"गुरुजी ! आज गोविन्द पढ़ने नहीं आए, कहीं गये हैं क्या ?"

बड़े ही करुण और शान्त स्वर में शास्त्रीजी ने कहा—"हां, गोविन्द वहाँ चला गया है, जहाँ से कोई लौटकर नहीं आता।"

गुरुजी के सुपुत्र और अपने गुरु भाई के आकस्मिक निधन का समाचार सुन कर सभी छात्रों के चेहरे उदास हो गए। एक छात्र ने पूछा—"गुरुजी ! सारा दिन बीत गया, आपने हमें पहले क्यों नहीं बताया ?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"वत्स ! पिता के हृदय से गुरु (पण्डित) का कर्तव्य महान् होता है।" इतना सा संक्षिप्त उत्तर देकर शास्त्रीजी घर की ओर चल दिये।

पुत्र का अनुराग पं० गंगाधरशास्त्री के अध्यापन-कर्तव्य में बाधक न बन सका।

सच्चे पण्डित के जीवन में एक विशेषता होती है कि उसे चाहे विरोधियों—समाज-विरोधी आचरण वालों के बीच भी छोड़ दिया जाए या रहना पड़े तो भी वे शान्ति, धैर्य, सहिष्णुता और सद्भावना से विरोधियों के दिल को जीत लेते हैं, उनका हृदय परिवर्तन कर देते हैं, विरोधी आचरणवालों को सामाजिक जीवन से अविरोधी आचरण वाला बना देते हैं।

रहीम कवि ने कितनी सुन्दर बात कह दी है—

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सके कुसंग।
चंदन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग॥"

भावार्थ स्पष्ट है।

पण्डित रविशंकर महाराज महात्मा गाँधी के लोकसेवक बने, उससे पहले वे गुजरात की अपराधी पाटणवाणिया जाति के पुरोहित थे। रविशंकर महाराज के इन महमानों का मुख्य पेशा चोरी करना था। जो पाटणवाणिया जितना अधिक चोरी कर लेता था, वह अपनी जाति में उतना ही अधिक आदर-पात्र माना जाता था। जो पाटणवाणिया एक सप्ताह तक चोरी करने नहीं जाता था, उसकी स्त्री उससे रुठ जाती थी, और उसे निठल्ला, निकम्मा और डरपोक कह कर तिरस्कृत करती थी। लेकिन प० रविशंकर महाराज ने इन और ऐसी ही अपराधी जातियों के बीच निर्लेपता से रहकर आत्मीयता के सम्बन्ध स्थापित किये और अपने अन्तःकरण की पवित्र प्रेमभरी वाणी से उनके जुआ, चोरी, नशा और आलस आदि दुर्गुण छुड़ाए। उनके समझाने से कई लोग प्रतिज्ञा कर लेते और उसे आजीवन निभाते।

उन्होंने कई भयंकर आतंकवादी डाकुओं से मिलकर और उनके बीच निर्लिप्त रहकर उन्हें इतनी आत्मीयता से समझाया कि कितने ही डाकुओं ने डकैती छोड़ दी और समाजपयोगी कार्य करने लगे।

इस प्रकार पण्डित विरोधियों के बीच भी अवरोधी रहते हैं, बल्कि विरोधियों का वे विरोधी जीवन भी बदल देते हैं।

विरोध कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे ?

पण्डित का मुख्य लक्षण जो विरोध से विरत रहना बताया गया है, अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विरोध कहाँ-कहाँ और किस-किस रूप में आता है ? विरोध के स्रोत कौन-कौन से हैं ? जिन्हें जानकर पण्डित जीवन जीने का अभिलाषी मानव उन विरोधों से विरत रह सके।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विरोध का सर्वप्रथम मुख्य कारण क्रोध है। मनुष्य जब दूसरों की कही हुई बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं करता, और उसे एकदम क्रोध होता है। जिसके प्रति क्रोध किया जाता है, वह भी क्रोध करता है। इस प्रकार क्रोध की आग से विरोध की चिनगारी फूटती है। उसमें से कलह, क्लेश, नुक्ताचीनी, शब्दों की मार, उलाहने, आक्षेप आदि पैदा होते हैं जो पाण्डित्य को जलाकर खाक बना देते हैं क्रोध को क्रोध से जीतने का प्रयास करना बड़ा भारी विरोध पैदा करना है। ऐसा करने से मनुष्य का शरीर, मस्तिष्क, हृदय, और आत्मा सभी विरोध से भर जाते हैं और वे विरोध के परमाणु भयंकर कर्मबन्ध के कारण बनते हैं।

किसी से आपकी कोई गलती या हानि हो गई हो तो एकदम उस पर झल्ला उठना, उसे विरोधी—शत्रु बनाना है, इसके बजाय गम्भीरता से जिस कारण वह गलती या हानि हुई, उस पर विचार करके उसे दोष देना चाहिए। गलती करने वाले को क्षमा करने से हृदय साफ रहेगा और परिस्थिति को समझने का अवसर मिलेगा।

दूसरा विरोध का कारण है—अहंकार। मनुष्य जब अहंकार करता है तो वह दूसरों के प्रति घृणा करता है, उन्हें नीचा और अपने को ऊँचा मानता है, अथवा स्वयं को महान् और दूसरों को क्षुद्र मानने लगता है। इनसे जिनको वह नीचा मानता है, उनमें विरोध स्वरूप प्रतिक्रिया पैदा होती है। जो निरहंकार है, नम्र है, वही पण्डित है। जो अहंकार का पुतला है दूसरों से सेवा और सहयोग लेकर भी उनका आभार नहीं मानता, बल्कि उन्हें नीच और घृणित समझता है, वह सच्चा पण्डित नहीं। वह एक जन्म में ही नहीं, जन्म-जन्म में अपनी हानि करता है। हठाग्रह या दुराग्रह भी विरोध का जबर्दस्त कारण है। हठाग्रह का कारण है अहंकार। अपनी मानी हुई बात को असत्य मानकर हठाग्रही पूर्वाग्रहवश जो पकड़ लेता है, उसे झूठ सिद्ध होने पर भी छोड़ता नहीं। इसी पूर्वाग्रह के कारण धर्म-सम्प्रदायों, जातियों या प्रान्तों एवं राष्ट्रों की परस्पर लड़ाइयाँ एवं संघर्ष होते हैं। इस प्रकार के बैर-विरोध से किसी की आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। जो सब प्राणियों को आत्मवत् मानता है, उसे ही पण्डित कहा गया है, जो अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न मानता है, वह अज्ञानी है। ऐसा अहंकारी अतिस्वार्थी होता है, वह केवल अपने गुण और अपनी विभूतियाँ अपने तक ही सीमित रखता है, बल्कि वह अपने अहंकार की तुष्टि के लिए दूसरे की विशेषताओं और विभूतियों का शोषण करने लगता है। इसलिए अहंकार सारे पापों और विरोधों की जड़ है, जिससे पण्डित को बचना आवश्यक है।

एक बार प्रयाग में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्मान में एक द्विवेदी मेले का आयोजन हुआ था। उसमें डा० गंगानाथ झा भी आमंत्रित थे। जब झा महोदय आए तो द्विवेदीजी अपने सहज सौजन्यवश उनके चरण स्पर्श के लिए आगे बढ़े। डा० झा तुरन्त पीछे हटे और विनयावनत होकर बोले—"यह क्या अन्याय कर रहे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं आप ? मैं तो आपको गुरु मानता हूँ। उधर द्विवेदीजी का भी यह तर्क था कि आप तो मेरे गुरु हैं।" बाद में झा महोदय ने द्विवेदीजी का अभिनन्दन करते हुए कहा—"मुझे एक बार द्विवेदी जी ने लेख लिखने के लिए कहा। बड़ी मुश्किल से समय निकालकर मैंने एक लेख लिखकर इन्हें भेजा। लगभग एक मास बाद 'सरस्वती में आदि से अन्त तक द्विवेदीजी ने संशोधित करके प्रकाशित किया। इसलिए मैं तो सदैव यही कहूँगा कि द्विवेदी जी मेरे गुरु हैं, क्योंकि इन्होंने संशोधन करके मुझे हिन्दी लिखना सिखाया है।

इस प्रकार की नम्रता और निरभिमानता जब पण्डित में होती है, तो कहीं विरोध नहीं होता, बल्कि नम्र मनुष्य दूसरों से बहुत कुछ सीख सकता है। अगर ये दोनों पण्डित अहंकारी होते तो इनमें परस्पर विरोध होता, एक दूसरे को ये भला-बुरा कहते और कटुता फैलती।

अहंकारी पण्डित दूसरों को नीचा दिखाने और स्वयं महान् बनने के लिए दूसरों—प्रतिस्पर्धियों को मिटाने की कोशिश करता है। इसके परिणामस्वरूप परस्पर संघर्ष, पदों की छीनाझपटी आदि विरोध पैदा होते हैं। जो विद्वान दूसरों को मिटाकर, दूसरों को नुकसान पहुँचाकर, उनकी नुक्ताचीनी करके आगे बढ़ने का स्वप्न देखते हैं, उनका असफल होना निश्चित है। ऐसे व्यक्ति अपने चारों ओर विरोधियों और असहयोगियों की पलटन खड़ी कर लेते हैं। संत विनोबाजी के शब्दों में सफलता के सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार है—"पड़ौसी के पास ७ सेर ताकत है और मेरे पास १० सेर। यदि दोनों परस्पर टकराएँगे तो परिणाम में १०—७=३ सेर ताकत ही बच रहेगी। दोनों पक्षों की ही हानि होगी। यदि दूसरी स्थिति में मिलकर श्रम किया जायेगा तो १०+७=१७ सेर ताकत पैदा होगी, जिससे सफलता अधिक मात्रा में अर्जित होगी। मेरे दो हाथ और आपके दो हाथ मिलकर २+२=४ हाथ होते हैं; किन्तु जब ये परस्पर टकरायेंगे तो नतीजा २—२=० शून्य ही निकलेगा।

जब लोग दूसरों की गर्दन काटकर स्वयं पनपने की कोशिश करते हैं, दूसरे के बढ़ते हुए पैरों को खींचकर स्वयं आगे बढ़ने का स्वप्न देखते हैं, दूसरों का खून चूस कर स्वयं मोटा बनना चाहते हैं, दूसरों को उजाड़कर अपना घर बसाना चाहते हैं, दूसरों का सुख छीनकर स्वयं सुखी बनना चाहते हैं तो निश्चित है कि इन समाज विरोधी अमानुषिक कार्यों के परिणाम अन्ततः प्रतिकूल व दुःखप्रद ही मिलेंगे। क्रिया की विरोधी प्रतिक्रिया अवश्य होती है। अतः पण्डित को समाज विरोधी चोरी, डकैती, हत्या, लूट, शोषण आदि से सदैव बचना चाहिए।

अहंकार के वश मनुष्य दूसरों का अपमान और तिरस्कार भी कर बैठता है, खासकर अपने से छोटों का अपमान वह बातबात में कर बैठता है, परन्तु ऐसा करने से विरोध की प्रतिक्रिया पैदा होती है। पण्डित मदनमोहन मालवीय के पुत्र गोविन्द

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मालवीय ने एक बार उनसे शिकायत की—"बैठक में ऐसे बहुत-से आदमी बिना पूछे चले आते हैं, जिनके पैर धूल से सने होते हैं, और कपड़े निहायत गंदे होते हैं, मुझे इनका आना बिलकुल पसन्द नहीं है। मैं इनके आने पर प्रतिबन्ध लगा दूंगा।" इस पर प० मदनमोहन मालवीय के उद्‌गार थे—

"जब तक मैं इस मकान में हूँ, तब तक ये गरीब आदमी इसी प्रकार यहाँ आते रहेंगे। मुझे भारत ही नहीं, संसारभर के गरीबों से सहानुभूति है। मुझे उनसे हार्दिक प्रेम है। अपने घर आने को मैं इनकी कृपा मानता हूँ। इनको घर बैठे देखने का अवसर पाकर मैं देश के विषय में बहुत-सी बातें समझ लेता हूँ।"

एक पण्डित में कितनी सहृदयता, कितनी आत्मीयता की भावना छोटे और गरीबों के प्रति होनी चाहिए, इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

गाली का जवाब गाली से और घूंसे का जवाब घूंसे से देने में कोई बड़ा नहीं हो जाता, यह क्षुद्रता है। यों तो पशु भी आपस में लड़कर द्वन्द्वयुद्ध कर लेते हैं। अतः पण्डित पद बहुत महान् है, उसकी महत्ता जैसे को तैसा बनने में नहीं है, अपितु, क्षमा और सहनशीलता में है। उदारता और दूरदर्शिता का नाम ही बड़प्पन है। जो जितना उदार होता है, वह उतना ही बड़ा माना जाता है। बड़े आदमी ऊँची बात सोचते हैं, ऊँचा काम करते हैं और ऊँची सूझबूझ सा परिचय देते हैं। ओछे लोगों की क्षुद्र हरकतों से वे उद्विग्न या क्षुब्ध नहीं होते। उनकी गलती को भी प्रेम से सुधारने का प्रयत्न करते हैं। वे अपना मानसिक सन्तुलन नहीं बिगाड़ते। जो अपनी सद्‌भावना से दूसरों का हृदय जीत लेता है, वही पण्डित है, बड़ा है।

पण्डित किसी को बदरूप या अंगहीन देखकर वह उसकी हंसी नहीं उड़ाता, न बुद्धिहीन की मजाक करता है। क्योंकि कहावत है—"**कलह का मूल हँसी**" हँसी करने से बड़े-बड़े विरोध—कलह पैदा हो जाते हैं। जनक राजा की राजसभा में जब बुद्धिमान् अष्टावक्र पहुँचा तो उसके आठ अंग टेढ़े-मेढ़े देखकर सभी पण्डित हंस पड़े। अष्टावक्र ने मुस्करा कर कहा—"मालूम होता है यह चमारों की सभा है, मैं तो इसे समझता था—पण्डितों की सभा।' इस पर राजा ने जब स्पष्टीकरण मांगा तो अष्टावक्र ने कहा—"चमार चमड़े को देखते हैं, आप भी मेरे चमड़े को देखकर हँसे हैं न ? अगर आप विद्वान होते तो मेरी आत्मा को देखते।" इस प्रकार सभी पण्डितों को मुँह की खानी पड़ी। कवि वृन्द ने एक छोटे-से दोहे में इस तथ्य को खोल दिया है—

"काहू को हंसिये नहीं, हंसी कलह को मूल।
हांसी ही ते है भयो, कौरव कुल निरमूल॥"

इसी प्रकार अहंकारवश पीड़ितों की उपेक्षा करना भी विरोध का कारण है। अतिवृष्टि, भूकम्प, उत्पात आदि अन्य आफतों के कारण जब मनुष्य या पशु पीड़ित होते हैं, या अंग-विकलता या रोगादि के कारण त्रस्त होते हैं या सदाचार के मार्ग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर चलते हुए जो पिछड गए, पतित हो गए, ठोकर खा गए, हैं, उनके प्रति घृणा, तिरस्कार या उपेक्षा का भाव रखना या उनकी सेवा-सुश्रूषा से पराङ्मुख होना पाण्डित्य का लक्षण नहीं है। ऐसे समय में जो यह कह देते हैं कि पापों की अधिकता के कारण उन्हें दण्ड भोगना पड़ा है, जो जैसा करता है, उसे वैसा भोगना पड़ता है, इसमें हम क्या करें? यों तो संसार में प्रतिदिन अनेक जीव मरते हैं, किस-किसको सहायता करें? इस प्रकार जो व्यक्ति विपद्ग्रस्त को सहायता देने का स्वयं विरोध करता है, उदासीन रहता है, यह भयंकर मानवता विरोधी दुर्भाव है, हृदयहीनता है। पापी को दण्ड मिला, विपत्ति के रूप में किन्तु आपने यदि विपत्तिग्रस्त की सहायता का विरोध किया तो वह भी एक प्रकार का पाप ही हुआ।

भगवान् जब पतितोद्धारक हैं, तो हमें पतितों और पीड़ितों से घृणा करने का क्या अधिकार है क्या औचित्य है?

किसी को सताना, तंग करना और कटु वचन बोलना भी विरोध का कारण है। जो वास्तविक पण्डित होता है, वह दूसरों को सताना तो दूर रहा, जो दूसरों द्वारा सताए हुए या प्रताड़ित है, उन्हें देखकर करुणा भाव लाता है, उन्हें सब तरह से सहयोग देकर अपना बना लेता है। दूसरों की निन्दा या बदनामी करना अथवा चुगली खाना भी विरोध का कारण है, पण्डित को इनसे बचना आवश्यक है। इसी प्रकार दोषदृष्टि भी विरोध का कारण है। जब किसी पण्डित की दूसरों के छिद्र, दोष, और ऐब ढूंढने और देखने की वृत्ति बन जाती है, वस्तुओं के काले पहलू को देखने की आदत हो जाती है, तब उसे दोष और विकृति ढूंढे बिना चैन नहीं पड़ता। उन्हें संसार में कुरूपता और नुक्ताचीनी के सिवाय और कुछ नजर ही नहीं आता। परिणामस्वरूप उन्हें प्राप्त होते हैं—लांछन, कलंक, लोक-निन्दा और तिरस्कार। ऐसे लोग प्रत्येक स्थान, व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति में दोषदर्शन करके खिन्न, अशान्त उद्विग्न और असन्तुष्ट दिखाई देते हैं। उन्हें समाज, शरीर, संसार, मित्रों, वस्तुओं परिस्थितियों, सबसे शिकायत रहती है। ऐसे लोग चाहे कितने ही शिक्षित और सम्पन्न हों, सब कुछ सुखसाधन के हों, फिर भी वे आनन्द, प्रसन्नता और सुखशान्ति नहीं पाते। दोषदृष्टि से व्यक्ति दूसरों की निन्दा, आलोचना और बदनामी करके अपने जीवन में स्नेह, आत्मीयता, सौजन्यता, प्रेमपूर्ण व्यवहार और सहिष्णुता के गुणों का विरोधी बन जाता है। इसी प्रकार अपने-पराये या पक्षपात का भाव भी विरोध पैदा करते हैं। ईर्ष्या तो पण्डितजीवन में भयंकर विरोध पैदा करती हैं। जहाँ परिवार, समाज और राष्ट्र में ईर्ष्या की वृत्ति किसी में आ जाती है, वहाँ वैर, विरोध, कलह, द्वेष और युद्ध के कीटाणु पनपते हैं। वह जीवन का सर्वनाश कर देती है।

ईर्ष्या से भाई-भाई किस प्रकार अपना सर्वनाश कर बैठते हैं? इसके लिए एक प्राचीन उदाहरण लीजिए—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भगवान ऋषभदेव के पुत्र द्रविड़ के दो पुत्र थे—द्राविड़ और वारिखिल्ल। द्रविड़ ने द्राविड़ को मिथिला का तथा वारिखिल्ल को एक लाख गाँवों का राज्य सौंप कर भगवान ऋषभदेव के पास मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली।

इधर वारिखिल्ल के राज्य का उत्कर्ष देखकर द्राविड़ के मन में ईर्ष्या जागी। वारिखिल्ल को जब यह बात मालूम हुई तो वह भी द्राविड़ का राज्य हथियाने की चेष्टा करने लगा। दोनों में परस्पर वैर-विरोध बढ़ता गया। कुछ दुष्टों के बहकावे में आकर द्राविड़ ने अपने नगर में वारिखिल्ल का प्रवेश निषिद्ध कर दिया। इससे वारिखिल्ल के मन में भी कषाय जगा और वह युद्ध के लिए उद्यत हो गया। सेना तैयार की। द्राविड़ को मालूम पड़ा तो उसने युद्ध के लिए सेना सुसज्जित कर ली। रणभेरी बजा दी। द्राविड़ और वारिखिल्ल दोनों की सेनाएँ युद्ध के मैदान में आ डटीं। दोनों में भयंकर युद्ध हुआ। दस करोड़ मनुष्यों का संहार हो गया। इसी बीच वर्षाकाल आ जाने से युद्ध स्थगित हो गया।

एक दिन द्राविड़ राजा सपरिवार वनश्री का निरीक्षण करने निकला। साथ में विमलबुद्धि मंत्री था। उसकी प्रेरणा से सभी सुवल्गु नामक तापस के आश्रम में पहुँचे। तापस ने उपदेश दिया कि संसार-समुद्र काम-क्रोध-मद-लोभ आदि जलजीवों से भरा है। उनके कारण हिंसादि पापों में लिपटा जीव नरकादि दुर्गतियों में महादुःख भोगता है। राज्य लोभ वश भाई के साथ युद्ध करना भी नरकादि दुःखरूप अर्थ का कारण है। युगादिदेव के पौत्र होकर क्यों आपस में लड़-भिड़कर अपनी और जनता की शक्ति का क्षय करते हो? क्या राज्य तुम्हारे साथ जाएगा? तापससुवल्गु के वचन सुनकर द्राविड़ ने अज्ञाननिद्रा से जगाने और विवेक दृष्टि खोलने के लिए बहुत आभार माना।

द्राविड़ अपने छोटे भाई वारिखिल्ल से क्षमा याचना करने वहाँ से पैदल चलकर आ रहा है वारिखिल्ल को यह पता लगते ही वह भी उसके सम्मुख पहुँचा और अपनी ओर से क्षमा माँगी। दोनों ने एक-दूसरे से कहा कि हमें राज्य की आवश्यकता नहीं है। हम तो राज्य आदि सब को छोड़कर आत्म-कल्याण करने हेतु वन में ही रहेंगे।" दोनों ने अपने-अपने पुत्र को राज्य सौंपा और अनेक लोगों सहित दीक्षा धारण की। इस प्रकार ईर्ष्या की आग ने कितना वैर-विरोध पैदा कर दिया था, जो क्षमा के पानी से ही बुझ सकी। इसलिए गौतम ऋषि ने कहा—"**ते पंडिया जे विरया विरोहे।**" बन्धुओ, मैं काफी विस्तार के साथ पण्डित जीवन के सम्बन्ध में कह गया हूँ। आप इस पर मनन-चिन्तन करें और तमाम विरोधों और उनके कारणों से दूर रहकर अपना जीवन शुद्ध पण्डितमय बनाएँ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७

सज्जन होते समय-पारखी

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं एक विशिष्ट जीवन के विषय में आपके सामने चर्चा करूँगा, वह है—समय-विवेकी जीवन। यह गौतम कुलक का छठा जीवन सूत्र है।

दुर्जन, जन और सज्जन

इस संसार में कुछ लोग दुर्जन या मूर्खजन होते हैं, वे मानव-जीवन में समय की कोई कीमत नहीं समझते। वे अपना समय या तो दुर्व्यसनों में खोते हैं, या वे इधर-उधर की निन्दा, चुगली, लड़ाई-झगड़ों में समय बर्बाद करते हैं, या फिर आलस्य और निद्रा में वे अपना अमूल्य वक्त नष्ट कर देते हैं। इसीलिए नीति का एक प्राचीन श्लोक है—

ज्ञानध्यान-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥

'बुद्धिमानों का समय ज्ञान और ध्यान के विनोद में व्यतीत होता है, जबकि मूर्खों का समय या तो व्यसनों में बीतता है, या फिर नींद, आलस्य और कलह में।

मूर्ख व्यक्ति समय की कीमत जानते ही नहीं, इसलिए वे फिजूल के कामों में अपना अमूल्य समय बर्बाद कर देते हैं। खासतौर से वे अपना समय दूसरों को सताने, लड़ने-भिड़ने या चोरी करने आदि पर-पीड़ाजनक कार्यों में व्यतीत करते हैं।

परन्तु इससे कुछ ऊपर उठे हुए जन (साधारण मानव) होते हैं, वे समय की कीमत तो जानते हैं, पर उन्हें व्यर्थ समय खोने का पश्चात्ताप नहीं होता, तथा वे यह नहीं जानते कि समय को कैसे बिताया जाए? जैसे किसी व्यक्ति के पास धन तो बहुत हो, परन्तु वह यह जानता हो कि धन का सद्व्यय कैसे किया जाए, वैसे ही साधारण मानव यह नहीं जानते कि समय का सद्व्यय कैसे किया जाए? ऐसे ही लोगों के सम्बन्ध में एक पाश्चात्य विचारक काउली (Cowley) ने कहा है—

"There is no saying shocks me so much, as that which, I hear very often—that a man does not know how to pass his time."

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुझे दुनिया में और कोई बात इतना आघात नहीं पहुँचाती, जितनी कि यह बात, जिसे मैं अक्सर सुनता हूँ कि "एक मनुष्य यह नहीं जानता कि मुझे अपना समय कैसे बिताना चाहिए।"

ऐसे कुछ लोगों को खाली बैठे देख कर एक प्रोफेसर ने पूछा—"कहो, क्या हो रहा है ?" उन्होंने कहा—"कुछ नहीं साहब ! वक्त काट रहे हैं।"

प्रोफेसर बोले—"अरे ! तुम क्या वक्त काटोगे, वक्त ही तुम्हें काट रहा है और ऐसा काट रहा है कि कुछ दिनों बाद तुम्हीं देखोगे कि किसी मतलब के नहीं रहे।"

यों तो समय काटने के लिए निकम्मे और निठल्ले लोग कोई न कोई काम निकालते हैं। गप्पें हांकने, मटरगश्ती करने, ताश खेलने, सिनेमा देखने, बेकार काम में चौधरी बनने, दूसरे के कामों में अकारण ही टांग अड़ाने की, यारबाजी की आदत आलसी लोगों में पायी जाती है। फिर उन्हीं के जैसे कुछ बेकार लोग चौकड़ी जमा कर बैठ जाते हैं और इधर-उधर की निन्दा, चुगली, आलोचना या यारबाजी के शुगल चलने लगते हैं। उनकी बातों का कोई आधार या उद्देश्य तो होता नहीं, सिर्फ समय काटने के लिए ही वे इकट्ठे होते हैं। इसप्रकार की चौकड़ी का जमाव उन निठल्लों के दोषों, दुर्गुणों और दुर्व्यसनों को बढ़ाने में ही सहायक होता है।

कहावत है—

"Empty mind is devil's workshop"

"खाली दिमाग शैतान का कारखाना है।"

जो बेकार रहेगा, उसे कुछ न कुछ शैतानी और उखाड़-पछाड़ सूझेगी। कुछ वर्षों पहले भारत में राजा, रईस, अमीर, उमराव, जागीरदार, ठाकुर, जमींदार साहूकार, महंत और मठाधीश बहुत थे। उनके पास आमदनी बहुत थी और उनके सारे कार्य या व्यवसाय नौकर चाकरों के बलबूते पर चला करते थे। कार्य का कोई उत्तरदायित्व उनके सिर पर न होने से उन्हें काफी समय मिलता था। इस बचे हुए समय का उपयोग सामान्यतया इन्हीं खुराफातों में होता था। बहुत ही कम लोग ऐसे होते थे, जो अपने इस अमूल्य समय को किसी मूल्यवान सत्कार्य में लगाते थे। अब वे वर्ग कम होते जा रहे हैं। परिस्थितियाँ उन्हें अब समय का किसी न किसी श्रमकार्य या आजीविका के कार्य में उपयोग करने के लिए बाध्य करती है। निठल्लापन या बेकार बैठना इसलिए भयंकर है कि बेकार आदमी शराब-अफीम आदि व्यसनों, भोगविलास, व्यभिचार, शिकार एवं लड़ाई झगड़े आदि बुरे कामों और बुरे विचारों की ओर आकर्षित और अग्रसर होगा। कार्यव्यस्त व्यक्ति फुरसत न मिलने के कारण प्रायः इन बुराइयों से बचा रहता है। परन्तु बेकार के लिए तो सर्वनाश का द्वार खुला रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिए पाश्चात्य साहित्यकार शेक्सपियर कहता है—

"I wasted time and now doth time waste me."

"मैंने समय को बर्बाद किया, अब समय मुझे बर्बाद करता है।" इस उक्ति में कितना सत्य निहित है।

बेकार रह कर समय बेकार खोने का कारण काम का अभाव नहीं, बहुधा आलस्य होता है। नौकरी के लिए दर-दर ठोकरें खाने वाले अधिकांश वे ही लोग होते हैं जो ऊँची आय की, कुर्सी-पंखे की या शरीरश्रम के अभाव की नौकरी चाहते हैं, श्रम करने में या मेहनत-मजूरी करने में उन्हें अपनी शान और इज्जत घटती मालूम होती है। ऐसे आरामतलब लोगों के लिए बाबूगीरी की नौकरियाँ मिलनी कठिन हो सकती हैं। परन्तु कस कर मेहनत करने वाले के लिए काम की कमी नहीं है। अधिक पैसे का न सही, अधिक बड़ा न सही, परन्तु आदमी ढूँढे तो हर जगह काम मिल सकता है और उसमें गुजारेलायक तो पैसे उसे मिल ही जाते हैं। थोड़ी कमाई हो तो भी बेकार बैठ कर खुराफात में मन दौड़ाने की अपेक्षा तो उस समय को उसमें लगाए रखना किसी हद तक बुरा नहीं है। किन्तु बेकार रह कर समय को व्यर्थ के विचारों या खुराफातों में लगाना तो भयंकर पाप और अपराध है।

आज भारत के अधिकांश लोगों का आधे से अधिक समय बर्बाद होता है। इस आलस का नतीजा यह होता है कि अनेक अंग-प्रत्यंगों में जड़ता आ जाती है, उनकी जीवनीशक्ति घटती है, दुर्बलता, कई बीमारियाँ, मोटापा और हृदय रोग तथा अकाल-मृत्यु की सम्भावना तेजी से बढ़ती है। बहनों में प्राचीनकाल में जब परिश्रम करके समय को व्यतीत करने की आदत थी, तो उनका स्वास्थ्य सुरक्षित रहता था, प्रसव भी आसानी से हो जाता था और श्रम करने से उन्हें भूख अच्छी लगती, नींद भी अच्छी आती थी और शेष समय वे धर्माचरण में भी लगाती थीं। आज आलसी महिलाओं को रोग, मुटापा, अनिद्रा आदि के रूप में महँगा मूल्य चुकाना पड़ता है, धर्मक्रिया में तो उनका मन लगना कठिन होता है। यह सोचना गलत है, बेकार पड़े रह कर समय खोने से स्वास्थ्य बनता है और श्रम करने से बिगड़ता है। प्रत्युत सही बात यह है कि परिश्रमी, दीर्घजीवी और निरोग रहते हैं। जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले ही समय और श्रम का महत्त्व जानते हैं।

आज सरकारी दफ्तरों में हर काम को धीमी गति से करने का एक फैशन चल पड़ा है। बाबू लोग इसी फिराक में रहते हैं कि उन्हें कम से कम और अधिक से अधिक दाम मिलें। उनमें राष्ट्रभक्ति तो प्रायः समाप्त हो चली है। बल्कि कम से कम काम करके अधिक दाम के लिए अपनी मांगें पेश करना, हड़ताल, तोड़फोड़, उपद्रव एवं दंगे करना आम बात हो गई है। यह स्थिति न तो व्यक्ति के लिए श्रेयस्कर है और न ही राष्ट्र के लिए।

आमतौर से जितना काम करना पड़ता है, अगर उसे राष्ट्र-भक्ति या समाज

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सेवा समझकर उत्साहपूर्वक व्यवस्था के वातावरण में किया जाए तो वह आज की अपेक्षा आधे समय में पूरा हो सकता हैं। साथ ही उत्साह और मनोयोग के साथ कार्य करने में थकान का अनुभव नहीं होता, बल्कि वह मनोरंजन और आनन्ददायी बन जाता है।

बिहार के एक गाँव में कुछ श्रमिक वर्ग के लोग खाली बैठे हुक्का गुड़-गुड़ा रहे थे और गपशप लगा रहे थे। कुछ विदेशी पर्यटक भूदान-ग्रामदान के कार्य देखने की उत्सुकता से लोकनेता जयप्रकाशनारायण के साथ घूम रहे थे। उन्होंने जब इन श्रमिकों को बेकार बैठे देखा तो कहा—"आप तो कहते हैं भारत बहुत गरीब देश है परन्तु इन लोगों को यों ही बैठे देखते हुए लगता है, भारत सुखी और अमीर देश है।" श्री जयप्रकाशजी ने कहा—ये लोग अपना समय व्यर्थ बर्बाद कर रहे हैं, काम से जी चुराते हैं। काम तो भारत में इतने पड़े हैं कि उन कामों में इन सबको लगा दिया जाए तो भी आदमियों की कमी पड़ेगी।"

हमारे देशवासियों की अकर्मण्यता और व्यर्थ समय बिताने की वृत्ति की विदेशियों पर बहुत बुरी छाप पड़ती है। विदेश में कोई भी व्यक्ति कार्य के दिनों या घंटों में निकम्मा बैठा गपशप नहीं लगाएगा न काम से जी चुराएगा। हमारे देश के लोगों को समय बर्बाद करने के दुष्परिणाम का एक नमूना देखिए—

दिल्ली में गाँधी मार्केट सदर बाजार के दूकानदार श्रीरामलाल स्टेट बैंक की सदर बाजार शाखा में १२०० रुपये जमा कराने गए थे। वे वहाँ काउंटर पर रुपये रखकर किसी अजनबी से गप्पें लड़ाने लगे। उसने अपनी बातों में इतना फंसा लिया कि चुपके से कोई रुपये उठाकर चलता बना।

समय व्यर्थ खोने का कितना भयंकर दण्ड भुगतना पड़ा।

कई लोग बुढ़ापे का बहाना बनाकर काम से जी चुराते हैं। ऐसे लोग कई दुर्व्यसनों में पड़कर अपना अमूल्य समय खोते देखे गए हैं। बुढ़ापे में भी मनुष्य लोकोपयोगी सेवाकार्य या ऐसे हलके-फुलके काम करके समय का उपयोग कर सकता है। संत विनोबा, जयप्रकाशजी, मोरारजी देसाई, आदि इस बुढ़ापे में भी कितना सेवा-कार्य कर रहे हैं। स्व० राजगोपालचारी एवं स्व० नेहरू जी भी बुढ़ापे में भी नौजवानों की तरह उत्साहपूर्वक देशसेवा के कार्य करते थे। संसार के सभी विचारशील लोग, जो जीवन और समय का मूल्य समझते हैं, जवानी-बुढ़ापे का ख्याल किये बिना निरन्तर नियत रूप से कुछ न कुछ उपयोगी कार्य करने में संलग्न रहते हैं।

समय और सामर्थ्य रहते हुए भी जो आलसी बनकर पड़ा रहता है, वह अपने जीवन के कीमती क्षणों को व्यर्थ खो रहा है।

आजीविका-उपार्जन के लिए निर्धारित समय के अतिरिक्त भी हर आदमी के पास काफी समय बचता है। उसे अध्ययन में, अपनी योग्यता बढ़ाने में, व्यवस्था में, सेवा कार्यों में, परमार्थ में या सफाई में, अथवा अन्य सामाजिक उपयोगी कार्यों में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लगाया जा सकता है। एकमात्र आजीविका कमाना ही समय का सदुपयोग नहीं है। अपने में वे अन्य विशेषताएँ भी उत्पन्न करनी चाहिए, जो आपको उच्चकोटि के सत्पुरुषों की श्रेणी में पहुँचा सके। अगले जन्म के लिए श्रेष्ठ संस्कार धारण करके जाने से ही अपने उत्कर्ष की प्रक्रिया आगे चलती रह सकती है। या धर्मकार्यों में, धर्माचरण में अपना शेष समय लगाना चाहिए।

जो लोग यह शिकायत करते हैं कि हमें समय नहीं मिलता, वे समय का सदुपयोग करना जानते नहीं, या जानबूझ कर आलस्य या दुर्व्यसनों में पड़े रहकर अपने समय को व्यर्थ खोते हैं।

महाकवि गेटे (Goethe) कहते हैं—

"We always have time enough, if we will but use it a right."

—हमारे पास पर्याप्त समय होता है, बशर्ते कि हम इसका सही उपयोग करें।

एक बार प्रसिद्ध अंग्रेजी साहित्यकार डॉ० जानसन से एक मित्र ने अपनी परेशानियों का उल्लेख करते हुए कहा—देखिये न, दिन-रात, में कुल मिलाकर २४ घंटे होते हैं। इनमें से ८ घंटे सोने में, ७ घंटे ऑफिस में और बाकी के ८ घंटों में न जाने कितने काम करने पड़ते हैं—खाना-पीना, हजामत बनाना, भेंट-मुलाकात, चिट्ठी पत्री आदि सब काम इन्हीं ८ घंटों में निपटाने पड़ते हैं। मैं तो बेहद परेशान हो उठा! ऑफ इतनी व्यस्त जिंदगी! यहाँ तक कि लाख इच्छा रहने पर भी मैं न किसी धार्मिक चर्चा में शामिल हो पाता हूँ न धर्मग्रन्थों को पढ़ने के लिए ही अवकाश निकाल पाता हूँ।"

डा० जॉनसन क्षणभर मुस्कराये, पर शीघ्र ही चेहरे पर गम्भीरता लाकर बोले—"तब तो मुझे भी भूखों मरना पड़ेगा।" क्यों?" मित्र ने पूछा। डॉ० जॉनसन—"आप जानते ही हैं कि मैं काफी खाने वाला आदमी हूँ। लेकिन दुनिया में अन्न उपजाने के लिए सिर्फ चौथाई जमीन है, उसमें भी न जाने कितने पहाड़, समुद्र, नदियाँ, ऊबड़-खाबड़ स्थल और रेगिस्तान हैं, जबकि संसार में मेरे जैसे पेट भरने वाले करोड़ों हैं।" मित्र बोले—"आप तो व्यर्थ ही परेशान होते हैं। दुनिया में सदा से करोड़ों लोग रहते आए हैं। उनके भोजन का इंतजाम भी होता आया है। फिर आपको किस बात की चिन्ता है?"

"आप ठीक कहते हैं," डॉ० जॉनसन फिर मुस्करा कर बोले—"पर अगर मेरे जीवन का प्रबन्ध हो सकता है तो फिर कोई कारण नहीं है कि आपको धर्मचर्चा में शामिल होने या धर्मग्रन्थ पढ़ने का समय न मिले।" मित्र को निरुत्तर होकर डॉ० जॉनसन की बात माननी पड़ी।

समय के अभाव की शिकायत कितनी थोथी है? यह महात्मागाँधी जी द्वारा दिये गये एक दबंग उत्तर से देखिये—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उन दिनों महात्मागाँधी जी वर्मा में थे। एक बार उन्होंने समय के सदुपयोग तथा शारीरिक-मानसिक विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन ८ घंटे श्रम करना निहायत जरूरी बताया। एक सज्जन को यह बात जची नहीं। वे बीच में खड़े होकर पूछने लगे—बापू! अगर ८ घंटों के बजाय ४ घंटे ही मेहनत के लिए रखे जाएँ तो क्या हर्ज है? आखिर इन्सान को आराम की भी जरूरत है।" बापू ने मुस्करा कर पूछा—"पहले मेरे इस प्रश्न का उत्तर दीजिए कि दिन-रात में कुल मिलाकर २४ घंटे होते हैं न! उनमें से ८ घंटा आप नींद में खर्च करते हैं बल्कि सोने के लिए ६ घंटे ही काफी है। अब २४ घंटों में से आपके पास बचे १८ घंटे जिनमें से मेहनत के लिए आप सिर्फ ४ घंटे ही खर्च करना चाहते हैं, तो बाकी बचते हैं १४ घंटे। इन बचे हुए १४ घंटों का आप क्या उपयोग करेंगे?"

बाकी के समय का सदुपयोग आप को समाज या देश की सेवा या धार्मिक कार्यों में करना ही चाहिए। इस उत्तम मानवतन—मन बुद्धि आदि को पाकर यों ही आलस या विषयभोगों में पड़कर अपने जीवन को समाप्त कर देने में क्या बुद्धिमानी है? परन्तु मूर्खजन तो नहीं समझते सो नहीं समझते, साधारणजन भी इस बात को भलीभांति नहीं समझते। इसीकारण समय न मिलने की उनकी शिकायत रहती है।

परन्तु मूर्खजन और साधारण जन से ऊपर उठे हुए तीसरी कोटि के व्यक्ति सज्जन होते हैं, जो समय का मूल्य जानते हैं, जिन्हें समय से बेहद प्रेम होता है, जिन्हें एक भी क्षण नष्ट करना अत्यन्त दुःखदायी लगता है और जो समय का सदुपयोग करना भलीभांति जानते हैं, वे अपने कार्य समयबद्ध होकर करते हैं, अवसर का ठीक उपयोग करते हैं, बल्कि समय से पहले ही सावधान हो जाते हैं। कोई भी अवसर नहीं चूकते, आज का और अभी का काम कल पर या आगे पर नहीं टालते, युगानुलक्षी देश कालानुसार उचित परिवर्तन भी करते हैं। गौतमकुलक में ऐसे ही समयज्ञ व्यक्तियों के लिए कहा गया है—

"ते साहुणो[1] जे समयं चरंति।"[2]

वे साधु (सज्जन) पुरुष हैं, जो समय को जानते हैं एवं समयानुसार चलते हैं।

ऐसे ही साधुपुरुषों के लिए शास्त्र में **कालण्णू** (कालज्ञ) और **समयण्णू**-समयज्ञ कहा गया है।

---

१ 'साहुणो' का अर्थ साधुचरित पुरुष या सज्जन ही यहाँ उपयुक्त है। इसमें संत मुनियों का भी समावेश हो जाता है और सज्जन गृहस्थ का भी।

२ 'चर धातु गति करने के अर्थ में है, जो गत्यर्थक धातु होता है, वह ज्ञानार्थक भी होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समय का महत्त्व

हीरा मूल्यवान होने पर भी उसकी ठीक कीमत जौहरी ही जानता है, बच्चों के खिलौनों में पड़े हुए हीरे का कोई गौरव और महत्व प्रकट नहीं होता, वहाँ वह काँच के टुकड़े की तरह पड़ा रहता है। मनुष्य का जीवन इतना मूल्यवान होते हुए भी उसकी कद्र समय का पारखी ही करता है। अज्ञानी या साधारण जन इस जीवन का मूल्यांकन नहीं कर पाते हैं। किसीप्रकार दिन काट लेना और सांसे पूरी कर लेना और बात है, एवं जीवन के एक-एक क्षण का, प्रत्येक सांस का पूरा लाभ उठा लेना दूसरी बात है। जिसे अपने जीवन का कोई भी क्षण व्यर्थ नहीं खोना है, जिसे भार की तरह जिन्दगी का बोझ ढोना नहीं है, अपितु जिन्दगी के क्षणों का पूरा-पूरा सदुपयोग करना है, वह समय को धन समझकर उसके एक-एक कण का महत्व और मूल्य समझता है। पाश्चात्य विचारक जे० मेसन (J. Mason) के शब्दों में कहूँ तो—

"As every thread of gold is valuable, so is every moment of time"

जैसे सोने का प्रत्येक धागा मूल्यवान होता है, वैसे ही समय का प्रत्येक क्षण मूल्यवान होता है।

फ्रैंकलीन ने दुनियादार लोगों को चेतावनी देते हुए कहा है—

'Remember that time is money.'

"याद रखो, समय धन है।"

इंग्लैण्ड में किसी व्यक्ति ने किसी से मार्ग पूछा तो उसने बता दिया, परन्तु साथ ही उस व्यक्ति का नाम-पता नोट कर लिया। दूसरे दिन उस व्यक्ति के नाम-पते से रास्ता बताने वाले का जो समय खर्च हुआ उसका बिल पत्र के साथ भेजा। जिसमें लिखा—"आपको रास्ता बताने में हुए समय-व्यय का मूल्य दो पौंड।" उसने एक वकील से परामर्श किया, तो उसने भी परामर्श लेने वाले को अपनी फीस का बिल पकड़ा दिया। ये दोनों बिल उक्त महोदय को चुकाने पड़े। इसीका नाम है—'Time is money' समय धन है।"

मनुष्य जीवन में आते ही मनुष्य को स्थूल सम्पदा चाहे विशेष न मिली हो, पर जो कुछ भी मिला है, वह इतना सक्षम और इतना मूल्यवान है कि उसके माध्यम से संसार की सभी वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। शरीर, बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन और मानव जीवन के अतिरिक्त सबसे अमूल्य अनुदान जो मनुष्य को मिला है, वह है—'**समय**'।

हमारे शास्त्रों में बताया है कि प्रत्येक प्राणी के आयुष्य के क्षण और कण निश्चित रहते हैं। आयुष्य, अर्थात मनुष्य की सांसें गिनी हुई हैं और श्वास-उच्छ्वास का आवागमन निरन्तर चलता रहता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के आयुष्य,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यानी श्वासोच्छ्वास के साथ जीवन की अन्य चीजें बंधी हुई हैं। धन-सम्पत्ति या सुखसामग्री आदि तो बाद की चीजें हैं, मनुष्य का शरीर, इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन आदि जो निकट की चीजें हैं, वे भी मनुष्य के श्वासोच्छ्वास के चलने पर ही हैं, श्वासोच्छ्वास के समाप्त हो जाने के साथ इन पर से भी स्वामित्व समाप्त हो जाता है, शरीर आदि का तो अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। एक श्वास के आने-जाने के साथ ही मनुष्य जीवन की अमूल्यनिधि के रूप में एक इकाई कम हो गई। मनुष्य जिस दिन से माता के गर्भ में आता है, उसी दिन से वह मृत्यु की ओर क्रमशः जाता है। नीतिकार भी यही कहते हैं--

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति,
गर्भं निवासी नरवीर लोकः।
ततः प्रभृत्यस्खलित प्रयाणो,
स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति॥

जिस पहली रात्रि को मनुष्य इस लोक में माता के गर्भ में आकर निवास करता है, तभी से वह प्रतिदिन अबाधरूप से सतत गति करता हुआ मृत्यु के निकट पहुँचता रहता है।

इसका मतलब है, मनुष्य का आवीचि (द्रव्य) मरण तो श्वास लेने और छोड़ने के साथ होता रहता है, वह क्रमशः मरता जाता है। जीवन की सम्पदा का एक-एक कण, एक-एक क्षण के साथ समाप्त होता चला जाता है। बूँद-बूँद पानी टपकाते रहने से भरा-पूरा, किन्तु सूराक वाला घड़ा कुछ ही समय में खाली हो जाता है। जीवन की अमूल्य आयुसम्पदा हर सांस के साथ घटती चलती जाती है। क्रमशः हमारा कदम मरण की ओर ही उठता है। आयुवृद्धि के साथ मरण का दिन निकट से निकटतर आता चला जाता है। जीवन की सूक्ष्म सत्ता समय के रूप में अभिव्यक्त होती है। अतः यह मनुष्य पर निर्भर है कि वह समय का किसप्रकार और किस प्रयोजन के लिए उपयोग करता है।

सज्जन पुरुष समय का महत्व और मूल्य समझता है। वह समग्र जागरूकता के साथ समय के सदुपयोग के लिए तत्पर रहता है। समय पर काम करने वाले समय विवेकी सज्जन की सारी शक्तियाँ उपयोग में आने पर भी अक्षय बनी रहती हैं। समय पर काम करने का अभ्यास एक सजग प्रहरी की तरह ही होता है, जो किसी भी परिस्थिति में उसको अपने कर्तव्य से विमुख या विस्मृत नहीं होने देता। समय आते ही सिद्ध किया हुआ अभ्यास उसे निश्चित कार्य की याद दिला देता है। और प्रेरणापूर्वक उसमें लगा भी देता है। समय आते ही उक्त कार्य-योग्य शक्तियों में जागरण एवं सक्रियता आ जाती है, जिससे मनुष्य निरालस्य रूप से अपने काम में लग कर उसे निर्धारित समय में ही पूरा कर लेता है। कार्यों एवं कर्तव्यों की पूर्णता ही जीवन की पूर्णता है, पूर्णता के साथ जीवनयापन करना है। वह पूर्णता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समयानुसारिता के बिना नियमित, व्यवस्थित एवं संयमित रूप से प्राप्त नहीं हो सकती।

महात्मा गाँधीजी समय की कीमत एवं महत्ता जानते थे। वे अपने साथ समय का सदुपयोग करने हेतु सदा एक जेबघड़ी रखा करते थे। जेबघड़ी रखने का उद्देश्य यही नहीं था कि उन्हें समय का ज्ञान होता रहे, बल्कि यह भी था कि वे स्वयं समयबद्ध अपना प्रत्येक कार्य कर सकें, तथा जो लोग उनसे मिलने आएँ वे भी निर्धारित समय से एक मिनट भी अधिक न ले सकें। सुप्रसिद्ध अमेरीकन पत्रकार लुई फिशर जब गाँधीजी से मिलने आए, उस समय वार्तालाप का निर्धारित समय बीत जाने पर गाँधीजी ने उन्हें अपनी घड़ी दिखाई कि बातचीत का समय समाप्त हो चुका है। फिशर ने अपनी पुस्तक में एक पत्रकार की हैसियत से लिखा है कि 'सेवा ग्राम ही एक ऐसी जगह थी, जहाँ उन्हें घड़ी दिखलाकर यह संकेत कर दिया गया था कि मुलाकात का समय बीत चुका है।'

समय को एक पाश्चात्य विचारक ने सोने की तितली बताया है—

'Time is chrysalis of eternity'

अर्थात्—समय अनन्तकाल की एक स्वर्णिम तितली है। समय को खोना अमूल्य जीवन को खोना है, यह बात सज्जन पुरुष भली-भाँति जानते हैं। इसलिए वे समय की कभी उपेक्षा नहीं करते। भगवान महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में समय का महत्व और मूल्य बताने के लिए ही गणधर गौतम को सम्बोधित करते हुए एक ही वाक्य को कई बार दोहराया है—

समयं गोयम ! मा पमायए।

हे गौतम ! क्षणमात्र का भी प्रमाद मत कर।

भगवान महावीर का यह उपदेश संसार के समस्त साधकों के लिए है, जगत् के समस्त सज्जनों के लिए है कि वे जीवन के एक क्षण को भी प्रमाद में न खोएँ। प्रमाद जीवन का मरण है। द्रव्यमरण तो होता रहता है, मगर प्रमाद आदि के वश में होकर मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, अशुभवृत्ति-प्रवृत्तियों में समय को खोना भावमरण है। द्रव्यमरण की अपेक्षा भावमरण अधिक भयंकर है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है—

"क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे का अहो राची रहो ?"

समय पालन : जागृत जीवन की कुन्जी

ऐसा साधक समय का एक कण भर समय भी व्यर्थ खोता नहीं। एक कवि मारवाड़ी भाषा में कहता है—

धन उण साधक ने, जो पलपल सफल बणावे रे।
जो पग-पग जागृति लावे रे ॥धन०॥
सांस-सांस में सावधान बण, जोगी अलख जगावे रे ॥ध्रुव॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गति में मति में कृति में स्मृति में, धृति धर बोहिज ध्यावे रे।
जन में, वन में रजनी दिन में, तत्पर तान लगावे रे ॥१॥
नहीं जगत् ने देखे, लेखे खुदरो समय लगावे रे।
तज पररी चिन्ता, घररा ही गीत मस्त बण गावे रे ॥२॥

वास्तव में समय अमूल्य है। जिसने समय को बिना सोचे-समझे खर्च कर दिया, वह जीवन की पूंजी भी यों ही गंवा देता है। यह पूंजी अपने-आप खर्च हो जाती है। आप कृपण बनकर समय को सोनेचाँदी के सिक्कों की तरह जोड़ कर रख नहीं सकते। यह गतिमान है। आप अपनी अन्य सम्पदाओं की तरह उस पर अधिकार नहीं जमा सकते। आपका उस पर स्वामित्व यहीं तक है कि आप उसका स्वयं सदुपयोग कर लें। जो सज्जन होते हैं वे ही अपनी इस प्राकृतिक धरोहर का समुचित उपयोग करते हैं। वे नियमित रूप से समय पर सब काम करते हैं। इस लिए उनका काम भी व्यवस्थित ढंग से अच्छी तरह समाप्त हो जाता है, इससे उन्हें उत्साह भी मिलता है, प्रसन्नता भी होती है। इसलिए विचारशील व्यक्ति सदैव समय का पालन करते हैं।

समय निर्धारित कर लेने के बाद भी नियत समय पर कार्य न करने और बाद में उस काम को हाथ में लेने से वह काम तो कदाचित् हो जाता है पर उसमें कोई उत्साह नहीं रहता। काम पूरा न होने की हालत में असन्तोष और अप्रसन्नता भी होती है। जो लोग समय के पाबन्द नहीं होते उनके आधे काम अधूरे रहते हैं और हमेशा काम की धमाचौकड़ी मची रहती है।

पहली बार नियत कर लेने के बाद उसी समय वह कार्य सम्पन्न करने से कार्य में जो उत्साह होता है, उससे काम बड़ी कुशलता के साथ सम्पन्न होता है। उसका शरीर भी किसी काम करने के ठीक समय पर उसी काम के योग्य यंत्र-सा बन जाता है। और अगर उस समय में दूसरा काम लिया जाता है तो वह काम लकड़ी काटने वाली मशीन से कपड़े काटने जैसा हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि न उस काम को दक्षतापूर्वक किया जा सकता है और न ही चालू काम में भलीभाँति मन लगता है। फलस्वरूप समय तो नष्ट होता ही है, अपनी शक्तियों का भी क्षय होने लगता है। इसलिए विचारवान् व्यक्ति जीवन के एक-एकक्षण को उपयोगी समझ कर सदैव समयबद्ध होकर काम करते हैं। समय का पालन करना वे चरित्र-निर्माण का एक महत्वपूर्ण अंग समझते हैं।

अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जार्जवाशिंगटन समय के बड़े पाबन्द थे। एक-बार उन्होंने कुछ मेहमानों को तीन बजे भोजन के लिए आमंत्रित किया। साढ़े तीन बजे उन्हें सैनिक कमाण्डरों की आवश्यक मीटिंग में भाग लेना था।

उनका नौकर जानता था कि साहब समय की नियमितता को दृढ़ता से निभाते हैं। अतः ठीक ३ बजे भोजन की मेज तैयार करके उसने सूचना दी—"साहब! तीन बज गए हैं। मेहमान अभी तक नहीं आए।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सहसा वाशिंगटन के मस्तिष्क में एक विचार आया—"मेहमानों की प्रतीक्षा न की गई तो वे नाराज हो जाएँगे। तो फिर क्या मीटिंग स्थगित की जाए! नहीं-नहीं, यह समय सारे राष्ट्र के जीवन से सम्बन्धित है। क्या अपनी सुविधा के लिए राष्ट्र-का अहित किया जाये? क्या दो-तीन व्यक्तियों की प्रसन्नता के लिए राष्ट्रहित का उत्सर्ग करना बुद्धिमानी होगी?" उनके हृदय ने दृढ़तापूर्वक कहा—"नहीं, नहीं, जब प्रकृति अपने नियम से एक सैकण्ड भी आगे-पीछे नहीं होती। जिस दिन, जितने बजे, सूर्य को निकलना होता है, उस दिन, उतने ही बजे बिना किसी की परवाह किये सूर्य ऊग जाता है, तो क्या मुझे ईश्वरीय आदेश का पालन करने में भय या संकोच क्यों होना चाहिए?" नौकर को सम्बोधित कर उन्होंने कहा—ठीक है। शेष प्लेटें उठालो हम अकेले ही भोजन करेंगे। मेहमानों की प्रतीक्षा नहीं करनी है।"

आधा भोजन समाप्त हो गया, तब मेहमान पहुँचे। उन्हें देर से आने का बहुत दुःख भी हुआ, कुछ अप्रसन्नता भी हुई। वे भोजन में बैठे, तब तक वाशिंगटन ने अपना भोजन समाप्त किया और निश्चित समय पर वे मीटिंग में भाग लेने विदा भी हो गए।

मेहमान इसी बात पर रुष्ट थे कि उनकी १५ मिनट प्रतीक्षा नहीं की गई, अब उन्हें और भी कष्ट हुआ। कि मेजबान अपना भोजन समाप्त करके चले भी गए अतः किसी तरह भोजन करके मेहमान भी अपने घर लौट गए।

सैनिक कमाण्डरों की बैठक में पहुँचने पर वाशिंगटन को पता चला कि यदि वे समय पर नहीं पहुँचते तो अमेरिका के एक भाग में भयंकर विद्रोह हो जाता। समय पर पहुँच जाने के कारण स्थिति संभाल ली गई और एक बहुत बड़ी जन-धन की होने वाली हानि को बचा लिया गया।

इस बात का पता कुछ समय बाद जब उन मेहमानों को चला तो उन्होंने भी अनुभव किया कि प्रत्येक कार्य निश्चित समय पर न करने से या उसमें आलस्य-प्रमाद या ढील कर देने से कितनी भयंकर परेशानियाँ आ सकती हैं। इसके विपरीत समय पर काम करने से जीवन सुचारु-रूप से चल सकता है। अतः समय की नियमितता का अतीव महत्व है।

वे मेहमान फिर से राष्ट्रपति के यहाँ गये और उनसे उस दिन हुई भूल के लिए क्षमा मांगी। राष्ट्रपति वाशिंगटन ने कहा—इसमें क्षमा की कोई बात नहीं है, पर हाँ, जिन्हें अपने जीवन की व्यवस्था, परिवार, समाज और देश की उन्नति का ध्यान हो, उन्हें समय का पालन कड़ाई से करना चाहिए।"

पिटमैन (Pitman) ने समयबद्ध जीवन को व्यवस्थित दिमाग कहा है—

"Well arranged time is the surest mark of a well arranged mind."

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अच्छी तरह समय व्यवस्थित करना निश्चय ही भलीभांति व्यवस्थित दिमाग की निशानी है।'

वस्तुतः समयपालन व्यवस्थित जीवन की कुंजी है।

उच्च साधक के लिए समय-पालन जरूरी

उच्च साधकों को अपना प्रत्येक कार्य निश्चित समय पर करना चाहिए। इसीलिए भगवान महावीर ने समय-पालन पर बहुत जोर देकर कहा है—

"काले कालं समायरे"

साधु को प्रत्येक कार्य उसके निश्चित समय पर करना चाहिए। अकाल में कोई भी कार्य करना अच्छा नहीं होता। अकाल में स्वाध्याय, अकाल में प्रतिलेखन, अकाल में प्रतिक्रमण, अकाल में आहार-पानी और अकाल में व्याख्यान या विहार आदि करना अनिष्ट कर होता है, उससे जीवन अस्वाभाविक और अस्वस्थ बन जाता है। अगर कोई साधु रात्रि को सबके सोने पर व्याख्यान देना चाहे या व्यावसायिक लोगों के कार्य के समय में व्याख्यान देना चाहे तो रुचिकर नहीं होता।

एक साधु रात्रि को स्वाध्यायकाल को छोड़कर शास्त्रस्वाध्याय कर रहा था। एक देव ने यह देखा तो उन्हें सावधान करने का विचार किया। उसने एक गूजर का वेष बनाया और आधीरात को सिर पर मट्ठे की मटकी रखकर जहाँ वह साधु स्वाध्याय कर रहा था, वहाँ आकर जोर-जोर से चिल्लाने लगा—"मट्ठा लो, कोई मट्ठा लो।"

साधु ने उसे इस प्रकार चिल्लाते देख कहा—यह कोई मट्ठा बेचने का समय हैं। इस समय तो सभी लोग सो गए हैं, तुम्हारा मट्ठा कौन लेगा?" देव ने सुन्दर अवसर समझकर कहा—"यह कोई स्वाध्याय करने का समय है? आप अकाल में स्वाध्याय कर रहे हैं। अपनी ओर तो देखिये।" साधु बुद्धिमान था। तुरन्त इस संकेत को समझकर उसने स्वाध्याय करना बन्द कर दिया।

हाँ तो, साधुजीवन की जितनी भी चर्याएँ हैं, सभी के लिए समय नियत है या नियत किया जा सकता है। नियत समय पर ही साधु को अपनी चर्या करने का श्रमण भगवान् महावीर ने आदेश दिया है। ताकि उसका जीवन व्यवस्थित ढंग से उत्साह पूर्वक संयमनिष्ठ रहे।

महान् बनने का उपाय : समय-पालन

संसार में जितने भी महान् पुरुष बने हैं, चाहे वे आध्यात्मिक क्षेत्र में रहे हों, चाहे सामाजिक या राजनैतिक क्षेत्र में, सबने समय का कडाई से पालन किया है। समय पर उचित कार्यकरने और व्यर्थ समय न खोने की सावधानी ने उन्हें महान् पद पर पहुँचाया है। महान् बनने की कुंजी समय-सम्पदा का अपव्यय करते हुए उसका सदुपयोग करना है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नेपोलियन बोनापार्ट इसलिए महान् बना कि वह समय का बड़ा पाबन्द था। एक बार उसने अपने प्रधान सेनापति को अपने यहाँ भोजन का निमंत्रण दिया। सेनापति के पहुँचने में देर हो गई। अतः जब वह पहुँचा तो नेपोलियन अपना भोजन लगभग समाप्त कर चुका था। उठकर हाथ-मुंह धोने के पश्चात् नेपोलियन ने उससे कहा—सेनापतिजी! भोजन का समय तो बीत गया, अब आइए अपना काम शुरू करें।" सेनापति को देर से आने का दण्ड भोगना पड़ा।

राष्ट्रपति जार्जवाशिंगटन भी समय का बहुत कड़ाई से पालन करते थे। एक बार उनके सेक्रेटरी ने विलम्ब से आने के लिए क्षमा मांगते हुए कहा कि उसकी घड़ी लेट चलने लगी थी। वाशिंगटन ने तुरन्त आदेश सुनाया—"महाशय! या तो आप दूसरी घड़ी ले लीजिए, या फिर मुझे दूसरा सेक्रेटरी रखना पड़ेगा।"

वास्तव में थोमसपेन का यह वाक्य बहुत ही उपयुक्त है कि 'समय की कसौटी पर ही मनुष्य की आत्मा की परीक्षा होती है।"

समय-सम्पदा खोने वालों की हालत

बहुत से लोग देवी वरदान जैसे अमूल्य समय को पाकर उसके आधार पर बहुत-सी उपलब्धियाँ और शक्तियाँ प्राप्त करने के बदले उसे पाप और अधर्म में, गप्पों में, व्यसनों में आलस्य में खोते चले जाते हैं। वे टूटते, मिटते और गलते व जलते हुए समय को देख नहीं पाते, न देखने की इच्छा होती है, न ही उनका ध्यान होता है। इस प्रकार समय के प्रति अन्यमनस्क रहने वाले या उपेक्षा बरतने वाले व्यक्ति अपनी क्रमिक भावमृत्यु-असामयिक मृत्यु करते चले जाते हैं। यह एक प्रकार की आत्महत्या (अपने अन्य गुणों की हत्या) करना है। इसप्रकार समय की असामयिक मृत्यु की भयंकरता तथाकथित भूतप्रेतों से कम नहीं।

प्रकृति ने किसी को गरीब या अमीर नहीं बनाया। उसने तो मुक्तहस्त से सबको अपना अमूल्य वैभव लुटाया है। श्रम सामर्थ्य एवं समय का अनुदान इन दो अस्त्रों से सुसज्जित करके सभी मनुष्यों को प्रकृति माता ने जीवन के समरांगण में भेजा है—विजयश्री प्राप्त करने के लिए। लेकिन मनुष्य जब प्रकृतिप्रदत्त इस अमूल्य समय धन का लाभ नहीं उठा पाते और समय को यों ही खोकर घाटे में रहते हैं। जो बहुमूल्य समयरत्नों और मोतियों को फटी थैली में भरकर चलते हैं, रास्ते में उन्हें टपकाते जाते हैं घर पहुँचते-पहुँचते उस निधि को गंवाकर खाली हाथ रह जाते हैं, इसी प्रकार समय की उपेक्षा करने वाले अपनी समस्त निधि दूसरे लोक पहुँचते-पहुँचते खो बैठते हैं। ऐसे लोग अपने जीवन के साथ क्रूर खिलवाड़ करते हैं, अपने भविष्य के साथ वे एक मर्मभेदी मजाक करते हैं। वे लोग समय-सम्पदा को खोते चले जाते हैं। उसके परिणामस्वरूप उनका व्यक्तित्व दीन-हीन, दयनीय हो जाता है। फिर वे गरीबी का, अशिक्षा का, अज्ञान का या अयोग्यता एवं अक्षमता का रोना रोते रहते हैं, अपने जीवन में वे विभिन्न अभावों की शिकायत करते हैं। कोई

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धन के अभाव में दुःखी है तो कोई विद्या-ज्ञान के अभाव में चिन्तित है, परन्तु समझ में नहीं आता कि जब इनके पास समय की बहुत बड़ी शक्ति और उपलब्धि थी, तब ये कहाँ गए थे, क्या कर रहे थे ? इतने लम्बे समय में तो ये सब कुछ उपार्जित कर सकते थे ! विश्व की सम्पदा या विश्व का ज्ञान भण्डार तो समयनिधि के स्वामी मनुष्य की बाट जोह रहा है, लेकिन मूढ़ मानव अपने पास समयनिधि होते हुए भी न पाने की शिकायत करता है ! समय का इतना भण्डार उसके पास होते हुए भी वह धन, ज्ञान, लोकहित आदि की उपलब्धि नहीं कर सकता, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है।

फ्रैंकलिन ने ठीक ही कहा है—समय वह जड़ी है, जो तमाम रोगों का इलाज कर देती हैं" समय व्यर्थ नष्ट करने वालों की जितनी भी शिकायतें हैं या रोग हैं, उन सबको समय, एकमात्र समय की जड़ी का ठीक तरह से उपयोग, मिटा सकता है। यदि वे अपने समय को उपयोगी कार्यों में लगाते हैं, और व्यर्थ नष्ट नहीं होने देते तो समय अपने आप अपनी शक्तियाँ, उपलब्धियाँ और निधियाँ उन मानवों को अर्पित कर देता है।

परन्तु जो लोग समय के इस संकेत को न समझकर उसकी उपेक्षा करके व्यर्थ समय खो देते हैं, अपने प्राप्त समय को उपयोगी कार्य में नहीं लगाते उनका वह क्षण बीतकर भूत में परिवर्तित हो जाता है, बल्कि उनका सारा वर्तमान भूत में बदलता जाता है; फिर भी उन मोहावृत लोगों को मालूम नहीं पड़ता कि हमारे हाथ से कितनी बहुमूल्य सम्पदा खो गई। पास से पैसा खर्च होता हैं या गिर जाता है तो मालूम भी होता है, पश्चाताप भी महसूस होता है, लेकिन समय-सम्पदा जब ऐसे लोगों के जीवनरूपी पर्स से गिर जाती है, या खर्च हो जाती है तो पता भी नहीं चलता, न कोई रंज-गम होता है। परन्तु याद रखिये, वर्तमान में खोया हुआ समय भूत में बदलकर अवश्य ही अनेक भयावह दुष्परिणाम लाने वाला सिद्ध होता है। मरते समय तक जो अपने समय को पाप या अधर्म के कार्यों में या आलस्य, निद्रा, दुर्व्यसन, कलह, गपशप आदि व्यर्थ के कामों में खर्च कर देते हैं, उन्हें मृत्यु की घड़ियों में पश्चाताप होता है कि वे अपने जीवन में कोई भी सत्कार्य, धर्माचरण या दान आदि नहीं कर सके।

एक धनाढ्य व्यक्ति थे। उनके गाँव में एक सार्वजनिक संस्था का निर्माण हो रहा था। वे प्रतिदिन उसके पास गुजरते हुए उस संस्था के भवन निर्माण के काम को देखा करते थे। उनके मन में बार-बार विचार उठता था कि मैं इस संस्था को दान दूँ, किन्तु घर जाते ही उनका यह विचार छूमन्तर हो जाता। वे यह हिसाब लगाने लगते कि इस संस्था को दान से मेरी पूँजी में इतनी कमी हो जाएगी, फिर मेरे लिए इस दान से मेरी पूँजी में इतनी कमी हो जायेगी, फिर मेरे लिए इस संस्था को दान देना आवश्यक थोड़े ही है। सरकारी टेक्स तो देना पड़ता है, इस संस्था को देना नहीं पड़ रहा है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार वे जब संस्था के मकान के पास आते, तब दान देने के शुभभाव आते, लेकिन घर जाते ही वह शुभविचार बदल जाता। एक समय में उठा हुआ शुभ विचार दूसरे समय में अशुभ में बदल जाता। समय बीतता चला गया। एक-एक दिन करते हुए छह महीने हो गये, वे दान के अपने शुभविचारों को कार्यान्वित न कर सके। एक दिन सहसा उनकी हृदयगति बन्द हो गई और वे इस संसार से चले गए।

बन्धुओं ! मैं आप से पूछता हूँ समय पर सत्कार्य न करने से, शुभभावों को तुरन्त कार्यान्वित न करने से उक्त धनिक को कितनी हानि उठानी पड़ी ! वह अपने इस जीवन में सुखशान्ति नहीं पा सका। आगामी जीवन में क्या उसे अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ खोने और धर्मकार्य न करने का दुष्फल भोगना नहीं पड़ेगा ?

समय नष्ट करने की भयानक आदत

बहुत से लोग कहा करते हैं, हमारे पास समय ही इतना कहाँ है कि हम नष्ट करें या धर्मकार्य के लिए बचाएँ ? परन्तु उन लोगों को यह भान ही नहीं रहता कि हमारा समय कैसे सरपट दौड़ा चला जा रहा है। आप अगर समय को अच्छे काम में नहीं लगाएंगे और व्यर्थ ही सोये या निठल्ले बैठे रहेंगे तो भी वह व्यतीत (नष्ट) तो होगा ही, खूबी तो यह है कि समय का क्रमबद्ध उपयोग करें और यह सोचें कि कितना समय मेरा किस कार्य में लग रहा है ? बचे हुए समय का मैं किस प्रकार से उपयोग करता हूँ। अगर वह अपने परिवार, समाज और देश आदि के प्रति कर्तव्यपालन में समय लगाता है, या शेष समय का उपयोग धर्माचरण में करता है, तब तो ठीक, परन्तु अगर ऐसा नहीं करता है तो समय को व्यर्थ नष्ट करने वाला वह व्यक्ति अपने प्रति परिवार, समाज और राष्ट्र आदि के प्रति द्रोह करता है, अपराध करता है, अपने जीवन को बिगाड़ने का। इसीलिए पेरिक्लीज ने एक दफा कहा था—"समय ही सबसे योग्य शिक्षक है।"

समय इसलिए शिक्षक है कि वह मनुष्य को अपने मूक संकेत द्वारा जीवन-निर्माण की शिक्षा देता है।

इस समय तो लोग चौबीसों घन्टे व्यस्त रहते हैं। जिस किसी से धर्माचरण या सत्कार्य के लिए समय निकालने का कह कर देखिए, वह यही कहता सुनाई देगा—'समय नहीं है।" वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य की जिस काम में रुचि नहीं होती, उस काम को टालने के लिए वह समय न मिलने का बहाना बनाता है। इसका मतलब है—धर्मकार्यों या शुभकार्यों को करने के लिए मनुष्य के पास समय नहीं है। क्या सचमुच वर्तमान मनुष्य के पास समय नहीं रह गया है ?

इस ज्वलन्त प्रश्न पर जरा विचार कर लें—दिनरात में 24 घण्टे होते हैं। एक वयस्क को सोने के लिए 6-7 घन्टे काफी हैं। 8 घन्टे कार्यालय, फैक्टरी, व्यवसाय या नौकरी के लिए रख लीजिए। शेष बचे 9-10 घण्टे। प्रातः एक घन्टे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का समय शौच, भोजन, स्नानादि के लिए रख लें। एक घन्टे सायंकाल विविध कार्यों के लिए रख लें। इस प्रकार लगभग ८ घन्टे नित्य बचते हैं। इनमें से दो घन्टे मनोरंजन तथा मार्ग में आने जाने का समय निकाल दें तो भी ६ घन्टे दैनिक एक व्यक्ति के पास बचते हैं। रविवार या अन्य दिनों की छुट्टियाँ इससे अलग हैं। अपने आवश्यक कार्यों के लिए उदारता से समय देने पर भी मनुष्य के पास प्रतिदिन ६ घन्टे बचते हैं। अगर मनुष्य इन दैनिक ६ घन्टों का कोई अच्छा उपयोग नहीं करता है तो वर्ष में वह २१९० घन्टे यानी ३ महीने ६ घन्टे व्यर्थ बरबाद कर देता है।

जीवन में धर्माचरण न करने या सत्कार्य न करने वाला मनुष्य कितना समय बरबाद कर देता है, इसका आप सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। इसका अर्थ है, समय का ठीक उपयोग न करनेवाले अपनी जिन्दगी का चौथाई समय व्यर्थ कामों में खर्च कर देते हैं जो जीवन की अमूल्य निधि है। अतः यह शिकायत व्यर्थ है कि मेरे पास समय नहीं हैं।

बम्बई में एक प्रसिद्ध साधु का चातुर्मास था। एक धनिक समाज में अग्रगण्य माने जाते थे, उन्हें जब सूचित किया गया कि अमुक सन्त पधारे हैं, आप भी धर्मोपदेश श्रवण आदि का लाभ लें।" इस पर उन्होंने धन के नशे में आकर तपाक से कह दिया—"No Time" मेरे पास समय नहीं है।'

किन्तु दूसरी बार जब वे ही सन्त बम्बई पधारे तो वे ही समय नहीं हैं कहने वाले धनिक अग्रगण्य अब सबसे आगे की लाइन में प्रवचन श्रवण करने सामायिक लेकर बैठते थे। अब समय कहाँ से मिलने लगा? अब उनके धन की गर्मी निकल चुकी थी। धन का नशा भी उतर चुका था। अब उनकी स्थिति सामान्य हो चुकी थी। इसलिए धर्म-कर्म में भी रुचि होने लगी।

वास्तव में, जो मनुष्य समय प्राप्त होने पर उसका ठीक से उपयोग नहीं करता, या व्यर्थ नष्ट कर देता है, वह समय की आशातना करता है। शास्त्र में साधक के लिए **'कालस्स आसायणाए'** यानी काल (समय) की आशातना का प्रतिक्रमण आवश्यक बताया है। क्या आप कभी सोचते हैं कि हमने आज का दिन कैसे बिताया है? भगवान महावीर ने समस्त मनुष्यों को समय के सदुपयोग-दुरुपयोग का परिणाम बताते हुए कहा है—

जा-जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राईओ॥
जा-जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जन्ति राईओ॥"

जो-जो रात्रि व्यतीत हो जाती है, वह लौट कर नहीं आती, जो लोग उन दिनों में अधर्म करते हैं उनकी वे रात्रियाँ निष्फल गई समझनी चाहिए। इसके विपरीत जो व्यक्ति उन रात्रियों में धर्माचरण करता है उसकी वे रात्रियाँ सफल हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाती हैं। कितना अनुभव युक्त सुन्दर सत्य-तथ्य आपके सामने प्रस्तुत किया गया है, परन्तु समय होते हुए भी मनुष्य बहाने बनाकर अपने दिन अधर्म-कार्यों में व्यतीत करते रहते हैं।

बुढ़ापे के भरोसे बहुत-सा समय खो देते हैं

बहुत-से लोग इस मिथ्याविचार से जवानी या प्रौढ़ अवस्था तक समय को जैसे-तैसे लापरवाही से बिता कर नष्ट करते रहते हैं, कि बुढ़ापे में जा कर समय का ठीक उपयोग—धर्माराधना में उपयोग कर लेंगे, परन्तु मनुष्य की जिन्दगी का क्या भरोसा है! बुढ़ापा आएगा या नहीं? यह किसे पता है! फिर बुढ़ापा आ भी गया तो समय के सदुपयोग का अभ्यास न होने से वे कैसे समय को धर्माराधना में बिता सकेंगे? मनुष्य को बचपन में इतनी बुद्धि और समझ नहीं होती कि समय का मूल्य समझ लें। वह खेल-कूद, मित्रों व भाई-बहनों के झुण्ड के साथ मटरगश्ती करता हुआ यों ही इस सम्पदा को लुटाता चलता है। एक दिन यौवन आ खड़ा होता है। यौवन बहुमूल्य वरदान के रूप में मिलता है। इस अवस्था में समय का ठीक उपयोग करने की क्षमता प्राप्त होती है। जब तक कोई बीमारी आकर न घेर ले इन्द्रियाँ क्षीण न हो जाएँ शरीर स्वस्थ हो, तन-मन से बुढ़ापा न आ जाय, तब तक मनुष्य समय को धर्माचरण में बिता कर सफल व सार्थक कर सकता है। किन्तु यौवन के मद में पागल मनुष्य समय का ठीक उपयोग नहीं करता। समय को निर्दयता से खर्च करने पर जब बुढ़ापा कमजोर टांगों एवं धुँधली आँखों से उसका स्वागत करता है, तब वह चौंक पड़ता है, निराश हो जाता है। तब वह निराश होकर कह बैठता है—जवानी में कुछ नहीं कर पाया तो अब बुढ़ापे में भला क्या सत्कार्य कर सकूँगा? परन्तु उसे उस सफल व्यापारी की तरह घाटे से निराश नहीं होकर धैर्य और बुद्धिमता से अपने उखड़े पांव पुनः जमा लेना है। दो तिहाई जीवन बीत गया तो क्या हुआ, एक तिहाई तो बचा हुआ है, उसमें भी बहुत कुछ किया जा सकता है।

एक निःस्पृह सन्त एक बार बीमार पड़ गए तो एक सेठ ने उनकी बहुत सेवा की। वे स्वस्थ हो गए। सन्त ने सोचा—"सेठ को अपने जीवन के कीमती समय को सार्थक करने के लिए कुछ उपदेश देना चाहिए।" एक दिन दोपहर को सन्त उक्त सेठ के यहाँ पहुँचे। सेठ ने सन्त को आए देख समझा—"धर्मोपदेश देने आए होंगे, और तो इनके पास क्या है?" सेठ बोला—"महाराज-श्री! आप पधारे हैं, बड़ी कृपा की, किन्तु अभी तो मुझे फुरसत नहीं है। काम में उलझा हुआ हूँ। आप एक महीने बाद पधारिए।" सन्त एक महीने बाद पधारे तो फिर सेठ उन्हें टरकाने के उद्देश्य से बोला—"गुरुदेव! अभी एक सप्ताह का काम और है, आप एक सप्ताह बाद पधारिए।" सन्त धुन के पक्के थे। वे एक सप्ताह बाद फिर सेठ को जागृत करने पधारे तो सिर खुजलाते हुए उसने कहा—"गुरुदेव! आप तो अत्यन्त कष्ट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करके पधारे हैं, लेकिन आज तो मुझे समय नहीं है, कई आवश्यक काम निपटाने हैं। आप आगामी रविवार को पधारिए।" सन्त ने सिर हिलाते हुए कहा—"सेठ! अगले रविवार को तो तुम इस दुनिया में नहीं रहोगे।" सेठ—"नहीं महाराज! ऐसी क्या बात है? अभी तो मैं हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ बैठा हूँ। मेरा अभी तो कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। आप कृपा करके रविवार को ही पधारिए। "उससे पहले तो मुझे समय नहीं मिलेगा।" सन्त चले गए। सेठ को गुरुवार को ही जोर का बुखार आया। मरण शय्या पर पड़ा-पड़ा छटपटाने लगा। चिकित्सकों का ताँता लग गया, परन्तु उनके इलाज से कोई फायदा नहीं हुआ। काफी धन खर्च किया गया, पर सब व्यर्थ। सन्त शुक्रवार को ही उसके यहाँ पहुँचे। महाराज श्री को देखते ही सेठ की आँखों से श्रद्धा भरे आंसू उमड़ पड़े। उनके वचन पर प्रतीति हुई।

सेठ पश्चातापयुक्त वाणी में बोले—"गुरुदेव! आपकी बात सत्य निकली। मैंने आपकी बात न मानी। अब तो मैं असाध्य बीमारी में पड़ा हूँ। मैंने जिन्दगी का बहुत सा समय व्यर्थ खो दिया, अब क्या हो सकता है?" "संत ने कहा—सेठ! घबराओ मत! जो समय खो दिया, वह तो अब आ नहीं सकता। अब तो तेरे पास दो दिन का समय है। इन दो दिनों में भी तू चाहे तो अपने अन्तिम जीवन को सुधार सकता है" सेठ ने कहा—"आप जो भी मेरे योग्य बताएँगे, वैसे ही त्याग, नियम लेकर अपने अन्तिम समय को सार्थक करूँगा। "संत ने कहा—"देख आज शुक्रवार है, कल शनिवार को ४ बजे तू इस लोक से विदा होने वाला है। उससे पहले सभी से क्षमा मांग ले। कुटुम्ब-कबीले पर मोह-ममता छोड़ दे। जो भी त्याग, प्रत्याख्यान नियम, दान करना हो, कर ले। धन से भी ममता छोड़ दो। बस इतनी-सी बातें कर लेगा तो तू अपना बेड़ा पार कर लेगा।" सेठ ने संत के कहे अनुसार सब कुछ करके अन्तिम समय में हँसते-हँसते प्राण छोड़े।"

अवसर चूकने के बाद

वास्तव में, मनुष्य को 'समय नहीं हैं का बहाना छोड़कर अपनी दिनचर्या में से अमुक समय निकाल ही लेना चाहिए धर्माचरण के लिए। उसे अन्तिम समय में या बुढ़ापे में समय को, धर्माचरण में सार्थक करने की बात पर भरोसा नहीं रखना चाहिए और 'जब से जागे तभी से सबेरा' की कहावत के अनुसार अपना समय का सदुपयोग करने का अभ्यास करते रहना चाहिए। इसीलिए अवसर को चूकना नहीं चाहिए। जो अवसर इस समय है, वह लाख मेहनत करने पर भी वापिस हाथ नहीं आएगा। कहा भी है—

"निर्वाणदीपे किमु तैलदानं चौरे गतेवा किमु सावधानम्।
वयोगते किं वनिता विलासः पयोगते किं खलु सेतुबन्धः॥

—दीपक बुझने के बाद तेल डालने से क्या लाभ? माल लेकर चोर के चले जाने के बाद सावधान होने से क्या फायदा? जवानी चले जाने के बाद स्त्रीसंगम का क्या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ है ? पानी चले जाने के बाद पुल बाँधने से क्या लाभ ? जैसे इन चीजों से कोई लाभ नहीं, वैसे ही समय चूक जाने के फिर सावधान होने से क्या हो सकता है ? एक उर्दू शेर में कहा है—

"वक्त पर कतरा है काफी, अभ्रखुश अंजाम का।
जबकि खेती जल गई, बरसा तो फिर क्या हुआ ?।"

चौमासे में खेत में बीज बोने के समय अगर थोड़ी-सी वर्षा हो जाये तो वह काफी होती है, किन्तु जब समय बीत जाय, फसल सूखने लगे या खेती जल जाए। फिर पानी बरसे तो उससे नुकसान के सिवाय फायदा कुछ भी नहीं है।

कहावत है—वक्त के बोए जवार से मोती नीपजें।

ज्योतिषी की पत्नी ने अश्रद्धावश उनके बताए अनुसार ठीक समय पर हांडी में ज्वार पकने के लिए डाले नहीं। किन्तु उसी समय पर पड़ौसी सेठानी ने हांडी में ज्वार डाल दिये, जिससे उसकी हांडी में ज्वार के मोती बन गये और ज्योतिषी की पत्नी की हांडी में ज्वार के ज्वार ही रहे।

एक बार अवसर चक जाने पर दूसरी बार नहीं आता। जिंदगी में ऐसे अवसर थोड़े ही आते हैं, उन अवसरों का पारखी व्यक्ति तुरन्त सावधान होकर उनसे लाभ उठाता है।

मद्रास प्रान्त के एक छोटे-से स्टेशन पर रेलवे लाइन बदलने वाला एक पोइंट-मेन पोइंट के निकट ही खाट डालकर सोया था। उसने एक दिन देखा कि एक ओर से बम्बई मेल आ रहा है, दूसरी ओर से मद्रास मेल। पोइंटमेन लाइन बदलना भूल गया था। जागकर देखा तो आमने-सामने दो गाड़ियाँ आ रही हैं। तुरन्त सोचा—अगर लाइन नहीं बदली तो ये दोनों गाड़िया टकराकर चूर-चूर हो जाएँगी। हजारों आदमियों के प्राण चले जायेंगे। अतः ज्यों ही वह खाट से नीचे उतरने लगा कि एक सांप उसके पैर से लिपट गया। सोचा-एक कदम भी आगे बढ़ा तो यह सांप मुझे काट खाएगा, और यहीं मेरी मृत्यु हो जाएगी। परन्तु मेरी जरा-सी असावधानी से हजारों आदमियों के प्राण चले जाएँगे। अतः झटपट लाइन क्लियर करना ही ठीक है। पाईटमेन ने अपने प्राणों की परवाह किये बिना दोनों गाड़ियों की लाइनें बदल दी। इतने में तो दोनों ओर से अलग-अलग लाइनों पर गाड़ियाँ आ गईं। गाड़ियाँ और यात्री सही सलामत निकल गई। सर्प भी गाड़ियों की आवाज सुनकर भाग गया। पॉईंटमेन की इस समयज्ञता के कारण दो गाड़ियों की टक्कर होते-होते बची। यह है समय-पारखी सज्जन के उदार जीवन का उदाहरण।

अवसर बार-बार नहीं आता

जो लोग अवसरों को नहीं पहिचानते वे अवसर सामने आया हो, फिर भी आँख (विवेक की) मूँद लेते हैं। समय आपका इंतजार नहीं करता, वह तो समय पर आता है और चला जाता है। अगर आपने उसे पहचान कर पकड़ लिया और उससे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लाभ उठा लिया तो आपका जीवन सार्थक हो जाएगा, अन्यथा जीवन निष्फल होगा, जिसका बाद में खेद और पश्चात्ताप होगा।

पाश्चात्य विचारक स्विफ्ट (Swift) ने समय के लिए एक रूपक दिया है—

"Time is painted with a lock before, and bald behind signifying that we must take time by the forelock for when it is once passed there is no recalling it."

समय एक ऐसा जीव है, जिसके सामने का चेहरा बालों की लट से चित्रित है, और उसकी पीठ पीछे (गुद्दी) का भाग बिल्कुल गंजा है। वह यह बता रहा है, कि हमें समय को सामने की ओर से पकड़ना चाहिए, क्योंकि पीठ पीछे से यह पकड़ा नहीं जा सकता; एक बार चले जाने पर इसे वापस बुलाया नहीं जा सकता।

योगीराज आनन्दघनजी ने भी आध्यात्मिक जगत् की साधना के लिए अवसर को बड़ा महत्व देते हुए कहा है—

अवसर बेर बेर नहीं आवे ॥ ध्रुव ॥
ज्यों जाने त्यों कर ले भलाई, जन्म-जन्म सुख पावे ॥ १॥
तन, धन, जोबन सबसे झूठा प्राण पलक में जावे ॥२॥
तन छूटे धन कौन काम को ? काहे को कृपण कहावे ?॥३॥
जाके दिल में सांच बसत है, ताको झूठ न भावे ॥४॥
'आनन्दघन' प्रभु चलत पंथ में सुमरि सुमरि गुन गावे ॥५॥

भावार्थ स्पष्ट है। जो व्यक्ति तन, धन, यौवन आदि नाशवान साधनों के भरोसे न रहकर भलाई के अवसरों का सदुपयोग कर लेता है, वह जन्म-जन्म सुख पाता है।

एक अंग्रेजी कहावत भी प्रसिद्ध है—"Time and tide wait for none समय और ज्वार किसी की प्रतीक्षा नहीं करते।"

समय पर काम न करने के दुष्परिणाम

समय पर काम न करने का कितना बुरा परिणाम आता है। उदाहरण दीजिए—

कर्नल राहल ताश खेल रहा था। तभी वाशिंगटन की सेना आने का पत्र मिला। कर्नल ने उसे तीन मिनट बाद पढ़ा जिससे भारी नुकसान हो गया।

नुकसान भारी हो जाता, थोड़ी-सी देरी से।
सुधरा सब काम बिगड़ जाता थोड़ी-सी देरी से ॥ ध्रुव ॥
बिना गुनाह एक आदमी, फांसी पर चढ जाता।
आने के कारण दूत-पत्र थोड़ी-सी देरी से ॥नुक० ॥१॥
मामला लाखों रुपयों का, खारिज हो जाता।
जाने के कारण कोर्ट में, थोड़ी-सी देरी से ॥नुक० ॥२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सेठ करोड़ाधीश की इज्जत बिगड़ जाती।
आने से रुपये एजेंट के थोड़ी-सी देरी से ॥नुक०॥३॥
देश पर दुश्मन लोगों का कब्जा हो जाता।
सजने के कारण वीरवर, थोड़ी-सी देरी से ॥नुक०॥४॥
आलीशान इमारतें, जल खाक हो जातीं।
आने के कारण दमकलें थोड़ी-सी देरी से ॥नुक०॥५॥

जिस समय लोहा तपा हो, उस समय घन पर चोट न लगाई जाए तो लोहे से जो कुछ बनाना है, वह नहीं बन सकता।

गई सम्पत्ति परिश्रम से, विस्मृत ज्ञान अध्ययन से, नष्ट स्वास्थ्य दवा से एवं नष्ट संयम गुरुकृपा से पुनः प्राप्त हो सकता है, लेकिन गया हुआ वक्त वापस कभी नहीं मिल सकता। इसकी कल्पना भी न करो कि कोई भी अवसर तुम्हारे द्वार पर आकर नहीं पुकारेगा।

अवसर पर कही हुई बात

महात्मा गाँधीजी ने एक बार कहा था—"कोई समय बोलने और काम करने का होता है तो कभी मौन और अकर्मण्यता धारण करनी पड़ती है।"

यह तो हर कोई जानता है कि समय पर कही गई बात और समय पर किया गया काम प्रभावशाली होता है। राम का नाम अत्यन्त मंगलकारी है, परन्तु अगर कोई मूर्ख विवाह जैसे मांगलिक प्रसंग पर **'रामनाम सत है, सत बोल्यां गत है'** कहने लगे तो कितना बुरा लगेगा। इसलिए कविवृन्द कहता है—

"नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस शृंगार न सुहात॥
फीकी पै नीकी लगै, कहिय समय बिचारी।
सबको मन हर्षित करे, ज्यों विवाह मे गारी॥"

आचार्य वृद्धवादी और सिद्धसेन दिवाकर के बीच यह शर्त हुई कि इन चरवाहों को जो सर्वज्ञ का अस्तित्व भलीभांति समझा दे, वही शास्त्रार्थ में जीता समझा जायेगा। निर्णायक स्वयं चरवाहे ही होंगे। दोनों जंगल में ग्वालों के दल के बीच आए। पहले सिद्धसेन ने बहुत ही विद्वत्तापूर्ण शब्दों में सर्वज्ञ की सिद्धि के लिए प्रतिपादन किया। परन्तु संस्कृत भाषा और क्लिष्ट शब्दों में होने के कारण वे उनकी बात को बिलकुल न समझ सके। उसके पश्चात् श्री वृद्धवादी आचार्य ने चरवाहों को उनकी लोक भाषा में पद्य बना कर रास करवा कर समझाया। बहुत सीधी-सादी सरल भाषा में होने के कारण सर्वज्ञ के अस्तित्व की बात चरवाहों के गले उतर गई। उन्होंने आचार्य वृद्धवादी के पक्ष में अपना निर्णय दिया अतः विजय वृद्धवादी की हुई। बिना अवसर के क्लिष्ट भाषा में कही जाने के कारण ग्वालों के समक्ष उनकी हार हुई। पण्डितराज जगन्नाथ की एक सुन्दर उक्ति है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"कटुकं वा मधुरं वा प्रस्तुत वाक्यं मनोहारि।
वामे गर्दभनादश्चित्तप्रीत्यै प्रयाणेषु ॥"

वाक्य चाहे कटु हो या मधुर, किन्तु यदि वह प्रसंगोचित, समयानुकूल हो तो मनको अच्छा लगता है, जैसे प्रस्थान काल में बायीं ओर गधे का भौंकना कर्कश होते हुए भी चित्त को प्रीतिकारक होता है।

नीतिवाक्यामृत में कहा है—"**अकाले विज्ञप्तं कृष्टे ऊषरमिव।**"

—असमय में किया हुआ निवेदन ऊषर में की हुई खेती के समान है।

शुभ कार्य के लिए हर दिन शुभ है

कई लोग कहते हैं कि शुभ कार्य अच्छा मुहूर्त देखकर प्रारम्भ करना चाहिए। अगर मुहूर्त में विलम्ब हो तो कार्य विलम्ब से शुरू करना चाहिए। परन्तु यह अन्ध-विश्वास है। इसके पीछे किसी प्रकार का विवेकसम्मत तर्क नहीं है। हर दिन पवित्र और शुभ है। यह बात अलग है कि परिस्थिति, संयोग या अवसर के कारण कोई बार अथवा तिथि किसी के लिए असुविधाजनक हो। विद्वानों का कहना है कि शुभ कार्यों के लिए प्रत्येक दिन शुभ है और अशुभ कार्यों के लिए प्रत्येक दिन अशुभ है। शास्त्रों में शुभ कार्य के लिए तीर्थंकरों का वचन है—'**मा पडिबंधं करेह**' अर्थात् सत्कार्य में किसी प्रकार की ढील मत करो। '**शुभस्य शीघ्रम्**' इस न्यायानुसार दान देना, अध्ययन करना, धर्माचरण करना आदि सत्कार्य जितने भी शीघ्र हों करने चाहिए। नीतिकार कहते हैं—"**क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्**" कोई भी सत्कार्य विलम्ब से किये जाने पर काल उसका रस, उत्साह, उमंग आदि पी लेता है। अनेक लोग बहकाने, भड़काने वाले मिलते हैं। सोमनाथ महादेव पर महमूद गजनवी के आक्रमण के समय राजपूत राजाओं ने राजज्योतिषियों की मुहूर्तवादिता के कारण विलम्ब से सामना करने के कारण हार खाई। शुभ मुहूर्त के चक्कर में पड़कर बंगाल पर बख्त्यार खिलजी के आक्रमण के समय भी अन्धविश्वासी हिन्दू राजा सामना न कर सका और भाग गया। जिससे बिना लड़े ही जीत खिलजी की हो गई। बाल्मीकि रामायण के अनुसार रावण समुद्र पर पुल बनाने जैसे शुभकार्य के लिए शुभ मुहूर्त खोजता रहा, मगर 'सीताहरण' जैसे अशुभ कार्य के लिए उसने कोई मुहूर्त न देखा। अगर अशुभ कार्य के लिए वह मुहूर्त देखकर चलता तो इतिहास दूसरा ही होता। अतः मुहूर्त का विचार करना ही हो तो अशुभ कार्य के लिए करो, ताकि वह विलम्ब से आए, तब तक व्यक्ति के जीवन में सद्बुद्धि आ जाए। शुभकार्य के लिए मुहूर्त देखने की टालमटोल करने की आवश्यकता नहीं है।

वर्तमान का महत्व समझें

'अभी तो नहीं, फिर कभी देखेंगे। क्या करें, समय ही नहीं मिलता फिर कभी कभी समय मिलने पर करेंगे' ये वाक्य सज्जन और समय पारखी महानुभावों के नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। 'अभी नहीं, फिर कभी' ने हजारों मनुष्यों को सुअवसरों से लाभ उठाने से वंचित कर दिया, उन्नतिपथ पर आरूढ़ होने से रोक दिया, आत्मविकास में बाधाएँ डालीं, द्रव्योपार्जन में विघ्न उपस्थित कर दिये, आत्मोन्नति की सीढ़ी पर चढ़ने से रोक कर, उनके भूतकाल को पश्चात्तापमय बना दिया। आगे पर टालने की आदत सबसे बड़ा मानवीय दोष है, इससे मनुष्य की साख उठ जाती है, उत्साह टूट जाता है, उन्नति में बाधा पहुँचती है।

समय का वास्तविक रूप तो वर्तमान अभी ही है। जीवन के लिए यही सर्वोत्तम अवसर है। भूत और भविष्य तो निरे स्वप्न हैं। भूतकाल के विगत अवसरों के नाम पर पश्चात्ताप करना और भविष्य की काल्पनिक आशाओं के पंखों पर उड़ना प्रायः मूर्खता है। उपस्थित वर्तमान को भुलाकर पीछे और आगे की बातें सोचना वास्तव में जीवन संग्राम में उपस्थित अवसर से अपने को वंचित करना है, अपने घुटने टेकना है। पहले अगर हमें ऐसा अवसर मिलता तो हम आज इस स्थिति में न होते, हमारी बहुत उन्नति हो गई होती; ऐसा सोचना भी प्राप्त वर्तमान—प्राप्त अवसर से अपने को दूर रखना तथा अपनी वर्तमान शक्ति को खोना है।

कार्य को कल पर या आगे पर न टालें

इसीप्रकार कोई भी कार्य-सत्कार्य या धर्मकार्य कल पर न टालें। आज तो नहीं, कल से मैं सुबह जल्दी उठूंगा, अमुक ध्यान या साधना करूँगा, फिजूल खर्च कम कर दूंगा, या अमुक बुरी आदत छोड़ दूंगा, कहकर आप वर्तमान को भूत में परिवर्तित कर देते हैं तथा भविष्य को भी वर्तमान में बदल कर प्राप्त अवस्था से लाभ नहीं उठा पाते। कल पर आज के या अभी के कर्तव्य को टाल देना, यह प्रगट करता है कि आपको कर्तव्य पालन की उत्कट अभिलाषा नहीं है। इसीलिए कहा है—

"काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करेगो कब ?"

ऐसा विचार जब कभी आए तो उसे फटकार कर कह दो—**"आज नकद कल उधार।"** ऐसा कल 'कल' ही बना रहता है, वह कभी आने का नहीं। कवि कहता है—

"'कल' का, ओ कहने वाले कल का, बोल अन्त कब होगा कल का ?
सोचता है तू बड़ी दूर की, श्वास का भरोसा नहीं पल का॥
करना जो आज कर ले, कल आए न आए।
कल के भरोसे बैठा, बैठा ही रह न जाए॥कल०॥
कल पर जो छोड़े उसके होते काम न पूरे।
कहते हैं कि रावण के कई काम हैं अधूरे॥

---

१ तर्ज—'रुक जा ओ जाने''''

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिन डूबने से पहले मंजिल पर पहुँच जाए।
ऐसा चतुर मुसाफिर धोखा कभी न खाए ॥कल०॥
उड़ता हुआ समय नहीं राह देखता किसी की।
जो चूकते न अवसर सुनता है बस उसी की ॥"

सब बातें अभी ही सम्भव हैं। सर्वशक्ति अभी करने में लगा दीजिए, बस आपका सत्कार्य पूर्ण होकर रहेगा।

शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

अद्धा हि तद् यदद्य, अनद्धा हि तच्छ्वः

जो आज है, वह निश्चित है, जो कल होगा, वह अनिश्चित है।

जो जीवन का महत्व जानते हैं, वे अवसर ही प्रतीक्षा नहीं करते। उनके लिए आज ही अभी स्वर्ण अवसर है। उत्तराध्ययन सूत्र में इस तथ्य को उजागर करते हुए कहा गया है—

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं जस्सवऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि सोहु कंखे सुए सिया ॥

अर्थात्—जिसके मृत्यु के साथ दोस्ती है, जो मृत्यु के आने पर दूर भाग सकता है, या जो यह जानता है कि मैं कभी मरूँगा ही नहीं, वही आने वाले कल का भरोसा कर सकता है।

इंगलैण्ड के दो व्यक्ति जर्मन आदि देशों में गए। एक आदमी दिन में जो कुछ देखता, फौरन शाम को लिख लेता और दूसरा कल पर छोड़ देता। पहले ने किताब बनाकर हजारों रुपये कमाये और दूसरा यों का यों ही रह गया। इसीलिए शेक्सपीयर कहता है—"आज का अवसर धूमकर खो दो, कल भी वही बात होगी और फिर अधिक सुस्ती आ जाएगी।"

'कल' शैतान का दूत है! इतिहास के पृष्ठों पर इस कल की धार से कितने ही प्रतिभाशालियों का गला कट गया।

युधिष्ठिर ने दान के लिए आये हुए ब्राह्मण को कह दिया—"कल दूँगा!" इस पर भीम ने जीत का नगारा बजा दिया। पूछने पर कहा—आपने काल को जीत लिया है, इसीलिए तो ब्राह्मण को 'कल' दक्षिणा देने को कहा है। युधिष्ठिर ने अपनी भूल स्वीकार की और उसी समय ब्राह्मण को दान दे दिया। महाभारत में कहा है—

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत, पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
नहि मृत्युः प्रतीक्षेत, कृतं चास्य न वा कृतम् ॥

कल का काम आज और पिछले प्रहर का प्रथम प्रहर में ही कर लो, क्योंकि मृत्यु यह नहीं देखती कि इसने कार्य कर लिया या नहीं?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैद्य झंडु भट्ट ने जामसाहब के स्मारक में एक लाख कोरी चन्दा लिखाया, मगर स्थिति ऐसी थी नहीं, उनके एक पुराने रोगी से अब्दुला को पता चला तो उन्होंने वैद्यजी के यहाँ एक लाख कोरी भिजवा दी। भट्टजी ने अपने मुनीम से कहा—"देखो धर्म की गति कितनी तेज है! इन्हें अभी ही जामसाहब के यहाँ पहुंचा दो।

बन्धुओ! इसीलिए कहा गया है—"**ते साहूणो जो समयंचरंति**" सत्पुरुष समय के पारखी, ज्ञाता व अवसर का उचित उपयोग करते और समय के अनुसार अपने जीवन को ढालते हैं। वे धर्मकार्य या सत्कार्य में कभी विलम्ब नहीं करते, प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करते हैं। आप अपने जीवन को उन्नत बनाना चाहते हैं तो समय के पारखी बनें। वास्तव में जो समय को परखता है और उसका उचित उपयोग करता है, संसार में वही सु-पुरुष, सत्पुरुष या उत्तम पुरुष बन सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८

सज्जनों का सिद्धान्तनिष्ठ जीवन

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

पिछले जीवन सूत्र **'ते साहुणो जे समयं चरंति'** में 'समयं' शब्द है, उसके एक अर्थ—'समय' को लेकर पिछला प्रवचन किया गया है। समय का दूसरा अर्थ सिद्धान्त भी होता है। आज मैं सज्जनों के सिद्धान्तनिष्ठ जीवन के सम्बन्ध में चर्चा करूँगा।

सामान्य व्यक्तियों का सिद्धान्त से फिसलता जीवन

संसार में अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें जीवन के मूल्यों और आदर्शों का कोई अता-पता नहीं होता। उन्हें यह भी पता नहीं होता कि यह मानव-जीवन हमें क्यों और किसलिए मिला है, इसका उद्देश्य क्या है ? इसे किस ढंग से व्यतीत करना चाहिए, जिससे मानव उच्चता के शिखर पर पहुँच सके। सामान्य व्यक्ति तो खाने-पीने, सोने, कुछ पढ़-लिख लेने और गृहस्थ जीवन अंगीकार करके कुछ बच्चे पैदा कर लेने, कुछ धन कमा लेने और बुढ़ापे में कुछ भगवान् का नाम लेकर अन्त में अपनी देह को छोड़ देने का नाम ही जीवन जीना समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि जीवन में जब उतार-चढ़ाव आते हैं, खाने-पीने आदि जीवन की सामान्य प्रवृत्तियाँ करते समय जब विघ्न बाधाएँ आती हैं, अथवा जिस परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र या विश्व के साथ उनका सम्बन्ध एक या दूसरे प्रकार से आता है या उनके प्रति कर्तव्य या दायित्व क्या-क्या हैं ? तथा जहाँ स्वार्थ और कर्तव्य अथवा स्वरक्षा और पररक्षा या निजसुख और परसुख में विरोध या संघर्ष पैदा हो, वहाँ क्या करना चाहिए ? किसे प्राथमिकता देनी चाहिए ? साधारण व्यक्ति प्रायः श्रेय और प्रेय दोनों में से श्रेय को छोड़कर प्रेय को अपनाता है, वह परमार्थ के बदले क्षुद्र संकीर्ण स्वार्थ को गले लगाता है। जहाँ भी जीवन जीने से जरा-सी कठिनाई आयी कि साधारण व्यक्ति जीवन के आदर्शों और मूल्यों को छोड़ देता है और पशुता या दानवता के मार्ग पर जा चढ़ता है। बात-बात में वह सिद्धान्तों के मामले में समझौता कर लेता है। वह एकान्त अर्थ और काम के मार्ग पर ही अधिक दौड़ लगाता है, धर्म के उच्च तत्वों या अंगों पर वह दृढ़ नहीं रह सकता। उसे जरा-सा प्रलोभन या भय जीवन के आदर्शों से विचलित कर देता है। वह धर्म का अधिक से अधिक पालन करता है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो मार्गानुसारी या सामान्य सम्यक्त्वी श्रावक तक की भूमिका अपना लेता है, इससे आगे की व्रतबद्ध एवं धर्मनिष्ठ श्रावक की भूमिका तक वह नहीं पहुँचता। सत्यं, शिवं और सुन्दरम् इस जीवननिर्माता त्रिपुटी में वह 'सुन्दरम्' को ही विशेष पसन्द करता है, सत्यं उसको स्वार्थमय और संकीर्ण जीवन जीने में बाधक प्रतीत होता है, 'शिवम्' के लिए भी उसे परमार्थ और परोपकार के पथ पर चलना पड़ता है, जो उसे दुःसह लगता है। इस प्रकार सामान्य व्यक्ति का व्यावहारिक जीवन संसार के स्थूल दृष्टि वाले लोगों की दृष्टि में कदाचित् धन की प्रचुरता होने के कारण या शरीर सौन्दर्य, विशिष्ट कला, विद्या या प्रचुर बौद्धिक वैभव होने के कारण प्रशंसनीय और आदरणीय बन सकता है, व्यवहार में वह संसार का सुखी, प्रतिष्ठित और आरामतलब व्यक्ति समझा जाता है, उसे सांसारिक लोग अधिक सन्तान पैदा करने के कारण, अधिक धन-उपार्जन करके थोड़ा-सा राहत कार्य में खर्च कर देने के कारण अथवा अपने परिवार या समाज में या राष्ट्र में किसी को मारने, किसी को युद्ध में हराने या किसी को कुश्ती में पछाड़ने अथवा सौन्दर्य आदि की प्रतियोगिता में अग्रस्थान पाने के कारण सम्मानित किया जा सकता है, वह चुनाव आदि में तिकड़मबाजी के द्वारा उच्च पद या सत्ता का स्थान भी प्राप्त कर लेता है, यहाँ तक कि पुण्य या राहत के अनेक कार्य करके वह दूर-दूर तक प्रसिद्धि भी पा लेता है। जहाँ भी जाता है, अपने पूर्व प्रबल पुण्य के कारण, अपने धुंआधार भाषणों से लोगों को प्रभावित कर देता है, अपने वचनों से आम जनता को आकर्षित कर लेता है, अनेक लोगों को अपने इशारे पर बचा सकता हैं, अनेक व्यक्तियों को अपने अधीन नौकर-चाकर रख लेता है, अपनी चालाकी या बहादुरी के कारण या साहसपूर्ण कार्यों के कारण सांसारिक लोग उसे अभिनन्दन-पत्र देते हैं, उसे उच्च-आसन देते हैं, उच्च पद भी देते हैं, उच्च अधिकार भी देते हैं। धार्मिक या आध्यात्मिक क्षेत्र में भी वह अपनी वाचालता, धन-सम्पन्नता, चालाकी और तिकड़मबाजी से हजारों-लाखों लोगों को अपने अनुयायी बना लेता है, यहाँ तक कि अध्यात्मयोगी, अवतार, गुरु, धर्मनेता, आचार्य या भगवान् के नाम से वह संसार में पूजा भी पाता है। उसकी भाषणशैली और लेखनशैली इतनी आकर्षक होती है कि उससे आकर्षित होकर लोग उसके पैर पूजते हैं, हजारों-लाखों रुपये उस पर न्यौछावर कर देते हैं, उसे हाथों में उठा लेते हैं, उसके लिए एक से एक बढ़कर सुख-सुविधाएँ जुटा देते हैं, यहाँ तक कि विशिष्ट सुन्दरियाँ, अनेक ऐश-आराम के साधन, बंगले, कार और अद्यतन साधन उसकी सेवा में प्रस्तुत कर देते हैं। संसार का कोई भी मौज-शौक का साधन ऐसा नहीं, जो उसकी सेवा में प्रस्तुत न किया जाता हो। उसके थोड़े-से चमत्कारों, हाथ की सफाई या जादूगर जैसे खेलों पर लोग लट्टू हो जाते हैं, किसी को पुत्र दे दिया, किसी को धन दे दिया, किसी को मुकद्दमे में जिता दिया, किसी रोगी को ठीक कर दिया, किसी की चिन्ता दूर कर दी, किसी को उच्च पद या सत्ता का स्थान दिला दिया या किसी को अच्छी नौकरी दिला दी, बस, फिर क्या पूछना, लाखों लोग उसके पीछे-पीछे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बेतहाशा भागते फिरेंगे, हजारों धनिक उसके पीछे लग जायेंगे, लाखों स्वार्थी उसके चरण सेवक बन जायेंगे, हजारों-लाखों उसकी पूजा करने लगेंगे, लाखों की भीड़ उसके चारों ओर मंडराती फिरेगी, लोगों में वह भगवान् की तरह पुजने लगेगा, बुद्धि और विवेक के ब्रह्मचारी लोग उसके वचन को परमात्मा का वाक्य समझने लगेंगे। यहाँ तक कि वे वीतराग परमात्मा को छोड़कर उस चमत्कारी पुरुष को ही सर्वस्व मानने लगेंगे। उनकी श्रद्धा हिमालय के उत्तुंग शिखर-सम निरंजन निराकार परमात्मा से उतरकर अपने पुण्यपुञ्ज से पूजित होते हुए हिमालय की तलहटी में स्थित भौतिक आकर्षण से चकाचौंध कर देने वाले उस सांसारिक व्यक्ति में ओत-प्रोत हो जायेगी। अपने स्वार्थ के लिए वे देव, गुरु और धर्म के उच्च आदर्शों को भी ताक में रख देंगे, और अपनी आस्था स्वार्थ-साधक व्यक्ति के चरणों में समर्पित कर देंगे, अपने विश्वास उसी पर केन्द्रित कर देंगे। अपने स्वार्थ में जरा-सा धक्का पहुँचा, या अपनी कुछ भौतिक या आर्थिक क्षति हुई, अपने अरमान पूरे न हुए कि वे अपने परम्परागत आदर्श देव, गुरु और धर्म को तिलांजलि देते देर नहीं लगायेंगे। ऐसे स्वार्थजीवी लोगों की श्रद्धा इतनी शिथिल होती है कि जरा-से चमत्कार और प्रलोभन से डगमगा जाएगी और अधिकाधिक चमत्कारी या प्रलोभित करने वाले व्यक्ति की ओर झुक जाएगी। तात्पर्य यह है कि सामान्य व्यक्ति की निष्ठा सिद्धान्तों और आदर्शों के प्रति स्थिर नहीं रहती। वे कहने को तो अपने को परम आस्तिक, परमभक्त, आदर्श या अग्रगण्य श्रावक, परम धार्मिक, भगवान के अनुयायी कहेंगे, दुनिया भी स्थूलदृष्टि से उनका मूल्यांकन करके उन्हें वैसा कहेगी, पर वे उतने गहरे पानी में नहीं होते। जैसे चील या गिद्ध आदि आकाशचारी पक्षी चाहे जितनी ऊँची उड़ान भर लें, उनकी दृष्टि नीचे धरती पर स्थित मांस या मृत कलेवर पर लगी रहती है, वैसे ही ऐसे संकीर्ण एवं स्थूल दृष्टि वाले स्वार्थजीवी लोग अध्यात्म के आकाश में चाहे जितनी ऊँची उड़ान भर लें, लोगों को अपनी उड़ान से प्रभावित भी कर लें, लेकिन उनकी दृष्टि नीचे धरती पर स्थित भौतिक आकर्षणों, स्वार्थ, सम्मान, प्रतिष्ठा, धन, वैभव, सुखोपभोग आदि पर ही रहती है। ऐसे लोग पूर्व पुण्यों की प्रबलता के कारण संसार में सत्कार-सम्मान, धन-वैभव, ऐश-आराम, पूजा-प्रतिष्ठा, सत्ता और प्रभुता अवश्य पा जाते हैं, पर उनके जीवन की जड़ें गहरी नहीं होतीं, उनकी आदर्शनिष्ठा या सिद्धान्तनिष्ठा मृगमरीचिका की तरह भोले-भाले लोगों को अपनी ओर खींचने वाली होती है लेकिन वह होती है बालू की नींव पर ही टिकाई हुई।

इस पर से आप समझ सकते हैं कि सामान्य व्यक्ति के जीवन में और सिद्धान्तनिष्ठ सज्जन के जीवन में कितना अन्तर होता है ?

सिद्धान्तनिष्ठ सज्जन का जीवन

सिद्धान्तनिष्ठ सज्जन व्यक्ति जीवन के उच्चतम मूल्यों और आदर्शों को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जानता है। वह समय आने पर जीवन के उच्चतम मूल्यों और आदर्शों के लिए अपने प्राण न्योछावर करने को तत्पर रहता है। वह यह भली-भाँति जानता है कि मुझे यह मानव-जीवन क्यों और किसलिए मिला है? इसका उद्देश्य क्या है? इसलिए वह धर्म के आदर्श और सिद्धान्त पर दृढ़ रहते हुए अपना जीवन जीता है। उसकी दृष्टि, श्रद्धा एवं निष्ठा उच्चतम आदर्श की ओर रहती है। उसका प्रत्येक जीवन व्यवहार सिद्धान्त से अविरुद्ध होता है। इसीलिए वह अपने जीवन में अर्थ-काम को गौण और धर्म को मुख्य समझता है। धर्म-प्रधान अर्थ-काम ही उसके जीवन व्यवहार में स्थान लेते हैं। धर्म को छोड़कर अर्थ और काम को किसी भी मूल्य पर स्वीकार न करने को वह तैयार रहता है। यही कारण है कि सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति अपना जीवन खाने-पीने, सोने, पढ़-लिख लेने, सन्तान पैदा कर लेने या धन और साधनों का उपार्जन कर लेने में नहीं खोता, किन्तु वह इन्हें मानवीय दुर्बलता समझ कर इनसे ऊपर उठकर त्याग, तप, नियम व्रत और धर्ममर्यादा से ओत-प्रोत होकर जीता है। योगी भर्तृहरि के शब्दों में ऐसे सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्तियों का जीवन देखिए—

निन्दतु नीतिनिपुणा, यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु, गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

—नीति निपुण लोग उसके सिद्धान्तनिष्ठ जीवन की निन्दा करें या प्रशंसा करें। लक्ष्मी चाहे आती हो या यथेष्ट रूप से चली जाती हो, मृत्यु चाहे आज ही आने वाली हो या युग-युग तक जिन्दगी चले, किन्तु सिद्धान्तनिष्ठ धीर पुरुष न्याय-संगत मार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं होते।

वे धन का चाहे जितना प्रलोभन हो, डिगते नहीं, काम-वासना के चाहे जितने आकर्षण हों, वे विचलित नहीं होते, पद, प्रतिष्ठा, सत्ता, अथवा अन्य किसी भौतिक वस्तु के बड़े-से बड़े प्रलोभन को वे क्षणमात्र में ठुकरा देते हैं। प्रेय और श्रेय दोनों में से एक मार्ग चुनने का जहाँ अवसर उपस्थित हो, वहाँ वे प्रेय को छोड़कर श्रेय को ही अपनाते हैं, चाहे फिर उसके लिए उन्हें कितना ही मूल्य चुकाना पड़े, कितनी ही आर्थिक क्षति सहनी पड़े, कितनी ही सुखसुविधाएँ छोड़नी पड़ें, कितने ही भौतिक प्रगति के लोभ का त्याग करना पड़े, और चाहे कितना ही कष्ट, दुःख एवं विपदाएँ सहन करनी पड़ें। वे इसके लिए हर दम तैयार रहते हैं, किन्तु संकीर्ण क्षुद्र स्वार्थ के लिए वे अपने सिद्धान्त या परमार्थपथ को किसी भी मूल्य पर छोड़ने को तैयार नहीं होते। जीवन के उच्च आदर्शों और निश्चित सिद्धान्तों को ठुकरा कर वे पशुता या दानवता के मार्ग पर हर्गिज नहीं चढ़ते। वह स्वप्न में भी सिद्धान्तों के मामले में समझौता करने को तैयार नहीं होता, चाहे फिर कितनी ही कठिनाइयाँ आएँ, उसके साथी और मित्र या परिजन तक उसका साथ छोड़ दें, चाहे भयंकर से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भयंकर विपत्तियों का पहाड़ ही क्यों न टूट पड़े। कविवर प्रकाश की परमात्म भक्ति परक ये पंक्तियाँ सिद्धान्तनिष्ठ जीवन के रहस्य को प्रस्फुटित कर देती हैं। जहाँ 'जगदीश्वर' का नाम आता है, वह हमें सिद्धान्तेश्वर समझना चाहिए—

अति निकट विकट संकट का तट सिर पर है।
परवाह नहीं, रक्षक जब जगदीश्वर है ॥ध्रुव॥

घन घोर घटा वर्षा की लगी झड़ी हो।
आँधी प्रचण्ड सर्दी या धूप कड़ी हो॥
रिपुसेना घर पर घेरा डाल पड़ी हों।
मुंह खोल मृत्यु खाने के लिए खड़ी हो।
यदि रूठ जाय संसार सकल क्या डर है? ॥परवाह०॥

चाहे कोई कितने गोले गोली बरसाले।
तलवार तबर बरछी भाले चमकाले।
विषधर भुजंग बैठा हो जीभ निकाले।
चाहे पीछे दौड़ें गज बलिष्ठ मतवाले।
यदि टूट जाय सम्बन्ध सकल घर-वर हैं ॥परवाह०॥

चाहे कोई धन-धान्य ग्राम भी लूटे।
सुत, मात-तात, युवती से नाता टूटे।
सुरदुर्लभ यह मानव जीवन-घर फूटे।
प्रियवर 'प्रकाश' पर प्रेमपंथ नहीं छूटे।
यह कथन कवि का कितना ही मृदुकर है ॥परवाह०॥

यह है सज्जनों का सिद्धान्तनिष्ठ जीवन, जिसमें सतत् **'न निश्चितार्थाद् विरमन्ति धीराः'** (धीर और निष्ठावान पुरुष निश्चित सिद्धान्त से कभी पीछे नहीं हटते) का स्वर गूँजता रहता है। एक ओर परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व के प्रति कर्तव्य या दायित्व निभाने का प्रश्न हो, और दूसरी ओर अपने या अपनों के स्वार्थ का प्रश्न हो, वहाँ सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति स्वार्थ को गौण करके परमार्थ और कर्तव्य पथ को अपनाता है, उच्चदायित्व को निभाता है। वह निजसुख और परसुख में विरोध उपस्थित होने पर पर-सुख को ही मुख्यता देता है। नीतिकार की भाषा में सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति का विवेक सूत्र यह है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

"कुल के हित के लिए एक व्यक्ति के हित को छोड़े, ग्रामहित के लिए कुल-हित छोड़ दे, और जनपद (देश) के हित के लिए ग्रामहित को छोड़े तथा आत्महित के लिए सारी पृथिवी को छोड़ दे।"

अपनी बाह्य रक्षा और पररक्षा दोनों प्रश्न एक साथ उपस्थित होने पर वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वरक्षा को गौण करके पररक्षा को ही अपनाता है। धर्म के उच्चतत्त्वों या अहिंसा; सत्य आदि अंगों पर वह कठिन से कठिन समय में भी दृढ़ रहता है। धर्मनिष्ठा कहें या सिद्धान्तनिष्ठा उसके रग-रग में, तथा उसके संस्कारों में दृढ़ता से रम जाती है। ऐसे धर्मनिष्ठ या सिद्धान्त निष्ठ श्रावकों—सज्जनों के लिए शास्त्र में कहा गया है—'**आट्ठिमिंज पेमाणुरागरत्ते**'—"उसकी हड्डियाँ और रगों-नसों धर्म प्रेम या धर्मानुराग (सिद्धान्तुराग) से रंगी हुई थी। ऐसे व्रतबद्ध धर्मनिष्ठ सज्जन श्रावक को कोई भी भय या प्रलोभन अपने जीवन के स्वीकृत सिद्धान्तों से जरा भी विचलित नहीं कर सकता।

सिद्धान्तनिष्ठ सत्यं को छोड़कर शिवं सुन्दरं को नहीं अपनाता

'सत्यं शिवं सुन्दरं' इस त्रिपुटी में सत्य की रक्षा के लिए शिवं एवं सुन्दर को छोड़ देगा, तथा सत्यं और शिवं दोनों की रक्षा के लिए सुन्दरं को छोड़ देगा, मतलब यह है कि जहाँ कष्टों से अपने आपको बचाने से हजारों को कष्ट पहुँचता हो, वहाँ वह अपने स्वार्थ के सुन्दरं की उपेक्षा करके हजारों को बचाने के लिए 'शिवं' की रक्षा करेगा। परन्तु जहाँ असत्य बोलने से दूसरों का कल्याण रूप 'शिवं' होता हो, वहाँ वह 'शिवं' को गौण करके 'सत्यं' की रक्षा करेगा, असत्य हर्गिज नहीं बोलेगा।

महात्मा गांधीजी से एक जैन सन्त ने बम्बई में पूछा—"महात्माजी ! यदि असत्य बोलने से स्वराज्य मिलता हो तो आपको लेने में क्या हर्ज है ? धर्मराज युधिष्ठिर ने भी न्याय को जिताने के लिए असत्य बोला था !" उन्होंने उत्तर दिया—धर्मराज युधिष्ठिर ने क्या किया और क्यों व कैसी परिस्थिति में असत्य बोला, इसकी चर्चा में मैं नहीं पड़ता वे महान् थे। मैं तो असत्य बोलकर कदापि स्वराज्य लेने के पक्ष में नहीं हूँ। सत्य मेरा जीवन सर्वस्व है।"

यह थी गांधीजी की सत्य (सिद्धान्त) निष्ठा ! वे सत्यं (सिद्धान्त) को छोड़कर स्वराज्य रूपी शिवं को अपनाने को जरा भी तैयार न हुए।

धर्मरुचि अनगार को नागश्री ब्राह्मणी ने भिक्षा में कड़वे तुम्बे का साग दे दिया, जो विषमय था। उनके गुरुदेव ने जब उन्हें वह साग एकान्त निरवद्य स्थान में डाल देने को कहा तो निरवद्य स्थान में जब उन्होंने साग की एक बूंद डालकर देखी तो मालूम हुआ कि वहाँ हजारों चींटियाँ आ गईं। उन्होंने सोचा—"अगर मैं इस साग को इस निरवद्य जमीन पर डालकर एक मात्र अपने जीवन की रक्षारूप सुन्दरम् को अपनाऊँगा तो हजारों जीवों की रक्षारूप सत्यं नहीं रह सकेगा। यानी मेरा एक जीव तो बच जाएगा, परन्तु सारे साग को जमीन पर डालने से हजारों चींटियाँ मर जाएँगी। अतः यही जीवन की स्थूल रक्षा (सुन्दरं) का विकल्प छोड़कर हजारों जीवों की रक्षा (सत्यं) का विकल्प अपनाऊँ।" अतः उन्होंने वह कड़वे तुम्बे का साग जमीन पर न डालकर अपने पेट में डाल दिया। अर्थात् सुन्दरं को छोड़कर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'सत्यं' को अपनाया। परिणाम यह आया कि कुछ ही देर में उनके प्राणपखेरू उड़ गये।

यह था सिद्धान्त के लिए प्राणोत्सर्ग ! जो सिद्धान्तनिष्ठ होता है, उसमें प्राणमोह नहीं होता।

सिद्धान्तनिष्ठ भय और प्रलोभन से दूर

चम्पानगरी का अर्हन्नक श्रावक अत्यन्त धर्मनिष्ठ था। उसकी हड्डियाँ और नसें धर्म के प्रेम एवं अनुराग से रंगी हुई थीं। उसमें केवल सिद्धान्तों का ज्ञान ही नहीं था, उन सिद्धान्तों के प्रति हृदय में प्रेम कूट-कूट कर भरा था। कई लोग सिद्धान्तों के तो बहुत जानकर होते हैं उन्हें बोल, थोकड़े बहुत आते हैं, शास्त्र भी कण्ठस्थ होते हैं, वे शास्त्रों का पुर्जा-पुर्जा खोल देते हैं, परन्तु वे सिद्धान्त उनके जीवन में रमे हुए नहीं होते। उन्हें सिद्धान्तों से प्रेम नहीं होता। चीन के महान् धर्मनेता कन्फ्यूशियस ने ठीक ही कहा है—

"He who merely knows right principles is not equal to him, who loves them."

"वह जो केवल सच्चे सिद्धान्तों को जानता है, उसके समान नहीं है, जो उन सिद्धान्तों से गाढ़ प्रेम करता है।"

साथ ही अर्हन्नक धर्म के उन सिद्धान्तों का केवल प्रशंसक ही नहीं था, वरन् सिद्धान्तों के अनुसार आचरण भी करता था। कई लोग केवल सिद्धान्तों के प्रशंसक ही होते हैं, आचरण के समय वे बगलें झांकने लग जाते हैं।

इस सन्दर्भ में मुझे एक पत्रिका में पढ़ी हुई रोचक घटना याद आ गई—

एक मुनिजी के सान्निध्य में बैठे कुछ भाइयों में से एक भाई ने दूसरे भाई से पूछा—"क्या आप अणुव्रती हैं ?" उसने कहा-'अवश्य'। जब उससे पूछा गया कि वह कब से अणुव्रती हैं, ? तो उसने बताया कि "जब से अणुव्रत आन्दोलन चला है, तबसे हूँ।" इस पर उसने पूछा-जब आप अणुव्रती हैं तो आप तौल-माप में गड़बड़ नहीं करते होंगे, ब्लेक नहीं करते होंगे ?" उसने कहा करते हैं। "इस पर उसने साश्चर्य पूछा—"तब आप अणुव्रती कैसे ? मैं तो सिर्फ प्रशंसक अणुव्रती हूँ प्रवेशक या पूर्ण अणुव्रती नहीं।" उसने कहा। अर्थात्-वह भाई अणुव्रत के नियमों की केवल प्रशंसा करने वाला था, आचरण करने वाला नहीं।

इसीतरह सिद्धान्तों का केवल प्रशंसक सिद्धान्तनिष्ठ कदापि नहीं कहा जा सकता। तथागत बुद्ध के शब्दों में ऐसा व्यक्ति चाहे जितनी धर्म-संहिताओं का पाठ करता हो, वह उन संहिताओं के अनुसार आचरण नहीं करता। वह तो उस ग्वाले के समान है, जो दूसरों की गायों को गिनता रहता है।"

अर्हन्नक धर्मशास्त्रों का पाठ केवल पढ़ने-सुनने वाला ही न था, वह उन पाठों को जीवन में उतारने वाला था। एकबार उसकी धर्म-सिद्धान्तनिष्ठा की कड़ी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कसौटी हुई। वह अपने नगर के कुछ व्यापारियों के साथ एक बड़ी नौका में बैठा और वह ज्यों ही समुद्र में कुछ दूर चली कि एक देवता आ कर अर्हन्नक-श्रावक से कहने लगा—"तुम्हारे धर्म-कर्म में क्या रखा है, यह तो मिथ्या है, ढोंग है। क्या धर्म तुम्हारे खाने-पीने में काम आता है? क्या धर्म तुम्हें सुख के साधन, रुपया-पैसा दे सकता है? क्या धर्म तुम्हारी विपत्ति में, शत्रु से, विरोधी से, या और किसी संकट से तुम्हारी रक्षा कर सकता है? कदापि नहीं। तब यह धर्म झूठा है, तुमने इसे क्यों पकड़ रखा है। छोड़ दो इसे, कह दो कि धर्म झूठा है! "अगर तुम इतना-सा कह दोगे तो लो मैं तुम्हें बिना ही व्यापार किये यहीं मालामाल कर दूँगा।" अर्हन्नक देवता की इन चिकनी-चुपड़ी बातों के बहकावे में और अनायास ही धन प्राप्ति के चक्कर में बिलकुल न आया। वह कहने लगा—"तुम्हारे कहने से मैं धर्म को कैसे झूठा कह दूँ! आज से ही नहीं, धर्म तो मेरा जन्म-जन्म का साथी है। शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन आदि सब नाशवान हैं, वे यहीं धरे रह जाएँगे, मगर धर्म शाश्वत है, वह मेरे साथ ही जाएगा और रहेगा। मुझे जितने जो कुछ भी जीवन यापन के साधन मिले हैं, वे सब धर्म के प्रभाव से ही मिले हैं। इसलिए तुम लाख, दो लाख क्या, सारी दुनिया की सम्पत्ति मुझे दो तब भी मैं अपने धर्म को न तो झूठा कहूँगा और न ही छोड़ूँगा।"

देवता ने देखा कि प्रलोभन से तो यह काबू में नहीं आता, अतः इसे भय से काबू में लेना चाहिए। देवता ने कहा—"अर्हन्नक! अगर तुम अपने धर्म को असत्य न कहोगे और न छोड़ोगे तो फिर उसका नतीजा भी तुम्हें भुगतना पड़ेगा। फिर देखता हूँ, कौन-सा धर्म तुम्हारी रक्षा करने आता है? मैं तुम्हारी जहाज को उलटा दूँगा। तुम और तुम्हारे साथी तथा तुम्हारा सारा माल समुद्र में डूब कर समाप्त हो जाएँगे। फिर यह धर्म तुम्हारे किस काम आएगा। इसलिए इस आफत से बच कर जिन्दा रहना हो, और धन कमा कर सुख से जिन्दगी बितानी हो तो इस धर्म को मिथ्या कह कर छोड़ दो।" परन्तु अर्हन्नक अपने धर्म पर दृढ़ था। वह धर्म को छोड़ कर धन-माल और प्राणों को मोहवश हर्गिज बचाना नहीं चाहता था। अतः देव से कहा—"तुम चाहे मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दो, चाहे मेरा सर्वस्व धन ले लो या माल डुबा दो, परन्तु मैं किसी भी हालत में धर्म को न तो मिथ्या कह सकता हूँ, न उसका त्याग कर सकता हूँ। मैं अपने सिद्धान्त पर अटल हूँ। देवता ने देखा कि इसके रोम-रोम में धर्म रमा हुआ है, इसे विचलित करना टेढ़ीखीर है। फिर भी एक बार तो उस देव ने विकरालरूप बना कर समुद्र में तूफान पैदा करके जहाज को उथल देने की चेष्टा की, तब भी अर्हन्नक अपने सिद्धान्त पर अड़ा रहा। अतः उसने अर्हन्नक के साथियों को भड़काया, साथी थोड़ा-सा बहके भी, किन्तु अर्हन्नक की सिद्धान्तनिष्ठा की बातों से वे भी धर्म पर दृढ़ हो गए, उनका जो थोड़ा-सा प्राण धन और माल पर मोह था, वह भी उड़ गया। धर्म-सिद्धान्त के प्रति पूर्ण दृढ़ता देख कर देवता अर्हन्नक पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे प्रणाम किया, क्षमा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मांगी एवं दो दिव्य कुण्डल भेंट देकर चला गया। यह है सिद्धान्त के रंग में रंगा हुआ निष्ठावान जीवन !

सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति को मोह-विरति

दरअसल सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति में मोह की मात्रा अत्यन्त कम हो जाती है। न उसे आवश्यकताओं और नैतिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करके धन कमाने और जमा करने का मोह रहता है और न ही उसे सन्तान पैदा करने का मोह सताता है। उसे ऐश-आराम या आरामतलब की जिन्दगी पसन्द नहीं होती, न उसे अवारागर्दी या व्यर्थ के सैरसपाटे का शौक होता है। उसे अपनी प्रसिद्धि और प्रशंसा का मोह नहीं होता वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा ये तीनों एषणाएँ सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति को नीचे गिराती हैं, इसलिए वह इन तीनों एषणाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है। जब इन तीनों एषणाओं से ऊपर उठ कर उसका जीवन सिद्धान्त के लिए समर्पित हो जाता है, तब उसे अपने आप को अवतार, भगवान, अध्यात्मयोगी, आचार्य या धर्म नेता कहलाने की ख्वाइश या आकांक्षा ही नहीं होती, न उसे धनाढ्य, सत्ताधारी या उच्च अधिकारी, अथवा दानवीर, बहादुर या परम विद्वान कहलाने अथवा पहुँचे हुए महात्मा, सिद्ध पुरुष, या परम सुन्दर चमत्कारी बाबा कहलाने की ही इच्छा होती है। अपने निश्चित सिद्धान्तों के सहारे चल कर स्वाभाविक जीवन जीने की उसकी इच्छा होती है। उसे इस संसार में अपने लाखों अनुयायी बनाने, अपने पैर पुजाने, ऐश करने या लोगों को आकर्षित करने की उसकी तनिक भी कामना नहीं होती। वह ऐसे तिकड़मबाज, चमत्कारी, धर्मध्वजी, और लोगों को चकमा देने वाले व्यक्तियों के चंगुल में भी कभी नहीं फंसता, वह किसी भी मूल्य पर अपने देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा या विश्वास से चलित होकर नकली कलियुगी भगवानों या देवों, वंचक-गुरुओं और प्रलोभनकारी धर्मों के चक्कर में कदापि नहीं फँसता। वह इस संसार में प्रत्येक कदम फूंक-फूंककर चलता है। वह अन्धविश्वासों या अन्धविश्वासों में फँसाने वालों के चंगुल में नहीं फँसता। वह इन स्वार्थ-पोषक दलालों से कोसों दूर रहता है। उसकी आध्यात्मिक उड़ान भी स्वार्थ, मोह या द्वेष से या ईर्ष्या-प्रतिस्पर्धा आदि से प्रेरित नहीं होती। इसलिए वह आध्यात्मिक उड़ान भरते समय भौतिक आकर्षणों से, यहाँ तक कि लब्धियों या सिद्धियों के चक्कर से भी दूर रहता है।

एक राजा था। राजसी वैभव से सम्पन्न होते हुए भी उसके व्यक्तित्व में एक गुण था—निर्मोहत्व के सिद्धान्त पर दृढ़ता। उसके इस गुण की चर्चा मनुष्यलोक में ही नहीं, देवलोक में भी फैल गयी थी। एक बार एक देव को उस राजा के निर्मोह गुण पर ईर्ष्या हुई, उसने परीक्षा लेने की ठानी।

राजा का लड़का एक दिन सैर करने निकला। दैवमाया से उसने अदृश्य कर दिया और योगी का वेष बनाकर अपनी कुटिया के पीछे एक लाश डाल दी,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिसे देखकर ऐसा मालूम होता था, मानो उसे सिंह ने मारा हो। वह योगी वेषधारी देव प्रत्येक राहगीर को यही कहता कि "राजा के लड़के को सिंह ने मार डाला है।" खबर उड़ती-उड़ती राजा के पास पहुँची। परन्तु जब किसी को भी रोते-चिल्लाते आते हुए न देखा, तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह स्वयं शहर की ओर चला। मार्ग में उसे राजा की दासियाँ मिलीं तो उन्हें भी शेर द्वारा राजकुमार को मारे जाने की सूचना दी। दासियों ने कहा—जो जन्मा है, वह मरेगा ही, इसमें क्या नई बात है? और जो मर ही गया उसके लिए शोकमग्न होकर बैठने से क्या लाभ है?"

दासियों को खुदगर्ज बताकर योगी (देव) आगे बढ़ा कि पूजा-सामग्री लिये सखियों के साथ आती हुई रानी को देखा। रानी की शान्त-मुद्रा को देखकर योगी को और भी आश्चर्य हुआ। फिर भी सहानुभूति बताते हुए उसने रानी से कहा—"मेरी कुटिया के पास शेर द्वारा राजकुमार को मारने का करुण दृश्य देखकर मुझे तो रोना आता है।" रानी ने योगी की ओर देखकर कहा—"योगीजी! आपने संसार तो त्याग दिया, पर संसार का मोह नहीं छोड़ा, इसी कारण ऐसी बातें कह रहे हैं।" यों कहकर आगे चल दी।

योगी ने सोचा—पुत्र के मरने का शोक तो राजा को होगा, क्योंकि उसका राजसिंहासन सूना हो जायगा। अतः जल्दी कदम बढ़ाकर सीधा राजा के पास पहुँचा। आँखों में आँसू भरकर बोला—"राजन्! खेद है कि आपका इकलौता बेटा भी भगवान ने छीन लिया। कितनी करुण घटना है यह!" योगी के वचन सुनकर राजा बोला—"योगीजी! आप योगी बनकर पुनः संसार की मोहमाया में क्यों लिपट रहे हैं। मोह से पतन होता है।" योगी वेशधारी देव ने समझ लिया कि राजा स्वयं तो निर्मोह के सिद्धान्त पर दृढ़ है ही, उसका सारा परिवार यहाँ तक कि दास-दासियाँ तक भी निर्मोह के सिद्धान्त के रंग में रंगे हुए हैं।" उसने अपना असली रूप धारण कर निर्मोही राजा से क्षमा माँगी।

वास्तव में सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति इस प्रकार का निर्मोही होता है। उसका देह-गेह, कुटुम्ब-परिवार धन-सम्पत्ति का मोह उपशान्त हो जाता है।

सिद्धान्त क्या, क्यों, कैसे?

प्रश्न यह होता है कि सिद्धान्त क्या है? जिसके लिए प्रशंसा के इतने फूल चढ़ाए गये हैं, जिसे अपनाने के लिए सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति इतने तत्पर रहते हैं, अपने प्राणों की बाजी भी जिस सिद्धान्त के लिए लगा देते हैं, वह है क्या चीज?

संस्कृत व्याकरण के विद्वानों ने सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है—

वादि प्रतिवादिभ्यां निर्णीतोऽर्थः सिद्धः। सिद्धः अन्ते योऽसौ सिद्धान्तः।

अर्थात्—वादी और प्रतिवादी दोनों के द्वारा जमकर वाद-विवाद करने के बाद जो अर्थ—जो बात निश्चित की जाती है, वह है—सिद्ध-अर्थ, बहरहाल, जो अन्त में सिद्ध-अर्थ हो वही सिद्धान्त है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसका तात्पर्य यह है कि महानुभावों द्वारा सदाशय से की हुई बहस और अनुभूति के बाद जो सत्य निश्चित कर दिया जाता है, जो अनेक अनुभवियों की कसौटी पर खरा उतर जाता है, जिसमें फिर रद्दोबदल की कोई गुंजाइश नहीं रहती, वह सिद्धान्त कहलाता है। सिद्धान्त प्रायः सर्वानुमति से प्रमाणित होता है। सिद्धान्त प्रायः अनुभवों के आधार पर बनते हैं।

सूत्रकृतांगसूत्र में सिद्धान्त की सर्वमान्यता अनिवार्य बताते हुए कहा है—

'जं मयं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लकत्तणं'

जो सिद्धान्त सभी धर्मनिष्ठ साधकों द्वारा मान्य है, वही माया, निदान और मिथ्यादर्शनरूप शल्य को छेदन करने वाला (शास्त्र) है।'

सिद्धान्त की सच्चाई तभी है, जब वह अनेक वीतरागपुरुषों द्वारा मान्य हो, मुक्ति और सिद्धि का मार्ग हो, निर्वाण और आत्म-निर्माण की ओर ले जाने वाला हो। जैन शास्त्रों में इसके लिए ये शब्द मिलते हैं—

"इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं, अणुत्तरं, केवलियं, पडि-पुण्णं नेयाउयं, संसुद्धं सल्लकत्तणं, सिद्धिमग्गं, मुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्गं, निव्वाणमग्गं, अवितहमविसंदिद्धं, सव्वदुक्खपहाणमग्गं, । इत्थं ठियाजीवा, सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।"

—यही निर्ग्रन्थों (बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थों से रहित निःस्पृह पुरुषों) का प्रवचन (सिद्धान्त), सत्य है, इससे बढ़कर श्रेष्ठ कोई नहीं है, वीतराग केवलज्ञानियों द्वारा प्ररूपित है, प्रतिपूर्ण है, न्याय से युक्त है, सम्यक्प्रकार से शुद्ध है, मायादिशल्यों को काटने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग निर्याण (निस्तार = कल्याण) का मार्ग है निर्वाण का मार्ग है, अवितथ है, असदिग्ध है, समस्त दुःखों को नाश करने का मार्ग है। इस निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप सिद्धान्त में स्थिर रहकर जीव सिद्ध, बुद्ध मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, अन्त में समस्त दुःखों का अन्त करते हैं।

सिद्धान्त वह नहीं है, जिसे दो, चार या सैकड़ों मनचले, स्वार्थी राहगीरों ने मिलकर अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर अपनी सुखसुविधाओं के अनुरूप बना लिया। सिद्धान्त तो पहले बताए हुए तत्त्वों पर आधारित होता है। वह शाश्वत सत्य होता है। जितने भी सिद्धान्त बनते हैं, वे सब वीत-राग सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा अनुभवों की आंच में तपाये जाने के बाद ही, सिद्धान्त रूप में घोषित होते हैं और इस प्रकार वास्तविकता के द्वारा ही कोई सिद्धान्त कार्यरूप में परिणत होता है, तभी वह उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करा सकता है। अन्यथा जो बात-बात में बनते हैं, बिगड़ते हैं, मिटते हैं, या मिटाये जाते हैं, अपने अमुक स्वार्थ के सिद्ध न होने पर छोड़ दिये जाते हैं, वे सिद्धान्त नहीं हैं, वे तो भावुकतावश सामान्य बुद्धि वालों द्वारा निर्णय किये हुए कुछ विचार होते हैं। जेकोबी नामक विद्वान ने कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"I have reverence for principles which grow out of sentiments, but as to sentiments, which grow out of principles."

"मैं सिद्धान्तों का आदर करता हूँ जो कि भावुकता प्रेरित विचारों से पृथक् उत्पन्न होते हैं, क्योंकि 'भावुकता प्रेरित विचार हमेशा सिद्धान्तों' से पृथक् ही उत्पन्न होते हैं।"

मतलब यह है कि सिद्धान्त अलग चीज है और भावुकतावश किसी विचार को थोड़ी देर के लिए स्थिर करना अलग चीज है। क्योंकि **रिचर** नामक विद्वान् के मतानुसार सिद्धान्त स्थायी होते हैं—

'Principles like troops of line, are undisturbed and stand bast.'

सिद्धान्त एक श्रेणी के सैन्यदल की तरह-अक्षत या अविक्षिप्त और मजबूती से स्थिर रहते हैं।

यही कारण है कि सिद्धान्तों और कायदे-कानूनों या नियमों में बहुत अन्तर होता है। पाश्चात्य विद्वान् **सीले** (Seelay) ने इन दोनों का अन्तर बताते हुए कहा है—

"Principles last for ever but special rules pass away with the things and conditions, to which they refer" सिद्धान्त सदा के लिए स्थायी होते हैं, किन्तु खास नियम सम्बन्धित परिस्थितियों और वस्तुस्थितियों के साथ-साथ चलते हैं। उदाहरण के लिए—साधु के लिए सर्वथा पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन एक सिद्धान्त है, यह शाश्वत सत्य है, इसके लिए नियम बनाया गया कि ब्रह्मचारी को स्त्री-स्पर्श नहीं करना चाहिएँ। किन्तु अगर कोई साध्वी नदी में डूब रही है, साधु तैरना जानता है, तो शास्त्र में विधान है कि वह तुरन्त कूद कर साध्वी को पकड़ कर नदी से बाहर निकाले और उसे डूबने से बचाए।

डूबती हुई साध्वी को पकड़कर बाहर लाने की स्थिति में स्त्री-स्पर्श का नियम पालन नहीं हुआ, लेकिन ब्रह्मचर्य का जो शाश्वत सिद्धान्त है, उसकी सर्वथा रक्षा है और होनी आवश्यक है। साध्वी को नदी से निकालकर बाहर लाने वाले साधु के मन के किसी भी कोने में स्त्रीस्पर्श के बावजूद जरा-सा भी अब्रह्मचर्य का—मैथुनभाव का विचार नहीं आना चाहिए। उस समय उसे माता या भगिनी की भावना से ही उसका स्पर्श करना है। इसी प्रकार सर्वथा अहिंसा पालन साधु के लिए एक सिद्धान्त है, किन्तु साध्वी को बचाने में जलकायिक व जलाश्रित जीवों की हिंसा होगी ही। अतः सचित्त जल का स्पर्श न करने के नियम का पालन न होने पर भी भाव से किसी जीव की हिंसा न करने का शाश्वत सिद्धान्त सुरक्षित है। हिंसा होना एक चीज है और हिंसा करना दूसरी चीज।

मतलब यह है कि सिद्धान्त शाश्वत सत्य होते हैं, परन्तु नियम यद्यपि सिद्धान्त रक्षा की दृष्टि से बनाये जाते हैं, मगर वे देश, काल और परिस्थिति के अनुसार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बदले जाते हैं, परन्तु उस परिवर्तन में भी भाव से सिद्धान्त की रक्षा को मद्देनजर रखा जाता है—

इसीलिए पाश्चात्य लेखक हैजलिट ने सिद्धान्त का लक्षण बताया—

"Principle is a passion for truth and right."

सत्य और यथार्थ के लिए मन में जोश रहना ही सिद्धान्त है। वास्तव में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि शाश्वत धर्म के अंगों पर निष्ठा रखना ही सिद्धान्तनिष्ठा है।

यही कारण है एच. डब्ल्यू. बीचर ने सिद्धान्त और उपयोगी वस्तु का अन्तर बताया है कि 'उपयोगी वस्तु केवल किसी एक घण्टे के लिए होती है, लेकिन सिद्धान्त युगों-युगों तक के लिए होता है।

जैसे साधु के लिए मिट्टी या लकड़ी के पात्र रखना केवल उपयोगिता के दृष्टिकोण को लेकर है, किन्तु सोने-चाँदी के पात्र उपयोगिता की दृष्टि से अनावश्यक हैं। अतः उनका ग्रहण करना निषिद्ध है। वैसे अपरिग्रह सिद्धान्त की दृष्टि से पात्र मात्र रखना ठीक नहीं है, परन्तु अपरिग्रह के भाव—मूर्च्छाभाव की दृष्टि से मिट्टी या लकड़ी के पात्र रखना ठीक नहीं है, लेकिन उन पर मूर्च्छाभाव न रखकर केवल उपयोगिता—संयमपालन की दृष्टि से रखने में कोई आपत्ति भी नहीं है। इस तरह सिद्धान्त रक्षा और उपयोगिता दोनों में सामंजस्य बिठाया जा सकता है। किन्तु जहाँ केवल उपयोगिता की दृष्टि हो, सिद्धान्त रक्षा की उपेक्षा हो, वहाँ अनेक दोषों के प्रवेश का खतरा है।

प्रश्न होता है, सिद्धान्तों की मानव-जीवन में क्या आवश्यकता है? अगर सिद्धान्तों की रक्षा न की जाए तो उससे मनुष्य का क्या बिगड़ जाएगा? प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन महान बनाने के लिए प्रयत्नशील होता है, जीवन को मोक्ष रूप लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए भी, वह पुरुषार्थ करता है। अपने जीवन को महान् बनाने या मोक्ष रूप लक्ष्य तक पहुँचने के लिए महान् सिद्धान्तों और आदर्शों का सहारा लेकर चलना आवश्यक है। जहाज में एक दिशादर्शक यंत्र लगा रहता है, जिसके द्वारा यह पता चल जाता है कि जहाज किस दिशा में चल रहा है, इसी प्रकार सिद्धान्त भी जीवन नौका के मार्ग-दर्शन या दिशा दर्शन के लिए आवश्यक है, उनके सहारे चले बिना पता ही नहीं चलता कि मनुष्य का जीवन किस दिशा में चल रहा है? कहीं उलटी दिशा में तो नहीं चल रहा है? यदि मानव जीवन उलटी दिशा में चलता है तो उससे अपने आपको, अपने समाज, राष्ट्र, परिवार आदि को बहुत बड़ी हानि पहुँचती है। हिंसा, असत्य चोरी, ठगी, व्यभिचार संग्रह-वृत्ति आदि के उत्पथ पर जब जीवन चल पड़ता है तो उससे अपनी आत्मा का तो बहुत बड़ा नुकसान है ही परिवार, समाज, राष्ट्र आदि में भी उससे अशान्ति एवं अव्यवस्था पैदा होती है। इसके विपरीत सिद्धान्तों का सहारा लेकर चलने पर कहीं संघर्ष, टक्कर वैर-विरोध, अशान्ति या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अव्यवस्था नहीं होती, शान्ति होने पर साधना भी उत्साहपूर्वक होती है। अपने जीवन के निर्माण तथा आध्यात्मिक विकास के लिए भी सिद्धान्ताश्रय लेना आवश्यक है।

सिद्धान्त का सहारा लिये बिना क्या कुमारपाल राजा अपनी जीवन नैया लक्ष्य की दिशा में खे सकता था ? कदापि नहीं, वह भटक जाता, और ऐसा भटकता कि फिर ऊँचा उठना कठिन होता।

कुमारपाल राजा की कुलदेवी कण्टकेश्वरी के मंदिर में नवरात्रि के अवसर पर निरीह पशुओं का निःशंक बलिदान होता था। मंदिर के पुजारी ने आग्रह किया —"राजन् ! बलिदान के लिए बकरे, पाड़े आदि का इंतजाम कीजिए।" राजा कुमार पाल आचार्य हेमचन्द्र का परमभक्त था, उन्हीं से उसने अहिंसा सिद्धान्त का स्वीकार किया था। अहिंसक राजा यह हिंसा जनक कार्य कैसे कर सकता था ? अतः वह इस समस्या के समाधान के लिए आचार्य हेमचन्द्र के पास गया। उन्होंने कुमारपाल को गुप्त राय दी। तदनुसार पुजारी के कहे अनुसार राजा ने ठीक समय पर बकरे व पाड़े कण्टकेश्वरी देवी के मन्दिर में भिजवा दिये। जब बलिदान का समय आया तो राजा अपने कुछ कर्मचारियों को लेकर मन्दिर में पहुँचा और तमाम बकरों और पाडों को मन्दिर के अहाते में रख करके बाहर से दरवाजे लगवा कर ताले बंद करवा दिये। बाहर सख्त पहरा बिठा दिया।

दूसरे दिन प्रातः काल होते ही राजा ने स्वयं वहाँ पहुँच कर मन्दिर का ताला खोला तो सभी पशु सकुशल जीवित थे। राजा ने देवी के पुजारी से कहा—"देखो ! यदि देवी की इच्छा इन मूक पशुओं को खा जाने की होती तो स्वयं मार कर खा जाती, परन्तु उसने एक भी पशु को नहीं खाया। इससे स्पष्ट है कि देवी को पशुवध करके उनका मांस खाना बिलकुल पसन्द नहीं, पुजारी लोग मांस खाने की अपनी लोलुपता को देवी के नाम पर थोपते हैं। 'अतः आज से देवी के मन्दिर में पशु-बलि बंद' फल और मिष्टान्न से देवी की पूजा करो।" यों कहकर सभी पशुओं को छोड़ दिया।

हाँ, तो सिद्धान्त के पालन से कितने जीवों को अभयदान मिला, स्वयं कुमार पाल राजा को शान्ति मिली।

कुछ समय पश्चात् राजा के शरीर में कोढ़ हो गया तब भी कई राज्याधिकारियों ने उनसे पशुबलि देने को कहा, मगर सिद्धान्तनिष्ठ कुमारपाल राजा ने कहा—मैं निर्दोष पशुओं की हिंसा करके अपने प्राण बचाना नहीं चाहता। मेरे शरीर की बलि हो सकती है, पर मेरे जीते-जी मेरे राज्य में पशुबलि नहीं हो सकती। यह है, सिद्धान्त-निष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण जिसने गुर्जरेश्वर कुमारपाल राजा को अमर और महान् बना दिया। वास्तव में सिद्धान्तनिष्ठा मनुष्य की सच्चाई का प्रमाणपत्र है।

आपने वट वृक्ष देखा है न ? वह जितना ऊपर उठा और फैला हुआ दीखता है, उतना ही वह जमीन के भीतर धंसा हुआ होता है। उसकी जड़ें काफी गहरी, काफी घेरा घेरती और काफी संख्या में होती हैं। यदि वे न हों, कम हों या कमजोर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हों तो वृक्ष के ऊपरी भाग पर उसका प्रभाव पड़ना निश्चित है। कमजोर जड़ों वाला पेड़ दिनों दिन जीर्ण-शीर्ण होता जायेगा। उसका विकास भी रुक जाएगा। जड़ों को खाद-पानी मिले बिना उसे फैलने-फूटने का अवसर नहीं मिलेगा। अतः उस वृक्ष के विकसित होने की आशा नहीं की जा सकती। ठीक इसी तरह मनुष्य जीवन में सिद्धान्त की जड़ें कितनी गहरी होंगी, उतना ही उसका प्रतिफल बाह्य जीवन की उन्नति-अवनति के रूप में दिखाई देगा। मनुष्य जीवन रूपी वटवृक्ष की जड़ें सिद्धान्त हैं। ये जड़ें जितनी गहरी धंसी हुई और मजबूत होंगी, बाह्य जीवन भी उतना ही उसी अनुपात में सुविकसित, सुसंतुलित, प्रगतिशील और सुस्थिर बना रहेगा, सुख-शान्तिमय बना रहेगा। परिस्थितियों की आँधियों से उसका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। विपरीत परिस्थितियाँ उस सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति के जीवन पर उतना ही प्रभाव डाल सकती हैं, जितना पतझड़ पेड़ों पर डालता है। विपत्तियाँ मनस्वी एवं सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति का कुछ बिगाड़ती नहीं, वरन् उसकी प्रतिभा में चार चांद लगा जाती हैं, जिसके बल पर उसे और अधिक तेजी से आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता है। पेड़ का बाहरी सौन्दर्य और दीर्घ जीवन उसकी जड़ों के बढ़ने-फैलने पर निर्भर है, तथैव जीवन का उत्थान और सौन्दर्य भी सिद्धान्तरूपी मूल की अभिवृद्धि पर निर्भर है। इसलिए यह आवश्यक है कि आप जीवनवृक्ष के मूल—सिद्धान्तों को सींच-सींच कर गहरे और सुदृढ़ बनाएँ।

निष्कर्ष यह है कि सिद्धान्तनिष्ठा जीवन वृक्ष के विकास के लिए अत्यन्त जरूरी है।

सिद्धान्तनिष्ठा के लिए आवश्यक गुण

अब हमें यह सोचना है कि सिद्धान्तनिष्ठा के लिए कौन-कौन से आवश्यक तत्व—जिन्हें हम गुण कह सकते हैं मनुष्य में होने चाहिए? मैं कुछ मुख्य-मुख्य गुणों की ओर आपका ध्यान खींचता हूँ, जो एक सज्जन व्यक्ति में पाये जाते हैं।

सर्वप्रथम गुण, जो सिद्धान्तनिष्ठा के लिए आवश्यक है, वह है—आत्मविश्वास। दुनिया विश्वास के आधार पर चलती है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु बीच-बीच में कई बार विश्वासघात की घटनाएँ भी होती रहती हैं। इसलिए इस विश्वास और अविश्वास के झूले में झूलती हुई दुनिया में एक ही व्यक्ति ऐसा है, जिसकी वफादारी और विश्वसनीयता पर कभी ऊँगली नहीं उठाई जा सकती और जो कभी धोखा नहीं दे सकता, ऐसे सच्चे मित्र का नाम है—अपना आत्मा। अपनी आत्मा के सिवाय संसार में और कोई मित्र नहीं, जिस पर पूरा विश्वास किया जा सके। इस पर जितना भी विश्वास किया जाएगा, उतना ही सिद्धान्त पर टिके रहने की शक्ति बढ़ेगी और दूसरे भी उसी अनुपात में आप पर विश्वास करने लगेंगे। आत्मा से बढ़कर विश्वस्त मित्र विश्व में और कौन है? आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?

पुरुषो ! तुम ही तुम्हारे मित्र हो, बाहर के मित्र को क्यों चाहते हो ?

अपनी शक्ति, क्षमता, सामर्थ्य, प्रामाणिकता और कार्यदक्षता पर विश्वास रखकर ही व्यक्ति सिद्धान्त पर दृढ़ रह सकता है। अगर आप अपनी शक्ति, सामर्थ्य एवं क्षमता को स्वल्प मान लेंगे, अपनी कार्यदक्षता और प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं करेंगे तो स्वयं आत्महीनता के शिकार बनेंगे, दूसरों की दृष्टि में भी दुर्बल और असमर्थ सिद्ध होंगे। आत्मविश्वास के बिना आप में आत्मबल नहीं आयेगा और आत्मबल के बिना आप पग-पग पर सिद्धान्त के मामले में शिथिल होंगे एवं समझौता करते रहेंगे। आत्मविश्वास से सिद्धान्त रक्षा के मामले में जो भी कठिनाइयाँ आयेंगी, उन पर आप विजय पाते चलेंगे। एमर्सन ने कहा—आत्मविश्वास सफलता का मुख्य रहस्य (कारण) है।

महात्मा गाँधीजी में गजब का आत्मविश्वास था। तभी तो अंग्रेजों की इतनी बड़ी शक्ति के खिलाफ वे अकेले और निःशस्त्र होकर भिड़ गए। अहिंसकयुद्ध से अंग्रेजों का हृदय हिला दिया। स्वराज्य प्राप्ति उनके आत्म-विश्वास का ही फल था यद्यपि उनके साथ अनेकों लोगों ने इस स्वराज्य में आहुतियाँ दी हैं, परन्तु अगर वे आत्मविश्वास खो देते तो स्वराज्य नहीं मिल सकता था।

सिद्धान्त पथ पर चलते समय वही व्यक्ति स्थिर रह सकता है, जिसमें अदम्य आत्मविश्वास हो। यह संसार नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं, विपत्तियों और विरोधों से भरा है। आत्मविश्वास वास्तव में एक शक्तिशाली जहाज है। जो जीवन यात्री को बिठा कर तथा सिद्धान्तरूपी-रत्न को सुरक्षितरूप से साथ लेकर दुर्लंघ्य विशाल भवसागर को आसानी से पार कर देता है। सिद्धान्त रक्षा के लिए सबसे बड़ा साधन आत्मविश्वास है। जिसप्रकार हाथ में अनेक शस्त्र होते हुए भी कायर व्यक्ति कोई जौहर नहीं दिखला सकता, उसी प्रकार शरीर, मन, वचन, प्राण, बुद्धि आदि अनेक साधनों के होते हुए भी आत्मविश्वास के बिना मनुष्य सिद्धान्तनिष्ठा का चमत्कार नहीं बता सकता। आत्म-विश्वास का धनी व्यक्ति साधनहीनता की अवस्था में भी अपना पथ प्रशस्त कर लेता है।

जो व्यक्ति अकेलेपन के या डूब जाने के भय से गहरे पानी में उतरता ही नहीं वह उस जलाशय को पार कैसे कर सकता है ? जो व्यक्ति इस सोच-विचार में पड़ा रहता है कि क्या करूँ ? कैसे करूँ ? मैं कैसे मंजिल तक पहुँचूंगा, वह कुछ भी नहीं कर पाता। उसका अपने प्रति विश्वास मर जाता है। उसका जीवन भी निष्प्राण-सा हतप्रभ हो जाता है। कोई चेतना या तेज उसमें नहीं रहता। व्यावहारिक कार्य में भी उसके संकल्प अधूरे रहते हैं, पारमार्थिक कार्य में भी। जो संशय में पड़ा रहता है, उससे कोई बड़ा कार्य नहीं हो सकता, वह जो काम प्रारम्भ करता है, उसमें भी असफल रहता है, जिससे उसका रहा सहा विश्वास भी नष्ट हो जाता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। जो व्यक्ति कुछ करने से या कहने से पहले दूसरों की प्रतिक्रिया का अनुमान लगाता रहता है, जिसे दूसरों की नाराजी से बचने के लिए खुशामद, दया, वरदान या याचना का ध्यान रखना पड़ता है, वह कदापि आत्मविश्वासी नहीं बन सकता। आत्मविश्वास का एक ही आधार है—अपनी अन्तरात्मा। बोलने, काम करने, मार्ग चुनने तथा सिद्धान्तानुरूप चलने में अपनी अन्तरात्मा का आदेश, उसी की पवित्र आवाज को मानें, उसी के माध्यम से निर्णय करें। वह आत्मविश्वास ही आपको सिद्धान्त पथ पर चलने के लिए सही राय देगा।

अपनी अन्तरामा से आत्मविश्वासपूर्वक निर्णय करके स्वीकृत सिद्धान्त पथ पर चलते समय इस पर ध्यान न दें कि दूसरे लोग मेरे विषय में क्या कहते हैं? लोगों की आलोचना, छींटा-कशी और निन्दा से तनिक भी विचलित न हों। यदि आपका स्वीकृत सिद्धान्त सच्चा है तो निर्भय होकर उसे व्यक्त कीजिए। सिद्धान्त पर चलते समय आनेवाली आशंका, भीति आदि की रुकावट को आत्मविश्वास ही दूर कर सकता है।

अमेरिका के इतिहास पुरुष अब्राहम लिकन सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति थे। परन्तु वे साधन हीन थे। अन्न, वस्त्र, आवास, शिक्षा, सुरक्षा और सहयोग सभी साधनों का अभाव था उनके पास। परन्तु यदि कोई पारसमणि उनके पास था तो वह था—उनका प्रबल आत्मविश्वास। अकेले आत्मविश्वास के बल पर ही उन्होंने अपने असम्भव जैसे सिद्धान्त के संकल्प को पूरा कर दिखाया—मैंने अपने भगवान (आत्मा) को वचन दिया है कि दासों की मुक्ति के कार्य को मैं अवश्य पूरा करूँगा।" लोगों की आलोचनाओं, निन्दाओं और छींटा-कशियों की उन्होंने कोई परवाह नहीं की, और न ही इस पशोपेश में रहे कि मैं क्या करूँगा, कैसे करूँगा? फ्रांस का महान् नायक नेपोलियन बोनापार्ट भी साधन सम्पन्न न था। किन्तु अटूट आत्मविश्वास के बल पर उसने साधन अर्जित किए और फ्रांस को एक शक्ति-शाली राष्ट्र बनाने का श्रेय पाया।

महान् नाविक कोलम्बस आत्मविश्वास के बल पर ही महासागर के दूसरी ओर एक नई दुनिया को खोज कर ही रहा। अनेक विघ्न-बाधाएँ एवं तूफान आए, पर वह अपने सिद्धान्त पर अटल रहा। अतः सिद्धान्तनिष्ठा के लिए आत्मविश्वास बहुत बड़ा सम्बल और साधन है।

सिद्धान्तनिष्ठा के लिए आवश्यक दूसरा गुण है—दृढ़संकल्प। आत्मविश्वास के साथ दृढ़संकल्प का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सिद्धान्त-रक्षा के लिए मन में दृढ़ संकल्प होना चाहिए कि **कार्यं वा साधयेयम्, देहं वा पातयेयम्**, या तो कार्य सिद्ध करके ही छोड़ूँगा, या शरीर को ही छोड़ दूँगा।

सन् १८१८ की बात। राजा राममोहनराय के बड़े भाई जगमोहनराय का देहान्त हो गया। उन दिनों विधवा को भार-भूत समझ कर जिन्दगी भर के खर्चों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से छुटकारा पाने के लिए धर्मध्वजी लोगों ने सती-प्रथा का प्रचार कर रखा था। अतः जगमोहनराय की पत्नी को भी सती होने के लिए उकसाया गया। वह बेचारी किसी तरह तैयार हो गई। चिता में आग लगाई गई। अग्नि की कराल ज्वालाओं का जब शरीर से स्पर्श असह्य हो उठा तो उसका धैर्य टूट गया। वह कराहती हुई अधजली ही चिता से बाहर भागने लगी। किन्तु धर्मध्वजियों और कुटुम्बियों ने बांस का प्रहार कर उसका सिर फोड़ डाला तथा उस अधजली को फिर से चिता में झोंक दिया। सती का दर्दभरा विलाप उपस्थित लोगों को सुनाई न पड़े इसके लिए ढोल, नगारे और शंख बजाए जाने लगे। युवक राममोहनराय की आँखों में इस नृशंस क्रूर कृत्य को देख कर आँसू उमड़ आए। 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त की हत्या होते देख उन्होंने चिता की परिक्रमा करके श्मशान भूमि में ही दृढ़ संकल्प किया-जब तक इस क्रूर नरहत्या की प्रथा का अन्त न कर दूँगा, तब तक चैन से नहीं बैठूँगा।" और सचमुच राजा राममोहनराय ने सती प्रथा कानूनन बन्द-करा कर ही दम लिया। ऐसे संकल्प बल से ही वे अहिंसा सिद्धान्त की रक्षा कर सके।

सिद्धान्तनिष्ठा के लिए तीसरा आवश्यक गुण है—धर्म पर अविचल आस्था। सत्य, अहिंसा आदि धर्म पर अविचल आस्था अथवा अपने कर्तव्य और दायित्व रूप धर्म पर अटल श्रद्धा हो तो मनुष्य सिद्धान्तनिष्ठ रह सकता है। धर्म पर अटल आस्था न हो, तो मनुष्य अपने सिद्धान्त पर टिक नहीं सकता।

रूपनगर की राजकुमारी चंचलकुमारी के रूप, लावण्य पर बादशाह औरंगजेब फिदा हो गया। बादशाह ने चंचलकुमारी को अपने हृदय में लाने का विचार बनाया। इसलिए रूपनगर के जागीरदार ठाकुर के पास जवाहरातों की एक बड़ी भेंट भेजी, उसे देखकर वह चौंका और जब उसे बादशाह की बदनीयत का पता चला तो भेंट वापस कर दी। परिणाम यह हुआ कि बादशाह लाखों की फौज के साथ चढ़ आया। इधर चंचलकुमारी के पिता के पास मुट्ठीभर फौज थी, फिर भी वह धर्मरक्षा के लिए सर्वस्व बलिदान देने को तैयार हो गया।

यह समाचार जब मेवाड़ के तत्कालीन राणा राजसिंह को मिला तो वह अपने राजदरबारियों के विरोध के बावजूद अत्याचारी का प्रतिरोध करना अपना धर्म समझ कर रूपनगर के जागीरदार की सहायता के लिए आ डटा। राणा राजसिंह ने धर्म का आधार लेकर अत्याचारी से युद्ध किया, विजय धर्मनिष्ठ राणा की ही हुई।

सिद्धान्तनिष्ठा के लिए चौथा आवश्यक गुण है—चरित्रबल। जिसमें कोरा साम्प्रदायिक कट्टरता का धर्म होगा, ईमानदारी, शील सत्यता, अहिंसा आदि चारित्रबल नहीं होगा, वह व्यक्ति कभी सिद्धान्तनिष्ठ नहीं हो सकता है। दुनिया में अगर कोई अपना प्रभाव दूसरे पर डाल सकता है तो चरित्रबल ही है। चाहे मनुष्य को शिक्षा कम मिली हो, उसमें शक्ति कम हो, उसके पास जमीन जायदाद भी न हो, समाज में उसे कोई खास पदवी प्राप्त न हो, पर यदि उसका चरित्र सुदृढ़ एवं ऊँचा है तो उसका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रभाव भी दूसरों पर पड़ेगा और उसकी सिद्धान्तनिष्ठा भी मजबूत होगी। मनुष्य का रहन-सहन, बाह्य स्वरूप, प्रतिदिन का व्यवहार जीवन-कार्य उसके न बोलने पर भी स्वयं प्रकट हो जाता है। जो मनुष्य किसी भी कीमत पर अपने को बेचने को तैयार नहीं होते, जो भीतर से बाहर तक सुदृढ़ हैं। जो हृदय के सच्चे हैं, न गर्व करते हैं, न अनुचित हीनता दिखाते हैं, जो हिम्मत की शेखी नहीं बघारते, तथापि हिम्मतवर हैं। जो कार्य करने में कभी आलस्य नहीं करता, जो अपने परिश्रम की कमाई ही खाने-पहनने की इच्छा रखते हैं, ऐसे ही व्यक्ति चरित्र वाले कहे जा सकते हैं।

न्यूयार्क शहर के समाचार पत्र 'न्यूयार्क टाइम्स' के सम्पादक जार्ज जोन्स को वहाँ के धनवान लोगों ने कहा—"यदि आप हमारी बुराइयों के सम्बन्ध में पत्र में न लिखें या न छापें, चुप रहें तो हम आपको ३३ लाख रुपये देंगे।" उस चरित्र के धनी युवक ने उस प्रलोभन को कतई ठुकरा कर कहा—मैं तुम्हारे रुपयों से बिक नहीं सकता।"

यह है चरित्रबल का नमूना।

सिद्धान्तनिष्ठा का छठा आवश्यक गुण है—साध्य-साधन-शुद्धता।

षोडशवर्षीय हब्शी किशोरी 'महीलिया जेक्शन' गायिका थी। इसके पिता न्युआर्लियस के चर्च में पादरी का कार्य करते थे। चार वर्ष की थी, तभी से वह पिता के साथ चर्च जाया करती थी। पिता के आदर्शों के सांचे में ढली हुई महलिया को रिश्तेदारों, पड़ौसियों तथा क्लबों और होटलों के प्रतिनिधि उसे बहकाते, प्रलोभन देते कि तू होटलों और क्लबों में जाकर शृंगारिक या लोकरंजन के गीत गा, तू माला-माल हो जाएगी, व्यर्थ ही क्यों कष्टों और अभावों में जी रही है? उसके कण्ठ में अद्भुत आकर्षण था। उसके गीतों की सर्वत्र प्रशंसा भी होने लगी थी। परन्तु वह सदा चर्च में जाकर धार्मिक गीत ही गाती थी। वह अन्य सब प्रलोभनों को विन-म्रता से ठुकरा देती—"मेरे गीत केवल ईश्वरीय वाणी को ही ध्वनित कर सकते हैं अलबर्ट तथा संगीत एकादमी के संचालक ने महीलिया को होटलों में गीत गाने की राय दी, ताकि प्रति सप्ताह हजारों डालर कमा सके, किन्तु उसने स्पष्ट कह दिया—मेरा अन्तःकरण हलके बाजारू तथा कामवासना जगाने वाले शृंगारिक गीतों को कतई पसंद नहीं करता।" वह अपने साध्य के लिए शृंगारगीत जैसे गलत साधनों को कभी नहीं अपनाती। आखिर शिकागो के चर्चों में उसके भक्तिगीत गूँज उठे, वह लोकप्रिय हो गई, उसकी सिद्धान्तप्रियता भी सफल हुई।

सिद्धान्तनिष्ठा के लिए सातवाँ आवश्यक गुण है—विचार के अनुरूप आचार। यह बड़ी टेढ़ी खीर है। बड़े-बड़े साधक इस मामले में लड़खड़ा जाते हैं। परन्तु जिनके विचार केवल विचार नहीं होते, उनके साथ आचार भी घुलामिला हो, वे ही सिद्धान्तनिष्ठा की कसौटी में सही उतरते हैं।

गुजरात के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री नानाभाई भट्ट प्रखर सिद्धान्तवादी थे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राधाकृष्णन् शिक्षा आयोग के सुझावों के आधार पर भारत सरकार ने ग्रामों में उच्च-शिक्षा के प्रबन्ध के लिए १० शिक्षण संस्थाओं में से प्रत्येक को वार्षिक दो लाख अनुदान देने का तय किया उनमें से नानाभाई भट्ट की 'लोकभारती' भी थी। परन्तु अनुदान के साथ शर्त यह थी कि संस्था में शिक्षण का माध्यम अंग्रेजी होना चाहिए।" इसका विरोध करते हुए आचार्य नानाभाई ने स्पष्ट कहा—'आपको अनुदान देना हो तो दे, मेरी संस्था का माध्यम तो गुजराती ही रहेगा।" आचार्यजी ने संस्था के छात्रों व अध्यापकों को एकत्र करके अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहा—चना-चबेना खाकर संस्था की सेवा करने की जिनमें निष्ठा हो, वे ही यहाँ रहें, जिनको बड़ी-बड़ी पदवियों और प्रमाणपत्रों की आशा हो, वे अन्य संस्थाओं में जा सकते हैं। द्रव्यलोभ के लिए हमें अपने सिद्धान्तों का बलिदान कदापि नहीं करना है। भले ही द्रव्य के अभाव में हमें संस्था पर ताला लगाना पड़े।"

यह था सैद्धान्तिक विचारों के अनुरूप आचरण की दृढ़ता! आठवाँ और सबसे महत्वपूर्ण गुण जो सिद्धान्तनिष्ठा के लिए होना चाहिए, वह है—उपसर्गों (संकटों) और अवरोधों के समय दृढ़ता।

नदी को सागर तक पहुँचने में अनेकों अवरोधों एवं कष्टों का सामना करना पड़ता है। बड़ी-बड़ी चट्टानों से टक्कर लेना पड़ता है। लेकिन अवरोधों से टकराने में नदी के प्रवाह में तेजी आ जाती है। नदी अपना बहना जारी रखती है। इसी प्रकार सिद्धान्तनिष्ठ साधक को भी लक्ष्य तक पहुँचने में अनेक परिषहों, कष्टों, उपसर्गों विरोधों एवं विघ्न-बाधाओं का सामना करना अनिवार्य होता है। सिद्धान्त-निष्ठ मनस्वी इन विरोधों, रुकावटों या कष्टों को ही अपनी प्रगति और सफलता की फसल के लिए खाद बना लेते हैं। विरोध या संकट उनके उत्साह को बढ़ा देता है। वे विरोधों एवं संकटों की परवाह न करते हुए एकाग्रता पूर्वक लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। प्रतिपक्षी लोग सुनकर विरोध करते हैं, मखौल उड़ाते हैं, उन्हें तरह-तरह से यातनाएँ देते हैं, कई लोग उनकी परीक्षा भी करते हैं।

भगवान् महावीर का एक श्रमणोपासक था—कामदेव। उसने भगवान महावीर से श्रावकव्रत अंगीकार किये थे। वह अपने धर्म और सिद्धान्त पर दृढ़ था। एकबार कामदेव श्रावक की धर्माचरण में दृढ़ता की परीक्षा करने के लिए एक देव आया। कामदेव उस समय पौषधशाला में पौषधव्रत लिये था। देव ने पहले तो उसे प्रलोभन से डिगाना चाहा, लेकिन जब वह न डिगा तो उसने विकरालरूप बनाकर भय दिखाया और धर्म छोड़ने को कहा। इसमें सफल न हुआ तो उसने कामदेव के टुकड़े-टुकड़े करने की धमकी थी, तत्पश्चात् उसके लड़के को तलवार से टुकड़े करने का दृश्य उपस्थित किया। इतने पर जब वह विचलित न हुआ तो उसने कामदेव के सामने उसकी माता को मारने और टुकड़े करने का जब उपक्रम किया तो उसका धैर्य जाता रहा। वह तुरन्त बचाने के लिए उठा, जोर से चिल्लाया मगर देव अदृश्य हो गया। माँ दौड़कर आई "बेटा! क्या हो गया?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कामदेव बोला—कोई दिव्य-शक्तिधारी तुम्हें मार रहा था।

इतना-सा चलायमान होने पर भी कामदेव की धर्म दृढ़ता, उपसर्ग एवं अवरोध सहने की शक्ति गजब की थी। इसीलिए कहा है—

"ते साहुणो जे समयं चरंति।"

सिद्धान्तनिष्ठा और रूढ़िनिष्ठा में बहुत अन्तर है। इसी प्रकार सिद्धान्त प्रेरक व्यक्ति पूजा और सिद्धान्त पूजा में भी रातदिन का अन्तर है। आशा है, आप सज्जन सिद्धान्तनिष्ठा के तत्त्वों को भलीभाँति समझ गए होंगे। अब आगे-सिद्धान्तपथ पर कदम बढ़ाइए, आपको लक्ष्य के निकट पहुँचते देर न लगेगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८
साधु-जीवन की कसौटी : समता

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपको एक विशिष्ट जीवन के सम्बन्ध में बताऊंगा। वह जीवन है—साधु-जीवन। साधु-जीवन कैसा होता है ? इसके सम्बन्ध में जब कोई जिज्ञासु पूछता है तो आचार्य का उत्तर मिलता है—

'तो साहुणो जे समयं चरंति'

साधु वे हैं, जो समता का आचरण करते हैं। अर्थात् साधु-जीवन की मुख्य पहचान है—वह समता से ओत-प्रोत है। साधु-जीवन का केवल निर्ग्रन्थ महाव्रती साधु से मतलब नहीं है, किन्तु विश्व में जितने भी, जिस प्रकार के भी, जिस किसी वेष में साधु पुरुष हैं, उनसे हैं। फिर वे चाहे जिसप्रकार के देश, वेष, लिंग, वय, जाति, सम्प्रदाय या धर्म के हों। चाहे वह गृहस्थ वेष में हो, चाहे भगवां वेष में। चाहे वह भारत का हो, या अन्य देशों का, चाहे वह स्त्री हो, अथवा पुरुष, छोटी उम्र का हो, चाहे प्रौढ़ या वृद्ध हो, चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, या शूद्र, चाहे वह ओसवाल हो, अग्रवाल हो या और किसी जाति का हो, उसका धर्म-सम्प्रदाय जैन या और कोई, जो समता से ओत-प्रोत है, उसी का जीवन साधु-जीवन है।

पिछले दो प्रवचनों में मैं साधु का अर्थ प्रसंगवश 'सज्जन' कर गया हूँ और समयं[1] का अर्थ क्रमशः समय और सिद्धान्त कर चुका हूँ, इस प्रवचन में समयं का तीसरा अर्थ 'समता' करके मैं गहराई से विश्लेषण करना चाहता हूँ।

समता : साधु जीवन का मुख्य गुण

साधु-जीवन के और भी कई गुण हैं, परन्तु समता साधु-जीवन का एक ऐसा गुण है, जिसमें दया, करुणा, मृदुता, सरलता, सत्यता, संयम, आदि सबका समावेश हो जाता है। जैन साधु तो जब साधु-जीवन अंगीकार करता है, तब यावज्जीवन समता के पाठ से ही करता है।

---

१ प्राकृत भाषा में 'समयं' यह शब्द स्त्रीलिंगी समता है। (औ द्वि-ए-व)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'करेमि भंते ! सामाइयं'

"हे भगवन् ! मैं सामायिक अंगीकार करता हूँ।

यह दीक्षा के समय का मुख्य पाठ है, जो यह सूचित करता है कि साधु-जीवन आजीवन समता से ओतप्रोत होना चाहिए। समता साधु के अंग-अंग में, रग-रग में, उसके विचार और आचार में रम जानी चाहिए। मन, वचन, और काया का कोई भी कोना ऐसा न रहे, जो समता से रहित हो। समता उसके स्वभाव, व्यवहार और जीवन की हर प्रवृत्ति में दूध और पानी की तरह घुलमिल जानी चाहिए। वह समता के ही स्वप्न देखे, समता की ही पुष्पवाटिका में विचरण करे, समता की प्रयोगशाला में, अध्ययन, मनन, निरीक्षण, आलोचन और परीक्षण करे। वह रात-दिन देखे-परखे, नापे-तौले कि मेरे जीवन में समता कहाँ तक आ पायी है। मैं समता को जीवन के किस आचार, व्यवहार मे कहाँ तक रमा पाया हूँ। समता मेरे जीवन में किस विभाग में या व्यवहार में अभी तक पर्याप्त-रूप से नहीं आ पायी है ? साधु का ओढ़ना-बिछाना, पहनना, सोना, खाना-पीना चलना-फिरना, बोलना आदि सभी क्रियाएँ समता को दृष्टिगत रख कर हों। तभी समझना कि यहाँ साधु-जीवन है। सन्त कबीर ने साधु के लक्षण बताते हुए कहा है—

दया, गरीबी, बन्दगी, समता, शील स्वभाव।
एते लच्छन साधु के कहे 'कबीर' सद्भाव॥
आशा तजे, माया तजे, मोह तजे अरु मान।
हर्ष-शोक, निन्दा तजे, कहे कबीर सन्त जान।

इन दो दोहों में बताए हुए सत्य से आप भली-भांति समझ गए होंगे कि साधु-जीवन में समता का कितना महत्त्व है। सचमुच, समता साधु-जीवन का मुख्य अंग है। साधु, सन्त, या श्रमण की पहचान केवल सिर मुँडा लेने, नग्न रहने, तिलक छापे लगा लेने, या केवल भगवान का नाम रटने से नहीं है, साधु की वास्तविक पहिचान समता से होती है। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र के २४वें अध्ययन में स्पष्ट कहा है—

'समयाए समणो होई'

समता से ही कोई साधक श्रमण होता है, सन्त होता है। साधु-जीवन में और सब क्रियाएँ हों, किन्तु समता न हो तो, वह सच्चे माने में साधु-जीवन नहीं माना जा सकता।

साधु-जीवन में समता कहाँ कहाँ हो ?

प्रश्न यह होता है कि साधुचरित पुरुष जब समता से पहचाना जाता है तो समता उसके जीवन में कहाँ-कहाँ हो ? वह कहाँ-कहाँ सम रहे ? प्रश्न बड़ा ही महत्वपूर्ण है। उत्तराध्ययनसूत्र में बहुत ही सुन्दर ढंग से इसका समाधान मिलता है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो णिंदा-पसंसासु तहा माणावमाणओ ॥"

साधुपुरुष लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवित और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में तथा सम्मान और अपमान में सम रहे। कितना सुन्दर तथ्य शास्त्रकार ने हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है।

साधु दो प्रकार के होते हैं—एक गृहस्थ जीवन में अणुव्रती साधक साधु और एक मुनिजीवन में महाव्रती उच्च साधक साधु। दोनों के जीवन में लाभ और अलाभ में सम रहने की वृत्ति होनी चाहिए। महाव्रती साधु को अपने संयमी जीवनयापन के लिए आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि वस्तुओं की आवश्यकता रहती है, इसके अतिरिक्त भावात्मक दृष्टि से प्रतिष्ठा, प्रशंसा, त्याग-प्रत्याख्यान की प्रेरणा की सफलता, धर्मप्रचार में सफलता आदि की प्राप्ति की भी मन्द-मन्द इच्छा साधक में छद्मस्थ अवस्था तक रहती है। भौतिक दृष्टि से तथा भावात्मक दृष्टि से दोनों प्रकार की वस्तुओं की प्राप्ति हो, चाहे किसी अन्तरायकर्म के कारणवश न हो; मुनि को दोनों ही अवस्थाओं में समभावी रहना आवश्यक है। वह किसी अभीष्ट एवं आवश्यक वस्तु के न मिलने पर यह विचार करे—

अज्जेवाऽहं न लब्भामि अवि लाभो सुए सिया ?

—आज मुझे वह चीज प्राप्त नहीं हुई, इससे क्या ? कल शायद वह मिल भी जाये ?

अणुव्रती गृहस्थ साधक को भी अपने जीवन में लाभ-अलाभ में सम रहने का सतत अभ्यास करना है। उसे अपने गार्हस्थ-जीवन में धन और साधनों की जरूरत रहती है। धन और साधन न मिलने पर साधारण गृहस्थ तिलमिला उठता है, अथवा धन आदि के चले जाने या घाटा लग जाने की स्थिति में वह शोक-मग्न होकर आर्तध्यान करने लगता है। इस प्रकार लाभ न होने पर या प्राप्त अभीष्ट धन या साधन का वियोग होने पर वह तड़फने लगता है। परन्तु साधुचरित अणुव्रती गृहस्थ लाभ हो या अलाभ इष्ट वस्तु का संयोग हो या वियोग, दोनों ही अवस्थाओं में सम रहता है, वह अपना सन्तुलन नहीं खोता।

एक सन्त के पास कोई भक्त आया और सविनय पूछने लगा—महात्मन् ! ऐसा कोई उपाय बताइए, जिससे मानसिक शक्ति प्राप्त हो ! संत ने उसे नगर के एक श्रेष्ठी के पास यह कहकर भेज दिया कि "उसके पास जाने से तुम्हें शान्ति का सर्वोत्तम सक्रिय उपाय मिल जायेगा।" श्रेष्ठी के पास आकर भक्त ने कहा—"मुझे अमुक सन्त ने आपके पास शान्ति प्राप्ति का बोध पाने के लिए भेजा है। अतः आप मुझे शान्ति का मार्ग बताइए। सेठ ने समागत अतिथि को ऊपर से नीचे तक देखकर कहा —"कुछ दिन आप मेरे पास रहिए और देखते रहिए, आपको स्वतः शान्ति का वास्तविक मार्ग हाथ लग जाएगा।" भक्त कुछ दिन वहाँ रहकर देखता रहा। सेठ ने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसे न कुछ भी पूछा और न कहा। वह रात-दिन अपने धंधे में जुटा रहता। सैकड़ों आदमी आते-जाते, मुनीम-गुमाश्ते बहियाँ खोल कर सेठ के सामने बैठे रहते। भक्त अधीर होकर सोचने लगा—यह सेठ तो खुद ही रातदिन माया के चक्कर में फंसा है, इसे स्वयं को शान्ति नहीं तो मुझे यह कहाँ से शान्ति का मार्ग बताएगा ? संत ने कहाँ भेज दिया मुझे ?" एक दिन सेठ बैठा था, भक्त भी पास ही बैठा था; इतने में घबराता हुआ मुनीम आया और बोला—"सेठजी ! गजब हो गया ! अमुक जहाज, जिसमें दस लाख का माल लदा आ रहा था, बन्दरगाह पर नहीं पहुँचा। पता लगा है, कहीं समुद्री तूफानों से घिर कर डूब गया है।"

सेठ ने गम्भीरतापूर्वक कहा—"मुनीमजी ! शान्त रहो, क्यों परेशान होते हो ? डूब गया तो क्या हुआ ? कोई अनहोनी तो है नहीं ! प्रयत्न करने पर भी माल न बचा तो नहीं बचा। जैसा होना था, हुआ। अब घबराने से क्या लाभ ?" इस बात को कुछ ही दिन बीते कि एक दिन मुनीमजी दौड़े-दौड़े आए। वह खुशी में नाच रहे थे—सेठजी ! सेठजी ! खुशखबरी ! वह जहाज किनारे पर सुरक्षित पहुँच गया है।" माल उतरने से पहले ही भाव दुगुना हो गया। वह बीस लाख में बिक गया है।" सेठ फिर भी शान्त एवं गम्भीर था। सेठ ने पहले की तरह उसी शान्त मन से कहा 'ऐसी क्या बात हो गई ? कोई अनहोनी तो कुछ नहीं हुई ! फिर व्यर्थ ही फूलना, इतराना और नाचना किस बात पर ? ये हानि और लाभ तो अपनी नियति से होते रहते हैं। हम क्यों इनके पीछे रोयें और हंसे ?" भक्त ने सेठ का समभाव से ओत-प्रोत व्यवहार देखा तो उसका अन्तःकरण प्रबुद्ध हो उठा। क्या गजब का आदमी है। दस लाख का घाटा हुआ तब भी शान्त और बीस लाख का मुनाफा हुआ, तब भी शान्त ! दैन्य और अहंकार तो इसे छू भी नहीं गया। कहीं रोमांच भी नहीं हुआ ! यह गृहस्थ होकर भी साधु है। उसने सेठ के चरण छू लिए और कहा—"जिस शान्तिपथ की खोज में मुझे यहाँ भेजा था, वह मुझे साक्षात् मिल गई है। जीवन में समता से ही शान्ति प्राप्त हो सकती है। यह गुरुमंत्र मुझे प्राप्त हो गया।" सेठ ने कहा "जिस गुरु ने आपको यहाँ भेजा है, उसी गुरु का उपदेश मुझे मिला है। मैंने कभी अपने भाग्य पर अहंकार नहीं किया और न दुर्भाग्य में कभी अफसोस किया। हानि-लाभ के चक्र में मैं समभावपूर्वक अपने को सिर्फ निमित्त मानकर चलता हूँ। इसलिए लाभ और अलाभ में न मुझे हर्ष और अहंकार होता है, और न ही शोक और दैन्य। मैं समभाव की पगडंडी पर चलता हूँ।" इसी बात का गीता ने समर्थन किया है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य, नोद्विजेत् न चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मवित् ब्रह्मणिस्थितः॥

—प्रिय (मनोज्ञ) वस्तु को पाकर हर्षित न हो, अप्रिय को पाकर उद्विग्न न हो, ऐसा स्थिर बुद्धि असम्मूढ़ व्यक्ति ब्रह्मवेत्ता है वही परब्रह्म में स्थित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधुचरित पुरुष सुख और दुःख में भी समभाव रखता है। चाहे उस पर संकटों के पहाड़ टूट पड़ें, और सुख का सागर लहराने लगें, वह अपनी मस्ती में, समता भाव में रहता है। सुख हो चाहे दुःख दोनों ही अवसरों पर उसके चेहरे पर प्रसन्नता अठखेलियाँ करती रहती हैं। समतावान व्यक्ति कष्टों और विपत्तियों से घबराता नहीं, बल्कि अपने आपको सन्तुलित रखकर धैर्य से वह उनका सामना करता है। उर्दू शायर जफर के शब्दों में—

"हर आन हँसी, हर आन खुशी, हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आलम मस्त फकीर हुए, फिर क्या दिलगीरी है बाबा ?"

अरबस्तान का खानदान घर का एक लड़का विपत्ति में फंस जाने से शत्रुओं के हाथ में पड़ गया। उन्होंने उसे गुलाम के रूप में बेच डाला। उसका मालिक बड़ा निर्दय था। एक व्यापारी उस गाँव में व्यापार के निमित्त आया करता था। उसने इस युवक को कठोर परिश्रम करते देखकर पूछा—"भाई ! तुम्हें बड़ा दुःख है।" सुख दुःख में समभावी युवक बोला—"जो पहले नहीं था और भविष्य में रहेगा नहीं उसके लिए व्यर्थ क्यों चिन्ता की जाए ?" कई वर्षों बाद फिर वह व्यापारी इस गाँव में आया तो उसे पता चलता है कि उस युवक का मालिक मर गया है और वह अपने मालिक की गिरी हालत देखकर उसकी पत्नी और पुत्र का भरण-पोषण स्वय अपनी कमाई से करता था। व्यापारी ने इस समय उसकी हालत पूछी तो उसने कहा—"जो परिवर्तनशील है, उसे सुख भी क्यों माना जाए और दुःख भी क्यों ?" दो साल बाद फिर वह व्यापारी आया तो देखा कि वह दास अब उस जिले का अग्रगण्य बन गया है। उसके अधीन बहुत से नौकर काम करते हैं। आस-पास के गाँववालों ने उसे सरदार (नेता) बनाकर वहाँ के डाकुओं को दबा दिया है। इस सेवा के बदले में उन्होंने इसे बहुत-सी जमीन भी दे दी है। ऐसी समृद्ध स्थिति में व्यापारी द्वारा सुख-दुःख सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाने पर उसने पूर्ववत् उत्तर दिया। थोड़े वर्षों बाद जब वह व्यापारी इस गाँव में आया तो देखा कि युवक अब राजा बन गया है। एक विशेष युद्ध में उसने राजा को सहायता काफी पहुँचाई, जिसके कारण राजा ने उसे अपना जामाता और उत्तराधिकारी बना दिया है। व्यापारी ने अब राजा बने हुए उस दास से पूछा—"क्यों अब तो सुखी हो गए न ? अब तो खूब खाओ, पीओ, ऐश आराम करो।" उसने कहा—"जो परिवर्तनशील है, उसके भरोसे मैं नहीं चलता, मैं तो शाश्वत-सुख के मूल समत्व पर चलकर अपना जीवन व्यतीत करता हूँ।" उसका समत्वमंत्र शायर अकबर के शब्दों में था—

मुसीबत में न घबरा, कर गुजर जैसे बने वैसे।
ये दिन भी जाएँगे एक दिन, वे दिन भी आएँगे एक दिन।

सचमुच सुख में फूलना और दुःख में तड़फना, ये दोनों ही स्थिति समता से भटकाने वाली हैं। समता की पगडंडी पर चलने वाला सुख और दुःख दोनों में सन्तोष और शान्ति का अनुभव करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समभावी साधक के मन में जीवन और मरण दोनों प्रसंग एक-से होते हैं। जीए तो वे धर्म-पालन करते हैं और धर्मपालन करते हुए, यदि मृत्यु आ जाए तो भी हँसते-हँसते मृत्यु का वरण करते हैं। वे सोचते हैं कि हमारे तो दोनों ही हाथों में लड्डू हैं। यहाँ रहे तो अच्छा न रहे तो भी अच्छा ! यहाँ से शरीर छूट गया तो हम अगली दुनिया में अलख जगाएँगे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती को जब रसोइए ने दूध में घातक जहर मिलाकर दे दिया और जब उनके जीवन पर मृत्यु का संकट उपस्थित हो गया तो वे घबराये नहीं। न उन्होंने रसोइए पर कोई रोष किया न ही जहर दिलाने वाली वेश्या पर द्वेष किया। वे समाभाव-पूर्वक मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तैयार हो गए। उनके मुंह से अन्तिम समय तक 'ओम्' की ध्वनि निकलती रही। उन्होंने इसे परमात्मा की इच्छा समझ कर प्रसन्नता से मृत्यु का वरण किया। वेदना थी सो थी ही, पर समभाव से सहते गये।

इसी प्रकार महात्मा गाँधीजी ने गोडसे द्वारा गोली मारे जाने पर गोडसे के प्रति कोई रोष या द्वेष व्यक्त नहीं किया। उनके मुंह से अन्तिम समय में हे राम ! की ध्वनि निकली। जीते रहे, तब तक वे देश सेवा के कार्य करते रहे, मर गए तो भी अमूल्य शिक्षाएँ देश को दे गए। नोआखाली में हिन्दु-मुस्लिम दंगों की आग में भी गाँधीजी ने जीवन-मरण की बाजी लगाकर बंगाल में पैदल दौरा किया। उनको मारने के लिए उद्यत व्यक्ति के सामने भी उन्होंने कह दिया—"भाई ! यहाँ एकान्त है, तुम मुझे मारना चाहते हो तो मार दो।" मारने के लिए उद्यत व्यक्ति के हाथ से छुरा नीचे गिर पड़ा। वह लज्जित होकर माफी माँगने लगा।

मैतार्यमुनि पर जब स्वर्णकार ने स्वर्णयवों के चुराने का मिथ्या आरोप लगा कर उन्हें बुरी मौत से मारने को उद्यत हुआ, तब उन्होंने स्वर्णकार पर द्वेष न करते हुए समभावपूर्वक मृत्यु का वरण किया।

तथागत बुद्ध का एक प्रसिद्ध शिष्य पूरण जब अनार्य देश सुमेरुपरान्त जाने को उद्यत हुआ तो बुद्ध ने उसको समता की कसौटी करने हेतु कहा—"पूरण ! वहाँ के लोग तो बड़े क्रूर हैं, तुम्हें गाली देंगे, तुम वहाँ कैसे जाओगे ? उसने कहा—"मैं समझूंगा वे मुझे गाली ही देकर अपना सन्तोष करते हैं, वे लाठियों से पीटते नहीं।"

"अगर वे तुम्हें लाठियों से पीटेंगे तो ? मैं समझूंगा वे मुझे जान से तो नहीं मारते, केवल मारपीट या अंग-भंग करके ही चुप हो जाते हैं। "और अगर वे तुम्हारे अंग-भंग करके जान से मार डालेंगे तो ?" बुद्ध ने पूछा। उसके उत्तर में पूरण ने कहा—"वे मेरे शरीर का ही तो नाश करेंगे, मेरी आत्मा का तो कुछ भी बालबांका नहीं कर सकेंगे।" यह सुनकर बुद्ध अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और कहा—"वास्तव में जीवन-मरण में समता ही मनुष्य को आत्म-विकास करती है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक कवि समता को जीवन का शृंगार बताते हुए कहता है—

समता जीवन का शृंगार।
बढ़ती विषमता जिससे ऐसा, क्यों करते व्यवहार ? ॥ ध्रुव ॥
विष का बीज वपन करके, किसने अमृत फल पाया ?
उज्ज्वलता बिन आत्मा में क्या, धर्म कभी टिक पाया ?
सेठ सुदर्शन के समता से स्वप्न बने साकार ॥ समता० ॥
चन्दना की हथकड़ियाँ टूटीं, समता की धारा से।
मुक्त हो गई देखो क्षण में, कष्टों की कारा से ॥
वीरप्रभु से मिल गया जिसको सुन्दरतम उपहार ॥ समता० ॥

सचमुच समता के पथ पर चलनेवाले साधकों के कष्ट, संकट और आफतें कभी टिकी नहीं रह सकतीं। उन्हें समता का सुन्दर प्रतिफल तो मिलता ही है। विषमप्रसंग में भी समता के कारण उनके हृदय में कभी कलुषितता या मलिनता नहीं आती।

समता-साधक निन्दा और प्रशंसा, बदनामी और प्रतिष्ठा तथा आलोचना-और प्रसिद्धि के क्षणों में न कभी घबराते और उत्तेजित व क्षुब्ध भी नहीं होते हैं, और न वे फूलते हैं, गर्वोन्मत्त होते हैं, अभिमान से ग्रस्त नहीं होते हैं। वे प्रशंसा, प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि पाने के लिए लालायित नहीं होते और न ही कोई निन्दा, बदनामी या आलोचना का काम करते हैं, किन्तु तेजोद्वेषी, ईर्ष्यालु, विद्वेषी या साम्प्रदायिक उन्माद में उन्मत्त लोग अकारण ही उनकी बदनामी करके जनता की दृष्टि में उन्हें नीचा दिखाने, उनकी आलोचना करके समाज में उनके प्रति श्रद्धा को घटाने तथा निन्दा करके उनके उत्कर्ष या प्रसिद्धि को रोकना चाहते हैं। स्वयं उच्चाचारी, क्रिया पात्र या अध्यात्मयोगी कहलाने के लिए दूसरों को नीचा, शिथिलाचारी या घृणित बतलाने की प्रवृत्ति साधु समाज में भी बहुत चल पड़ी है। परन्तु सच्चा साधु इस प्रकार की निन्दा, गाली या अपशब्दों की बौछारों से अपना स्वीकृत पथ नहीं बदलता। वह समभाव के आग्नेय पथ पर चलकर अपनी उन्नत मनःस्थिति का परिचय देता है।

एक समभावी साधु कहीं जा रहे थे। एक व्यक्ति ने उन्हें देख कर गालियाँ दीं—"तू बड़ा नालायक है, दुष्ट है, गलीच और गंदा है।" समभावी साधु ने शान्ति पूर्वक उत्तर दिया—"भाई ! तुम्हारा कहना बिलकुल सत्य है।" यों कहकर वे आगे बढ़ गये। गाँव के निकट पहुँचे तो नर-नारियों को पता चला और वे झुंड के झुंड उनके स्वागत के लिए आए। वे नारा लगाने लगे—"घणी खम्मा। छह काया के प्रतिपाल ने घणी खम्मा आदि। इस प्रकार का गुणानुवाद सुनकर मुनिवर ने कहा—"तुम्हारा कहना भी सत्य है।" मुनि की बात सुनकर गाली देने वाला पशोपेश में पड़ गया। उसने सोचा-इन्होंने गाली देने पर भी मुझे सत्य कहा और गुणगान करने वालों को भी सत्य बताया। इसमें कुछ रहस्य होना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आखिर मुनि ने एक निरवद्य स्थान में पहुँच कर निवास किया। भक्त लोग मंगल पाठ एवं स्तवन आदि सुनकर चले गए। तब गाली देने वाले ने उन्हें अकेले में पूछा—"महाराज ! आपने निन्दा करनेवाले और प्रशंसा करनेवाले, दोनों को सच्चा कहा इसके पीछे क्या रहस्य है ? मुनि ने शान्त भाव से कहा—"भाई ! तुमने मुझे जितनी गालियाँ दीं, उतनी सब बुराइयाँ मुझ में मौजूद हैं। अगर मैं सारी बुराइयों से छुटकारा पा गया होता, और लायक होता तो मुक्ति नहीं पा गया होता। इस कारण मैं नालायक हूँ। मेरी आत्मा में अभी तक मलिनता है। आत्मा मलिन न होती तो मुझे केवलज्ञान हो जाता। मुझ में अभी तक कई दुर्गुण हैं, इसलिए मैं गन्दा हूँ। भक्तों ने मुझे धन्यवाद दिया। मेरा गुणगान किया, सो वास्तव में वह मेरा गुणगान नहीं था, संयम और साधुता का गुणगान था। वे तप-संयम की प्रशंसा और स्तुति करते थे, मेरी नहीं। संयम और साधुता सदैव प्रशंसनीय और स्तुत्य है। इस प्रकार तुमने मेरे कर्मों को दृष्टिगत रखकर अपने उद्‌गार प्रगट किये हैं, और उन्होंने साधुता के दृष्टिकोण को अपने समक्ष रखा है। अतः दोनों ही सच्चे हैं।" मुनि के मुँह से स्पष्टीकरण सुनकर वह गाली देनेवाला उनके चरणों में गिर पड़ा और पश्चात्तापपूर्वक उनसे क्षमा मांगी।

गृहस्थ वेष में भी कई ऐसे साधक होते हैं, जो निन्दा और प्रशंसा में समभाव रखते हैं।

लाहौर में एक छज्जूराम भक्त था। उसके पास एक व्यापारी का लड़का पढ़ने आया करता था। एक दिन उस लड़के ने शरीर पर कीमती गहने पहने हुए थे। छज्जू भगत ने उसके गहने उतार कर अपने पास रख लिए, क्योंकि उन्होंने सोचा कि रास्ते में कोई उसके गहने छीन ले तो महात्मा सज्जन पुरुष की बदनामी होगी। लड़का घर पहुँचा तो उसकी मां ने पूछा—"बेटा ! गहने कहाँ गए ?" वह बोला—"भक्त जी ने उतार लिए हैं। उसने यह बात दूसरी स्त्री से कही, दूसरी ने तीसरी से। यों बात से बतंगड़ बन गया। सभी कहने लगे—भक्त लुटेरा है, इसकी नीयत खराब है।" यों छज्जू भगत की निन्दा घर-घर में होने लगी। इतने में लड़के का पिता आया तो उसने अपनी पत्नी से सारी बात जानी। वह सीधा भक्त के पास पहुँचा। भक्त ने उन्हें गहने सौंपते हुए कहा—"मैंने लड़के के शरीर पर गहनों से खतरा समझ कर उतार कर रख लिए थे कि आप को सौंप दूंगा और कोई कारण न था। आप इन्हें ले जाइए।" लड़के का पिता गहने लेकर घर आया। उसने कहा—भक्त जी बहुत समझदार और निःस्पृह हैं।" इस प्रकार बात एक कान से दूसरे कान पहुँचते हुए भक्त की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। जब भक्त छज्जूराम को अपनी निन्दा और स्तुति की बात मालूम हुई तो उन्होंने दो चुटकियों में राख लेकर उन्हें फेंक दी। लोगों ने इसका रहस्य पूछा तो बोले—"यह निन्दा की चुटकी है तो यह है प्रशंसा की चुटकी। दोनों ही फेंकने लायक हैं। दुनिया के द्वारा की हुई अपनी निन्दा-प्रशंसा पर ध्यान नहीं देना चाहिए। अकसर यह देखा जाता है कि निन्दा की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षा प्रशंसा को पचाना बड़ा कठिन होता है। क्योंकि निन्दा के समय तो व्यक्ति सावधान रहता है, किन्तु प्रशंसा के समय वह गाफिल हो जाता है।

एक चतुर कलाकार ने सोचा कि कोई ऐसा उपाय सोचा जाए ताकि मृत्यु आए तो खाली लौट जाए। बहुत सोच विचार कर उसने अपने जैसी १२ मूर्तियाँ बनायीं। एक दिन जब मरणकाल में यमदूत लेने आए तो वह कलाकार उन मूर्तियों के बीच में जा कर बैठ गया। यमदूत ने बहुत देखा-भाला, परन्तु असली आदमी को पहचान न सका। लौट कर यमराज से उसने सारी बात कही। यमराज ने उसे पहचानने की तरकीब बताई। यमदूत ने मूर्तियों को देखकर कहा—"वाह! क्या कमाल की मूर्तियाँ बनाई हैं। ऐसा कलाकार तो आज तक संसार में कोई नहीं हुआ, परन्तु इतनी सुन्दर मूर्तियों में सिर्फ एक ही कमी रही है।" इतना सुनना था कि कलाकार आपा भूल कर प्रशंसा की चकाचौंध में प्रगट हो गया और बोल उठा—"वह कमी कौन-सी रह गई?" यमदूत ने उसे पकड़ लिया और कहा—"बस, यही कमी रही है।"

हाँ तो मैं कह रहा था कि समता की निष्ठावाला साधक निन्दा-स्तुति में सम रहता है। वह प्रसिद्धि, आडम्बर, प्रतिष्ठा, नामवरी आदि से दूर रहता है। अगर सहज में कोई प्रतिष्ठा या यशकीर्ति उसे मिल जाती है तो भी वह अन्तर से निर्लिप्त रहता है अगर कोई व्यक्ति उससे द्वेष या पूर्वग्रह रखकर उसकी बदनामी करने या लोकश्रद्धा गिराने के लिए षड्यन्त्र रचता है, या कोई क्षति पहुँचाता है तो भी वह उसके प्रति कल्याण की भावना रखता है।

मगधसम्राट् श्रेणिक बौद्ध धर्मावलम्बी थे, इसलिए रानी चेलना के गुरु जैन-धर्मी मुनि को वह किसी बहाने से नीचा दिखाना चाहता था। ध्यानस्थ श्री यशोधर मुनि के गले में उन्होंने मरा हुआ सांप डाल दिया। इससे चींटियाँ आकर काटने लगीं। रानी चेलना ने देखा तो वह सांप निकाल कर फैंका। थोड़ी देर बाद मुनि का ध्यान खुला तो उन्होंने स्वयं को बदनाम करने वाले राजा तथा सत्कार करने वाली रानी दोनों के प्रति द्वेष या राग न रखकर समभावपूर्वक कहा—तुम दोनों का कल्याण हो।" मतलब यह कि संत शत्रु और मित्र दोनों के प्रति समभावी होते हैं। इसलिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—**'न या वि पूयं गरहं च संजए'**—मुनि पूजा और निन्दा दोनों में विचलित न हो, समभाव पर दृढ़ रहे।

यही कारण है कि साधु-पुरुष सम्मान और अपमान में सम रहते हैं

भगवद्गीता १२/१८-१९ में साधक (भक्त) कहाँ-कहाँ समभाव रखे? इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण सुख-दुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतनः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियोनरः॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो शत्रु और मित्र पर, मान और अपमान में, शीत और उष्ण, सुख और दुःख आदि द्वन्द्वों में सम है, संसार में रहता हुआ भी संसार की आसक्ति से रहित है।

जो निन्दा और स्तुति को समान समझने वाला है, और वस्तुस्वरूप पर मनन करता है, जिस किसी तरह से शरीर का निर्वाह होने में सदैव सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता से रहित है, वह स्थिरबुद्धिवाला भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय है।

इन दोनों श्लोकों में साधु-चरित पुरुष की समत्ववृत्ति का उल्लेख किया गया है। इनमें शत्रु-मित्र, मान-अपमान, निन्दास्तुति सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में सम रहने के सम्बन्ध में हम विस्तृत विवेचन कर आये हैं।

इसके अतिरिक्त ऐसे साधक को शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों में भी समभाव से रहना आवश्यक है। कई दफा साधक अधिक सर्दी या अधिक गर्मी होने पर घबरा जाता है, अपना सन्तुलन बिगाड़ लेता है। वह हायतोबा मचाने लगता है। ऐसा साधक समता की साधना में कच्चा रह जाता है।

इसी प्रकार अनुकूल या प्रतिकूल स्थान देखकर भी कई साधक बौखला उठते हैं। या तो वे स्थान की निन्दा या प्रशंसा करने लगते हैं या वे वहाँ से भाग कर अन्यत्र जाने को तत्पर हो जाते हैं। इसीलिए यहाँ भक्त के लक्षणों में 'अनिकेत' विशेषण प्रयुक्त किया गया है। तथागत बुद्ध को देखकर एक राजकुमारी मोहित हो गई थी, उसने विवाह का प्रस्ताव रखा। परन्तु तथागत ने सर्वथा इन्कार कर दिया। इसे उसने अपना अपमान समझा। दूसरे राजकुमार के साथ जहाँ उसकी शादी हुई थी; उसी नगर में एकबार भगवान बुद्ध अपने शिष्य समुदाय सहित पहुँचे। वहाँ की रानी बुद्ध से रुष्ट थी, इसलिए उसने बुद्ध और उनके शिष्यों को हैरान करना शुरू किया। एक दिन बुद्ध के शिष्यों ने निवेदन किया—"भंते ! यहाँ से अन्यत्र चल देना चाहिए। बुद्ध ने पूछा—"क्यों ?" "यहाँ हमारा बहुत ही अपमान होता है, लोगों में भक्ति नहीं है।" शिष्यों ने कहा। आगे जहाँ जाओगे वहाँ भी ऐसी हालत हुई तो फिर क्या करोगे ? क्या तीसरी और चौथी जगह जाओगे ? शिष्य बोले—"फिर क्या करें ?" तथागत बुद्ध ने कहा—"वत्स ! इससे श्रेष्ठ यह है कि अपमान आदि को मन में न लाकर अपनी समता-साधना में संलग्न रहो, अपमानादि के डर से स्थान बदलना कायरता और दब्बूपन है। स्थानभ्रष्ट आदमी शोभा नहीं पाता।"

इस प्रकार बुद्ध ने प्रतिकूल स्थान में भी समत्व का परिचय दिया। आसक्ति का त्याग भी राग-द्वेषरहित रहकर समता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। यथालाभ सन्तोष का गुण भी समत्व को परिपुष्ट करता है, लाभ-अलाभ में सम रहने की प्रेरणा देता है। मौन भी वस्तु-तत्व का यथार्थ मनन चिन्तन करके मन को सन्तुलित कर लेता है, वह किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं रखता, मानसिक सन्तुलन नहीं खोता। साथ ही स्थितप्रज्ञ व्यक्ति अपने जीवन में समत्व की तुला पर हर वस्तु को तौलकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चलता है। भगवद्गीता में भक्त एवं स्थितप्रज्ञ के लक्षण में बताया गया है—'**समलोष्ठाश्मकांचनः**' वह ढेला पाषाण और स्वर्ण पर समभाव रखता है। श्री आनन्दघनजी ने भी शान्ति की प्राप्ति के लिए यही बताया है—

मान-अपमान चित्त सम गणे, सम गणे कनक पाषाण रे।
वन्दक-निन्दक सम गणे, इस्यो होय तू जाण रे ॥शा० ९॥
सर्व जगजन्तु ने सम गणे, सम गणे तृणमणि भाव रे।
मुक्ति-संसार बेऊ सम गणे, मुणे भवजल निधिनाव रे ॥शा० १०॥

शान्ति का अभिलाषी साधक सम्मान और अपमान के समय चित्त में सम रहे, सोना और पत्थर दोनों को समान समझे। जब तू इस प्रकार का समभावी हो जाएगा, तभी समझना कि मैं शान्तिपिपासु हूँ। जगत् के समस्त प्राणियों को आत्मद्रव्य की दृष्टि से समान समझे, तिनका और मणि दोनों को पुदगल की दृष्टि से समान माने, मुक्ति में निवास हो या संसार में, प्रतिबुद्ध (वीतराग) भाव से दोनों को समान समझे। इस प्रकार समतारूप शान्तिवृत्ति को साधक संसार समुद्र तरने के लिए नौका समझे।

इस प्रकार अमुक-अमुक क्षेत्रों में समता को शान्ति प्राप्ति के लिए अनिवार्य बताया है। तिनका और मणि, सोना और पाषाण दोनों में समभाव की वृत्ति तभी सुदृढ़ हो सकती है जब समत्वसाधक वस्तु-तत्व का गहराई से चिन्तन करता है, और सोना और मणि पर ममता न रखकर समताभाव रखता है। ममता या आसक्ति ही दुःख का कारण है, जब समता या आसक्ति जीवन में ओतप्रोत हो जाती है, तब बहुमूल्य से बहुमूल्य पदार्थ पर के वियोग होने या संयोग न होने पर उसे रंजोगम नहीं होगा। उसके पास गृहस्थजीवन में धनसम्पत्ति आदि रहने पर भी वह उसमें लिप्त, आसक्त या मूर्छित नहीं होगा वह मर्यादित परिग्रह या नाम-मात्र का परिग्रह रखकर जीवन को सुखशान्तिमय बना लेगा।

पंढरपुर में रांका और उसकी पत्नी बांका दोनों स्वेच्छा से गरीबी धारण करके समभावपूर्वक जीवन-यापन करते थे। इनका समभाव इतना सुदृढ़ था कि सोना और मिट्टी दोनों को बराबर समझते थे। एकबार रांका और बांका लकड़ी काट कर जंगल से आ रहे थे, कि रास्ते में अचानक एक सोने की थैली से रांका के पैर का स्पर्श हुआ। रांका ने देखा कि बांका की वृत्ति चलित न हो जाए, इसलिए रांका उस सोने की थैली पर मिट्टी डालने लगा। "अचानक बांका ने देखा तो उसने पूछा "क्या कर रहे हैं?" यह जो सोने की थैली है, उस पर जरा धूल डाल रहा हूँ, ताकि उसे देखकर तेरा मन चलित न हो" इसलिए मैं उस पर धूल डाल रहा हूँ।" बांका बोली—"वाह! यह धूल तो है ही, धूल पर धूल का क्या ढकना?" कितनी समता थी, रांका-बांका में। वे सोने और धूल में कोई अन्तर नहीं समझते थे।

निष्परिग्रही संत सोना और धूल में समभाव रखते हैं। उनका मन सोना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देखकर जरा भी चलायमान नहीं होता। जैसा कि सूत्रकृतांग सूत्र में साधु के लिए कहा गया है—

'समयं सया चरे' —(२।२।३)

साधु को सदा समता का आचरण करना चाहिए।

योगी आनन्दघनजी ऐसे ही समभावी सन्त थे। उनके मन में सोने और पाषाण पर समभाव था। वैसे तो उन्हें अनेक योग सिद्धियाँ प्राप्त थीं, वे चाहते तो सोना भी बना सकते थे। परन्तु वे इसे मिट्टी समझते थे। एक बार उनके साथी मुस्लिम फकीर ने उन्हें सोना बनाने की रसकूपिका भेजी। संत आनन्दघनजी ठहरे निःस्पृह संत। उन्होंने सोचा—संत को तो कोई योग विद्या जैसी वस्तु देते तो अच्छा था। इसकी मुझे जरूरत नहीं है। यह कहकर उन्होंने रसकूपिका को वहीं जमीन पर उड़ेल दिया। यह देखकर जो व्यक्ति उसे लाया था, वह कहने लगा—आपने कितनी मूल्यवान् वस्तु यों ही गिरा दी, इससे कितना सोना बन सकता था?" योगी आनन्दघनजी ने पास में पड़ी एक चट्टान पर पेशाब किया, तो वह सोने की बन गई। इसे बताते हुए उस व्यक्ति से कहा—"वह देखो, सोना तो मेरे लिए कोई चीज नहीं है। हम साधुओं के लिए सोना और पत्थर एक-सा है।" ये और इस प्रकार के जीवन के अनेक क्षेत्र हैं, जहाँ समतानिष्ठ साधक समभाव रखता है।

वास्तव में, समत्वनिष्ठ साधक समता का ही अभ्यास करता है, समता का ही ध्यान करता है और समता का ही प्रतिदिन निरीक्षण-परीक्षण करता है। तभी उसके जीवन में समता की नींव पक्की हो जाती है। वह कैसे भी प्रसंगों पर समता से विचलित नहीं होता।

साधक चाहे गृहस्थ हो या साधु समतानिष्ठ तभी बनता है, जब वह समता का अभ्यास करता है। साधु के लिए तो यावज्जीवन सामायिक का विधान है, परन्तु गृहस्थ श्रावक के लिए भी नौवां सामायिक व्रत शिक्षाव्रत के रूप में विहित है। उसे भी समता का अभ्यास करने के लिए प्रतिदिन सामायिक का अनुष्ठान करना आवश्यक बताया है।

समतानिष्ठ व्यक्ति के लिए आचरणीय समताएँ

समता की अनेक कोटियाँ हैं। व्यक्तियों को अपने जीवन में आध्यात्मिक विकास के लिए उन समताओं का आचरण करना परम आवश्यक होता है तभी जीवन बन सकता है।

उन विविध कोटि की समताओं में सर्वप्रथम **व्यक्ति-समभाव** है, जिसका आचरण करना आवश्यक है।

एक स्टीमर समुद्री-मार्ग से विदेश यात्रा कर रहा था। रास्ते में उसका पेंदा फूट जाने से उसमें पानी भरने लगा। स्टीमर के कैप्टन ने क्षण भर अपने कर्तव्य के विषय में विचार किया और सर्वप्रथम छोटे बच्चों फिर महिलाओं को किनारे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पहुंचाया। तत्पश्चात् स्टीमर के कर्मचारियों को एक-एक लकड़ी का तख्ता दिया, ताकि वे तैरकर अपनी जान बचा लें। कैप्टन ने भी अपने लिए एक तख्ता रखा था, जब सब व्यक्ति स्टीमर से बाहर समुद्र में कूदकर तख्ते के सहारे चल पड़े तब कैप्टन समुद्र में कूदने ही वाला था कि अचानक एक लड़का दिखाई दिया, जो स्टीमर के एक कोने में बैठा था। उसे कैप्टन ने कहा तू अभी तक चुपचाप क्यों बैठा रहा ?" उसने कहा—मैं गरीब हूँ। मेरे पास टिकट के पैसे नहीं थे, इसीलिए मैं बिना टिकट चढ़ गया था।" समभावी कैप्टन ने अपने हिस्से का बचा हुआ एक तख्ता देते हुए कहा—"ले यह तख्ता ! इसके सहारे तैरकर समुद्र पार कर ले।" कैप्टन अपने निराधार स्त्री बच्चों की परवाह किये बिना ही अपने हिस्से का तख्ता उस लड़के को दे चुका था, इसलिए अब उसके पास प्राण बचाने का कोई साधन नहीं था। थोड़ी ही देर में स्टीमर में पानी भर गया, कैप्टन ने सन्तोषपूर्वक जल-समाधि ले ली। इसे कहते हैं—व्यक्ति समभाव ! जिस व्यक्ति के जीवन में यह समभाव आ जाता है, वह अपने प्राणों या अभीष्ट पदार्थों की परवाह नहीं करता। इसीलिए भगवद्गीता में समत्वबुद्धि पर जोर दिया गया है—

सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

—अध्याय ६/९

जो पुरुष सुहृत् (निःस्वार्थ हितैषी), मित्र, वैरी, उदासीन (निष्पक्ष), मध्यस्थ (तटस्थ), द्वेषी और बन्धुगणों के प्रति, सज्जन पुरुषों और पापियों के प्रति समबुद्धि—निष्पक्षपात-भाव वाला है, वही समताधारियों में विशिष्ट है। इसके बाद जाति समभाव का नम्बर आता है। समत्वबुद्धि वाला व्यक्ति गृहस्थ हो तो वह अपनी जाति-कौम में रहेगा, फिर भी उसकी बुद्धि में जातपांत, छूआछूत, पंक्तिभेद आदि का व्यवहार तथा अन्य जाति-कौमों के प्रति भेदभाव नहीं रहेगा। वह पक्षपातरहित होकर प्रत्येक जाति-कौमों के प्रति समभाव रखेगा, उनके मौलिक अधिकारों का हनन नहीं करेगा।

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का विभाजन होते ही भारत और पाकिस्तान में हिन्दूमुस्लिम दंगे हो रहे थे। गाँधीजी की जाति-समभावी आत्मा यह देखकर तिल-मिला उठी। उन्होंने स्वयं नोआखाली जाकर इन कौमी दंगों को शान्त कराया। दोनों कौमों के अग्रगण्यों को समझाया। पाकिस्तान को भारत के सरकारी खजाने से हिन्दू लोगों का विरोध होते हुए भी अमुक धन-राशि दिलायी। यह जाति समभाव का ज्वलन्त उदाहरण है। छूआछूत, जातपांत का भेद तो गाँधीजी को छू भी नहीं गया था। बल्कि अस्पृश्योद्धार के लिए स्वयं वे प्राणप्रण से जुटे थे जातिभेद या वर्णभेद के कारण जो अत्याचार शूद्रवर्ण या हरिजन जाति पर सवर्णों द्वारा किये जाते थे, उन्हें गाँधीजी ने एक-एक करके मिटाने का पुरुषार्थ किया था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण संस्कृति के दो उन्नायक—श्रमण भगवान महावीर एवं तथागत बुद्ध, हुए हैं। दोनों ने जातिपांति के भेदभाव को मिटा कर अपने संघ में जातिसमभाव प्रतिष्ठित कर दिया था। दोनों ने अपने संघ में शूद्रजातीय लोगों को गृहस्थ उपासक और श्रमण बनाये थे। जैनसंघ में हरिकेशी चाण्डाल, मेतार्य भंगी आदि साधु बने थे। यमपाल चाण्डाल, सद्दालपुत्त कुंभार, आदि श्रावक बने थे। बौद्धसंघ में सुनीत और सोपाक दोनों अन्त्यज जातीय भिक्षु थे। इसी प्रकार हजारों शूद्रजातीय गृहस्थ उपासक थे। श्रमण परम्परा जाति समभाव की निष्ठा सूचित करती है।

संत एकनाथ ने रनिया महार के यहाँ भोजन स्वीकार किया था। श्री रामानुजाचार्य कावेरी स्नान करके लौटते समय अपना जात्यभिमान मिटाने के लिए शूद्रशिष्य के कंधों पर हाथ रख कर आते थे। जातिभेद को वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों धर्मों ने महापाप और धर्म पर कलंक माना है। इसलिए समताचारी साधक में तो जातिसमभाव होना अनिवार्य है।

इसके बाद है—धर्मसम्प्रदाय-समभाव! इसका मतलब दूसरे धर्म-सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु, उदार एवं निष्पक्ष बनना है। धर्म-सम्प्रदाय समभाव का अर्थ यह नहीं है कि हम अपने धर्म-सम्प्रदाय को छोड़ दें या उसकी अच्छी धार्मिक क्रियाओं या नियमोपनियमों का पालन करना छोड़कर दूसरे धर्म-सम्प्रदायों की क्रियाएँ करने लगें या नियम पालने लगें। परन्तु दूसरे धर्मों की अच्छी बातों को अपनाएँ, उनके प्रति सहिष्णु बनें, उनके उत्सवों, त्यौहारों या कार्यक्रमों में भाग लें, उन्हें सहयोग दें, विपत्ति आने पर सहायता दें, दूसरे धर्म के लोगों के साथ भी भाईचारा रखें। धर्मसम्प्रदाय समभाव भी समता का एक विशिष्ट अंग है। आये दिन धर्मसम्प्रदायों की आपस में लड़ाई, संघर्ष प्रहार आदि से कौन-सा धर्मपालन होता है? कुछ समझ में नहीं आता। अतः मानवता एवं समता के नाते दूसरे धर्म-सम्प्रदायों के प्रति भी समताचारी को निष्पक्ष, उदार एवं सहिष्णु होना चाहिए।

भारत की सीमा पार के एक मुस्लिम सुलतान के राजगुरु मौलवी साहब एक बार मक्का की यात्रा पर जाते हुए गुजरात की सीमा से गुजर रहे थे। उनके साथ बहुत बड़ा दलबल था, धन भी काफी था। कुछ लोगों ने धर्मद्वेष के कारण उन्हें लूटने की तैयारी की। राजा वीर धवल ने भी कहा कि मौलवी को लूट कर उसकी सम्पत्ति का हिन्दू धर्म के कार्यों में उपयोग कर लिया जाए। महामन्त्री तेजपाल को यह बहुत ही अनुचित लगा। धर्मद्वेष के रूप में इस प्रकार के अत्याचार उनके उदात्त जैन संस्कारों के सर्वथा प्रतिकूल थे। महामन्त्री ने राजा वीरधवल से अनुरोध किया कि यह घोर अन्याय होगा। किसी अपराध के बिना किसी को लूटना, सताना या उत्पीड़ित करना धर्म हो ही कैसे सकता है? यह घोर पाप है। निरपराध को लूटकर उस धन से अपने धर्म का गौरव बढ़ाने की कल्पना माँ के शरीर को बेचकर धन कमाने के समान है।" महामन्त्री ने इस स्पष्ट निवेदन के साथ राजा को इस कुकृत्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से रोका और मौलवी साहब को बड़े सम्मान व प्रेम के साथ तीर्थयात्रा (हज) करने के लिए आगे जाने दिया। मौलवी साहब का हृदय भारत के मन्त्रियों की पर-धर्म-सहिष्णुता और उदारता की नीति से प्रभावित हुआ। तीर्थयात्रा से लौटते समय फिर मौलवी साहब ने मन्त्री तेजपाल के पास रुककर विश्राम लिया। मन्त्री ने प्रेम से अतिथि सत्कार करके उनका हृदय जीत लिया। मौलवी ने अपने सुलतान के समक्ष भारतीय लोगों के परधर्म-सहिष्णु और उदार व्यवहार का बखान किया तो सुलतान ने भी प्रभावित होकर मन्त्री तेजपाल के प्रति श्रद्धा और आदर के साथ सन्धिपत्र भेजा और अनुरोध किया कि यह देश आपका है। हम आपके सामन्त हैं। हमें भी अपनी सेवा का अवसर देकर कभी अनुगृहीत कीजिए।"

महामन्त्री तेजपाल के धर्मसमभाव का कितना जबर्दस्त प्रभाव मौलवी और सुलतान पर पड़ा। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि धर्मसमभाव की समतानिष्ठ व्यक्ति के लिए कितनी आवश्यकता है। छत्रपति शिवाजी भी परधर्मसहिष्णु थे। उन्होंने कई जगह मुस्लिमों को अपने धर्मस्थान बनवाने के लिए मदद दी थी।

दृष्टि-समभाव भी समतानिष्ठ जीवन में आवश्यक है। दृष्टि-समभाव का अर्थ है, दूसरों के दृष्टिकोण पर भी धैर्य एवं सहिष्णुतापूर्वक विचार करना, उन्होंने यह बात किस अपेक्षा से कही है? तथा किस अपेक्षा तक यह बात यथार्थ है? इस प्रकार निष्पक्ष एवं अनेकान्त दृष्टि से विचार करना दृष्टि समभाव है। आचार्य हेमचन्द्र और हरिभद्रसूरि में दृष्टि समभाव कूट-कूट कर भरा था। जब आचार्य हेमचन्द्र को कुमारपाल राजा ने विरोधियों के कहने से प्रभासपाटण स्थित महादेव मन्दिर के उत्सव पर आमन्त्रित किया, और हेमचन्द्राचार्य के पधारने पर उन्हें कहा गया—महादेव[1] को प्रणाम करिए। वहाँ उन्होंने जैन-दृष्टि और शैव-दृष्टि का समन्वय करते हुए महादेव की स्तुतिपूर्वक नमस्कार किया—

यत्र तत्र समये योऽसि सोऽस्यभिधया भया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद् एक एव भगवन्! नमोऽस्तुते॥

जिस-जिस समय में जिस किसी नाम से जो कोई भी महापुरुष हुआ हो, अगर वह रागद्वेषादि दोषों से रहित है तो वह एक ही है, हे भगवन्! आपको मेरा नमस्कार है।

इसके पश्चात् श्रीहेमचन्द्राचार्य ने महादेवाष्टक बनाया, जिसमें महादेव का वास्तविक स्वरूप बताया गया है। इसी प्रकार मानतुंगाचार्य ने भी भक्तामर स्तोत्र में वीतराग प्रभु को ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, पुरुषोत्तम आदि के रूप में भी बताया है। योगीश्वर श्रीआनन्दघनजी ने नमि जिन स्तवन में छहदर्शनों को जिनेश्वर प्रभु के अंग बताए हैं।

---

१ महादेवं प्रणम!

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"राम कहो रहमान कहो कोऊ कान्ह कहो महादेवरी।
पारसनाथ कहो कोऊ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेवरी॥"

इस प्रकार राम आदि सबको पर ब्रह्मस्वरूप बताया है। आचार्य हरिभद्र ने दृष्टि भेद मिटाकर निष्पक्ष रूप से कहा है—

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥"

मेरा न तो महावीर के प्रति कोई पक्षपात है, और न ही सांख्यमत प्रवर्तक कपिल आदि ऋषियों के प्रति कोई द्वेष है। जिसके भी वचन युक्तिसंगत हों, उनको ग्रहण कर लेना चाहिए।

जब किसी ने यह प्रश्न उठाया कि विभिन्न धर्मसम्प्रदायों के साधुओं के अलग-अलग वेष हैं, साधु श्रावकों के क्रियाकाण्डों में भी अन्तर है, उनके देव (संस्थापक, प्रवर्तक या आराध्य अवतार आदि) भी अलग-अलग हैं, फिर इनमें समभाव और समन्वय कैसे स्थापित हो सकता है, इसके उत्तर में जैनाचार्य स्पष्ट कहते हैं—

"नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न च तत्त्ववादे न च तर्कवादे।
न पक्षपाताश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव॥"

न तो दिगम्बरत्व से मुक्ति होती है, न श्वेताम्बरत्व से, न तत्त्वों के वाद-विवाद से मुक्ति हो सकती है, न तर्कवितर्क करने से। न किसी पक्ष का आश्रय करने से ही मुक्ति होती है, मुक्ति तो क्रोधादि कषायों से मुक्त होने पर ही होती है।

इसी के प्रतिफल के रूप में एक महान् समभावी जैनाचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं—

"सेयंबरो वा आसंबरो वा बुद्धो वा तहव अन्नोवा।
समभाव भाविअप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो॥"

चाहे कोई श्वेताम्बर हो, चाहे दिगम्बर, चाहे कोई बौद्धधर्मी हो या अन्य धर्मावलम्बी हो, मैं दावे के साथ कहता हूँ कि समभाव से जिसकी आत्मा भावित है, वह अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है।

मतलब यह है कि चाहे कोई किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का अवलम्बन लेकर चलता हो, अपने-अपने धर्म-सम्प्रदाय के क्रियाकाण्डों, नियमोपनियमों या आचारों का पालन करता हो, परन्तु जब तक उसकी दृष्टि, बुद्धि और विचार में समभाव नहीं आ जाएगा, राग-द्वेष और कषायों का उपशमन होकर व्यवहार में भी समन्वयमूलक समभाव नहीं आ जाएगा, तब तक उसके लिए मोक्ष दूरातिदूर है। जीवन में सांगोपांग समभाव आने पर ही मोक्ष का द्वार खुलता है।

इसी प्रकार मानव-जीवन में ऊँची-नीची परिस्थितियाँ आने पर कई प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल उतार-चढ़ाव आने पर साधक यदि समभावपूर्वक नहीं रहता, अपना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्तुलन खो देता है परिस्थितियों के सामने घुटने टेक देता है तो समझ लो, उस साधक के जीवन में समत्व प्रतिष्ठित नहीं हुआ। समत्व प्रतिष्ठित होता है, समभाव या सामायिक के अभ्यास से। समत्व प्रतिष्ठित हो जाने पर साधक—गृहस्थ हो या साधु, कैसी भी विकट परिस्थिति या संकटापन्न वातावरण क्यों न हो, घबराता नहीं है। वह परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढाल लेता है। इसीलिए आचार्य अमितगति ने सामायिक पाठ में भगवान् से प्रार्थना की है—

"दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे योगेवियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ!"

हे नाथ! दुःख हो या सुख, वैरी हो या बन्धुवर्ग हो, इष्ट का वियोग हो या अनिष्ट का संयोग, महल हो या जंगल; सर्वत्र सभी परिस्थितियों में समग्र ममत्वबुद्धि का परित्याग करके मेरा मन सदैव सम रहे। ममत्वबुद्धि होने पर ही इष्टवियोग और अनिष्ट संयोग में मनुष्य घबड़ा जाता है, मानसिक सन्तुलन खो बैठता है, समत्व को भूल जाता है। इसलिए साधक समत्व के द्वारा ही परिस्थितियों पर नियन्त्रण रख सकता है।

अब सबसे महत्वपूर्ण समता का उल्लेख आपके सामने कर दूँ—वह है प्राणिमात्र के प्रति समता। यही समस्त समताओं में मूर्धन्य है। इस एक समत्व के होने पर सारे पाप, सभी अनिष्ट, बुराइयाँ अथवा खुराफातें बन्द हो जाएगी। हिंसा आदि की प्रवृत्ति मनुष्य तभी करता है, जब वह दूसरों को पराया समझता है, मान-अपमान रागद्वेष कषाय आदि की सभी प्रवृत्तियाँ दूसरों को आत्मीय न समझने पर होती हैं। इसीलिए सामायिक साधना में इसी पर अधिक जोर दिया गया है।

जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं॥

—जो त्रस और स्थावर समस्त प्राणियों पर सम है, समभाव रखता है, उसी का वह समभाव सामायिक होता है, यह केवलज्ञानियों द्वारा भाषित है।

प्राणिमात्र पर समता हुए बिना क्या भगवान महावीर चण्डकौशिक सर्प और अनार्यदेश निवासी मनुष्यों के पास जा सकते थे? प्राणिमात्र के प्रति जिसके हृदय में समत्व-आत्मौपम्य स्थापित हो जाता है, वह क्रूर से क्रूर प्राणी के पास जाने से घबराता नहीं। दशवैकालिक सूत्र में प्राणिमात्र के प्रति समत्व का सुपरिणाम बताया गया है—

"सव्वभूयप्पभूयस्स समं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधई॥"

जो सर्वभूतात्मभूत (सब प्राणियों में मैं हूँ, मेरे में सभी प्राणी हैं, इस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध से ओतप्रोत) हो गया है, समस्त प्राणियों को समभाव से देखता है, आश्रव द्वारों (कर्मों के आगमन के स्रोतों) को जिसने बन्द कर दिये हैं, जो दान्त है, उसके पापकर्मों का बन्धन नहीं होता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सचमुच, जब साधक षट्कायिक प्राणियों को आत्मवत् समझने लगता है, तब आत्मौपम्य से ओतप्रोत उस साधक का जीवन निष्पाप, निर्द्वन्द्व, निर्भय और पवित्र बन जाता है। भगवद्गीता में भी इसी बात का समर्थन किया गया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमोमतः ॥३२॥

—अध्याय ६

अर्थात्—जो अपने आपको समस्त प्राणियों में स्थित देखता है तथा आत्मा में समस्त प्राणी देखता है, ऐसा सर्वव्यापी अनन्तचेतन में आत्मौपम्यभाव से युक्त आत्मा वाला साधक सर्वत्र समदृष्टि होता है।

हे अर्जुन! जो समस्त प्राणियों में आत्मौपम्य भाव से सम देखता है, सुख या दुःख को भी सबमें सम देखता है, वह योगी परमश्रेष्ठ माना गया है।

बन्धुओ! प्राणिमात्र के प्रति समत्व की कसौटी यह है कि किसी भी अनिष्ट प्राणी को देखने पर भी वह उसे शत्रु की दृष्टि से नहीं, मित्र की दृष्टि से, आत्मीय-जन की दृष्टि से देखता है। जब उसको कोई कष्ट होता है, तो उसका असर उस प्राणिमात्र के प्रति समत्वनिष्ठ व्यक्ति पर भी पड़ता है। कहते हैं, कार्तिकेय ने जब देवदास वृक्ष को जरा-सा खरौंच लिया तो पार्वती के चेहरे पर खरौंच लग गई थी। इसी प्रकार एक बैल की पीठ पर किसी ने लाठी से प्रहार किया था, उसका निशान एवं उसका संवेदन श्री रामकृष्ण परम हंस की पीठ पर हो गया था।

नामदेव को उसकी मां ने एक दिन काढ़े के लिए जस्टी पलाश की छाल उतार कर ले आने के लिए कहा। नामदेव ने कुल्हाड़ी से छाल उतारी, फिर सोचा कि जरा अपने पैर की छाल उतार कर देखूं तो सही कि कैसी वेदना होती है। बस, उसने अपने पैर पर कुल्हाड़ी चलाकर उसकी चमड़ी छील कर देखा, पीड़ा तो हुई, पर नामदेव ने उसे समभाव पूर्वक सह ली। घर आया तो मां ने धोती में खून के धब्बे लगे देख कर उलाहना दिया। परन्तु नामदेव तो उसी दिन से "दूसरे प्राणियों को भी अपनी ही तरह सुख-दुःख होता है", इस आत्मौपम्य या आत्मसमन्वय को समझ चुका था। प्राणि-समभाव उसके विचारों में प्रकट हो चुका था।

ये समता के कुछ पाठ हैं, जिन्हें समतानिष्ठ बनने वाला साधक पढ़ता है, और जीवन में उतारता है। समता का आचरण करने वाला साधक निर्भय, निष्ठावान, सहिष्णु एवं वात्सल्य वृत्ति होता है। उसके हृदय में राग द्वेष, ईर्ष्या, छलकपट, वैर-विरोध या पक्षपात नहीं होता। वह सबका मंगल सोचता है, मंगल ही देखता,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुनता, और बोलता है। ऐसे समत्वनिष्ठ साधकों के लिए भगवद्-गीता का आशीर्वचन है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

जिनका मन साम्ययोग (समत्वभाव) में स्थित है, उन्होंने इसी जीवित अवस्था में सारा संसार जीत लिया अर्थात् वे जीते जी संसार से मुक्त हो गए। क्योंकि वीतराग परमात्मा निर्दोष (दोषों से रहित) और सम हैं। इस कारण वे एक तरह से परमात्मा में ही स्थित हैं। इसी लिए गौतम कुलक में कहा गया—

'ते साहुणो जे समयं चरंति।'

साधु वह है, जो समता का आचरण करे।

□

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१०
सत्त्ववान् होते दृढ़धर्मी

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

गौतमकुलक के आठ जीवन सूत्रों पर मैं इससे पहले आपके समक्ष विवेचन कर चुका हूँ। आज नौवें जीवन सूत्र के सम्बन्ध में आपके समक्ष कुछ विचार प्रस्तुत करूँगा।

सत्त्ववान् मानव, विघ्न-बाधाएँ और धर्म-परीक्षा

आप जानते ही हैं कि सद्धर्म के पथ पर चलते हुए अनेक विघ्नबाधाओं का आना स्वाभाविक है। जीवन में धर्म-पालन करते हुए कई उतार-चढ़ाव आते हैं, उनका आना स्वाभाविक है। परन्तु यह याद रखिए कि कठिनाइयों का मानव-जीवन में बहुत बड़ा महत्व है। कोई सोच सकता है कि कठिनाइयों से तो कष्ट होता है, प्रगति में बाधा पड़ती है, वे किसी के जीवन में महत्वपूर्ण किस प्रकार हो सकती हैं? जीवन में सामान्य मानव तो सुख-सुविधाओं को महत्वपूर्ण मानता है। वह यही सोचा करता है कि सुख-सुविधा से परिपूर्ण हो, वही धर्म ठीक है, अथवा जहाँ तक संकट न आए, यहाँ तक धर्म का पालन हो जाए वही ठीक है। परन्तु यह विचार अल्पसत्त्व एवं दुर्बल मन वालों का है। वास्तव में यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। धर्मपालन में आने वाली कठिनाइयों के महत्व पर गहराई से विचार किया जाए तो मालूम होगा कि कठिनाइयाँ मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के विकास एवं धर्मदृढ़ता के लिए जरूरी है। कठिनाइयाँ जीवन की कसौटी हैं, जिनमें व्यक्ति के आदर्श, धर्म, सिद्धान्त, नैतिकता और शक्तियों का मूल्यांकन होता है। कठिनाइयाँ एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति सुदृढ़, प्रबुद्ध और अनुभवी बनता है। प्रारम्भिक कठिनाइयाँ मनुष्यों को बड़ी भयंकर जान पड़ती है। किन्तु धीरे-धीरे वही व्यक्ति कठिनाइयों में पलते-पलते इतना दृढ़ एवं परिपक्व हो जाता है कि जिन परिस्थितियों में वह भय-भीत, चिन्ताग्रस्त एवं विषादमग्न रहा करता था, उन्हीं परिस्थितियों में वह बेधड़क होकर धर्म पथ पर चलता रहता है।

दूसरी बात यह है कि कठिनाइयों में ही मनुष्य के धर्म की कसौटी होती है कि वह उस पर कितना दृढ़ है, अविचल है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

"धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपतकाल परखिये चारी॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म की परीक्षा आपात्काल में ही होती है। वैसे भी संसार में कोई ऐसा मनुष्य नहीं, जिसे अपने जीवन में कभी मुसीबतों का सामना न करना पड़ा हो। परन्तु दुःख, विपत्ति, कष्ट, संकट या कठिनाइयाँ सत्त्ववान् के लिए इष्टापत्ति हैं, इनसे उसके साहस, धैर्य, धर्म और सहिष्णुता की परीक्षा होती है। परीक्षा की कसौटी पर प्रतिष्ठित हुए बिना कोई भी व्यक्ति या वस्तु उत्कृष्टता प्राप्त नहीं कर सकती, न कोई उसका मूल्य ही होता है। सोना भयंकर आग में तप कर ही शुद्ध, उत्कृष्ट और उपयोगी होता है। कड़ी धूप में तपने पर ही खेतों में खड़ी फसल पकती है। तपी हुई आग की गोद में पिघल कर ही लोहा साँचे में ढलने के योग्य बनता है। जनता द्वारा पूजी जाने वाली पाषाण मूर्ति पर पैनी छैनी की असंख्य चोटें पड़ती हैं, तभी वह पूजनीय बन पाती है। परीक्षा की अग्नि में तप कर ही वस्तु शक्तिशाली, सौन्दर्ययुक्त और उपयोगी बनती है। मनुष्य भी कठिनाइयों में तप कर उत्कृष्ट सत्त्ववान्, सौन्दर्य-युक्त एवं प्रभावशाली बनता है। जीवन को उत्कृष्ट एवं सत्त्ववान् बनाने के लिए मनुष्य को अधिकाधिक कठिनाइयों और परेशानियों में से गुजरना पड़ता है। इसी-लिए नौवाँ जीवन सूत्र में कहा गया है—

ते सत्तिणो जे न चलंति धम्मं।

सत्त्ववान् वे ही हैं, जो धर्म से विचलित नहीं होते।

असत्त्ववान् कौन, सत्त्ववान् कौन ?

जब-जब धर्म की कसौटी होती है, धर्मपथ पर चलते समय विघ्न-बाधाएँ आती हैं, विपत्तियाँ और कठिनाइयाँ आकर व्यक्ति को धर्म से डिगाने को उद्यत होती हैं, कष्ट और संकट पद-पद पर उसे धर्म से च्युत करने को तत्पर रहते हैं, भय और प्रलोभन उसे धर्म मार्ग से फिसलाने के लिए उतारू हो जाते हैं; तब दुर्बल और कायर मनुष्य स्वीकृत धर्म मार्ग को छोड़ बैठते हैं, प्राण मोही एवं शरीरासक्त व्यक्ति साधनों के अभाव का बहाना बनाकर धर्म के कठोर पथ से विचलित हो जाते हैं, कठिनाइयाँ आते ही मन और बुद्धि से दुर्बल मानव अपने धर्म को तिलांजलि देकर सुख-सुविधा के रास्ते पर चल पड़ते हैं।

यों देखा जाय तो कठिनाइयाँ दुधारी तलवार है। जो दुर्बल हृदय व्यक्ति इनसे घबरा कर धर्म से गिर जाता है, वह हार बैठता है। वह अपने जीवन में विकास, क्षमता शक्ति एवं मनोबल में वृद्धि की सम्भावनाओं को नष्ट कर देता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति मन को मजबूत बनाकर, बुद्धि को सात्त्विक और विवेक-शील रख कर एवं हृदय को सत्त्वशील बनाकर उन कठिनाइयों से जूझ पड़ता है, विपत्तियों का सामना करता है, संकटों को अपने मित्र मानकर चलता है अपने आपको कठिनाइयों और संकटों के अनुरूप ढाल लेता है, परन्तु धर्म को हर्गिज नहीं छोड़ता, वही व्यक्ति सत्त्ववान् होता है। एक और कठिनाइयाँ उसके धर्मपालन की कसौटी बनती हैं और उसे सुधार नवनिर्माण, उत्थान की प्रेरणा देने उत्साह और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मनोबल को ऊँचा उठाने में सहायक होती हैं। दूसरी ओर मनोदुर्बल मनुष्य को अकर्मक निरुत्साह कर देती हैं, जीवन की आशाओं और उमंगों को धराशायी कर देती हैं। दोनों ही स्थितियों का उत्तरदायी मनुष्य स्वयं होता है। इसमें कठिनाइयों या संकटों आदि का कोई दोष या गुण नहीं है। जब मनुष्य कठिनाइयों की यथार्थता को नहीं समझता, उन्हें जीवन का स्वाभाविक अंग मानकर सहर्ष स्वीकार नहीं करता तो ये ही कठिनाइयाँ अपार दुःख अशान्ति एवं क्लेश का कारण बनती हैं व्यक्ति धर्म से च्युत होकर पाप, वासना या अर्थ काम-भोग के पथ को सरल मानकर चल पड़ता है, जिसमें आगे चलकर भय-आफत और घबराहट अधिक पैदा होती हैं। मनुष्य का मानसिक सन्तुलन बिखर जाता है। उसके धर्मनिष्ठ जीवन में अन्तर्द्वन्द्व पैदा हो जाते हैं। धर्म का कठोर पथ छोड़कर जब मनुष्य सुख सुविधाओं का पथ अपना लेता है तब सुखद परिस्थितियों में मनुष्य अपना-आपा ही भूल जाता है, वह आलसी, अकर्मण्य और अधर्मी बन जाता है। यहाँ तक कि नैतिकता, धर्म और वीतराग परमात्मा के आदर्शों के प्रति भी उदासीन हो जाता है। सुख की मादक मस्ती में किस व्यक्ति के विवेक, बुद्धि, विचारशीलता, सदाचार एवं साहस तिरोहित नहीं हो जाते ? इसीलिए रहीम कवि ने कहा है—

रहिमन विपदा हू भली जो थोड़े दिन होय।
हित-अनहित या जगत में जान परत सब कोय॥

सुख की नींद में सोया हुआ मनुष्य अपने जीवन के शाश्वत लाभ तथा संसार में अपने कर्तव्य एवं दायित्व को भूल जाता है, दुःख का झटका ही उसे धर्मपालन के प्रति सक्रिय बनाता है। मनुष्य को क्या करना है ? वह इस जगत में क्यों आया है ? उसका क्या कर्तव्य और धर्म है। यह सब प्रेरणा दुःख को मित्र बनाने वाले ही पा सकते हैं। जो मनुष्य दुःख और आफत के समय उद्विग्न हो जाते हैं, रोते, झीकते हैं, अपने भाग्य या परमात्मा को कोसते हैं, अपने साथियों—संसर्गियों को दोष देते हैं, वे धर्म से विचलित होकर अपने जीवन का समाधान नहीं पाते। धर्म से विचलित होकर ऐसे अज्ञानी मनुष्य अपनी मानसिक शक्तियों, अपने आध्यात्मिक बल को बिलकुल जंग लगा देते हैं। परन्तु सत्त्ववान् पुरुष धर्मपालन के समय आने वाले दुःखों का स्वागत करते हैं, आफतों का आदर करते हैं, विपत्तियों को वरदान मानते है, कठिनाइयों को विकास का कमनीय रसायन समझते हैं। वे ही धर्म पर मजबूती से टिके रहते हैं। सोने के लिए आग का जो महत्त्व है, वह महत्त्व सत्त्वशाली जीवन के लिए धर्मपथ में आने वाली कठिनाइयों का है। सोना जब आग में अच्छी तरह तप लेता है, तभी वह पूर्णतया निखरता है, चमकदमक पाता है, और हर प्रकार से संसार में अपना उचित मूल्य पाता है। इसी प्रकार सत्त्वशाली मानव जब कठिनाइयों और आफतों के बीच से धर्मपालन करता हुआ गुजरता है, तब उसकी बहुत-सी कमियाँ और विकृतियाँ दूर हो जाती हैं। वह धर्म पर अटल रहने से शुद्ध सोने-सा खरा और मूल्यवान हो जाता है। इसके विपरीत दुर्बल मन वाला मानव कठिनाइयों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और दुःखों से घबराकर धर्मपथ को छोड़ देता है, और पूरी सुखसुविधा में रहता है, तब एक प्रकार से उस असत्त्वशाली की विवेक की आँखें बन्द रहती हैं। अपनी मौज में वह मनमानी करता रहता है। इस प्रकार के अल्हड़ और असत्त्वशील जीवन में अनजाने ही अनेक दोष और विकार घुस जाते हैं। उसे पता तभी चलता है, जब धर्मच्युत होने के कारण अशुभ कर्मोदयवश उस पर अनेक संकट, दुःख और कष्ट आ पड़ते हैं। तब उसमें उन संकटों आदि को सहन करने की शक्ति नहीं होती और वह रोता-कलपता, हाय-हाय करता उन्हें सहता है। परन्तु उन्हें सहन करने से जो कर्म-क्षय होने चाहिए थे, वे नहीं हो पाते, बल्कि आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान के कारण और अधिक अशुभ कर्मों को वह बाँध लेता है।

कई सत्त्वरहित मनुष्य अपने आपको धर्मात्मा कहलाने या धर्मपालन का दिखावा करने के लिए कई बार संयम, नियम, और अनुष्ठानों का कार्यक्रम अपनाते हैं, धार्मिक व्रतों और नियमों का पालन भी करते हैं, लेकिन जब कभी उनके सामने कोई ऐसी परिस्थिति आ जाती है, जो उसके धार्मिक नियम और संयम के प्रतिकूल होती है, तो वे दृढ़ता नहीं दिखा पाते, कोई न कोई बहाना बनाकर फिसल जाते हैं। परिस्थितियों के आगे घुटने टेकने वाले ऐसे सत्त्वहीन लोग ढीले-पोचे और परिस्थितियों के दास हो जाते हैं। ऐसे लोग परिस्थिति अनुकूल आते ही प्रसन्नता से खिल उठते हैं, प्रतिकूल परिस्थिति आते ही एकदम मुरझा जाते हैं। खेद और दुःख से घबरा उठते हैं। पहली परिस्थिति की सजातीय किसी अन्य परिस्थिति का आगमन हुआ कि बाँछें खिल उठीं और दूसरी परिस्थिति जैसी कोई परिस्थिति फिर आई कि पुनः रोने लगे। ऐसे परिस्थिति प्रेरित लोगों में और किसी के द्वारा संचालित कठ-पुतली में क्या कोई अन्तर है? निःसन्देह कठपुतली किसी मनुष्य द्वारा संचालित होती है और ऐसे व्यक्ति होते हैं, परिस्थिति द्वारा संचालित। जिस मनुष्य में अपना अस्तित्व, व्यक्तित्व, गौरव, हर्ष-विषाद अपने वश में नहीं होता, वह कठपुतली से अधिक कुछ नहीं है। मनुष्य का अपना अस्तित्व और अपना व्यक्तित्व होता है। सत्त्ववान् व्यक्ति उसका संचालन अपनी शुद्ध आत्मा के द्वारा धर्मपथ के माध्यम से करते हैं जबकि सत्त्वहीन मनुष्य परिस्थितियों के दास बन कर उसका संचालन परिस्थिति के अनुसार करते हैं। सत्त्ववान व्यक्ति परिस्थितियों के स्वामी होते हैं, वे परिस्थिति पर विजय-पाते हैं और अपनी शुद्ध आत्मा द्वारा उसका संचालन करते हैं। जबकि सत्त्वहीन व्यक्ति परिस्थितियों के हाथों में अपना संचालन सौंप कर उनके दास बन जाते हैं।

ऐसे परिस्थिति-दास धर्म से नियम, त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान, या संकल्प लेकर भी किसी कारण के उपस्थित होते ही हर्ष-विषादादि आवेगों में बहकर उक्त नियम या संकल्प को तोड़ देते हैं, जबकि परिस्थितिजयी सत्त्ववान कैसी भी विकट परि-स्थिति क्यों न हो, हर्ष-विषादि आवेगों में बहकर अपने आप में अपने धर्म या धार्मिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नियम आदि पर दृढ़ रहता है। मेरी भावना का यह जीवन मन्त्र उसका सम्बल रहता है—

"कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे।
लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे॥
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे।
तो भी न्याय मार्ग से मेरा कभी न पद डिगने पावे॥"

परन्तु परिस्थितिदास किस प्रकार फिसल जाता है? इसे एक उदाहरण से समझिए—

एक व्यक्ति ने यह नियम लिया कि मैं आज से कभी शराब नहीं पीऊँगा।' अपनी ओर से वह इस नियम का पालन भी करता है। उसके कुछ दोस्त हैं, जो शराब पीते हैं, इससे बार-बार आग्रह करते हैं, लेकिन वह कह देता है—"मैंने गुरुजी से नियम लिया है, इसलिए मैं शराब को छू नहीं सकता।" इस प्रकार मित्रों का अनुरोध और शराब का दौर एक सामान्यस्थिति होती है, परिस्थिति नहीं कि जिस पर उस नियमी को विजयी माना जाए। शराब के सम्बन्ध में यह स्थिति परिस्थिति तब बन जाती है, जब किन्हीं अतिथियों, सम्बन्धियों एवं मित्रों की गोष्ठी, उत्सव या विवाह के अवसर पर मदिरा पीने का अनुरोध किया जाए, ऐसे अवसर पर सत्ववान् उस परिस्थिति को पार करके अपने नियम की रक्षा कर लेता है, तो उसे परिस्थिति-विजयी माना जाएगा, और अगर किन्हीं कारणों अथवा दुर्बलताओं से प्रेरित होकर वह अपना नियम (शराब न पीने का) भंग कर देता है तो उस सत्वहीन को परिस्थिति का दास ही कहा जाएगा। परिस्थितियों की ऐसी दासता अशोभनीय एवं दुर्बलता का लक्षण है।

सत्ववान व्यक्ति चाहे जैसी परिस्थिति में हो, अपनी दृष्टि धर्म पर मजबूती से टिकाए रखता है, इस कारण उसका मन बलवान् होता है, उसके विचार उसके साथ होते हैं,उसकी भावनाएँ शुभ तथा सृजनात्मक होती हैं, अतः उस पर प्रतिकूल परिस्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह परिस्थिति पर अवश्य नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। वह अपनी मनोभूमि को संघर्ष या विपत्ति के समय पहाड़ की उस चट्टान की तरह धर्म पर दृढ़ तथा अपने अनुकूल बनाये रखता है। जिस पर विपत्ति संकटों या दुःखों के तूफानों या आंधी-पानी का कोई प्रभाव बाहर से भले दृष्टिगोचर हो, मगर अन्तर में उसका प्रवेश बिल्कुल नहीं होता। सत्ववान व्यक्ति की वर्तमान अच्छी या बुरी जैसी भी परिस्थिति है। उसने जानबूझ कर या अनजाने में स्वयं बनाई है, इसके सिवाय उसके उत्पन्न होने का कोई कारण वह नहीं मानता। यही कारण है, कि सत्वशाली पुरुष आने वाले संकटों की शक्ति अपनी प्रतिशोधिका शक्ति से बढ़कर नहीं समझता। उससे अपनी धर्मदृढ़ता की विचार धारा को वह प्रभावित नहीं होने देता। जीवन संग्राम में मित्र मानकर ही वह अपनी जीवनयात्रा धर्म पथ पर अचल, अटल रूप से करता है। जबकि निःसत्व व्यक्ति धर्म को ताक में रखकर मन में सुख-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुविधाओं की कामनाएँ संजोता रहता है, वचन से भी उसी सुविधावाद की प्रशंसा करता है, शरीर से भी वह सुख-सुविधा एवं भोगविलास में प्रवृत्त हो जाता है, उस पर संकट हावी हो जाते हैं, परिस्थितियां उस पर सवार हो जाती है। वह स्वयं उसी तरह सुखसुविधाओं की तरफ ढल जाता है, जैसे अनुकूल ढाल पाकर जलधारा या हवा पाकर आग की लपटें प्रबल हो जाती हैं।

धर्म से जरा भी न डिगने वाला : सत्त्ववान्

सत्त्ववान् पुरुष अपने धर्म से एक इंच भी विचलित नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि धर्म पर दृढ़ रहने से ही मनुष्य अपनी आत्मिक शक्तियों का विकास कर सकता है। उपदेशमाला में कहा है—

तव-नियम सुट्ठियाणं कल्लाणं जीवियंपि मरणं पि।
जीवंतज्जंति गुणा, मया पुण सुगाइं जंति ॥४४३॥

—तप-नियमरूप धर्म में स्थित जीवों का जीना और मरना दोनों ही अच्छे हैं। जीवित रह कर तो वे गुणों का अर्जन करते हैं, और मरने पर सद्गति को प्राप्त होते हैं।

स्वराज्य-आन्दोलन के सिलसिले में एक बार महात्मा गाँधीजी और कस्तूरबा आजमगढ़ आए। वे वहाँ के प्रसिद्ध काँग्रेसी भाई के यहाँ ठहरे। वे जमींदार थे और अफीम खाते थे। बापू को जब मालूम हुआ कि मेरे मेजबान काँग्रेसी भाई अफीम खाते हैं, तो उन्होंने उन्हें समझाया। इस पर उन्होंने गाँधीजी के समक्ष यावज्जीवन अफीम न खाने का नियम ले लिया। बापू को उन्होंने वचन दिया कि वह अपने नियम पर दृढ़ रहेंगे। बापू और बा दोनों वहाँ से वर्धा पहुँचे। इधर उक्त काँग्रेसी भाई की तबियत एक दम बिगड़ी, इतनी बिगड़ी कि सारे शरीर और पेट में बेचैनी व पीड़ा होने लगी। उनकी पत्नी से यह न देखा गया, उसने थोड़ी-सी अफीम ले लेने का अनुरोध किया, परन्तु वह किसी तरह भी अपना नियम तोड़ने को तैयार न हुआ। आखिर उनकी पत्नी ने बापू को पत्र लिखा कि "आप मेरे पति देव का नियम तोड़ कर अफीम सेवन करने के लिए लिखिए। मुझे सुहाग-दान दीजिए, अन्यथा इनकी मरणासन्न हालत है"। बापू ने उस पत्र का उत्तर इस आशय का दिया—"बहन! तुम्हारे पतिदेव ने जो नियम लिया है, उस पर दृढ़ रहते हुए यदि मृत्यु हो जाती है तो इससे बढ़कर अच्छी बात कौन-सी होगी? कायरों की तरह मरने की अपेक्षा धर्म-पालन करते हुए वीर की तरह मरना अच्छा है। रही तुम्हारे सुहाग की बात; सो अफीम खा लेने से भी तुम्हारा सुहाग अचल नहीं रह सकेगा। मृत्यु तो जिस दिन निश्चित है, उस दिन आएगी ही। इसकी कोई गारंटी नहीं कि अफीम खा लेने से तुम्हारे पतिदेव मरेंगे नहीं। मैं तो सुहाग की अपेक्षा धर्म के फल को महत्वपूर्ण मानता हूँ। धर्म पर दृढ़ रहने से दोनों ही मिल सकते हैं! फिर तुम धर्मपत्नी हो, इसलिए धर्म पर अपने पति को दृढ़ रखना तुम्हारा कर्तव्य है।" पत्र पढ़ते ही बहन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का विवेक-कपाट खुल गया। उसने अपने पति को अफीम लेने का न कहकर धर्म पर दृढ़ रहने का कहा। नतीजा यह हुआ कि एक-दो दिन में ही उस काँग्रेसी भाई का स्वास्थ्य ठीक हो गया। तब से उनकी धर्म पर आस्था दृढ़ हो गई और वह प्राकृतिक जीवन जी कर स्वस्थ एवं दीर्घायु हुए।

सत्ववान् की दृढ़-धर्मिता

यद्यपि सच्चे सत्ववान् दृढ़धर्मी दुनिया में विरले ही हैं, फिर भी जो सत्त्वशाली होते हैं, वे धर्म पर इसका दृढ़ रहते हैं कि मन में, स्वप्न में भी धर्म से डिगने की बात नहीं सोचते, वचन से धर्म से विचलित होने की बात किसी को कहते नहीं और न ही काया द्वारा धर्म से भ्रष्ट होते हैं। वे एकान्त में या एकान्तप्रदेश या क्षेत्र में होंगे तो भी पाप नहीं करते, अपने पर प्रहार होने पर भी जो दूसरों को जान से मार डालने की बात नहीं सोचते, जो सिर कट जाने पर भी असत्य भाषण या असत्याचरण नहीं करते; जो रास्ते में चाहे सोना, रत्न, मणि-मणिका आदि बहुमूल्य पदार्थ भी क्यों न पड़े हों, उठाते नहीं, न उन पर अधिकार करते हैं। जो निन्दा-स्तुति में रुष्ट-तुष्ट नहीं होते, नवयुवती को देखकर मन को जरा भी विकृत नहीं होने देते, अपने हक के बिना या जरूरत के बिना कोई भी चीज ग्रहण करने या मूर्च्छा-पूर्वक संग्रह करने का विचार नहीं करते। विदेश या परदेश जाने पर भी अपने धर्म को नहीं भूलते। कोई कितना ही भय दिखाए या प्रलोभन दे, वे अपने धर्म का त्याग करने को तैयार नहीं होते। भर्तृहरि ने नीतिशतक में ऐसे सत्त्ववान् पुरुषों के पथ का निर्देश इन शब्दों में किया है—

"प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः, सत्यवाक्यम्।
काले शक्त्या प्रदानं, युवतिजन-कथा मूकभावः परेषाम्॥
तृष्णास्रोतोविभंगो, गुरुषु च विनयः, सर्वभूतानुकम्पा।
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः॥"

प्राणघात से विरति, पर धनहरण करने पर संयम, सत्य भाषण, यथावसर यथाशक्ति दान देना, परस्त्री या युवतियों के विषय में कामकथा करने में मौन रहना, तृष्णा के स्रोत का भंग करना, गुरुजनों का विनय, समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पा रखना, समस्त धर्मशास्त्रों में विहित सामान्य धर्म के विधान से भ्रष्ट न होना; सत्ववन्तों द्वारा समस्त श्रेयों का यही मार्ग है।

मतलब यह है कि जो अपने स्वीकृत सत्य पर, न्याय पर, प्रेम पर दृढ़ रहता है, आफतों और मुसीबतों में भी अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, अचौर्य, नैतिकता, शील और अपरिग्रहवृत्ति आदि धर्म के अंगों को नहीं छोड़ता, मित्रों और स्वजनों के द्वारा मोह एवं स्वार्थवश अत्याग्रह किये जाने पर भी अपने धर्म, नियम, व्रत एवं त्याग के संकल्प से नहीं डिगता, किसी के द्वारा डराने-धमकाने, यहाँ तक कि प्राण ले लेने तक का भय दिखाने पर भी अपने धर्म को छोड़ने को तैयार नहीं होता, और न ही राज्य,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धन, पद, सत्ता या अधिकार का लोभ दिखाने पर अपने धर्म से विचलित होता है, वही सत्त्ववान् है, वही मनोबली है, परिस्थिति विजयी है, साहस और धैर्य से सम्पन्न है। शास्त्र में ऐसे ही व्यक्तियों को धर्मवीर या दृढ़धर्मी कहा गया है। ऐसे व्यक्तियों के रोम-रोम में, अन्तःकरण में, संस्कारों में धर्म रम जाता है, उन्हें कितना ही प्रलोभन दो या डराओ, वे धर्म से कदापि च्युत नहीं होते।

कामदेव और अर्हन्नक श्रावक की धर्मदृढ़ता के विषय में पहले कह चुका हूँ, देवता द्वारा कठोर से कठोर परीक्षा करने पर भी वे धर्म पर अडिग, अटल रहे।

जिनदास श्रावक की धर्मपरीक्षा करने के लिए देव ने उसके समक्ष उसके पाँच पुत्रों को एक-एक करके मार डाला, और उसे धर्म छोड़ने के लिए विवश किया, मगर धर्मवीर जिनदास श्रावक ने धर्म कतई न छोड़ा।

भारतीय इतिहास में खासकर जैन-इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं कि वे सत्त्ववान् पुरुष धर्म की परीक्षा के क्षणों में अपने धर्म से जरा भी इधर-उधर न हुए।

राजगृही निवासी कसाई कालसौकरिक का पुत्र सुलस महामंत्री अभयकुमार की संगति से अहिंसक और दृढ़धर्मी बन गया। उसने निश्चय कर लिया कि वह कभी पशुवध नहीं करेगा।

मृत्यु के समय उसके पिता कालसौकरिक ने अपने पास बुलाकर पूछा—'बेटा! मेरी एक इच्छा पूर्ण करोगे?" सुलस ने कहा—"पिताजी! अगर मेरे धर्म में वह बाधक न होगी तो मैं अवश्य पूर्ण करूँगा।" काल सौकरिक ने प्रसन्न होकर कहा—'मेरी यह इच्छा है कि मेरी मृत्यु के बाद तुम घर के मुखिया बनो।" सुलस ने उसे स्वीकार किया। कालसौकरिक की मृत्यु के बाद सुलस को घर का मुखिया बनाने की रस्म अदा की गई। इसी बीच कुलदेवी के सम्मुख एक भैंसा खड़ा करके उसका वध करने को कहा गया; परन्तु सुलस चुपचाप खड़ा रह गया, उसने तलवार ऊपर न उठाई। बुजुर्गों ने कहा—"बेटा! जो मुखिया बनता है, उसे देवी को प्रसन्न करने के लिए रक्तदान करना पड़ता है।" सुलस बोला—'अच्छा ऐसी बात है तो लो यह कहकर उसने अपने पैर पर तलवार चलाई, उससे खून का फव्वारा छूटा, पैर कटकर जख्मी हो गया।" रोते हुए परिजनों ने कहा—"सुलस! तुमने यह क्या किया? भैंसे पर तलवार चलाना था।"

सुलस बोला—किसी भी पशुपक्षी का वध करना तो मेरे धर्म के विरुद्ध है, मैं कदापि नहीं कर सकता। देवी को मैंने अपना रक्त दे दिया है। तब से सुलस की धर्म दृढ़ता के कारण सारे परिवार में सदा के लिए पशुवध बन्द हो गया।

वास्तव में सत्त्वशील पुरुष इतने दृढ़धर्मी होते हैं कि वे प्राणों को छोड़ने के लिए तैयार होते हैं, पर स्वीकृत धर्म से विचलित होने को कदापि तैयार नहीं होते। नीतिकार भर्तृहरि ने सत्य ही कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकरम् ।
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्या सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ।।
विपद्युच्चैर्धैर्यं पदमनुविधेयं च महतां ।
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ।।"

जिन सत्त्वशीलों को न्याययुक्तवृत्ति ही प्रिय है, प्राण चले जाने पर भी जिनके द्वारा धर्म विरुद्ध मलिन कार्य होना दुष्कर है, जो दुर्जनों से कभी याचना नहीं करते और न ही किसी निर्धन हितैषी मित्र से याचना करते हैं। विपत्ति आने पर जिनका धैर्य ध्वस्त नहीं होता, जो महान् पुरुषों के चरणों का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार के सन्तों—सज्जन पुरुषों को न जाने किसने इस विषम असिधाराव्रत का उपदेश दिया है ?

वास्तव में, सत्त्वशील पुरुषों को यह उपदेश कोई पोथियों से नहीं मिलता, वह उनके अन्तःकरण से प्रसूत होता है, उनका अन्तःकरण इतना शुद्ध, सात्त्विक, स्वच्छ और ग्रहणशील होता है कि धर्म-अधर्म, हित-अहित, न्याय-अन्याय और कर्तव्य-अकर्तव्य को शीघ्र ही पहचान लेता है, और धर्म पुनीत कर्तव्य, नीति, न्याय और हित के मार्ग पर निर्विघ्न रूप से चलता रहता है।

वीर हकीकतराय स्यालकोट में मुस्लिम मदरसे में पढ़ता था। एक दिन एक सहपाठी मुस्लिम विद्यार्थी ने सीता के चरित्र पर आक्षेप किया। इस पर हकीकत ने उससे कहा—"सीता के लिए ऐसा न कहो भाई ! जैसी मुहम्मद साहब की लड़की फातिमा थी, वैसी ही राजा जनक की पुत्री सीता थी।" इस पर सभी मुस्लिम विद्यार्थी तन गये और लड़ने पर आमादा हो गये। मौलवी साहब आए तो उन्होंने मुस्लिम विद्यार्थियों का पक्ष लेकर निर्दोष हकीकतराय को खूब पीटा। काजी की अदालत में यह मामला पहुँचाया गया। अन्यायी काजी ने आदेश दिया—"हकीकतराय को मुसलमान बना दो, अगर न बने तो, इसका सिर उड़ा दो।" सच्चे धर्म को छोड़कर परधर्म को स्वीकार करना हकीकत के लिए असह्य था। वह मुसलमानों द्वारा समझाये जाने के बावजूद भी अपने धर्म पर दृढ़ रहा। अन्त में, लाहौर में सूबेदार ने उसका सिर कटवा दिया। वीर बालक हँसते-हँसते धर्म पर न्योछावर हो गया, मगर उसने स्वधर्म छोड़कर परधर्म स्वीकार नहीं किया।

यही बात गुरु गोविन्दसिंह के पिता गुरु तेगबहादुर के सम्बन्ध में कही जा सकती है। औरंगजेब बादशाह अनेक हिन्दुओं को जबरन मुसलमान बनाता था। गुरुतेगबहादुर ने दिल्ली में अपने प्राणों का बलिदान दे दिया, मगर इस्लाम धर्म का स्वीकार न किया। गुरुगोविन्दसिंह के दो पुत्र थे—फतहसिंह और जोरावरसिंह। दोनों को मुस्लिम बनने के लिए बहुत ही प्रलोभन दिया, भय दिखाया, मगर वे मुस्लिम बादशाह के इस अत्याचार के सामने न झुके। आखिर उन दोनों को जीतेजी दीवार में चिन दिया गया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे ही महासत्त्व संसार में अपना नाम अमर कर जाते हैं, अपनी यशःसौरभ को वे दिग्दिगन्त में फैला देते हैं। हजारों मानवों को उनकी धर्मदृढ़ता युगों-युगों तक प्रेरणा देती रहती हैं। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा—

"आपद्गतः खलु महाशयचक्रवर्ती,
विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम् ।
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ता—
ल्लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति ॥"

—"महाशयों में चक्रवर्ती सत्त्वशील पुरुष आफत में पड़ने पर भी अभूतपूर्व उदारभाव फैलाता है। जैसे काला अगर आग में डालने पर भी अपनी लोकोत्तर सुगन्ध चारों ओर फैलाता है, वैसे ही सत्त्वशील महानुभाव भी अपनी लोकोत्तर यशः-सौरभ फैलाता है।"

महासत्व अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते

ऐसे महासत्त्व दुर्जनों के बीच में भी रहकर अपनी सज्जनता को नहीं छोड़ते। विरोधियों के बीच भी अपनी उत्तम प्रकृति का परिचय देते हैं। वे तुच्छ स्वार्थियों या अज्ञानियों द्वारा चाहे घोर कष्ट में डाल दिये जाएँ फिर भी वे अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। जैसा कि नीतिकार कहते हैं—

"घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनश्चारुगन्धः ।
दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः कांचनं कान्तवर्णम् ।
छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वाददं चेक्षुदण्डम् ।
प्राणान्तेऽपि प्रकृतिविकृतिर्जायते नोत्तमानाम् ॥"

चन्दन को चाहे बार-बार घिसा जाय, वह अपनी श्रेष्ठ सुगन्ध को नहीं छोड़ता, सोने को बार-बार आग में जलाया जाय तो भी वह अपने पीले-चमकीले रंग को नहीं छोड़ता, गन्ने चाहे टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाय, वह मधुर स्वाद देना नहीं छोड़ता। सच है, प्राणान्त का अवसर आ जाने पर भी उत्तम पुरुषों के स्वभाव में कोई विकार नहीं आ जाता। अर्थात्—वे प्राणान्त कष्ट आने पर भी अपने मूल स्वभाव को नहीं छोड़ते।

वास्तव में मूल स्वभाव ही धर्म है। अहिंसा आत्मा का मूल स्वभाव है, इसी प्रकार सत्य, ईमानदारी, देव-गुरु-धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा—वफादारी (निष्ठा) शील, अपरिग्रह वृत्ति, दया, क्षमा, सन्तोष, कर्तव्य, सेवा, दायित्व आदि आत्मा के मूल स्वभाव हैं, आत्मा के निजी गुण हैं, स्व-स्वभाव हैं। सत्त्वशील पुरुष इस प्रकार के आत्मस्वभाव रूप-धर्म को कदापि नहीं छोड़ते।

एक कवि ने कहा है—

सिंहनी मर जाती है, पर घास को खाती नहीं।
आग में जल जाए सोना, पर चमक जाती नहीं॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करै न कबहू साहसी, दीन-हीन-सा काज।
भूख सहे वर घास को, नहिं खावै मृगराज॥ (वृन्द)

इन दोनों में निहित सत्य-तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

जोधपुर नरेश जसवन्तसिंह के निधन के बाद औरंगजेब ने उनके उत्तराधिकारी के रूप में महाराजा अजितसिंह को अस्वीकार कर दिया। वीरवर दुर्गादास के संरक्षण में अजितसिंह का लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, संस्कार प्रदान आदि हुए। बादशाह ने अजितसिंह को हथियाने हेतु वीरवर दुर्गादास को ८ हजार स्वर्ण मुद्राओं का प्रलोभन भी दिया, मगर दुर्गादास उसके सामने न झुका। बादशाह ने दूसरा पासा फेंका, कि अजितसिंह का लालन-पालन शाही महलों में हो। परन्तु अविश्वस्त होने से राजपूत सरदारों ने ऐसा न होने दिया। अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी वीर दुर्गादास ने अजितसिंह की रक्षा की, इतना ही नहीं, उसे एक सुयोग्य शासक बनाकर मारवाड़ का राज्य दिलवा दिया।

जहाँ चारों ओर स्वामिभक्त दुर्गादास की प्रशंसा गाथाएँ गायी जा रही थीं, वहाँ महाराजा अजितसिंह ने उन पर अभिभावक के रूप में स्वयं को पीड़ा देने और कठोर नियन्त्रण रखने का दण्ड घोषित किया—"मिट्टी का एक फूटा ठीकरा लेकर जोधपुर की गलियों में घूमिये और भीख माँगकर पेट भरिए, यही दण्ड आपके लिए पर्याप्त है।"

परन्तु दुर्गादास ने मुँह से एक शब्द भी न निकाला। वे महाराजा को अभिवादन करके चुपचाप चल दिये। सबके मन में महाराजा के लिए धिक्कार था, पर राजा के आगे बोले कौन? उसी दिन से दुर्गादास का सदा के लिए वही क्रम चालू हो गया। उनके मन में भिक्षाटन का दुःख न था, अपितु स्वधर्म पालन का सन्तोष था।

एक दिन महाराजा अजितसिंह घोड़े पर बैठे राजमहलों की ओर आ रहे थे। उधर से भिखारी के रूप में वीरवर दुर्गादास को देखकर आँखें तरेरते हुए उन्होंने पूछा—"कहिए आप प्रसन्न तो हैं?"

महासत्त्व वीरवर दुर्गादास बोले—"आज मेरी प्रसन्नता का क्या ठिकाना? मेरे नियन्त्रण में पले एक सुयोग्य शासक को समृद्ध देखकर मेरी आत्मा प्रसन्न है। अगर मैंने उस समय इतना कठोर नियन्त्रण न किया होता, तो बहुत सम्भव है, मैं बादशाह औरंगजेब के प्रलोभन में आकर बहुत धन भी पाता और मनमाने गुलछर्रे भी उड़ाता। लेकिन एक अन्यायी और अयोग्य शासक को पाकर सारा मारवाड़ गुलाम और वीरान बन जाता। इसलिए मैंने अपने धर्मपालन के इतना सब कष्ट सहा, जिसका मुझे सन्तोष है।...."

दुर्गादास की बात सुनते ही अजितसिंह की आँखों में आंसू उमड़ पड़े। घोड़े से कूद कर उन्होंने वीर दुर्गादास के पैर पकड़ लिए। गिड़गिड़ाते से बोले—"मैंने आपके स्वामिभक्ति रूप धर्म की परीक्षा लेने के लिए इतने कठोर दण्ड का स्वांग रचा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

था। आप तो मेरे पिता के समान हैं। आप ही के पुण्यप्रसाद और सत्प्रयत्नों से मैं आज यह शुभ दिन देख सका हूँ। मैं ही नहीं, सारा मारवाड़ आपका चिरऋणी रहेगा।"

महासत्त्व बड़ी से बड़ी विपत्ति में पड़कर भी अपने धर्म से च्युत नहीं होते।

महासती चन्दनबाला दासी के रूप में धनावह सेठ के यहाँ रहती थी। अपना धर्मपालन करती हुई वह सुख से रहती थी। श्रेष्ठिपत्नी मूला की आँखों में चन्दना काँटे-सी खटकती थी। उसने एक दिन मौका पाकर चन्दना का सिर मुडवा कर, एक कच्छा पहनाकर हाथ-पैरों में हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ डालकर उसे अंधेरे तलघर में पटक दिया। तीन दिन तक उसे भूखी-प्यासी रखी। परन्तु चन्दनबाला ने अपनी उत्तम प्रकृति से विकृत होने का परिचय नहीं दिया, बल्कि अपनी मालकिन मूला सेठानी का उपकार ही माना। वह अपने धर्म से जरा भी विचलित न हुई।

दृढ़धर्मी किसे कहा जाए ?

इस संसार में अनेक प्रकार की रुचि, प्रकृति और आस्था वाले मानव हैं, वे सभी एक या दूसरे प्रकार से धर्म (अहिंसा, सत्य, ईमानदारी आदि) का आचरण करते हैं, परन्तु हमें सोचना है कि इनमें से दृढ़धर्मी कौन है ? किसके जीवन में धर्म की नींव सुदृढ़ है ?

एक व्यक्ति है, वह इसलिए धर्म पर चलता है कि उसके सामने इस लोक और परलोक का भय है। उससे कोई कहता है कि अपने व्यवसाय में तस्करी, चोर बाजारी, बेईमानी, मिलावट, नापतौल में गड़बड़ी अथवा चोरी, जारी, लूटपाट आदि करके क्यों नहीं मालामाल हो जाते ? क्या रखा है इस धर्म-कर्म में ? इससे तो तुम्हारा परिवार भूखों मरेगा।" वह उत्तर देता है—भाई ! वैसे तो धर्म-कर्म कुछ नहीं है, ये चोरी आदि जो कुछ भी शीघ्र धनवान बनने के उपाय हैं, उन्हें अजमाने का मन होता है। पर क्या करूँ ? मन में डर है कि अगर कहीं पकड़ा गया, तो बर्बाद हो जाऊँगा, इज्जत मिट्टी में मिल जाएगी। जेल में सड़ना पड़ेगा, भारी सजा भोगनी पड़ेगी। इसलिए सरकार और समाज का भय जो है। वही मुझे ऐसे भयंकर साहसिक कर्म करने से रोकते और धर्म पर चलने को बाध्य करते हैं।" मतलब यह है, ऐसे व्यक्ति का जीवन यहाँ सरकार और समाज के और परलोक में नरक के दण्ड के भय से धर्म पर चलता है। सहज धर्ममय जीवन नहीं है।

दूसरा व्यक्ति मिलता है, उससे भी वह यही सवाल पूछता है कि "भाई ! इतने दुःखी क्यों हो रहे हो ? इस दुर्दशा से छुटकारा पाने के लिए चोरी एवं अनीति के कर्म क्यों नहीं कर लेते ? चोरी, तस्करी, बदमाशी, डाकेजनी, गिरहकटी आदि क्यों नहीं कर लेते ? वह कहता है—भाई ! मन में आता है कि ये सब काम करके अच्छी पूँजी इकट्ठी कर लूँ, जिससे बुढ़ापे में सुख से जिन्दगी कट सके। परन्तु आज समाज में मेरी जो इज्जत है, मुझे लोग ईमानदार कहते हैं, ईमानदार मुझ पर विश्वास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रखते हैं। ग्राहक मेरी सत्यता पर विश्वास रखकर सीधे मेरी दूकान पर चले आते हैं, कम मुनाफा लेकर माल सस्ता और अच्छा देने के कारण धन चाहे कम मिलता हो, पर मेरी साख जमी हुई है। दूसरे ईमानदारी आदि धर्म से जो सुख-शान्ति यहाँ मिलती है, वह बेईमानी से कैसे मिल सकती है ? फिर बेईमानी आदि पाप से रात-दिन चिन्ता बढ़ जाती है, पर-लोक में भी स्वर्ग और उसके सुखादि नहीं मिल सकते। इस लोभ से मैं अनीति-अधर्म के मार्ग पर नहीं चलता, धर्म मार्ग पर ही चलता हूँ। यह जीवन भी धर्म दृढ़ता का प्रतीक नहीं है।

तीसरे व्यक्ति से जब बेईमानी आदि करके मालामाल होने को या अधिक पूँजी संचित करने को कहा जाता है तो वह तपाक से कहा—"बेईमानी, चोरी आदि पाप-कर्म करने की बात में स्वप्न में भी नहीं सोच सकता। यह मेरे संस्कारों में भी नहीं है कि मैं किसी भी तरह से एकान्त में, वन में सोते-जागते, अकेले में भी इस तरह के पाप कर्म करूँ। ईमानदारी सत्य आदि धर्म पर सुदृढ़ रहना मेरे संस्कारों के ताने-बाने में गुंथ गया है। मेरे प्राण भले ही चले जाएँ मुझ पर भयंकर से भयंकर कष्ट और संकट भले ही आ जाएँ, मैं अपने धर्म से एक इंच भी विचलित नहीं हो सकता। बन्धुओं, इन में से पहला धर्म पर चलने वाला व्यक्ति भय प्रेरित है, दूसरा लोभ प्रेरित है और तीसरा संस्कार प्रेरित है। इनमें से दो के जीवन में धर्म की नींव कच्ची है, तीसरे की नींव सुदृढ़ है। वही सत्त्ववान है। दृढ़धर्मी है।

सत्त्ववान यह या वह ?

प्रश्न होता है कि सत्त्ववान में साहस तो होना ही चाहिए परिस्थितियों से जूझने की क्षमता भी अपेक्षित है, साथ ही बहादुरी भी, परन्तु क्या उसे सत्त्ववान कहा जा सकेगा जो व्यक्ति बहादुरी और साहस के साथ दूसरे पर हिंसक आक्रमण कर देता हो, प्रहार कर देता हो, तोड़फोड़, दंगा, लूटपाट, छीनाझपटी, हत्या आगजनी डाका, बलात्कार, ठगी, तस्करी, बेईमानी आदि करने में 'माहिर' हो ?

साहस क्षमता, बहादुरी आदि गुण तो सत्त्ववान में होने उचित हैं, परन्तु इनके साथ यदि उसमें हत्या, लूटपाट, बलात्कार, आक्रमण, तस्करी आदि हिंसक कृत्य हैं, तो उसे हम सत्त्ववान नहीं कह सकते। सत्त्ववान में जो सत्त्व शब्द है, वह सात्त्विक दैवी गुणों का प्रतीक है, हत्या आदि का उसके साथ मेल ही नहीं बैठता। हत्या आदि दुर्गुण तामसी और आसुरी गुणों के प्रतीक हैं। सत्त्ववान में ये तामसी और आसुरी सम्पदा के दुर्गुण होंगे तो वह धर्म पर दृढ़ कैसे रहेगा ? उलटे वह तो हत्या चोरी, लूटपाट, बलात्कार आदि अधर्म के पन्थ पर दृढ़ होगा, धर्ममार्ग से तो सर्वथा भ्रष्ट एवं विचलित हो जायगा। इसलिए यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि सत्त्ववान का साहस, क्षमता, शक्ति, बहादुरी आदि गुण हिंसा आदि के साथ तो दूषित हो जाते हैं और न हिंसा आदि के साथ सत्त्वगुण की संगति है। हिंसा आदि का सीधा सम्बन्ध तो तमोगुण के साथ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सच्चे साहस आदि का सीधा सम्बन्ध भी पाशविकता या तामसिकता के साथ नहीं होता। पाश्चात्य विचारक पॉल ह्वाइटहेड लिखता है—

"True courage is not the brutal force of vulgar heroes but the firm resolve of virtue and reason."

—सच्चा साहस साधारण वीरों के पाशविक बल का नाम नहीं है, किन्तु वह है—सद्गुणों और तत्सम्बद्ध कारणों के सम्बन्ध में दृढ़ संकल्प। इसके अतिरिक्त जब मनुष्य में सत्वगुण बढ़ जाए, तब समझना चाहिए कि वह सत्त्ववान् है। जिसके पास दो-चार रुपये हों, उसे धनवान् नहीं कहते, धनवान् उसे कहते हैं, जिसके पास हजारों-लाखों रुपये हों। इसीप्रकार विद्यावान् उसे कहते हैं; जो अतिशय विद्या पढ़ा हुआ हो, जो दो-चार कक्षा तक पढ़ा हुआ हो, उसे विद्यावान् नहीं कहा जाता। इसी प्रकार सत्त्ववान् उसे कहते हैं, जिसमें सत्त्वगुण अतिशय मात्रा में हो। सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है, इसकी पहचान भगवद् गीता में इस प्रकार बताई है—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ १४॥

—जब इस देह में अन्तःकरण इन्द्रियों आदि सभी द्वारों से प्रकाश और ज्ञान (चेतना और बोधशक्ति) उत्पन्न होते हैं; तब समझना चाहिए कि जीवन में सत्त्वगुण बढ़ा है।

चेतना और बोधशक्ति के प्रकाश में जो भी कार्य साहसपूर्वक होंगे, वे हिंसा, असत्य, लूटपाट, चोरी, बलात्कार, आक्रमण आदि से रहित होंगे। केवल धर्म से सम्बन्धित कार्य होंगे।

एक सत्त्ववान् व्यक्ति है, उस पर उसके परिवार और समाज ने झूठा आरोप या आक्षेप लगा दिया है, या उसको किसी ने क्षति या हानि पहुँचाई है, अब सत्त्ववान् व्यक्ति प्रतीकार तो करेगा, किन्तु वह हिंसक एवं असात्त्विक तामस तरीकों से प्रतीकार नहीं करेगा, वह रोष और आवेश में आकर उन व्यक्ति या व्यक्तियों पर झूठा इलजाम नहीं लगाएगा, न उन पर प्रहार करेगा या न उनका विनाश करेगा या करने की बात सोचेगा। वह नैतिक, आध्यात्मिक और अहिंसक ढंग से प्रतीकार करेगा। **शठे शाठ्यं समाचरेत** (दुष्ट के साथ दुष्टता करो) यह नीति सत्त्ववान् की नहीं होगी। कई साम्प्रदायिक लोग धर्म खतरे में है, या बलात् धर्म-सम्प्रदाय परिवर्तन कराने से धर्म की सेवा होती है, इस प्रकार के थोथे एवं मिथ्या नारे लगा कर साहसपूर्वक दूसरे धर्म वालों के साथ अनुचित-हिंसक व्यवहार करते हैं, उन्हे सताते हैं, तंग करते हैं, उन्हें मारते-पीटते हैं, उनके प्राण ले लेते हैं, उनके अधिकार छीन लेते हैं, या जबरन धर्म परिवर्तन तलवार के बल पर या दण्डशक्ति के बल पर करा देते हैं, ये सब धर्म की सेवा नहीं, पाप और अधर्म की सेवा है, पैशाचिक कृत्य है, अमानुषिक कुकर्म हैं। धर्म के नाम पर इस प्रकार के दुःसाहसिक कुकृत्य करने वाले सत्त्ववान्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कदापि नहीं कहे जा सकते हैं। वे मुढ़ हैं, घोर तामसिक हैं। इसीलिए जे-एफ-क्लार्क ने सत्साहस के साथ सद्-असद्विवेकबुद्धि और कर्तव्यज्ञान का होना अनिवार्य बताता है—

"Conscience is the root of all true courage ; if a man would be brabe let him obey his conscience."

—सद्-असद् विवेक बुद्धि या कर्तव्य ज्ञान सत्साहस की जड़ है। अगर कोई व्यक्ति बहादुर हो तो उसे अपनी सद्-असद् विवेक बुद्धि की आज्ञा में चलना चाहिए।

महात्मागाँधीजी का अंग्रेजों से कोई द्वेष या विरोध नहीं था, उनका विरोध था, उनकी शोषण नीति पक्षपात और अधिकारों के अपहरण के प्रति। इसीलिए वे ब्रिटिश सरकार के खिलाफ जब-जब सत्याग्रह करते थे, तब-तब सविनय और अहिंसक ढंग का करते थे। तोड़-फोड़, दंगे, लूटपाट आदि हिंसक ढंग उन्हें अपने सत्साहस के साथ कतई इष्ट न था, क्योंकि उनकी सद्-असद्विवेक बुद्धि उन्हें ऐसा करने से रोकती थी।

शिवाजी मुगल सल्तनत के अधीन न होने के लिए उसके खिलाफ लड़े, कई किले जो मुगल सरकार के अधीन हो गये थे, उन्हें जीते भी सही, किन्तु साथ ही मुस्लिम जनता को लूटना, अत्याचार करना, उनके अधिकार छीनना या उनकी बहन बेटियों की इज्जत लूटना, उन्हें कतई इष्ट न था, और न उन्होंने ऐसा करके अपनी वीरता को कलंकित किया। इसीलिए पाश्चात्य विद्वान् Froude (फ्राउडे) लिखता है—

"Courage is, on all hands, considered as an essential of high character."

—सर्वतोमुखी साहस उच्चचारित्र की सौरभ के समान समझा जाता है।

शिवाजी के समक्ष जब उनका एक सैनिक जीते हुए मुस्लिम राज्य के एक सेनाध्यक्ष की सुन्दर युवती पत्नी को लेकर उपस्थित हुआ तो उन्होंने उसे देखते ही कहा—"अगर मेरी माता इतनी सुन्दर होती तो मैं भी सुन्दर होता। इस महिला को क्यों लाए हो ? इसे ससम्मान वापस पहुँचा दो।"

यह है, सत्त्ववान् का जीवन, जिसमें साहस और शौर्य तो है, पर धर्म, नीति और चारित्र के विरुद्ध नहीं। इसलिए सत्त्ववान् वीर या बहादुर तो होता है, पर क्रूर, अत्याचारी या हिंसक नहीं। सत्त्ववान् न्यायी तो होता है, अन्यायी नहीं। सत्त्ववान् पराक्रमी तो होता है, पर आक्रमणकारी नहीं। सत्त्ववान् प्रेमी होता है, पर कामी नहीं। वह सत्यार्थी होता है, पर तिकड़मबाज नहीं। सत्त्ववान् साहसी तो होता है, पर निर्दय, लुटेरा, डकैत या बलात्कार करने वाला नहीं। सत्त्ववान् विवेकी होता है, पर अन्धविश्वासी या अन्धी दौड़ लगाने वाला नहीं। वह उत्साही होता है, परन्तु अन्धानुकरण करने वाला नहीं। सत्त्ववान् पुरुषार्थी और अध्यवसायी होता है, परन्तु विपरीत दिशा में वह पुरुषार्थ या अध्यवसाय नहीं करता। वह तेजस्वी होता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, परन्तु उसका स्थूल होना आवश्यक नहीं है, इसी प्रकार सत्त्ववान् बलवान होता है, परन्तु उसमें पाशविक बल का होना आवश्यक नहीं है, मनोबल एवं आत्मबल का होना ही नितान्त आवश्यक है।

सत्त्ववान में कौन-कौन से गुण आवश्यक ?

मैंने सत्त्ववान् शब्द पर काफी गहराई से चिन्तन किया है। मैं समझता हूँ, भगवद्गीता के १६वें अध्याय में उक्त देवीसम्पदा के जो २६ गुण बताए हैं, वे सत्त्ववान् व्यक्ति में होने आवश्यक हैं। दैवीसम्पत्ति के २६ गुण इस प्रकार बताए हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान-योगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा, सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ॥३॥

हे अर्जुन ! दैवीसम्पदा को प्राप्त अभिजात व्यक्ति में ये २६ लक्षण (गुण) होते हैं—(१) अभय, (२) सत्त्वसंशुद्धि (अन्तःकरण की अच्छी तरह स्वच्छता) (३) तत्त्व ज्ञान के लिए ध्यान योग में दृढ़स्थिति (धर्म ध्यान में सततलीनता), (४) सात्त्विक दान, (५) दम (इन्द्रियदमन), (६) वीतराग भगवान् की पूजा-भक्ति, (७) स्वाध्याय, (८) तप, (९) सरलता, (१०) अहिंसा, (११) सत्य, (१२) अक्रोध, (१३) त्याग, (१४) शान्ति, (१५) पैशुन्य (चुगली-निन्दा) का त्याग, (१६) प्राणियों पर दया, (१७) विषयासक्ति न होना, (१८) मृदुता-कोमलता, (१९) लज्जा (पाप कर्म करने में लज्जा) (२०) चंचलतापूर्वक व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव, (२१) तेज (आत्मशक्ति), (२२) क्षमा, (२३) धैर्य, (२४) शौच (अन्तर-बाह्य पवित्रता) (२५) अद्रोह (किसी के प्रति बैर-द्वेष न होना), (२६) अपने आपको उत्कृष्ट मानने की वृत्ति का अभाव।

इसके अतिरिक्त मैंने प्रारम्भ में बताया था, उसके अनुसार सत्त्ववान व्यक्ति में निम्नलिखित विशेषताएँ तो होनी ही चाहिए—

१. उसका मनोबल मजबूत हो, उसमें दृढ़ संकल्प शक्ति हो।
२. वह विपत्तियों में घबराए नहीं।
३. वह कठिनाइयों में हिम्मत न हारे।
४. बुराइयों से डर कर भागे नहीं, उन्हें बदलने का प्रयास करें।
५. वह साहस-देव की उपासना करे : कायरता छोड़े।
६. दुःखों से डरे नहीं, डटकर उनका सामना करे।
७. धर्म और धर्मेत्तर पदार्थों के अविरत संग्राम में वह युद्ध की-सी तत्परता दिखाए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८. धर्म पर उसकी अडिग निष्ठा हो। दानादि धर्म के अवसरों को ना चूकता हो।

९. वह अनिश्चय-स्वभावी, तथा बात-बात में शंकाशील न हो, अन्ध-विश्वासों और कुरूढ़ियों से दूर रहे।

१०. अर्थ और धर्म या काम और धर्म की लड़ाई में वह सदैव धर्म के पक्ष में रहे, उधर ही झुके।

११. वह धर्म पर दृढ़ता के लिए क्रम से चले।

ये सत्त्ववान् जीवन के कुछ उपादेय सूत्र हैं, जिन्हें अपनाने पर ही सत्त्ववान् दृढ़ धर्मी बन सकता है।

सत्त्ववान् के विशेष गुणों और लक्षणों को समझने के लिए एक प्राचीन उदाहरण लीजिए—

श्रीवासनगर के राजा नरवाहन का पुत्र ललितांग अत्यन्त सत्त्ववान्, मनोबली और दृढ़ धर्मी था। विवेक, बुद्धि, कला-कुशलता एवं धर्मज्ञता उसे बपौती में मिली थीं। किशोर राजकुमार अनेक गुणों के साथ-साथ दान देने में भी अत्यन्त शूरवीर था। जहाँ किसी दुःखी, अभावपीड़ित या भूखे-प्यासे याचक को देखता ललितांगकुमार अपना सब खेल छोड़कर उसें मुक्त हस्त से दान देता था। जिस दिन कोई दान लेने वाला न आता, उस दिन को वह निष्फल बीता समझता था।

राजकुमार ललितांग का एक सेवक था, जिसका नाम तो सज्जन था, परन्तु वह निरा दुर्जन था। राजकुमार उसे अच्छी तरह रखता था, किन्तु वह दुष्ट उसका बुरा करने का सोचता था, फिर भी सरल स्वभावी राजकुमार उसे छोड़ता न था। एक दिन राजकुमार के विनय आदि गुणों से हर्षित होकर राजा ने उसे एक बहुमूल्य हार दिया। हार लेकर राजकुमार अपने महल की ओर आ रहा था कि रास्ते में एक अत्यन्त दीन-हीन याचक मिल गया। उदार दानशील राजकुमार ने वह हार उस याचक को दे दिया। सज्जन ने झटपट राजा से जाकर नमकमिर्च लगाकर राजकुमार की शिकायत की। राजा को बहुत बुरा लगा। राजा ने उसे एकान्त में बुलाकर शिक्षा दी—"पुत्र! तुममें अनेक गुण हैं, फिर भी मैं तुम्हें एक बात कहता हूँ, सुनो! यह सारा राज्य तुम्हारा ही है। परन्तु तुम्हारा कर्तव्य है कि दिनोंदिन राज्य की समृद्धि में वृद्धि करो, प्रमाद न करो, निरन्तर सावधान रहो, किसी का सहसा विश्वास न करो। तुम बहुत ही कुशल हो, दान देने में वीर हो, परन्तु अभी तुम्हें राज्य चलाना है, साधु नहीं बनना है कि तुम सारा खजाना लुटा दो। इसलिए मेरा कहा मानकर थोड़ा-थोड़ा दान दो। धन की आवश्यकता पद-पद पर रहती है। इसलिए उपार्जित द्रव्य का मनमाना उपयोग करना उचित नहीं है।"

राजा की ये शिक्षावचन सुनकर कुमार अपने आपको धन्य मानने लगा। राजा की शिक्षा के अनुसार ललितांगकुमार अब थोड़ा-थोड़ा दान देने लगा। एक बार कुछ याचकों ने मिलकर ललितांग से कहा—"राजकुमार! चिन्तामणि सरीखे होकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आजकल आप कृपण क्यों हो रहे हैं ? क्या संचित की हुई लक्ष्मी किसी के साथ परलोक में जाती है। अत; दान की परम्परा चालू रखनी चाहिए।"

याचकों की बात सुनकर राजकुमार पशोपेश में पड़ गया। उसे एक तरफ कूआ और दूसरी तरफ खाई-सा दिखाई देने लगा। एक ओर पिता की आज्ञा का पालन और दूसरी ओर दान मुक्तहस्त से न देने से फैलने वाला अपयश ! अन्त में, उसने दृढ़ निश्चय कर लिया-कुछ भी हो, धर्म का अवसर आने पर अवश्य ही दान दूंगा।" तदनुसार वह पुनः अधिकाधिक दान देने लगा। जब राजा के कानों में यह बात पडी तो उसने अत्यन्त कुपित होकर राजकुमार को नगर में प्रवेश करने की मना ही कर दी।

राजकुमार ने सोचा—अब मुझे अपना भाग्य आजमाना चाहिए। पिता के आश्रित होकर रहना उचित नहीं। अतः उसी रात को चुपचाप एक घोड़े पर बैठकर वहाँ से चल पड़ा। दुष्ट सज्जन को किसी तरह पता लग गया। अतः वह भी राजकुमार के साथ हो लिया।

दोनों एक दिशा में जा रहे थे, रास्ते में ही चालाक सज्जन ने मनोविनोद के बहाने राजकुमार से पूछा—"बोलो, राजकुमार; धर्म श्रेष्ठ है या पाप ?" राजकुमार बोला—"तू बिलकुल मूर्ख मालूम होता है, कहीं पाप श्रेष्ठ होता होगा ? धर्म ही श्रेष्ठ है। धर्म से जय और पाप से क्षय होता है।"

पापी सज्जन बोला—"राजकुमार ! आप भले ही धर्म को श्रेष्ठ कहें, मुझे तो अधर्म ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है। अगर ऐसा न हो तो, धर्मी होते हुए भी आप पर विपत्ति क्यों आई ? इस समय तो अधर्म का ही बोलबाला है। अतः चलें चोरी आदि करके कुछ धन कमाएँ !"

इस पर राजकुमार रुष्ट होकर बोला—"अरे पापी-दुष्ट ! तेरे ये वचन सुनना ही पाप है। इस समय किसी व्यक्ति की जय धर्माचरण करते हुए भी न हो तो वह उसके पूर्वकृत अन्तरायकर्म का उदय समझना चाहिए ! यदि किसी की जय अन्याय या अधर्म करते हुए भी होती हो तो वह भी उसके पूर्वकृत कर्म के कारण है, हम दोनों के विवाद का निपटारा यहाँ जंगल में तो कौन करे ? अगले गाँव में पहुँच कर हम गाँव वालों से पूछ कर इसका निर्णय करेंगे। पर मान लो, गाँव के लोग धर्म को श्रेष्ठ न कहें तो आप क्या करेंगे ?" सज्जन ने कहा।

राजकुमार ने सरलता से कहा—"अगर तुम्हारे कहे अनुसार ग्रामीण लोग अधर्म को श्रेष्ठ बताएँ, तो मैं यह घोड़ा आदि सब चीजें तुम्हें देखकर जिंदगीभर तेरा चाकर बनकर रहूँगा"। राजकुमार को तो दृढविश्वास था कि सभी लोग धर्म को ही श्रेष्ठ कहेंगे।

यह शर्त करके दोनों अगले गाँव में पहुँचे। वहाँ सज्जन ने दुःख से पीड़ित एक बूढे से पूछा—"क्यों भाई ! इस जमाने में धर्म से जय होती है या अधर्म से ?" दैवयोग से वृद्ध बोला—"इस जमाने में तो अधर्म से ही जय दिखाई देती है"। यह सुनकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दोनों थोड़ी दूर आगे चले कि दुष्ट सज्जन ने मुस्कराकर कहा—"राजकुमार ! अगर आप सत्यवादी हैं तो अपने वचन के अनुसार मुझे अपना घोड़ा दे दो और मेरे सेवक बनकर रहो।"

राजकुमार सोचने लगा—"चाहे राज्य चला जाए, प्राण भी चले जाएँ, परन्तु मनुष्य को अपने वचन पर दृढ़ रहना चाहिए। यही सत्यधर्म के प्रति दृढ़ प्रीति होगी।" तदनुसार राजकुमार ने सज्जन को घोड़ा आदि सब दे दिये और स्वयं उसका सेवक बन गया। दुष्ट सज्जन घोड़े पर बैठा फूला नही समा रहा था। कुछ दूर चलकर फिर उसने राजकुमार से पूछा—"धर्म के प्रति पक्षपात का फल तो आपने पा लिया अब तो कह दो—"अधर्म से जय होती है और अपना घोड़ा वापस ले लो।" यह सुनते ही राजकुमार बोला—"अरे दुर्मति के धनी ! तू मुझे भी दुर्बुद्धि देता है। यह शरीर तो नाशवान् है, धर्म ही अविनाशी है, उसी की जय है, वही संसार में सारभूत और शरणरूप हैं। गाँव के लोग गँवार और अदूरदर्शी होते हैं, इसलिए उस बूढ़े ने ऐसा कह दिया, परन्तु धर्म की महिमा क्या उसके कहने से चली जाएगी ? वह तो है ही। ऊंट को अंगूर अच्छे नहीं लगते, क्या इससे अंगूर की मधुरता चली जाएगी ? कदापि नहीं।"

सज्जन ने कहा—आपने भी ठीक गधे की पूँछ पकड़ ली है, उसे छोड़ते नहीं है। इसलिए ऐसे कदाग्रही बन गये हैं। चलिए अगले गाँव के लोगों से पूछें। अगर वे भी अधर्म से जय कहेंगे तो आप क्या करेंगे ?" राजकुमार बोला—"अगर ऐसा होगा तो मैं तुम्हें अपनी दोनों आँखें दे दूँगा।" दोनों अगले गाँव में पहुँचे। वहाँ के लोगों से पूछा तो उन मूर्खों ने भी कहा—अधर्म से जय होती है।

दुष्ट सज्जन बोला—"कहो, धर्म के पूंछड़े ! सत्यवादी ! अब क्या करोगे ?" सज्जन के तानेभरे वचन सुनकर कुमार धैर्य-धारण करके एक वटवृक्ष के नीचे जाकर कहने लगा—ओ देव देवियो ! अहो लोकपालो ! आप साक्षी हैं। एकमात्र धर्म ही जगत् में विजयी है। मुझे भी धर्म की शरण हो।" यों कह कर छुरी से दोनों नेत्र निकाल कर पापी सज्जन को दे दिये। उन्हें लेकर पापी सज्जन यों उपहास करता हुआ चल दिया—'लो कुमार ! अब आप वहाँ बैठे-बैठे धर्म के फल खाते जाएँ, मैं तो यह चला।"

कुमार अकेला उस घोर जंगल में बैठा विचारने लगा—"यह असंभव बात कैसे हो गई ? परन्तु हाँ, दुष्कर्मों के उदय से कौन-सा दुःख सम्भव नहीं है ? रात हुई चारों ओर घोर अंधेरा छा गया। सभी पक्षी अपने-अपने घोंसले में रैन बसेरा लेने लगे। इसी समय उसी वट पर भारंड पक्षी मिलकर बातचीत करने लगे। सभी नई बात सुनने को उत्सुक थे। एक बूढ़े भारंड पक्षी ने कहा—"यहाँ से पूर्व दिशा में चम्पानगरी है। वहाँ के राजा जितशत्रु की पुत्री पुष्पवती अत्यन्त सुन्दर है, ६४ कला में प्रवीण है, राजा-रानी दोनों को प्रिय है, परन्तु नेत्र न होने से उसकी सब कलाएँ व्यर्थ हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तातुर राजा ने यह घोषणा कराई है कि जो पुरुष इस कन्या को सुआँखी (सूझती) कर देगा; उसे वह आधा राज्य और कन्या देगा। अनेक कला-कुशल लोग आए, परन्तु अभी तक किसी को सफलता नहीं मिली। कल सबेरे तक अगर कन्या आँखों से देखने न लगी तो राजा, रानी और कन्या तीनों चिता में जल कर मर जाएँगे। अतः हमें प्रातःकाल वहाँ जाना है। साथ ही उस वृद्ध भारंड ने जन्मान्ध को भी दिखने लग जाए, इसका उपाय बताते हुए कहा—"देखो! इस वट के स्कन्ध पर एक बेल लिपटी हुई है, उसका रस, हमारी विष्ठा के साथ मिलाकर अगर कोई अंधे की आँख में डाले तो उसकी आँखों में एकदम रोशनी आ जाती है, वह देखने लगता है" यह बात सुनकर राजकुमार पहले तो अपने पर अजमा लेने के विचार से सब पक्षियों के सो जाने पर धीरे से उठा और उसने टटोलता-टटोलता वट के स्कन्ध के पास पहुँच कर उस ठेल का रस भारंड पक्षी की बीट के साथ मिलाकर अपनी आँखों में डाला। यह डालते ही आँखों में एकदम रोशनी आ गई। कुमार हर्षित हुआ। धर्म पर उसकी आस्था और दृढ़ हो गई।

अब वह एक डिबिया में वह बेल और भारंड की बीट दोनों लेकर चम्पा-नगरी पहुँचने के विचार से भारंड पंक्षी की पाँख में घुस गया। सुबह होते ही भारंड पक्षी उड़ा, उसने राजकुमार को तत्काल चम्पानगरी में पहुँचा दिया। स्नानादि से निवृत्त होकर कुमार नगर के मुख्य द्वार पर पहुँचा तो वहाँ राजा की घोषणा अंकित थी। उसे पढ़कर द्वाररक्षक के साथ राजा के पास कहलाया कि "एक विद्यासिद्ध आया है, वह राजकुमारी को दिव्य नेत्र दे सकता है।" राजा ने तुरन्त बुलाकर कुमार का बहुत स्वागत किया। तत्पश्चात राजा की प्रार्थना पर कुमार द्वारा उस दिव्यौषधि का रस राजकुमारी की आँखों में डालते ही उसके दिव्यनेत्र खुल गये। राजा ने प्रसन्न होकर राजकुमारी के साथ कुमार की शादी कर दी, उसे आधा राज्य भी सौंप दिया।

इधर सज्जन के बहुत बुरे हाल थे। एक दिन गवाक्ष में बैठे हुए राजकुमार ने उसे फटेहाल लड़खड़ाते हुए आते देखा। उसके शरीर में जगह-जगह फोड़े-फुन्सी हो रहे थे। आँखों से पानी झर रहा था, पेट पीठ से चिपक गया था। यह देख करुणा-शील ललितांग ने उसे बुलाया, अपना परिचय देकर उसे नहला-धुलाकर नये कपड़े पहनाए और अपने पास सुखपूर्वक रहने को कहा।

"एक दिन सज्जन से कुमार ने ऐसे बुरे हाल होने का कारण पूछा तो उसने कहा—आपको अकेले छोड़कर मैं आगे बढ़ा ही था कि रास्ते में चोर मिले। उन्होंने मेरा सर्वस्व छीन लिया, मुझे मारपीट कर अधमरा कर दिया। मैंने पाप का फल पा लिया। अब मुझे छोड़ो।" परन्तु कुमार ने दया करके उसे आश्वासन देकर रखा। एक दिन ललितांग की रानी ने उसे सज्जन की संगति करने से रोका। परन्तु ललितांग सरलभाव से उसकी संगति करता रहा।

एक दिन राजा ने पापी सज्जन से पूछा—यह राजकुमार कौन है? तुम्हारे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? इसके माता, पिता, कुल-देश आदि का परिचय दो।" पापी सज्जन ने अशुभ की आशंका से अपने को श्रीवास नगर के राजा नरवाहन का पुत्र और कुमार को अपना नौकर बताया। परन्तु किसी सिद्ध पुरुष से विद्या पाकर अत्यन्त रूपवान हो गया है। नीच जाति होने के कारण घर छोड़कर यहाँ आ गया और आपका दामाद बन गया। मैं भी पिता को छोड़कर घूमता-घूमता यहाँ आ पहुँचा। मुझे पहिचान कर मेरी जाति बताकर फजीहत न करे, इस आशंका से यह मुझे प्रेम से रखता है।" यह सुनते ही राजा अत्यन्त भड़क उठा और कुमार को मरवाने का षड्यन्त्र रचा। अपने सेवकों को हिदायत दे दी कि "घर के मध्य द्वार से जिसे भी आते देखो, उसे मार डालो।" धर्म के प्रताप से कुमार अपनी पत्नी के द्वारा रोके जाने के कारण घर में ही रहा, सज्जन को भेजा गया। बस, वहीं राजसेवकों ने उसका काम तमाम कर दिया। पापी सज्जन ने अपने किये का फल पा लिया।

बाद में ललितांग कुमार का रहस्य खुला। सारा परिचय पाने पर राजा को बहुत पश्चात्ताप हुआ। राजा ने कुमार से माफी माँग कर उसे शेष आधा राज्य भी दे दिया। एक बार ललितांग राजा अपने मन्त्री को राज्य संचालन का भार सौंप कर रानी सहित अपने देश में पहुँचा। माता-पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए। राजा नरवाहन ने भी ललितांग को अपना राज्य सौंप कर गुणवंत आचार्य से चारित्र अंगीकार किया।

ललितांग राजा ने भी एकबार नरवाहन राजर्षि का उपदेश सुनकर सम्यक्त्व सहित श्रावक के १२ व्रत अंगीकार किये। वृद्धावस्था आने पर अपने पुत्र को राज्य सौंप कर स्वयं ने दीक्षा ले ली। श्रमण धर्म में स्थिर होकर महाव्रतों का पालन करने लगे।

इस प्रकार ललितांग कुमार अनेक विपत्तियाँ आने पर भी धैर्यपूर्वक टिके रहे, परन्तु धर्म से जरा भी विचलित न हुए।

बन्धुओ ! ललितांगकुमार में सत्ववान् के पहले बताये हुए सभी गुण थे।

सत्ववान् किस धर्म से विचलित नहीं होता ?

आजकल धर्म के नाम से कई धर्मभ्रम चल पड़े हैं। अधिकांश अविवेकी लोग बाह्य क्रियाकाण्डों, बाह्य आचार, साम्प्रदायिक परम्पराओं, साम्प्रदायिक रीति रिवाजों या कुरूढ़ियों को ही धर्म का चोला पहना कर भोलीभाली जनता के समक्ष धर्मदृढ़ता का प्रदर्शन करते हैं, परन्तु यह वास्तविक धर्मदृढ़ता नहीं है, शुद्ध धर्म तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, ईमानदारी, दया, क्षमा, देव-गुरु धर्म पर श्रद्धा, अपरिग्रह आदि हैं, उन पर दृढ़ रहना ही धर्मदृढ़ता है। धन का प्रलोभन आये वहाँ धन का प्रलोभन छोड़कर धर्म पर दृढ़ रहना ही धर्म से अविचलता है।

जयपुर के जैन दीवान अमरचन्दजी अहिंसा के कट्टर पुजारी थे। एकबार कुछ लोगों के बहकावे में आकर महाराजा ने उनसे कहा—हमारे बगीचे के शेर को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोजन आपको खिलाना है। दीवानजी जैन होने के नाते माँस तो खिला नहीं सकते थे। इसलिए मिठाई का थाल लेकर शेर के पिंजरे के सामने पहुँचे। सिंह ने पहले तो मुंह फिरा लिया, मिठाई देखकर। दीवान साहब ने सिंह से कहा—"भाई ! मैं तुम्हें दूध, मिठाई या रोटी आदि के सिवाय और कोई हिंसा से निष्पन्न वस्तु दे नहीं सकता। इसलिए या तो इसे स्वीकार करो, या फिर मेरा मांस स्वीकार करो। दूसरे किसी पशु का माँस मैं नहीं दे सकता।" कहते हैं, बुद्धिमान सिंह शीघ्र ही मिठाई खाने लगा। यह दीवानजी के अहिंसा धर्म पर दृढ़ रहने का चमत्कार था।

एक जैन व्यापारी के पुत्र ने किसी को रकम देनी थी सो बहीखातों में गड़बड़ करके वह बिलकुल निकाल दी। साहूकार ने मुकद्मा दायर किया। न्यायाधीश के समक्ष सब बहियाँ पेश की गयीं। बहियों में तो कोई कर्ज लेने का उल्लेख तक न था। प्रतिपक्षी के वकील ने कहा—"साहब ! इस व्यापारी का पिता सत्यवादी है, वह अगर कह दे कि मेरे मवक्किल से इसने कुछ भी रुपये नहीं लिये हैं तो मैं मुकद्मा वापिस लेने को तैयार हूँ।" न्यायाधीश ने उसके पिता को बुलवाने का निश्चय किया। इधर कर्जदार व्यापारी ने अपने पिता से बहुत अनुनय-विनय की, झूठ बोलकर अपने को बचाने की। मगर सत्य धर्म पर दृढ़ पिता इस बात के लिए कतई तैयार न हुआ। आखिर उसके पिता ने न्यायाधीश के सामने सच-सच बयान दिये। कर्जदार प्रतिपक्षी उसका पुत्र हार गया। फिर उसके सत्यवादी पिता ने अपने पुत्र को आजीवन करावास की सजा के बदले उसे भविष्य में कभी ऐसा असत्याचरण न करने की प्रतिज्ञा दिला कर बहुत कम सजा से छुटकारा दिलाया।

शील के विषय में सेठ सुदर्शन की धर्म दृढ़ता का ज्वलन्त उदाहरण है। ईमानदारी के विषय में दृढ़ता का एक ज्वलन्त उदाहरण है, फलौदि वाले सेठ पद्मचन्द जी कोचर का। अहमदाबाद में नवामाधुपुरा में इनकी होलसेल कपड़े की दुकान है। फर्म का नाम है—"सरदारमल पाबूदान।" यह दुकान अपनी ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध है। एक बार इन्कमटैक्स के अधिकारियों ने सेठजी की फर्म का टैक्स कम आंका। सेठजी के ध्यान में यह बात आते ही उन्होंने इन्कमटैक्स विभाग के कर्मचारियों को बुलाकर बताया कि मेरी फर्म का टैक्स कम आंका गया है, इसकी जाँच करें।" उन्होंने जाँच की तो भूल निकली। अतः सेठजी ने बाकी का इन्कमटैक्स और भी दिया। तब से सेठजी की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी कि इन्कमटैक्स वाले उनकी फर्म की बहियाँ नहीं देखते। सेठजी जितनी इन्कम बता देते उतनी वे मान लेते।

याज्ञवल्क्य ने सन्यास लेते समय अपनी दो पत्नियों में धन बाँटना चाहा तो मैत्रेयी ने साफ कह दिया—जिस धन को लेकर मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँगी ? मुझे तो वह आप धर्मरूपी धन दीजिएं, जिससे मैं अमरत्व प्राप्त कर सकूं।" सचमुच धर्म को प्राप्त करने के लिए धन का प्रलोभन ठुकराना बहुत बड़ी बात है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिए दुनिया में जितने भी सत्ववान नर-नारी हुए हैं, वे धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रख कर संकटों, आफतों और कष्टों से जूझे हैं। अन्त में, वे धर्म पर अविचल रहकर जीवन में विजयी हुए हैं। उनके जीवन का मूलमन्त्र यही रहा है—

धर्म पर डट जाना, है बड़ी बात यही ॥ ध्रुव ॥
धर्म को मेघरथराय निभाया, जिन्हों की शरण कबूतर आया।
भील को, काट दिया तन सारा, बने तो कट जाना ॥ है बड़ी बात ॥ १ ॥
धर्म को जाना हरिचन्द्र दानी, जिन्होंने बेचे पुत्र और रानी।
भरा है जाय नीच घर पानी, बने तो बिक जाना, है बड़ी बात ॥ २ ॥
धर्म को जाना श्री प्रल्हाद, जलाया अग्नि में जल्लाद।
पिता ने किया खड्ग से वार, बने तो कट जाना। है बड़ी बात ॥ ३ ॥
धर्म को गजसुकुमार ने धारा, सोमल ने शीश धरा अंगारा।
मस्तक सीझ गया सारा, बने तो सिक जाना, है बड़ी बात ॥ ४ ॥

इसीलिए गौतमकुलक में नौवां जीवन सूत्र बताया है—**ते सन्तिणो जे न चलंति धम्मं**—बन्धुओ ! आप भी सत्वशाली बनकर अपने धर्म पर अडिग रहें। संकटों विघ्न-बाधाओं को खेल समझ कर खिलाड़ी की तरह खेल खेलें। दुनिया की कोई ताकत नहीं कि आप फिसलना या गिरना न चाहें तो धर्म से डिगा दे या गिरा दें। चाहिए आपमें दृढ़ता, सहनशीलता, धैर्य, निर्भयता और साहस !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

११

बान्धव वे, जो विपदा में साथी

प्रिय आत्मबन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष ऐसे जीवन की मीमांसा करना चाहता हूँ, जो आपत्ति में, दुःख में, पीड़ा में मानव का साथ दे। मानव, चाहे वह परिचित हो या अपरिचित; सुखी रहा हो, या दुःखी; व्यसनी हो या निर्व्यसनी; अपने धर्मसम्प्रदाय का हो या अन्य धर्मसम्प्रदाय का हो; अपनी जाति-कौम का हो या दूसरी जाति-कौम का हो; अपने देश या प्रान्त का हो या दूसरे देश या प्रान्त का हो, अपने गाँव-नगर का हो या अन्य ग्राम-नगर का हो; कोई भी मानव हो, अगर वह विपत्ति में है, असहाय है, दुःखी है, पीड़ित है, रुग्ण है, या किसी भी कष्ट से व्यथित-चिन्तित है और वह पुकार कर रहा है, कराह रहा है, दयनीय स्थिति में है, उस मानव को जो उस समय सहायता देता है, उसकी पीड़ा को दूर करने के लिए प्रयत्न करता है, वही बान्धव है, वही बन्धु है, वही सहायतादाता है और आपत्त्राता है। इसीलिए गौतमकुलक में दसवाँ जीवन सूत्र बताया गया है—

'ते बंधवा, जे वसणे हंवंति'

—बान्धव वे ही हैं, जो दुःख और विपत्ति में सहायक हों।

बान्धव की आवश्यकता क्यों ?

प्रत्येक मनुष्य प्रायः अपने परिवार के सान्निध्य में ही जन्म लेता है, किसी का परिवार छोटा-सा—केवल एक या दो सदस्यों का होता है और किसी का बड़ा होता है। परिवार से वह सुरक्षा और उपकार की आशा रखता है। समय आने पर परिवार मनुष्य की बड़े से बड़े संकट से रक्षा करता है, उसे सहायता देता है। परिवार का निःस्वार्थ प्रेम ही परस्पर सहयोग और सहायता के लिए एक दूसरे को प्रेरित करता है। परन्तु कई बार परिवार एकदम छोटा होता है, या परिवार में कोई कमाने वाला नहीं होता, या परिवार में महिलाएँ रुग्ण, अशक्त, वृद्ध या धनोपार्जन करने योग्य नहीं होतीं, बच्चे छोटे होते हैं, अबोध लड़कों पर कोई आजीविका का भार नहीं डाला जाता, अथवा परिवार में दो ही सदस्य हैं, पिता और बच्चा या माता और बच्चा; ऐसे समय में बीमार पिता या बीमार माँ को दूसरे की सहायता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की अपेक्षा रहती है। अथवा मनुष्य बड़े परिवार वाला ही क्यों न हो, विदेश चला गया वहाँ बीमार हो गया, अथवा अकस्मात् रास्ते में कोई दुर्घटना हो गई, अथवा अत्यन्त दरिद्र हो गया; ऐसे समय में भी उसे किसी बान्धव की अपेक्षा रहती है, जो उसे समय पर तत्काल सहायता दे सके।

संसार तो संकटों का घर है, शरीर बीमारियों का घर है, सांसारिक मनुष्य अनेक चिन्ताओं को लिए-लिए फिरता है, ऐसे समय में एकाकी चलना सहज नहीं होता। एकाकीपन के कष्ट या अन्य चिन्ताओं, संकटों या रोगों से त्रास पाने, सहानुभूति और सहयोग पाने के लिए उसे किसी न किसी बन्धु बान्धव की आवश्यकता रहती है, जो उसे संकट के समय आश्वासन दे सके, उसके दुःखदर्द को सहानुभूतिपूर्वक सुनकर हलका कर सके। मनुष्य को अपनी जीवन यात्रा सुख-शान्तिपूर्वक सरलता के साथ पूर्ण करने के लिए बान्धवों की कितनी आवश्यकता है? यह किसी से छिपा नहीं है। जीवन यात्रा का लम्बा पथ अनेकों उतार-चढ़ावों, अनुकूलता-प्रतिकूलताओं, सुखद-दुःखद परिस्थितियों से मिला-जुला होता है। जब मनुष्य के सामने दुःखद परिस्थितियाँ, प्रतिकूलताएँ या पतनावस्था आती है, उस समय केवल परिवार से काम नहीं चलता, उस समय उसे एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता रहती है, जो उसको ऐसी संकट की घड़ियों में सहायता दे सके। उसे दुःख और विपत्ति के समय एक ऐसे सहयात्री की जरूरत रहती है, जो उसकी उस कठिन जीवन यात्रा को सरल, सुखद बनाने में मदद कर सके। भरापूरा परिवार होते हुए भी आकस्मिक संकट की घड़ियों में मनुष्य को किसी न किसी साथी की जरूरत पड़ती है।

व्यावहारिक जीवन में तो ऐसे किसी निःस्वार्थ बन्धु की अपेक्षा रहती ही है, आध्यात्मिक जीवन में भी ऐसे निःस्वार्थ हितैषी बन्धु की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। मान लो, आप किसी न किसी दुर्व्यसन से ग्रस्त हैं, और इतने ग्रस्त हैं कि उसके कारण आपका जीवन पतित हो गया है, आपके परिवार वाले कुछ भी सहायता नहीं कर पा रहे हैं, आपके व्यसन को मिटाने में वे असहाय होकर देख रहे हैं, ऐसी स्थिति में आपको एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, तो आपके प्रति सहानुभूति रखकर आत्मीयता के साथ आपके दुर्व्यसन को मिटाने के लिए अपनी पूरी ताकत लगा सके, आपको उक्त दुर्व्यसन से मुक्त करके या उक्त दोष या बुराई से छुटकारा दिलाकर आपका जीवनपथ धर्मयुक्त सरल सरस बना सके। क्या आप उस व्यक्ति को आध्यात्मिक बन्धु नहीं कहेंगे? क्या दोषों में फँस जाने पर आपकी आत्मा को उनसे उबार कर सच्चे माने में उद्धार करने वाले हितैषी बन्धु की आपको आवश्यकता नहीं रहती!

क्या ऐसे निःस्वार्थ परमहितैषी उपकारी व्यक्ति को आप अपना आत्म-बन्धु नहीं मानेंगे और समय आने पर उससे अध्यात्म जीवन को शुद्ध बनाने में सहायता नहीं लेंगे?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परमात्मा को भी दीनबन्धु कहा जाता है, क्यों ? वे दीनों, असहायों एवं पतितों की सच्चे हृदय से की हुई पुकार को शीघ्र सुनते हैं। सुनते क्या हैं ? ऐसे व्यक्ति के अन्तःकरण में पड़ी हुई मलिनताओं को दूर करने की प्रबल प्रेरणा जगा देते हैं। उसे इस प्रकार का स्वस्थ बोधि लाभ प्राप्त हो जाता है, जिससे वह अपने जीवन पर आए हुए संकटों और कष्टों को स्वयं मिटाने में समर्थ हो जाता है। फिर भी भक्त भक्ति की भाषा में ऐसे अध्यात्म प्रेरक, दीनबन्धु प्रभु से प्रार्थना करता है—

'आरुग्ग बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दितु'

'प्रभो ! मुझे स्वस्थ बोधिलाभ एवं उत्तम समाधि प्रदान करें।

मानवजीवन विविध क्षेत्रों में बँटा हुआ है, पारिवारिक क्षेत्र के अतिरिक्त भी सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक आदि विविध क्षेत्रों में मानव को संकट, कष्ट, आफत, दुःख, विपत्ति और व्यसन, के समय सच्चे हितैषी बान्धव की अपेक्षा रहती है, इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते।

बन्धु और सुहृत् की उपयोगिता बताते हुए नीतिकार कहते हैं—

"व्याधितस्यार्थहीनस्य देशान्तरगतस्य च।
नरस्य शोकदग्धस्य सुहृद् दर्शनमौषधम् ॥"

रोग से पीड़ित होने पर, निर्धन हो जाने पर, परदेश या विदेश में आकस्मिक संकट आ पड़ने पर, और शोक से संतप्त होने पर, सुहृद् निःस्वार्थ हितैषी बन्धु के दर्शन औषधि का काम करते हैं।

अमेरिका के धनकुबेर हेनरीफोर्ड से किसी पत्रकार ने पूछा—

"आपके जीवन में कौन-सी ऐसी कमी रह गई है, जिसे आप बहुत महसूस कर रहे हों ?" उन्होंने कहा—"अपार धन, सम्पत्ति एवं वैभव होने पर भी मेरे जीवन में सबसे बड़ी कमी यह रह गई कि मैं एक भी निःस्वार्थ हितैषी मित्र—बान्धव नहीं बना सका।"

वास्तव में जीवन की लम्बी यात्रा में ऐसे निःस्वार्थ बन्धुओं की पद-पद पर आवश्यकता रहती है।

एक पाश्चात्य लेखक टी. वी. स्मिथ ने ठीक ही कहा है—

"Brotherhood ...is in essence a hope on the road the long road—to fulfillment."

—संक्षेप में कहें तो बन्धुता—भाईचारा—जीवन यात्रा की लम्बी सड़क पर एक आसरा है, यात्रा को पूर्ण करने के लिए।"

मुझे सिर्फ बन्धु चाहिए

वाराणसी नरेश ब्रह्मदत्त सिंघल द्वीप से आर्यावर्त लौट रहे थे। जलयान एक छोटे-से द्वीप के निकट से गुजरा, तभी एक नारी की चीख सुनाई दी। जलयान के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वहीं लंगर डाल दिये गये जहाँ एक नौका पहले से रुकी खड़ी थी। सब लोग दौड़ कर उधर पहुँचे, जहाँ से किसी महिला के रोने की आवाज आ रही थी और देखा कि एक दस्यु एक नारी को पकड़ कर पीट रहा है। वह महिला कह रही है—"दुष्टो ! मैं भारतीय नारी हूँ। शील मेरा धर्म और पति के प्रति निष्ठा मेरी साधना है। मैं तुम्हारी दुष्टता के आगे नहीं झुकूंगी, चाहे मेरे प्राण ही क्यों न चले जाएँ।"

ब्रह्मदत्त के ललकारने पर दस्यु भाग खड़े हुए। समीप आ कर सम्राट् ने कहा—"भद्रे ! मैं तुम्हारा परिचय तो तुम्हारे शब्दों से पा चुका कि तुम एक तेजस्वी आर्यनारी हो। तुमने भारतीय नारी के आदर्शों में निष्ठा व्यक्त करके आर्य संस्कृति का मुख उज्ज्वल किया है। इसलिए तुम सम्मान की अधिकारिणी हो। तुम मेरे साथ चलो और अपने देश में अपने पति-पुत्रों के साथ सुख से जीवन यापन करो।"

महिला बोली—"राजन् ! दुष्ट दस्युओं ने मेरे पति को मार डाला है। मेरे पुत्र मुझे छोड़कर पहले-से ही अलग हो चुके हैं, अब मैं किसी हितैषी व्यक्ति का आश्रय चाहती हूँ, जिसके सहारे जीवनयापन कर सकूं।"

"इसका प्रबन्ध देश लौटकर करेंगे," यह कहकर सम्राट् ने उस महिला को साथ ले लिया और स्वदेश की ओर लौट पड़े।

जलयान जब भारतीय समुद्री तट पर रुका तो महाराजा के स्वागत के लिए विशाल जन समुदाय—जिसमें महारानी, मन्त्रिगण और सामन्त सभासद भी आगे बढ़े। उनकी ओर संकेत करते हुए सम्राट् ने उस महिला से कहा—"भद्रे ! इन आगन्तुकों में से तुम जिसे अपने पति-पुत्र के रूप में चुनना चाहो, चुन सकती हो, तुम्हारे सुखी जीवन के लिए मैं सारी व्यवस्थाएँ जुटा दूंगा।"

स्त्री की आँखें डबडबा आईं। उसने कहा—"राजन् ! मेरा पति था, जिसने मुझे अपनी वासना से जकड़ा और घर की चहारदीवारी में बन्द कर मेरा स्वास्थ्य लूटा। मुझे ऐसा भी न रहने दिया कि मैं आततायियों से मुकाबला कर सकती। मैं अज्ञान-अशिक्षा में ग्रस्त रही। पति की प्रवन्चना ने मुझे दासी बना कर छोड़ दिया। इसलिए अब मुझे पति नहीं चाहिए।"

'और पुत्र !" उसने आगे कहा—"पुत्रों को मैंने अपनी देह का रस निचोड़ कर पाला-पोसा। स्वयं कष्ट झेले, उनकी सेवा, शिक्षा और पालन-पोषण में कमी न आने दी। वे ही पुत्र जब बड़े हुए तो उनसे इतना भी न हो सका कि गाढ़े संकट में मेरी रक्षा करते ! अतः ऐसे कृतघ्न पुत्र लेकर भी अब मैं क्या करूँगी ? हाँ, जो मेरे शील-धर्म की रक्षा कर सके, ऐसे साहसी और चरित्रवान बन्धु की मुझे आवश्यकता अवश्य है। यदि आप उसकी पूर्ति कर सकते हों तो, मेरे लिए ऐसे एक बन्धु की व्यवस्था कर दें।"

ब्रह्मदत्त ने उपस्थित जनसमूह पर आँखें दौड़ा कर देखा—सबकी आँखें झुकी हुई थीं। कोई भी बन्धु बनने के लिए तैयार नहीं था। अन्त में ब्रह्मदत्त ने स्वयं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा—आओ बहन ! मैं तुम्हारा बन्धु बनता हूँ। तुम मेरे साथ चलो, मैं तुम्हारे धर्म-शील की रक्षा करूँगा और तुम्हारे सुखी जीवन-यापन की भी व्यवस्था करूँगा। इनमें से ऐसा कोई भाई नहीं दिखाई देता, जो तुम्हारा उद्धार कर सके।"

उस नारी की आँखें कृतज्ञता से सजल हो गयीं। उसे सम्राट् ब्रह्मदत्त बन्धु के रूप में मिल गए, जिसे उसकी आँखें ढूँढ़ रही थीं।

हाँ तो मैं कह रहा था कि इस संसार में स्वार्थी पति-पुत्र तो बहुत मिलते हैं, जिनसे आफत और संकट के समय कोई सहायता नहीं मिलेगी, मगर बन्धु बहुत बिरले मिलते हैं, जिनसे इस संसाररूपी भयंकर वन को पार करते समय मदद मिल सके, जो परस्पर सहायक होकर एक-दूसरे का बोझ हलका कर सके।

आप और हम शान्ति-पथ के पथिक हैं। इस प्रवास में क्या आपको ऐसे बन्धु की अपेक्षा नहीं रहती जो जाति, धर्म निर्धन-धनिक, निर्बल-सबल आदि का भेदभाव भूलकर प्रेम से आपके सामने विपत्ति के समय सहयोग का हाथ बढ़ा सके, बन्धुभाव बढ़ा सकें।

यों तो आत्मा ही आत्मा का बन्धु है

वैसे अगर दीर्घदृष्टि से सोचा जाए तो जीवनयात्रा में आत्मा के सिवाय हमारा कोई बन्धु नहीं है। आप जानते हैं कि प्रत्येक प्राणी विभिन्न योनियों और गतियों में अनन्त-अनन्तकाल से यात्रा करता चला आ रहा है। उसकी इस यात्रा में उसे अपने कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार के दुःख और यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। ऐसी स्थिति में उस प्राणी की आत्मा के सिवाय और कोई बन्धु साथ में नहीं रहता। शरीर, मन, अंगोपांग आदि भी तभी तक साथ रहते हैं, जब तक उस प्राणी का आयुष्य है। आयुष्य समाप्त होते ही ये एक क्षण भी नहीं रहते। अन्य साथी भी दुःख एवं यातनाएँ भोगते समय प्रायः बहुत ही विरले होते हैं, जो आपके दुःख भोगने में मदद करते हों। नरक गति तिर्यञ्च गति और देवगति में तो वहाँ के जीवों को अपने दुःख स्वयं ही भोगने पड़ते हैं। नरक में कोई दुःख और आफत के समय बचाने नहीं आता, देवलोक में भी परिवार व्यवस्था या समाज व्यवस्था प्रायः नहीं है, वहाँ भी स्वतः ही दुःख भोग करना होता है, तिर्यञ्चों में एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय जीवों तक में कोई दुःखभोग में सहभागी नहीं होता। पंचेन्द्रिय जीवों में भी जिन जीवों में झुण्ड-बाँधकर रहने की आदत होती है, वे संकट के समय कदाचित् किसी के मददगार हो जाते हैं, परन्तु प्राकृतिक प्रकोपों के समय अक्सर वे मूक और लाचार बन कर अकेले-अकेले दुःख और पीड़ा भोगते हैं। रही बात मनुष्य की। मनुष्य परिवार, समाज और राष्ट्र आदि इसीलिए बनाता है कि संकट के समय एक दूसरे को सहायता दे सके। परन्तु कई अवसरों पर मनुष्य भी दूसरे मनुष्य के कष्ट और पीड़ा में हाथ नहीं बँटा सकता। जैसे किसी को कोई बीमारी है। बीमारी की हालत में परिवार समाज एवं राष्ट्र वाले उसे दवा दे सकते हैं, वैद्य, डाक्टर आदि को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लाकर उसे दिखा सकते हैं। परन्तु रोग का जो कष्ट है, वह तो उस व्यक्ति को अपने आप ही भोगना पड़ता है। इसी दृष्टि से गीता में कहा है—

"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।"

'आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।'

भगवान महावीर ने भी कहा—

"अप्पा मित्तममित्तं च सुप्पट्ठिओ दुप्पट्ठिओ।"

आत्मा जब अच्छाइओं या धर्माचरण की ओर प्रस्थित होता है तो वही अपना बन्धु या मित्र बनता है और जब यही आत्मा बुराइयों या पापाचरण—बुरे मार्ग की ओर प्रस्थित होता है, तब वही अपना शत्रु—अबन्धु बन जाता है।

आप समझ गए होंगे कि आत्मा कब और कैसे बन्धु बन जाता है और कब और कैसे शत्रु बन जाता है? अच्छे कर्म या कर्मों का क्षय करने पर आत्मा अपना बन्धु बनकर उसे अच्छी गति में जाने में या जन्ममरण के चक्र को समाप्त करने में सहायक बनता है। शुभ गति में, शुभ कर्मों के कारण उस व्यक्ति को सुख और सुख के साधन मिलते हैं। उसमें बाहर का कोई भी व्यक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकता और न एक के सुख-दुःख को दूसरा भोग सकता है। यही आत्मा की बन्धुता है। इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा है—

"पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि?"

—'हे आत्मन्! तू ही तेरा मित्र या बन्धु है, बाहर के मित्र या बन्धु को पाने की इच्छा क्यों करता है?'

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को दुःख, कष्ट और आफत के समय दूसरों से सहायता की अपेक्षा और आशा नहीं रखनी चाहिए। दूसरों से बन्धुता की आशा और अपेक्षा रखने में बहुत बार मनुष्य को निराशा और हताशा पल्ले पड़ती है, उसकी आकांक्षा व आशा पूर्ण नहीं होती, तब उसे और अधिक कष्ट होता है, उसे मानसिक पीड़ा अधिकाधिक हो जाती है। यह व्यक्ति की निर्बलता है कि वह बाहर के बन्धु की अपेक्षा रखता है। फिर भी अगर मनुष्य बाहर के बन्धु की अपेक्षा और आशा न रखे तो वह बहुत-से क्लेश, द्वन्द्व और मानसिक सन्तापों से बच सकता है और अपनी आत्मा को भी सशक्त, स्वाधीन और कष्टसहिष्णु बना सकता है। इसी दृष्टिकोण से भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में सहाय-प्रत्याख्यान (सहायक के त्याग) से बहुत बड़ा लाभ बताया है।

लोक व्यवहार में बन्धु की आवश्यकता

किन्तु संसार में सब लोग—साधु हों या गृहस्थ—इतने आत्मबली नहीं होते कि वे कष्ट, संकट और आफत के समय किसी सहायक, बन्धु या मित्र की अपेक्षा न रखें। निश्चय दृष्टि से या इतनी पारमार्थिक या उच्च दृष्टि से चलने वाले कितने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं ? साधु-साध्वी भी घर-बार, परिवार या सांसारिक रिश्ते-नातों को छोड़ कर एक विशाल मानव कुटुम्ब के बन जाते हैं, वहाँ भी वे संघ बनाते हैं, उनमें उनके परस्पर सहायक गुरुभ्राता या गुरुभगिनी होते हैं। वहाँ भी उन्हें तब तक उन पारमार्थिक बन्धु-बान्धुवों या अनुयायियों की अपेक्षा रहती है, जब तक वे उच्च कक्षा या उच्च गुणस्थान की भूमिका पर आरूढ़ न हो जाएँ।

एक बार महात्मा ईसा बहुत-से जिज्ञासुओं से घिरे हुए उन्हें उपदेश दे रहे थे। तभी किसी ने आकर उनसे कहा—"आपके भाई और माता वहाँ बाहर खड़े हैं, आपसे वे बात करना चाहते हैं। आप जाकर उनसे मिल लीजिए।" ईसामसीह बहुत ही साधारण भाव से यह उत्तर देकर अपने उपदेश में लग गए—"संसार में मेरा भाई और मेरी माता अन्य कोई नहीं, यही जिज्ञासु जनता ही मेरे बन्धु-बान्धव और मेरी माता है। क्योंकि जो मेरे स्वर्गीय पिता के आदेश पर चले, वही मेरा भाई-बन्धु, बहन व माता-पिता हैं। मैं परमात्मा के आदेशों का पालन करने वाले को ही बन्धु-बान्धव मानता हूँ।"

आध्यात्मिक दृष्टि से बान्धव कौन ?

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा के ६ गुण ही साधक के बन्धु-बान्धव हैं। एक बार एक आध्यात्मसाधक से किसी जिज्ञासु ने पूछा—आपके बान्धव कौन हैं ? आप घर बार, कुटुम्ब-कबीला, समाज, जाति आदि सब सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ कर साधु बन गए हैं। आपके पास पैसा भी नहीं, नौकर चाकर भी कोई नहीं है, जो आपकी सेवा कर सके और न ही संकट में आपकी रक्षा करने वाले कोई रक्षक हैं, फिर बिना बन्धु-बान्धव के आप संसार में सुख से कैसे जी सकेंगे ?" उस मस्त साधक ने अपनी मस्ती में उत्तर दिया—

"सत्यं माता पिता ज्ञानं, धर्मो भ्राता, दया सखा।
शान्तिः पत्नी, क्षमा पुत्रः षड़ेते मम बान्धवाः॥"

—"सत्यता मेरी माता है, ज्ञान मेरा पिता है, धर्म भाई है, दया सखा है, शान्ति पत्नी है और क्षमा पुत्र है, ये छह मेरे बान्धव हैं, जो हर संकट में, कष्ट में मेरा साथ देते हैं, मेरी सहायता करते हैं।"

स्वामी रामतीर्थ जिस स्टीमर में विदेश यात्रा कर रहे थे, जब बन्दरगाह पर जहाज खड़ा हुआ, सभी यात्री उतर रहे थे, तब वे खड़े थे। एक विदेशी यात्री ने साश्चर्य पूछा—"अरे ! आपके पास तो कुछ सामान ही नहीं है। मालूम होता है, पैसे भी आपके पास नहीं रहे हैं। इस समय आपको कौन सहायता करेगा ?" स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त की भाषा में उत्तर दिया—'आप ही मेरे बन्धु हैं, जो मुझे सहायता के लिए पूछ रहे हैं ? आप में सहानुभूति जगी, इसलिए आपसे बढ़कर मेरा इस समय बान्धव और कौन होगा ?" बस, इतना कहना था कि वह विदेशी स्वामीजी का बान्धव बन गया। उसने स्वामी के आवासादि की व्यवस्था तो की ही, उनके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्यानों का आयोजन आदि भी किया। अतः लोक व्यवहार में बान्धव की परम आवश्यकता रहती है।

बान्धव कौन और कैसा हो ?

अब सवाल यह है कि बन्धु-बान्धव की अपेक्षा होते हुए भी यह तो प्रत्येक व्यक्ति को सोचना ही पड़ेगा कि बन्धु या बान्धव कैसा हो ? नहीं तो, इस विकट संसार यात्रा में कई मानव यात्री ऐसे स्वार्थी, मनचले एवं ठग बन्धुओं के चक्कर में आकर ठग गए हैं, उनकी चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अपना सर्वस्व लुटा चुके हैं। बन्धु के नाम पर कट्टर शत्रुता का काम करने वाले बान्धव की ओट में गला काटने वाले तो अनेक मिलते हैं। इसीलिए नीतिकार सच्चे बन्धु-बान्धव की पहिचान के लिए मार्गदर्शन देते हैं—

"पुरा वृत्त-कथोद्गारैः कथं निर्णीयते परः,
स्यान्निष्कारणबन्धुर्वा किं वा विश्वासघातकः ?
परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ॥"

किसी अपरिचित पराये व्यक्ति के सम्बन्ध में पहले ही उसकी बातों और साधारण व्यवहार से कैसे निर्णय किया जा सकता है कि यह निष्कारण बन्धु है या विश्वासघाती स्वार्थी मनुष्य है ?

जो पराया होकर भी अगर हितैषी है तो बन्धु है और जो बन्धु कहलाकर भी अहित करता है, वह पराया है—शत्रु सा है। शरीर से उत्पन्न होनेवाला रोग अपना होते हुए भी अहितकर होता है और जंगल का औषध पराया होने पर भी हितकर होता है।

निष्कर्ष यह है कि बन्धु-बान्धव का निर्णय उसकी जाति, धर्म-सम्प्रदाय, देश, वेशभूषा, उसकी मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातों या एक-दो बार के मधुर व्यवहार आदि पर से ही नहीं करना चाहिए, अपितु हितैषिता की कसौटी पर कस कर उसकी बन्धुता परखनी चाहिए।

हितैषिता की कसौटी में खरा उतरने के बाद ही माना जा सकता है कि यह बन्धु या बान्धव है, अन्यथा, जाति, धर्म-सम्प्रदाय, देश, वेश, मधुर वचन और मधुर व्यवहार की ओट में बन्धु बनने वाले हजारों मिल जायेंगे, जिनमें निःस्वार्थ बन्धुता नाममात्र को भी न होगी, ऐसे बन्धु बननेवाले व्यक्ति कई बार मनुष्य के चरित्र का सत्यानाश कर देते हैं अथवा वे केवल स्वार्थ के लिए बन्धु बनते हैं, जो स्वार्थ न सधने पर आँखें बदल देते हैं, किनारा कसी कर जाते हैं।

एक कवि बन्धु-बान्धव बनाने से पहले उसको परखने का गुर बताता है—

"सज्जन ऐसा कीजिए ढाल सरीखो होय।
दुःख में तो आगे रहे, सुख में पाछो होय ॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मैंने एक जगह लुई पाश्चर की तस्वीर देखी। उसके नीचे एक वाक्य लिखा था—"मैं आपका धर्म, जाति या देश आदि नहीं जानना चाहता। मैं तो सिर्फ आपकी पीड़ा दूर करना चाहता हूँ।" वास्तव में जो किसी भी भेदभाव या संकीर्णता के बिना केवल दुःख और विपत्ति में पड़े हुए की पीड़ा दूर करना चाहता है, वही बान्धव है। जो सुखभोग करने में तो सबसे पहले रहे और दुःख के समय किनारा कसी कर ले, वह बन्धु की ओट में शत्रु है। इसीलिए बन्धु और अबन्धु का अन्तर बताते हुए स्पष्ट कहा है—

"स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः।
न तु भीत-परित्राण-वस्तूपालम्भपण्डितः॥"

—"बन्धु वह है, जो विपत्ति में पड़े हुए लोगों का विपत्ति से उद्धार करने में समर्थ हो, वह बन्धु नहीं है, जो भय से परित्राण पाने की अपेक्षा हो, वहाँ तरह-तरह से उपालम्भ देने में पण्डित हो।"

कई लोगों की आदत होती है कि वे किसी नदी या तालाब में डूब जाने पर तैरने में समर्थ होते हुए भी उसे बाहर निकालकर रक्षा नहीं करते, उसे संकट से उबारा नहीं, और लगते हैं—उलाहना देने-पहले मैंने तुम्हें कितना मना किया था कि तुम नदी या तालाब में अन्दर मत घुसो, डुबकी मत लगाओ, अब भोगो अपने कर्मों का फल!"

वास्तव में ऐसे लोग जो विपत्ति में पड़े हुए को केवल उपदेश दे देते हैं, या केवल सिक्के फैंक देते हैं उसके सामने वे सच्चे अर्थों में बान्धव नहीं हैं, वे केवल ऊपर ऊपर से सहानुभूति बताकर रश्म अदा कर देते हैं। जैसे कई लोग किसी मृत व्यक्ति के यहाँ उसके परिवार वालों के प्रति शोक—संवेदना व्यक्त करने जाते हैं, वे मौखिक रूप से प्रायः अफसोस प्रगट करके आ जाते हैं। मृतक की पत्नी, या उसके भाई आदि को वे हृदय से प्रायः आश्वासन या सान्त्वना नहीं देते। वे मृतक के पीछे दुःखी या पीड़ित सम्बन्धी को साफ-साफ सान्त्वना या सक्रिय सहायता नहीं देते कि बन्धुवर! या बहन! वह मर गया तो क्या हुआ, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा, तुम चिन्ता न करो। मैं तुम्हारा ही एक छोटा-सा बन्धु हूँ। लो मेरी यह सहायता स्वीकारो।"

एक बार एक ऊँट पर बैठकर एक पण्डितजी और सेठजी कहीं जा रहे थे। मारवाड़ का रेतीला प्रदेश था। भयंकर लू चल रही थी। इस भयंकर गर्मी से गरीब मानव झुलस कर खत्म हो जाते हैं। रास्ते में एक जगह एक बीमर जिसे लू लग गयी थी, पड़ा-पड़ा कराह रहा था। उसे किसी ऐसे बन्धु की आवश्यकता थी, जो उसे निकटवर्ती हॉस्पिटल में ले जाकर उसकी चिकित्सा करा दें।" सबसे पहले पण्डितजी की दृष्टि उस पर पड़ी, उनके हृदय में कुछ सहानुभूति जगी। वे ऊँट को रोककर नीचे उतरे और रोगी के पास जाकर लगे उपदेश झाड़ने—"भाई! अब रोता क्यों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है ? पहले तुमने ऐसे कर्म किये ही क्यों थे ? पहले कर्म करते समय तुम्हें सावधान रहना था। अब तो रोग का कष्ट तुम्हें भोगना ही पड़ेगा। "यादृक् करणं तादृग्भरणम् जैसी करनी वैसी भरनी। हम क्या कर सकते हैं।"

वह बेचारा ऐसे दुःख के समय उपदेश क्या सुनता ? फिर सेठजी ने सहृदयतापूर्वक कहा—"पण्डितजी ! आपके उपदेश की इसे आवश्यकता नहीं। इसे तो कुछ सहायता की अपेक्षा है।" सेठजी ऊँट से उतरे और जेब में हाथ डाल कर कुछ सिक्के निकाले और उसके सामने फैंकते हुए कहा—लो, भाई ! ये पैसे। इनसे अपना इलाज करा लेना और तो मैं क्या कर सकता हूँ, तुम्हारी मदद ! सिक्के देखकर उक्त रोगी की आँखों में चमक आई। उसने उनकी ओर देखा, पर हाथ उन्हें उठा नहीं सकते थे, इसलिए लाचार पड़ा-पड़ा देखता रहा। ऊँट वाले ने जब यह माजरा देखा, तो उससे न रहा गया। उसने कहा—"सेठजी ! आपके सिक्के इसके किस काम के ? इस बेचारे से तो उठाए नहीं जाते। इसे तो सेवा की आवश्यकता है। आप आगे चलिए। मैं इसे किसी निकटवर्ती अस्पताल में पहुँचाकर आता हूँ।" यों कहकर ऊँट वाले ने उस रोग पीड़ित को अपने कंधों पर उठाया। उसके कपड़े के पल्ले में वे सिक्के डाले और वहाँ से चलकर एक हॉस्पिटल में ले गया। वहाँ के डॉक्टर से कह-सुनकर उसने उस रोगी को भर्ती कराया। वे सिक्के उसको सौंपे और फिर विदा माँगी—"भाई ! अब आगे सेवा की मेरी सीमा आ गई है। मैं जाता हूँ तुम अच्छी तरह इलाज कराने के बाद अपने घर चले जाना।" वह बहुत खुश हुआ। उसने धीमे स्वर में कहा—"भाई ! तुमने मेरी बहुत सेवा की। मैं तुम्हारी सेवा से खुश हूँ। अच्छा पधारो ! फिर कभी दर्शन देना। भगवान् तुम्हारा भला करे।"

इस प्रकार उस रोगपीड़ित का हार्दिक आशीर्वाद लेकर वह ऊँट वाला वहाँ से सन्तुष्ट होकर कुछ रात गए उस गाँव में पहुँचा, जहाँ पण्डितजी और सेठजी पहुँचे थे।

हाँ तो, मैं कह रहा था, पीड़ित को कोरा थोथा उपदेश देने या केवल सिक्के देने वाला सच्चे बन्धु की कोटि में नहीं आता। सच्चे बन्धु की परख रोग, पीड़ा विपत्ति या संकट आने पर ही होती है। यों तो प्रत्येक व्यक्ति अपने मुंह से कहेगा कि 'विश्व के सभी मानव मेरे बन्धु हैं।' जैसे कि पाश्चात्य विचारक सेनेका (Seneca) कहता है—

"However degraded or wretched a fellow mortal may be, he is still a member of our common species."

"हमारा मानव-साथी चाहे जितना पतित या दुर्भाग्य पीड़ित हो, वह आखिर-कार हमारी सर्वसाधारण जाति (मानव-जाति) का एक सदस्य है। सारी मानव जाति अगर परमात्मा को परमपिता मानती है तो सारे मानव हमारे बन्धु (बिरादर) ही ठहरेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विश्व-बन्धुत्व का दायरा इतना विशाल होते हुए भी मनुष्य उस बन्धुत्व को संकीर्ण-अतिसंकीर्ण दायरे में बन्द कर देता है, कभी परिवार के दायरे में, तो कभी जाति, प्रान्त, नगर, गाँव या राष्ट्र के दायरे में। इसलिए बान्धव की पहिचान कराते हुए नीतिकार कुछ खास विपत् स्थानों का उल्लेख करते हैं—

"उत्सवे व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः।

—धार्मिक या सामाजिक उत्सवों के अवसरों पर जो सम्मिलित होता है या वहाँ की व्यवस्था में भाग लेता है, अपनी सेवाएँ देता हैं, आफत या कष्ट पड़ने पर जो सब तरह से यथाशक्ति यथावसर सहायता देता है, युद्ध या लड़ाई के समय जो मदद देता है, दुष्काल के समय पीड़ित व्यक्तियों को सहायता देता है, राष्ट्र में विद्रोह या विग्रह होने पर जो अपना सर्वस्व झोंक देता है, राजदरबार में भी जो दुखित व्यक्ति का साथी बनता है, श्मशान में जो मृत व्यक्ति के पीछे परिवार को आश्वासन देता है, वही वास्तव में बान्धव है।

ये सब स्थान बान्धव को परखने के हैं। इन क्षेत्रों में जो किसी व्यक्ति के साथ रहता है, बन्धुत्व को लेकर किसी घायल के घावों पर मरहमपट्टी करता है, वही वास्तव में बन्धु-बान्धव है। एक उर्दू शायर 'नश्तर' ने मानव जाति की सभ्यता की निशानी बन्धुता को बताई है—

यह है तहजीब[1] आदमी में हो हया।
दिल में हर लहजा[2] रहे खौफेखुदा[3]
जीने का मकसद[4] हो खिदमत[5] खल्क[6] की।
आदमी के काम आए आदमी॥

महासती सीता को जब श्रीराम ने घोर वन में पहुँचा दिया, तब अकेली, असहाय और दुःख पीड़ित सीता का कोई भी सहायक नहीं था। फिर भी सीता ने आत्मविश्वास रखकर उस घोर वन में अपने आप को प्रकृति के भरोसे छोड़ दिया। अचानक वहाँ वज्रजंघ राजा आ पहुँचे। उन्होंने एकाकी सीता को इस प्रकार विपन्न अवस्था में देखा तो उनका हृदय भर आया। वे स्वयं बन्धु बनकर सीता को अपने यहाँ ले गए और सब प्रकार से कष्ट-निवारण किया।

दुष्कालपीड़ित मानवों के बन्धु : खेमाशाह

जब पृथ्वी पर कोई प्राकृतिक प्रकोप—भूकम्प, बाढ़, दुष्काल, सूखा या महामारी आदि विपत्ति के रूप में होता है तो उस समय अपने देश या प्रान्त के सिवाय दूसरे देश या प्रान्त के लोगों से भी पीड़ितों के बान्धव बनने की अपेक्षा रखी

---

१ सभ्यता। २ प्रत्येक क्षण। ३ परमात्मा का डर।
४ उद्देश्य। ५ सेवा। ६ जनता की।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाती है। ऐसे समय सहृदता पूर्वक जो पीड़ितों के आंसू पोंछता है, वही बन्धु कहलाता है।

हडाला भाल के खेमाशाह ने गुजरात राज्य में भयंकर दुष्काल पड़ने पर बन्धु बनकर दुष्काल पीड़ित मानवों की जो सहायता की है, वह गुजरात के इतिहास में बेजोड़ है। उन्होंने जाति, धर्म-सम्प्रदाय, ग्राम-नगर आदि के भेद-भाव की दीवारें नहीं खींची। उन्होंने जैन धर्मी होते हुए भी दुष्काल से पीड़ित प्रत्येक जाति एवं धर्म सम्प्रदाय के मानव बन्धु की मुक्तहाथ से सहायता की। गुजरात के तत्कालीन बादशाह मुहम्मद बेगड़ा को भी मानना पड़ा कि शाह पहले शाह है, बादशाह बाद में शाह है। कितना भगीरथ कार्य था यह! परन्तु खेमा देदरानी शाह ने अपना सर्वस्व अन्न-धन सारे गुजरात राज्य के दुष्काल-निवारणार्थ प्रस्तुत कर दिया।

राष्ट्रविद्रोह के समय रक्षक बन्धु

कई बार राज्य में भयंकर विद्रोह फूट पड़ता है, राज्य या राष्ट्र पर संकट आ पड़ता है। भारतवर्ष में तो ऐसे असंख्य उदाहरण मिल जाएँगे, जबकि कुछ देश-बन्धुओं या राष्ट्रबन्धुओं ने देश, राज्य या नगर की रक्षा के लिए अपना महान आत्म-भोग दिया।

महात्मागाँधी जी और उनके स्वराज्य-आन्दोलन के साथी भारत को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए प्राणप्रण से जुट पड़े—देश-बन्धु या राष्ट्र बन्धु बनकर। महात्मागाँधी जी ने राष्ट्र की हरिजन समस्या, खाद्य समस्या, महिला समस्या आदि अनेक समस्याओं को सुलझाने के लिए अथक प्रयत्न किया। स्वयं लाठियाँ—गोलियाँ सहीं, जेलों में गए, भूखे प्यासे भी रहे, अनेक यातनाएँ सहीं; किन्तु राष्ट्र के प्रति बन्धुता के कारण ही उन्होंने ये कष्ट सहर्ष सहे।

चीन तथा पाकिस्तान के द्वारा भारत पर आक्रमण के समय अनेक व्यक्तियों ने राष्ट्र-बन्धु बनकर राष्ट्र को हर प्रकार से सहायता दी, यहाँ तक कि अपनी जानें लड़ा दीं, राष्ट्र रक्षा के लिए।

इसी प्रकार प्रान्त पर घोर उपद्रव के समय भी कई बन्धु उसे प्राणप्रण से बचाने का प्रयत्न करते हैं।

अहमदाबाद उस समय घोर विपत्ति में था। हमीदखाँ अहमदाबाद पर चढ़ आया, तत्कालीन सूबेदार इब्राहीमकुली खाँ उसके सामने टिक न सका। हमीद खाँ की सेना चारों ओर लूटपाट, आगजनी और कत्लेआम करने लगी। एक जैनवणिक नगर सेठ खुशालचन्द्र ने हमीद खाँ से निवेदन किया—"शहर को अराजकता से बचाकर शीघ्र सुरक्षित कीजिए।" परन्तु हमीद खाँ ने कहा—'धन का ढेर सामने रखो, तभी सेना वापस लौट सकती है।' नगरसेठ ने कहा—"मांगो, जितना धन दूँगा, पर सेना वापिस लौटाओ। किन्तु ये निर्दोष मानवों की हत्या, सम्पत्ति का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाश, दोनों के आश्रय स्थानों का सर्वनाश और अग्नि-ज्वालाएँ मुझ से देखी नहीं जातीं।" आखिर सेठ की स्वीकृति पर हमीद खाँ ने रणभेरी बजा कर सेना को वापिस लौटाई। सारे शहर में शान्ति हो गई। पर उस शान्ति का मूल्य नगर सेठ को अपनी पीढ़ियों से कमाई हुई सर्वस्व सम्पत्ति देकर चुकाना पड़ा। नगर सेठ ने सन्तोष की सांस ली कि पैसा भले ही चला गया, नगर तो बच गया। नगर बन्धु सेठ खुशालचन्द की इस निःस्वार्थ-बन्धुता और उदारता की जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है।

जैसे शरीर के किसी अंग में पीड़ा होती है तो सारा ही शरीर बेचैन हो जाता है। पैर में चोट लगती है तो आँखों में आँसू आ जाते हैं, हाथ उस चोट को दूर करने के लिए प्रयत्न करने लगते हैं, मस्तिष्क को चिन्ता होती है, उसी प्रकार जिसके जीवन में बन्धुता आ जाती है, वह समाज के किसी भी अंग की पीड़ा से बेचैन हो उठता है। यही आत्मभाव का विस्तार है, जो बन्धु में होता है।[1]

पारिवारिक जीवन में बन्धुता

कई बार भाई-भाई दोनों पारिवारिक जीवन में भी बन्धुता नहीं निभा पाते। परन्तु जिसके हृदय में बन्धुभाव रहता है, वह अपकार करने पर भी अपने भाई को प्रेम से सुधारने का प्रयत्न करता है। एक प्राचीन उदाहरण लीजिए—

मगध देश में महालय गाँव के सिंह और वसंत दोनों सहोदर भाइयों में अत्यधिक स्नेह था। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता था। परन्तु छोटे भाई वसंत की पत्नी उन्हें बार-बार बड़े भाई-भाभी की झूठी निन्दा करके उत्तेजित करने लगी। कई बार बड़े भाई सिंह ने उसे स्नेहपूर्वक समझाया, जिससे वह पुनः स्वस्थ हो जाता।

एक दिन उसकी पत्नी ने इतने कान भरे कि वह उत्तेजित होकर बड़े भाई के पास पहुँचा और अड़ कर बैठ गया—"आज तो मैं अपना हिस्सा लेकर ही उठूंगा।"

बड़े भाई के बहुत समझाने पर भी नहीं माना, तब विवश होकर उसने सम्पत्ति का आधा हिस्सा छोटे भाई को दे दिया।

परन्तु ऐसे व्यक्ति के पास लक्ष्मी कहाँ टिकती? उसने सारा धन फूंक दिया। फिर भी बड़े भाई ने उसे और धन दिया। लेकिन बार-बार वह धन खो देता और बड़ा-भाई उसे फिर अपनी सम्पत्ति में से कुछ दे देता।

एक दिन आलसी एवं अकर्मण्य छोटा भाई बड़े भाई सिंह पर घूंसे से हमला करने लगा। बड़े भाई ने उस प्रहार से तो बचा लिया अपने को। लेकिन उसे स्वार्थी संसार से विरक्ति हो गई। एक अध्यात्म-साधक मुनि से उसने दीक्षा ले ली। छोटे भाई वसंत ने भी तापस दीक्षा ले ली। दोनों कई जन्मों तक एक दूसरे के सम्पर्क में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आते रहे। अन्त में बड़ा भाई सिंह वसुधर नामक मुनि हुए, १४ पूर्व के अध्येता हुए, तप-संयम में तत्पर रहने से उन्हें अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान एवं आचार्य पद प्राप्त हुआ। वसंत का जीव सर्प बना। ज्ञानी आचार्य वसुधर ने सर्प को बहुशाल वन में जा कर प्रतिबोध दिया। वह भी जातिस्मरण ज्ञान पाकर पूर्वजन्मों का स्मरण करके विरक्त हुआ। उसने अनशन कर लिया। ५ दिन तक अनशन पाल कर वह सौधर्म देवलोक में गया। दोनों ही अन्त में सिद्ध गति में पहुँचेंगे।

सचमुच पारिवारिक बन्धु ऐसा होता है, जो द्रव्य से और भाव से दोनों प्रकार की आपदाओं में बन्धु को साथ देता है।

बान्धवों के विभिन्न प्रकार

यों तो बान्धव का मूल लक्षण एक ही बताया है—"**ते बन्धवा जे वसणे हवन्ति**" अर्थात्—बान्धव उसे ही जानो जो विपत्ति के समय सहायक बनता है। परन्तु स्थान और क्षेत्र की दृष्टि से परिस्थिति को दृष्टिगत रख कर बान्धवों के कई प्रकार हो जाते हैं जैसे—

(१) एक धर्म को मानने वाले स्वधर्मी बन्धुओं के बन्धु
(२) एक जाति के लोगों के स्वजाति बन्धु
(३) एक राष्ट्र के व्यक्तियों के स्वराष्ट्र बन्धु
(४) पिछड़े हुए लोगों के बन्धु
(५) पीड़ित मानवों के बन्धु

जैनधर्म में स्वधर्मी-वात्सल्य का बहुत महत्व बताया गया है। यहाँ बताया गया है कि स्वधर्मी भाई सहोदर से भी बढ़कर है। अगर कोई स्वधर्मी बन्धु को विपत्ति में, कष्ट में, या संकट में देखकर आँखमिचौनी करता है, स्वयं सम्पन्न होते हुए भी उसको सहयोग नहीं देता, उसके प्रति स्नेह नहीं रखता, अपने गृहांगण में आये हुए साधर्मी बन्धु के प्रति जिसके हृदय में वात्सल्य नहीं उमड़ता, उसके सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन में सन्देह है। बन्धुओ ! केवल एक दिन जीमणवार (साहमिबच्छल) करके साधर्मी को खिला देना ही, साधर्मी बन्धुता नहीं है, परन्तु किसी प्रकार से, अभाव से या कष्ट से पीड़ित साधर्मी के सच्चे बन्धु बनकर उसे हर प्रकार से मदद करना ही साधर्मी बन्धुता है।

जैनमन्त्री बाहड़ अपने जमाने का अनुपम स्वधर्मी-बन्धु था। उसने बहुत से गरीब बन्धुओं को विपत्ति में सहायता दी और भीमा घी वाले जैसे गरीब साधर्मी को भी समाज में प्रतिष्ठा दिलायी।

आज इस क्षेत्र में मुझे बहुत ही शिथिलता नजर आ रही है। समाज में कई ऐसे स्वधर्मी भाई-बहन पड़े हैं, जिन्हें एक टाइम का खाना भी मुश्किल से नसीब होता है। बहुत से तो बेकार, बेरोजगार एवं बेघरबार बने मारे-मारे फिरते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्या सम्पन्न लोग अपनी सम्पत्ति परलोक में साथ ले जाएँगे ? यदि नहीं तो, ऐसे निर्धन एवं बेरोजगार साधर्मी बन्धु को आफत में या संकट में देख कर क्या आप में साधर्मीबन्धुता नहीं जागती ?

मारवाड़ के एक जैन धनिक का हैदराबाद स्टेट के एक शहर में व्यवसाय था। उनकी शुभकामना थी—राजस्थान के कुछ बेरोजगार जैन भाईयों को यहाँ लाकर उन्हें सहयोग दिया जाए। फलतः राजस्थान से जो भी बेरोजगार स्वधर्मी बन्धु आता, उसे उसकी रुचि के अनुसार कपड़ा, किराना, अनाज आदि की वे दूकान करा देते। अपनी ओर से वे उसको ५००-७०० की मदद कर देते। उससे कहते—देखो, यह धन्धा करो। इसमें जो कुछ भी कमाई हो, उसका अमुक हिस्सा हमें दे देना बाकी सब तुम्हारा है। दो-तीन साल में जब उसकी दूकान जम जाती तो अपना हिस्सा और रुपये निकाल लेते, और उसे स्वतन्त्र रूप से अपना व्यवसाय करने देते। यों लगभग १५० परिवारों को उक्त सेठ ने बसाया, रोजगार धन्धे से उन्हें लगाया और अपनी स्वधर्मीबन्धुता सिद्ध की।

किसी व्यक्ति में स्वजातिबन्धुता या किसी एक जाति के प्रति बन्धुता होती है। जैसे नीग्रोनेता मार्टिन लूथर किंग में नीग्रो जाति को सम्मानित और प्रतिष्ठित करने और उनके अधिकार दिलाने में अपने प्राणों की बाजी लगा दी। लोग उन्हें मारते-पीटते, गाली देते, पर वे अपने अहिंसा धर्म पर डटे रहकर खुशी-खुशी सहन करते।

बंगाल के फरीदपुर के महाप्रभु जगद्बन्धु ने बूना और डोम जैसी अस्पृश्य और पददलित जातियों को गले लगाकर एक दिन में दुराचारी से सदाचारी बना दिये। वे विद्यार्थियों को सच्चरित्र बनने की शिक्षा देते थे।

कुष्टरोगियों के बन्धु : मनोहर दिवाण

कुष्टरोग एक भयानक रोग है। कोढ़ का रोग जब लग जाता है तो उसके घरवाले उसे घर से निकाल देते हैं, समाज में कोई भी उसे पास बैठने नहीं देता, उसकी छाया से भी घृणा करते हैं। किन्तु मनोहर कुन्दन दीवाण ने गाँधीजी से प्रेरणा पाकर वर्धा के पास दत्तपुर में एक कुष्ट-आश्रम खोला, जिसमें रहकर वें स्वयं कुष्टरोगियों की सेवा करने लगे।

सचमुच ऐसे बन्धु संसार में मिलने कठिन हैं।

असहाय महिलाओं के बन्धु—महर्षि कर्वे

समाज में कई विधवाएँ अनाथ एवं असहाय, त्यक्त एवं अशक्त महिलाएँ हैं, जिनके पास आजीविका का कोई साधन नहीं होता। उन दुःखित-पीड़ित महिलाओं के आँसू पोंछना वास्तव में बहुत बड़ी बन्धुता का कार्य है। इस कार्य में वे ही हाथ डालते हैं, जिनमें समाज के द्वारा मिलने वाली गालियाँ, आलोचनाएँ सहने की हिम्मत हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महर्षि कर्वे ने अपना सारा जीवन ऐसी असहाय महिलाओं के बन्धु बन कर उनके जीवन सुधार, आजीविका और सुदृढ़ता, संस्कारिता तथा व्यवस्था से जीवन जीने की कला सिखाने में खपा दिया। अनेक गरीब दुःखी बहनों के अन्तर के आशीर्वाद उन्हें मिले थे। इनके घर में एक बाई काम करती थी। उसे अपने पति के ऑपरेशन के लिए दो सौ रुपये की जरूरत पड़ी तो कर्वे ने दे दिये। दुर्भाग्य से उसके पति का आपरेशन टेबल पर ही देहान्त हो गया। वह कर्वे के पास आकर फूट-फूट कर रोयी कि अब मैं आपके रुपये कैसे चुका पाऊँगी ?" महर्षि कर्वे ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—"बहन ! मैं तुमसे रुपये नहीं माँगता। तुम्हारा पति चला गया, मैं तुमसे रुपयों का तकाजा करूँ यह हो नहीं सकता। तुम आनन्द से मेरे यहाँ रहो। किसी चीज की जरूरत हो तो ले जाओ।" इतना कहते ही उसकी अन्तरात्मा में सन्तोष हुआ। हर्षाश्रु उमड़ पड़े। वह बोली—बन्धुवर ! आप शतायु हों।

वास्तव में महर्षि कर्वे ऐसी अनेक पीड़ित महिलाओं के बन्धु बन कर शतायु बने।

इस प्रकार बहुरत्ना वसुन्धरा में अनेक बन्धुरत्न हैं, हुए हैं, जिन्होंने पीड़ित मानवता की सेवा की है, उन्हें संकट से उबारा है।

बन्धुता के लिए आवश्यक गुण

परन्तु ऐसी बन्धुता के लिए कुछ गुण तो होने परम आवश्यक हैं—(१) मानवता, (२) दया, (३) सेवा, (४) करुणा, (५) सहानुभूति, (६) सहृदयता, (७) उदारता एवं (८) संवेदना।

इन गुणों को जीवन में अपनाने वाला ही वास्तव में बन्धु-बान्धव बन सकता है। यही बन्धुतामय जीवन का रहस्य है। जिसने एक बार अपने जीवन में बन्धुता अपना ली, उसे हजारों पीड़ित और दुःखित मानवों के अन्तर के आशीर्वाद मिलते हैं, उसका जीवन सार्थक बन जाता है, उसमें आत्मशक्ति, कार्यक्षमता, दक्षता आदि विशेषताएँ स्वतः आ जाती है। आप भी बन्धुतापूर्ण जीवन को परखिए और बनाइए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१२

क्रोधीजन सुख नहीं पाते

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज आपके सामने एक विशिष्ट एवं निकृष्ट जीवन का चित्र उपस्थित कर रहा हूँ। अब तक १० जीवन सूत्रों पर मैं प्रवचन कर चुका हूँ। आज ११ वें जीवन सूत्र पर विस्तृत विवेचन करना चाहता हूँ। यह जीवन सूत्र है—

'कोहाभिभूया न सुहं लहंति'

क्रोध से पराजित व्यक्ति सुख नहीं पाते। अर्थात् क्रोधी जीवन सुखी जीवन नहीं है।

क्रोधी का सुख : कपूर की तरह

मनुष्य चाहे जितना धनसम्पन्न हो, विद्या और बुद्धि में प्रगतिशील हो, सुखसुविधाओं से भी परिपूर्ण हो, धर्मक्रियाएँ भी करता हो, उसमें अहिंसा-सत्य आदि अन्य चाहे जितने गुण हो, नित्य-नियम, जप, माला, तप आदि चाहे जितना करता हो, शरीर भी सुन्दर और स्वस्थ हो, परिवार भी चाहे जितना अच्छा मिला हो, रहने के लिए सुविधाजनक मकान हो, व्यवसाय भी अच्छा चलता हो, परन्तु यदि उसमें क्रोध की आदत है, तो वह इन सब गुणों और सुखों का ह्रास कर देता है। क्रोध रूपी अग्नि सुखरूपी वृक्ष को जला डालती है। क्रोधी व्यक्ति के जीवन में जो भी थोड़ा बहुत सुख प्राप्त है, वह भी क्रोधावेश के कारण कपूर की तरह उड़ जाता है। एक व्यक्ति अपने परिवारवालों की बहुत सेवा करता है; धन उपार्जन के लिए मेहनत भी खूब करता है अथवा घर का कार्य भी बहुत दिलचस्पी से करता है, परन्तु जब उसके शरीर में क्रोधरूपी पिशाच प्रविष्ट हो जाता है, तब वह क्रोध के आवेश में पागल हो जाता है, जैसे कि एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है—

'Anger is madness of mind.'

'क्रोध मन का पागलपन है।'

जैसे पागल आदमी को अपने हिताहित का भान नहीं रहता, वह किसी को चाहे जो कुछ कह देता है, इसीप्रकार क्रोधी भी अपने बुजुर्गों और महान् पुरुषों को भी क्रोधावेश में चाहे कुछ कह देता है, उनका अविनय कर देता है, उनकी कोई अदब नहीं रखता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य सुखी तभी हो सकता है, जब उसका मनमस्तिष्क संतुलित हो। जिसका मन क्षुब्ध रहता हो, दिमाग आउट हो जाता हो, वह सुख का अनुभव जरा भी नहीं कर सकता। कोई व्यक्ति पागल हो जाता है, तो घर वाले उसको सांकलों से बाँध कर रखते हैं, वह उस समय पराधीन हो जाता है, चाहे जो कुछ अंट-संट बकता है, किसी समय दूसरे पर प्रहार भी कर देता है, सावधानी न रखी जाए तो वह अपना सिर भी फोड़ लेता है। वह पागल चाहे जितना धनी हो, सुखसुविधाएँ उसके घर में भरपूर हों, चाहे उसका परिवार लम्बा चौड़ा और अच्छा हो, नौकर-चाकर भी अनेक हों, लेकिन पागल हो जाने पर उसे एक कोठरी में बंद कर दिया जाता है और बाँध कर रखा जाता है। ऐसी स्थिति में जैसे पागल को कोई सुखानुभूति नहीं होती, वैसे ही क्रोधी व्यक्ति को भी क्रोधावेश में किसी प्रकार की सुखानुभूति नहीं होती।

क्रोधावेश में मनुष्य की मानसिक शान्ति नष्ट हो जाती है। वह मन में क्षुब्ध रहता है, इस कारण वह किसी भी प्रकार के सुख का उपभोग नहीं कर सकता। इसीलिए, योगशास्त्र में कहा है—

'क्रोधः शमसुखार्गला'

क्रोध, शान्ति और सुख में रुकावट डालने वाला है।

क्रोधाग्नि: स्वपर-दाहक

क्रोध एक प्रकार की भयंकर आग है, जो स्वयं को तो जलाती ही है, जिनके प्रति क्रोध किया जाता है, उनको भी संताप से जलाती है। जहाँ भयंकर आग लगी हो, वहाँ मनुष्य सुख से नहीं रह सकता, और न ही आग की लपट से दूसरों को बचा सकता है। जो भी व्यक्ति इसके सम्पर्क में आता है, उसे जलाती है। बाहरी व्यक्तियों को तो यह तब जला पाती है, जब वे इसके सम्पर्क में आते हैं। किन्तु उस वस्तु को निरन्तर ही जलाती रहती है, जो इसके आश्रित होती है, क्योंकि उससे उसका सतत सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार दूसरों को क्रोधाग्नि तभी हानि पहुँचाती है, जब उसका सम्बन्ध होता है, किन्तु उसको तो हरदम ही जलाती रहती है, जो इसको आश्रय देता है। बुद्धि तो क्रोध की आग में जलकर नष्ट हो जाती है, क्रोध में मनुष्य न करने योग्य कार्य कर बैठता है, उसका कारण बुद्धिनाश ही है। यदि बुद्धि ठीक रह सके और मानसिक सन्तुलन बना रह सके तो मनुष्य क्रोध होने पर भी ध्वंस के मार्ग से बचा रह सकता है।

एक प्राचीन नीतिकार का कथन है—**'क्रोधश्चेदनलेन किम्?'** जिसने क्रोध की अग्नि अपने हृदय में प्रज्ज्वलित कर रखी है, उसे चिता से क्या प्रयोजन? वह तो बिना चिता के ही जल जाएगा। इसीलिए ऋषिभाषित में स्पष्ट कहा है—

"कोहेण अप्पंडिहति परं च अत्थं च धम्मं च तहेव कामं।
तिव्वंपि वेरंपि करेति कोधा, अधमं गतिं वावि उवेति कोधा॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रोध से आत्मा स्व और पर दोनों को जलाता है, अर्थ, धर्म और काम को जलाता है। तीव्र वैर भी बांध लेता है तथा नीच गति भी क्रोध से प्राप्त करता है।

क्रोधरूपी आग इतनी भयंकर है कि उसके कारण अब तक बड़ी कठिनता से उपार्जित पुण्यराशि भस्म हो जाती है जैसे कि जैनाचार्य कहते हैं—

"दुःखार्जितं खलगतं वलभीकृतं वा
धान्यं यथा दहति वह्निकणः प्रविष्टः।
नानाविधव्रतदया नियमोपवासैः
रोषोऽर्जितं भवभृतां पुरुपुण्य राशिम्॥

जिस प्रकार दुःख से अर्जित खलिहान में रखा हुआ या कोठी में रखे हुए अनाज में अग्नि का एक कण भी प्रविष्ट हो जाय तो वह सारे के सारे अन्न को जला डालता है, वैसे ही अनेक प्रकार के व्रत, दया, नियम, उपवास आदि से बड़ी मुश्किल से उपार्जित एवं अब तक सुरक्षित प्राणियों की पुण्यराशि भी क्रोधाग्नि जला डालती है।

लगभग तीन सौ वर्ष पहले आगरे में एक साधु आये। कविवर बनारसीदासजी उससमय जीवित थे। साधु के क्षमादि गुणों की प्रशंसा सुनी तो वे भी दर्शनार्थ गये। विनयपूर्वक साधु से पूछा—"दयासिन्धु! आपका शुभ नाम मालूम करने की धृष्टता कर सकता हूँ?" "मुझे शीतल प्रसाद कहते हैं।' कविवर नाम सुनकर वहाँ की तत्त्वचर्चा में लीन हो गये। फिर थोड़ी देर बाद अपना भुलक्कड़ स्वभाव बताते हुए साधु से नाम पूछा। साधु ने अन्यमनस्क भाव से नाम दोहरा दिया। फिर जरा-सी देर के बाद साधुजी से नाम पूछा तो उनका पारा गर्म हो गया। वे भन्ना कर बोले—"तू भी अजीब आदमी है। अबे! दस बार कह दिया—'हमारा नाम है, शीतलप्रसाद! शीतलप्रसाद!! शीतलप्रसाद!!! फिर क्यों दिमाग चाटता है?" कविवर ने साधु का यह कोप काण्ड देखा तो वे उठकर चल दिये, बोले—"महाराज! आपका नाम शीतलप्रसाद नहीं, ज्वालाप्रसाद है।"

"अग्निकेरा कोयला, नामा दिया शीतल।
बाहर सोना सौ टंच का, अन्दर कोरा पीतल।"

हाँ, तो मैं कह रहा था कि क्रोध एक भयंकर अग्नि है, जिसकी लपटें केवल यहीं तक नहीं, दूर-दूर तक की शुभ कार्यवाही को नष्ट कर देती है। एक चीनी कहावत है—

The fire you kindle for your enemy often burns yourself more than him."

क्रोध एक ऐसी आग है, जिसे तुम शत्रु के लिए जलाते हो, लेकिन वह उसकी अपेक्षा तुम्हें प्रायः अधिक जलाता है।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री शुभचन्द्राचार्य कहते हैं—

"भस्मी भवति रोषेण पुंसां धर्मात्मकं वपुः"

क्रोध से मनुष्यों का धर्म प्रवृत्तिरूप शरीर जल जाता है। इसलिए क्रोधाग्नि जहाँ स्वपर-दाहक है, धर्मध्यान, धर्म, अर्थ और काम इन सबको जला डालती है, तब वह सुखदायक कैसे हो सकती है ?

क्रोधी व्यक्ति सन्यास लेने पर भी क्रोधाविष्ट रहता है :

क्रोधी व्यक्ति का जीवन बड़ा विचित्र होता है। वह सन्यास भी ले लेता है, तो भी आवेश में आकर इसी प्रकार तप, जप, ध्यान, भिक्षा आदि करता है तो भी रोष में आकर। सन्यास लेने पर उसमें अहंकार की मात्रा बढ़ जाने से रोष भी बढ़ जाता है। कोई विरला ही होता है, जो तप, जप, नियम, व्रत आदि करते हुए भी पूर्वावस्था का क्रोधी मानस बदल देता हो।

एक गाँव में एक क्रोधी व्यक्ति था। एक दिन उसका क्रोध चरम सीमा पर पहुँच गया। उसने अपने बच्चे को कुएँ में धकेल दिया, पत्नी को मकान के भीतर बन्द करके आग लगा दी। जब दोनों मर गए तब वह बहुत पछताया और दुःखी हुआ। जैसा कि पायथा गोरस ने क्रोध के आदि और अन्त के विषय में कहा है—

"Anger begins in folly and ends in repentence."

क्रोध का प्रारम्भ नादानी में होता है और उसका अन्त होता है—पश्चाताप में। इस क्रोधाविष्ट व्यक्ति की गाँव में बदनामी होने लगी, सब लोग धिक्कारने लगे, तब उसके मन में सन्यासी बन जाने का विचार आया। संयोगवंश गाँव में एक नग्नसाधु आए। उनसे पूछा—"मैं अपने क्रोध को कैसे मिटाऊँ ? ऐसा उपाय बताएँ, जिससे मैं क्रोधमुक्त हो जाऊँ।" मुनि बोले—"सब कुछ त्याग कर हम जैसे निर्वस्त्र मुनि बन जाओ, तभी तुम्हारा क्रोध जाएगा।" उनके कहने से उक्त क्रोधी व्यक्ति ने वस्त्र फेंक दिये, सब कुछ छोड़छाड़ कर नग्नमुनि बन गया। मगर मुनि बन जाने पर भी उसका क्रोध गया नहीं। जितनी तीव्रता से वह अपने बालक को कुएँ में धकेल सका था, उतनी ही तीव्रता से वस्त्र भी फेंक सकता है, अतः वह भी एक क्रोधावेश का ही रूप था। दूसरे साधु उसके पीछे पड़ गए कि वह साधना में उनसे आगे न निकल जाए। इसलिए इसने भी रोषवश उग्र साधना अपना ली। दूसरे मुनि छाया में बैठते थे वह धूप में खड़ा रहने लगा। दूसरे आहार करते थे, वह दूसरों से आगे बढ़ने के लिए निराहर रहने लगा। महातपस्वी के नाम से गाँव-गाँव में प्रसिद्ध हो गया।

एक बार महातपस्वी का राजधानी में पदार्पण हुआ। उनका बचपन का एक मित्र उनके तख्त के ठीक सामने नीचे बैठा था। उसने महातपस्वी का स्वभाव बदला या नहीं, इसकी जाँच करने के लिए पूछा—"आपका शुभ नाम ?" मुनि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बोले—मेरा नाम शान्तिनाथ है।" कुछ देर तक परमात्मचर्चा में लीन होने के बाद उसने फिर वही प्रश्न किया। मुनि का हाथ डण्डे पर गया, बोले—"बहरे तो नहीं हो गए हो, कितनी बार कहूँ। मेरा नाम शान्तिनाथ है।" थोड़ी देर तक वे चुप रहे, फिर अन्यान्य बातें चलीं। फिर मित्र ने पूछा—"क्षमा करिए, मेरा भुलक्कड़ स्वभाव है, आपका नाम?" इस बार वह डण्डा मित्र के सिर पर पड़ा। उन्होंने कहा—"तुझे पता नहीं, मेरा नाम क्या है?" मित्र बोला—"बस, अब मैं समझ गया। पता लगाने के लिए ही मैंने तीन बार पूछा था कि आप भीतर से कितने बदले हैं?'

इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—

"मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्यम्,
ध्यानं करोतु, विदधातु बहिर्निवासम्।
ब्रह्मव्रतं धरतु भैक्ष्यरतोऽस्तु नित्यम्,
रोषं करोति सर्वमनर्थकं स्यात्॥"

'कोई साधक मासिक उपवासी हो, सत्य का पालन करता हो, ध्यान करता हो, गाँव या नगर के बाहर निवास करता हो, ब्रह्मचर्य पालन करता हो, भिक्षावृत्ति में निरत हो, यदि वह क्रोध करता है तो ये सब निरर्थक हैं।' क्रोध करने से बड़े-बड़े साधकों की वर्षों की साधनाएँ मिट्टी में मिल गईं। वे उस साधना से जो साध्य प्राप्त कर सकते थे, वह न कर सके, क्योंकि क्रोध से तो मनुष्य की अधम गति ही होती है, ऊर्ध्वगति नहीं। चण्डकौशिक सर्प ने पूर्वजन्म के साधु-अवस्था में क्रोध करके ही तो अपना जन्म बिगाड़ लिया।

गुरु-शिष्य दोनों जा रहे थे। मार्ग में गुरुजी का पैर एक मरे हुए मेंढक पर टिक गया। यद्यपि वह मरा हुआ था, फिर भी असावधानी से उस पर पैर रखने से वह कुचला गया। इस पर शिष्य ने गुरुजी को सचेत किया—"गुरुजी! आपके पैर से मेंढक मर गया इसका प्रायश्चित कीजिए।" गुरुजी ने शिष्य की बात सुनी—अनसुनी कर दी। अपने स्थान पर आने के बाद शिष्य ने फिर गुरुजी से उसका प्रायश्चित्त लेने का कहा। इस पर गुरु मौन रहे। शिष्य ने सोचा—अभी न कह कर मुझे संध्या-प्रतिक्रमण के समय कहना चाहिए।' ज्यों ही सायंकाल प्रतिक्रमण के समय शिष्य ने पुनः वह बात दोहराई, त्यों ही गुरुजी आग-बबूला हो उठे और क्रोधावेश में आकर अन्ट-सन्ट बकने लगे—"मेंढक क्या मरा, मुझे सताने के लिए तुझे शस्त्र मिल गया। ले तुझे बताता हूँ, मेंढक कैसे मर गया, उसका उपाय?" यों कह कर गुरु शिष्य को मारने दौड़े। शिष्य तो डर कर इधर-उधर छिप गया, मगर अंधेरे में—और फिर अज्ञान के गाढ़ अंधेरे में न सूझने के कारण वे एक खम्भे से टकरा गए और गश खा कर वहीं गिर पड़े। उन्होंने क्रोधावस्था में ही दम तोड़ा था, इसलिए मर कर चण्डकौशिक नामक दृष्टि विष सर्प बन गए। हा! क्रोध का कितना भयंकर परिणाम! साधुत्व की वर्षों की साधना एक बार के क्रोध ने मटिया मेट कर दी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिए एक विद्वान कहते हैं—

हरत्येकदिने नैव ज्वरं षाण्मासिकं बलम् ।
क्रोधेन तु क्षणेनैव कोटिपूर्वार्जितं तपः ॥

एक दिन का ज्वर छह महीने का बल नष्ट कर देता है, जबकि क्षण भर का क्रोध करोड़ों पूर्वों में उपार्जित तप को नष्ट कर देता है। एक पाश्चात्य विचारक का कहना है—He who can suppress a moment's anger may prevent a day of sorrow. केवल एक बार के क्रोध से मनुष्य का सारा दिन खराब हो जाता है, अगर वह क्षणभर, क्रोध पर काबू पाले, तो सारे दिन के दुःख को रोक सकता है।

वास्तव में जहाँ क्रोध होगा, वहाँ व्रत, नियम, तप, जप आदि केवल काय-क्लेश व्यर्थ कष्टकारक ही होंगे।

तपस्वी ने उत्कट तप तो किया, मगर क्रोध दुर्वासा का-सा बना रहा। अभिमान सर्प भी फुफकार रहा था। गुरुजी के पास आए, पारणा लाने की आज्ञा मांगी। गुरु ने कहा—'पतला पाड़।' मुनि ने सोचा—'देह मोटा' हो जाने से ऐसा कहते हैं। बेले का तप किया, फिर तेला किया, किन्तु गुरु बार-बार 'पतला पाड़' वाक्य को ही दोहराते रहते थे। एक दिन गुरुजी ने तपस्वी को जब फिर कहा—'पतला पाड़' तो सुनते ही वे तमतमा उठे, अपनी छोटी उंगली को तोड़ कर फैंकते हुए बोले—इसे इतना पतला (कृश) तो कर दिया, फिर और कितना दुर्बल करूँ इसे ? मुस्टन्ड बने तो आपके ये चेले बैठे हैं, ये नहीं दीख रहे हैं, मैं ही आपकी आँख में खटक रहा हूँ।" गुरुजी तपस्वी का कोप काण्ड देखकर बोले—'इस क्रोधादि कषाय को ही पतले कर, शरीर की कृशता तो मुझे भी दीख रही है। तेरे इस कृश शरीर में भी कषाय का दावानल कितना उग्र रूप से सुलग रहा है ? अतः कषायों को दुर्बल कर !" सचमुच तपस्वी की इतनी उत्कट साधना व तपस्या क्रोध विजय के बिना निरर्थक एवं कायक्लेशकर थी, वह तपस्या क्रोध आदि के साथ होने से दुःख-दायक सिद्ध ही हुई।

क्रोध से शारीरिक हानि कितनी भयंकर

तपस्या से शरीर जितना कृश होता है, उसकी अपेक्षा भी क्रोध से कई गुना क्षीण होता है। डा. जे. एस्टर का कहना है कि साढ़े नौ घण्टे के शारीरिक श्रम से जितनी शक्ति क्षीण होती है, पन्द्रह मिनट के क्रोध से उतनी ही शक्ति क्षीण हो जाती है।"

डॉ० अरोली ने अनेक परीक्षण के बाद घोषित किया है कि क्रोध के कारण रक्त अशुद्ध हो जाता है। अशुद्धता के कारण चेहरा और सारा शरीर पीला पड़ जाता है। पाचन शक्ति बिगड़ जाती है। नसें खिचती हैं, तथा गर्मी और खुश्की का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकोप रहने लगता है। सिर का भारीपन, कमर में दर्द, पेशाब का पीलापन क्रोध जन्य उपद्रव है। दूसरी अनेक प्रकार की व्याधियाँ उसके पीछे पड़ जाती हैं। एक अच्छी होती है तो दूसरी उठ खड़ी होती है और दिन-दिन क्षीण हो कर मनुष्य अल्पकाल में ही काल के गाल में चला जाता है।

एक छोटा-सा गाँव था। उसमें एक क्रोधी बुढ़िया रहती थी। उसका स्वभाव इतना चिड़चिड़ा हो गया था कि बिना मतलब के ही रास्ते चलते किसी को छेड़ने, उससे लड़ने और गालियाँ देने की आदत पड़ गई थी। लड़ाई-झगड़ा और क्रोध किये बिना उसकी रोटी हजम नहीं होती थी। उसकी इस आदत से घर वाले और गाँव वाले सभी परेशान हो गए। सबने मिल कर गाँव के ठाकुर से बुढ़िया की शिकायत की कि या तो इस मुसीबत को दूर किया जाए या फिर हमें इस गाँव को छोड़कर कहीं अन्यत्र जाना पड़ेगा ?"

ठाकुर साहब यह सुनकर पशोपेश में पड़ गए। उन्होंने कहा—गाँव से किसको निकालूँ किस को रखूँ ? तुम चाहो तो गाँव के 300 घरों में से प्रतिदिन एक घर को इससे लड़ने और गुस्सा करने की बारी बांध दें। जिससे एक ही घर (जिसकी बारी होगी) में अशान्ति होगी, बाकी के 299 घर तो बचे रहेंगे।" सबने ठाकुर साहब की यह योजना स्वीकार कर ली। बुढ़िया को भी बुला कर इस बात के लिए मना लिया गया कि वह बारी वाले घर से ही लड़े, अन्य घरों से नहीं।"

लड़ाई की बारी बन्ध जाने के बाद बुढ़िया प्रतिदिन उसी घर में जाती, जिस घर की बारी होती। बुढ़िया उस घर में जाते ही बहुत ही क्रोधजनक उत्तेजनात्मक एवं मर्मस्पर्शी अपशब्द सुनाती, इससे क्रुद्ध हुए घर के लोग प्रत्युत्तर में उसे गालियाँ देते और चुन-चुन कर अपशब्द कहते, इससे बुढ़िया का पारा भी अत्यन्त गर्म हो जाता। इस प्रकार लड़ाई और गुस्से का सिलसिला चल पड़ता। जब बुढ़िया गुस्सा करती और लड़ती-लड़ती थक जाती या हाँफ जाती, तब बन्द हो जाती और चल देती।

इस प्रकार लड़ते-लड़ते एक दिन एक ऐसे घर की लड़ाई की बारी आई, जहाँ उसी दिन घर के मुखिया की पुत्रवधू आई थी। घर में सबके चेहरे उदास देख कर उसने कारण पूछा। पहले तो सबने बताने से आनाकानी की, लेकिन जब उसने अत्यधिक आग्रह किया, तो उसकी सास ने कारण बता दिया। पुत्रवधू ने कहा—आप कोई भी आज मत बोलना, मैं उस बुढ़िया से लड़ लूंगी। मैंने अपनी माँ से ऐसा मन्त्र सीखा है कि सदा के लिए उसकी लड़ाई शान्त कर दूंगी।" पहले तो सबने कहा—"तुम उससे लड़ नहीं सकोगी, वह बहुत कड़वी और क्रोधोत्पादक वाणी बोलती है।" पुत्रवधू ने कहा—आप निश्चिन्त रहें, मैं उससे अच्छी तरह निपट लूंगी।" सास ने स्वीकृति दे दी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहू कुछ सीने का काम लेकर दरवाजे के बीच में बैठ गई, बुढ़िया ने आते ही गुस्से में आकर कहा—"आज यह कौन मरी है यहाँ ? तेरे घर वाले कहाँ मर गये ? वे क्यों नहीं आये ? तुझे लड़ने भेजा है, तो लड़ती क्यों नहीं ?" बहू बिलकुल चुपचाप अपना काम करती रही और बुढ़िया स्वयं गुस्से में आकर जोर-जोर से बड़-बड़ाती रही। जब बुढ़िया बोलते-बोलते हाँफने लगी और गश खाकर गिर पड़ी। पुत्रवधू बुढ़िया को पानी के छींटे देकर होश में लाई। कहा—"माजी ! क्या अब लड़ोगी ? देखिये न ! आपका शरीर क्रोध और कलह से आधा रह गया है, अगर आप लड़ाई और गुस्सा छोड़ दो, तो मैं आपकी सेवा कर सकती हूँ।" बुढ़िया इस बात से सहमत हो गयी। दूसरे दिन से ही उसने लड़ना और गुस्सा करना बन्द कर दिया और ठाकुर साहब से कहला दिया कि वे बारी बन्द कर दें। दूसरे दिन से फिर बुढ़िया कभी किसी के यहाँ लड़ने न गई और न ही किसी पर क्रोध किया। इस प्रकार आपने देखा होगा कि क्रोध के समय मनुष्य बेभान हो जाता है, कभी-कभी आत्म-हत्या भी कर बैठते हैं। क्रोध के मारे लड़ाई-झगड़ा और खून-खराबी की घटनाओं का कारण यही भयंकर विकार है। क्रोध के कारण मनुष्य का सारा शरीर विकृत हो जाता है। मानो कोई विकराल रूपधारी राक्षस आ गया हो।

क्रोध करने से विश्व के अशुभ परमाणुओं को मनुष्य अपनी ओर खींचता है। वे आकर्षित अशुभ परमाणु उस मनुष्य के चेहरे और शरीर पर बुरा प्रभाव डालते हैं।

नीतिकार के शब्दों में क्रोध से शरीर की भयानक आकृति का चित्रण—

"भ्रूभंग - भंगुरमुखो विकरालरूपो
रक्तेक्षणो दशनपीड़ित दन्तवासाः।
त्रासं गतोऽपि मनुजो जननिन्द्यवेषः।
क्रोधेन कम्पित तनुर्भुवि राक्षसो वा॥"

क्रोध के कारण भ्रकुटि टेढ़ी हो जाने से मुंह भी टेढ़ा हो जाता है, चेहरा अतीव विकराल हो जाता है, आँखें लाल हो जाती हैं, दाँतों से ओठ चबाता है, ऐसे व्यक्ति की वेशभूषा भी लोकनिन्दनीय होती है, वह क्रोध से अत्यन्त पीड़ित होता है। उसका सारा शरीर थर-थर काँपता है, मानो इस पृथ्वी पर राक्षस आ गया हो।

क्रोध से मानसिक एवं आत्मिक-हानि

शरीर के अतिरिक्त क्रोध का मन पर भी जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है। क्रोधी व्यक्ति क्षण-क्षण में मन में परितप्त होता रहता है। जरा-सा कारण पाकर बड़े अनर्थ पर उतारू हो जाता है। जब क्रोध आता है तो उसकी विवेकबुद्धि अपनी या किसी दूसरे की हानि सोचने में लुप्त हो जाती है, उसका सद्विचार तक नहीं होता। अपनी हानि पर भी उसे तरस नहीं आता। कुछ भी हो, क्रोधी किसी भी तरह, अपना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यसन पूरा किये बिना हटता नहीं, उसका व्यसन पूरा ही होना चाहिए। डॉक्टरों का कहना है कि अधिक क्रोध करने से मस्तिष्क में रहे हुए ज्ञानतन्तु फट जाते हैं।

आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी के स्वास्थ्य निरीक्षक डॉ० हेमनवर्ग ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि क्रोध के कारण इस वर्ष परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने वाले छात्रों में अधिकांश चिड़चिड़े मिजाज के थे। पागलखाने की रिपोर्ट में बताया है कि क्रोध से उत्पन्न होने वाले मस्तिष्क रोगों ने अनेकों को पागल बना दिया। देखिए क्रोधी मानव शराब पीये हुए मनुष्य की तरह क्या-क्या करता है—

"रागं दृशोर्वपुषि कम्पमनेकरूपं,
चित्ते विवेकरहितानि च चिन्तितानि।
पुंसाममार्गगमनं समदुःखजातं,
कोपं करोति सहसा मदिरामदश्च॥"

क्रोध करने वाले पुरुष की आँखें लाल हो जाती हैं, उसके शरीर में अनेक प्रकार का कम्पन होता है, चित्त में विवेकरहित चिन्तन करता रहता है, उन्मार्ग पर जाने लगता है, एक साथ क्रोधी पर अनेक दुःख आ पड़ते हैं। मदिरा पीकर उन्मत्त बने हुए की तरह क्रोधी भी उन्मत्त हो जाता है। वह भान ही भूल जाता है कि मैं क्या कर रहा हूँ।

जॉन बेब्स्टर (John Webster) कहता है—

"There is not in nature a thing that makes a man so deformed so beastly, as doth intemperate anger."

"प्रकृति की कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो मनुष्य को इतना विरूप, इतना पाशविक बना दे, जितना कि अनियन्त्रित क्रोध बना देता है।"

क्रोधावेश में आकर मनुष्य अपनी बड़ी से बड़ी हानि कर बैठता है।

पहाड़गंज दिल्ली के निकटवर्ती एक मोहल्ले में एक व्यक्ति को चिट्फण्ड से १००) रुपये मिले। वह सौ रुपये का नोट लेकर घर आया। उसने नोट लाकर खाट पर रखा और कुछ काम में लग गया। इतने में उसका एक-दो वर्ष का बच्चा खेलता हुआ वहाँ आ पहुँचा। उसने सौ रुपये के नोट को खिलौना समझकर उठा लिया और मुँह में लेकर फाड़ दिया, जैसा कि छोटे बच्चे किया करते हैं। सौ रुपयें के नोट को फाड़ते ही उस मनुष्य ने क्रोध में आकर अपना विवेक खो दिया। तत्काल उसने भोले बच्चे को उठाकर जलते हुए तन्दूर में पटक दिया था, जिससे बच्चा तत्काल मर गया। हाय रे क्रोध! तू कितना अनर्थकर है! पड़ौसी लोगों ने उस व्यक्ति की बहुत भर्त्सना की और मरम्मत की। पुलिस उसे गिरफ्तार कर ले गयी।

वास्तव में क्रोध महाभयंकर रोग है। ऐसी महाव्याधि से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। जिन्हें क्रोध की बीमारी नहीं लगी है, उन्हें इससे दूर ही रहना चाहिए और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो इसके चंगुल में फंस चुके हैं, उन्हें इससे पिण्ड छुड़ाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। एक कवि कहता है—

गुस्सा बड़ी बुरी बीमारी !
जब-जब हुआ क्रोध का दौरा, तब पागल नरनारी ।।गुस्सा०।।
विनय-विवेक शून्य क्रोधी मन, रहा न शिष्टाचारी ।
लाज-शरम की बातें मुंह से, निकलीं टूटी यारी ।।गुस्सा०।।
क्रोधानल की ज्वालाओं से, जली सभ्यता सारी ।
तड़प-तड़प कर रह जाती है, मानवता बेचारी ।।गुस्सा०।।
ज्वालामुखी समान क्रोध यह विस्फोटक है भारी ।
होता जब विस्फोट उजड़ती, जीवन नगरी सारी ।।गुस्सा०।।

सचमुच क्रोध की बीमारी लग जाने पर व्यक्ति को न तो परिवार में सुख मिलता है, न समाज में, और न ही राष्ट्र में। ज्वालामुखी के समान इस क्रोध में शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सभी बल और सन्तुलन क्षय हो जाते हैं।

आज से कोई तेरह साल पहले की बात है। करोलबाग-दिल्ली में एक ८० वर्ष की बुढ़िया रहती थी। उसके एक लड़की और दो लड़के थे। बुढ़िया के पति मरने से पहले अपनी सारी सम्पत्ति अपनी बेटी रामदुलारी के नाम कर गये थे। परन्तु दोनों भाइयों को यह अच्छा न लगा। उन्होंने बहन-बहनोई को उस सम्पत्ति में से १० हजार रु० रखकर शेष उन दोनों भाइयों को दे देने के लिए कहा। मगर बहन-बहनोई इसके लिए तैयार न हुए। आपस में बहन-भाइयों में मनमुटाव बढ़ता गया। २२ दिसम्बर की रात को कुलभूषण बाहर से लौटकर घर आया और अपने दोनों सालों को मकान खाली कर देने को कहा। लेकिन उन्होंने इन्कार कर दिया, इस पर झगड़ा बढ़ा, कहासुनी हुई। मर्यादा एवं विनय छोड़कर गर्मागर्मी एवं गाली-गलौज भी हुई। लड़-झगड़कर दोनों दल के लोग सोने चले गये, मगर दोनों भाइयों के क्रोध का नशा अभी उतरा नहीं था। वे दोनों चुपके से उठे और तेजाब से भरी बाल्टी उठाकर कुलभूषण (बहनोई) के कमरे में घुस गये। क्रोध ने उन्हें विवेकहीन बना दिया। भरी बाल्टी उन्होंने सोये हुए कुलभूषण पर उड़ेल दी। कुलभूषण चीखते-चिल्लाते बाहर भागे। उनकी पुकार सुनकर रामदुलारी उठकर भागी आयी। बचा हुआ तेजाब दोनों क्रुद्ध भाइयों ने अपनी बहन पर भी फेंक दिया। वह भी दर्द से कराहने लगी। इसी बीच लपक कर दोनों भाई गंडासा ले आये और आव देखा न ताव, अपने बहन-बहनोई को काट डाला। कुलभूषण के दोनों लड़के हल्ला-गुल्ला सुनकर तथा माता-पिता की हालत देखकर कांप उठे। वे अपनी जान बचाकर भागने लगे, तभी भागते हुए भानजों को इन दोनों राक्षसों ने पकड़ा और गंडासे से काट डाला। वृद्धा माता ने बेटों के क्रोधावेश की यह पिशाच लीला देखी तो वह सिहर उठी। जार-जार होती रही। उसका करुणक्रन्दन सुनकर मुहल्ले के सैकड़ों लोग दौड़-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर आए। पर तब तक वे नरपिशाच तो भाग गये थे, सिर्फ कटी हुई लाशें बिछी पड़ी थीं। मानो क्रोध मूर्तिमान राक्षस बनकर आया हो।

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण क्रोध के कारण क्रूरता पैशाचिकता के मिल सकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि क्रोध ध्वंस का काम करता है, निर्माण या सृजन का नहीं। क्रोध में हमेशा तोड़फोड़, दंगा, मारपीट, गाली-गलौज, हाथापाई, प्रहार आदि ध्वंस के भाव निहित रहते हैं। इसलिए भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा है—

'कोहो पीइं पणासेइ'

क्रोध प्रीति का नाश करता है। क्रोधी किसी का प्रेमपात्र नहीं बन सकता। क्रोधान्ध व्यक्ति क्या-क्या पाप नहीं कर डालता? यह आपने अभी-अभी सुना ही है। शास्त्र भी कहते हैं—

"कोहंधा निहणंति पुत्तं मित्तं गुरुं कलत्तं च।"

क्रोधान्ध व्यक्ति पुत्र, मित्र, गुरु और पत्नी को भी मार डालता है। इसी कारण प्लुटार्क ने कहा है—

"क्रोध समझदारी को बाहर निकाल कर बुद्धि के दरवाजे के चटकनी लगा देता है।"

क्रोधी व्यक्ति सर्वत्र अपमानित होता है

क्रोधी व्यक्ति जहाँ भी जाता है, वहाँ अपमानित होता है। उसे कोई पास बिठाना नहीं चाहता और न ही उसका कोई सत्कार करता है। आप कहीं जा रहे हों और सामने से कोई पागल कुत्ता आ रहा हो तो क्या आप गफलत में रहेंगे? नहीं आप तुरन्त सावधान हो जाएँगे, क्योंकि पागल कुत्ता पास में जाने पर काट खाता है। इसी प्रकार क्रोध भी पागल कुत्ते के समान है। वह भी जिसको काट लेता है समझलो, वह परलोक का मेहमान होने वाला है। पागल कुत्ता तो केवल एक बार ही हैरान करता है, एक ही बार व्यक्ति उससे मर जाता है, परन्तु क्रोध रूपी पागल कुत्ता तो एक बार नहीं, एक जन्म में नहीं, जन्म-जन्म में हैरान करता है। अनेक बार नरक-तिर्यंच योनियों में भटकता है। पागल कुत्ता चोर-साहूकार को नहीं देखता, वह तो हर एक को भौंकने और काटने लगता है, इसी तरह क्रोध भी जब शरीर में डसता है तो क्रोधी आँखें बन्द कर लेता है और मुंह खोल लेता है। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

'अहे वयइ कोहेणं'

क्रोध से आत्मा नीचे गिरती है, अधोगति में जाती है।

वसन्तपुर के राजा कनकप्रभ का पुरोहित सोमयश था। उसके एक पुत्र था—सूर! वह था तो चौदह विद्याओं में प्रवीण, परन्तु था बड़ा क्रोधी। आग की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तरह अहर्निश क्रोध से जलता रहता था। स्वभाव से ही वह कठोर भाषी था। राज-सभा में वह अनेक लोगों को कटु वचन कह कर लड़ पड़ता। एक दिन क्रोधावेश में आकर उसने अपने पिता का गला मसोस कर मार डाला। यह कुकृत्य देखकर उसकी माँ अपने पीहर चली गई। राजा ने भी उसे दुष्ट जानकर उसका पुरोहित पद छीन लिया। इतने पर भी उसकी आँखें रोष से सदा लाल रहती थीं। पड़ौसियों से भी वह बात-बात में झगड़ा कर बैठता था।

सूर की पत्नी अत्यन्त रूपवती थी, राजा उस पर आसक्त होकर उसे अपने अधीन करने की उधेड़बुन में लगा था। इसी बीच सूर ने एक दिन अपने पड़ौसी के साथ लड़कर क्रोध से उसका सिर फोड़ डाला। वह मर गया। इस अपराध के कारण राजा ने उसका समस्त धन छीन लिया और उसकी स्त्री को अपने अन्तःपुर में रख कर उसे देश निकाला दे दिया।

कहा भी है—

"क्रोधः परितापकरः सर्वस्योद्वेगकारकः।
वैरानुषंगजनकः क्रोधः सुमतिहंतृकः॥"

—क्रोध परिताप पैदा करता है, वह सबको उद्विग्न करने वाला है। वैर परम्परा को पैदा करता है, इसलिए क्रोध सुगति का नाशक है।

सूर क्रोध में भन्नाता हुआ जा रहा था, रास्ते में एक तापस का आश्रय देखकर उसने तापस दीक्षा ले ली। तत्पश्चात् अनेक प्रकार के अज्ञानतप किये। अन्तिम समय में उसने निदान किया—"इस तप के फलस्वरूप मैं देव बनकर इस राजा का मारने वाला बनूँ।" अतः वहाँ से मर कर वह वायुकुमार देव बना। वहाँ पूर्वजन्म के वैर का स्मरण करके उसने नगर पर धूल की वर्षा की, सारे नगर को धूल में दबा दिया। इस पाप के फलस्वरूप वह मरकर डूम (चाण्डाल) हुआ। वहाँ से मर कर वह प्रथम नरक में नारक बना। तत्पश्चात् अनन्त जन्मों तक परिभ्रमण करते-करते मगध देश के किसी गाँव में वह पटेल हुआ। परन्तु यहाँ भी उसका तीव्र क्रोध गया नहीं। एक दिन क्रोधावेश में आकर उसने भरे बाजार में राजा से लड़ाई की। उन्हें दुर्वचन कहे। राजा ने उस पटेल को एक पेड़ की शाखा से बाँध कर औंधे मुंह लटका दिया।

इसी दरम्यान ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए उस गाँव में केवलज्ञानी भगवान पधारे। उनका समवसरण लगा। राजा आदि सभी धर्म प्रेमीजन उनके दर्शन-वन्दन करने गए। केवली भगवान ने समस्त परिषद को धर्म देशना दी। उन्होंने विशेषतः क्रोध के दुष्परिणाम बताते हुए कहा—

"संतापं तनुते, भिनत्तिविनयं, सौहार्दमुत्सादय—
त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं सूते विधत्ते कलीं।
कीर्तिं कुन्तति, दुर्गतिं वितरति, व्याहन्ति पुण्योदयम्
दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम्॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—क्रोध मनुष्य के मन में सन्ताप बढ़ाता है, विनय का नाश करता है, मित्रता को मिटाता है, उद्विग्नता पैदा करता है, क्रोध पापकारी वचन का जनक है। वह केवल कलह ही उत्पन्न करता है। कीर्ति को नष्ट कर देता है, दुर्गति देता है, पुण्य का सर्वनाश कर देता है और अन्त में वह कुगति प्रदान करता है। इसलिए सज्जन पुरुषों को इतने दोषों से परिपूर्ण रोष का सर्वथा त्याग करना ही उचित है।

इस धर्मदेशना को सुनकर राजा ने पूछा—"भगवन्! शूर-वीर सुभट को कैसे जीतना चाहिए?" केवली भगवान ने कहा—"राजन्! अन्तरंग शत्रु—जो काम, क्रोध आदि हैं, उन्हें जीतना चाहिए क्योंकि इनका दुष्परिणाम महाभयंकर है।" यों कहकर केवली भगवान ने क्रोध के भयंकर परिणामों का उल्लेख करने की दृष्टि से क्रोधी सूर के जन्म से लेकर ग्राम के पटेल के भव तक की सारी जीवन कथा कही। उसे सुनकर अनेक भव्य जीवों ने प्रतिबोध पाया।

भला! जो व्यक्ति क्रोध—तीव्र क्रोधवश एक बार गलत काम कर लेता है, वह फिर जन्म-जन्मान्तर तक प्रतिबोध न पा सकने के कारण अज्ञानवश उन्हीं क्रोध-जनित कुकृत्यों को जन्म-जन्म में दोहराता रहता है। कितना भयंकर है—क्रोध रूपी शत्रु! क्रोध शत्रु जब पीछे लग जाता है तो व्यक्ति की शान्ति जन्म-जन्म में हराम हो जाती है। सुख की प्राप्ति तो हो ही कैसे सकती है? बल्कि वैर-परम्परा बढ़ने से दुःख बढ़ता है।

पाश्चात्य विचारक 'मार्क्स ऑरेलियस' क्रोधी को विचार करने की प्रेरणा देता है—'Consider how much more you often suffer from your anger and grief than from those very things for which you are angry and grieved."

विचार करो, तुम जिन व्यक्तियों या वस्तुओं से क्रुद्ध और चिन्तित होकर पीड़ित होते हो, इसकी अपेक्षा तुम अपने क्रोध और चिन्ता से कितने अधिक पीड़ित होते हो?

इसी क्रोध कषाय में एक जहरीला कांटा है जो चुभ जाने पर निकलना कठिन होता है। इसीलिए एक मलाबारी कहावत है—

'Anger is as a stone cast into a wasp's nest'

क्रोध करना मानो मधुमक्खियों के छत्ते में पत्थर फेंकना है। मधुमक्खी के छत्ते में पत्थर फेंकते ही वे चारों ओर से आकर उसे काटने लगती हैं, वैसी ही स्थिति क्रोध करने वाले की होती है। क्रोध करते समय मनुष्य के दिल में मधुमक्खी के डंक से भी अनेक गुनी पीड़ा होती है। क्रोध करने वाले को तब जाकर भयंकर पीड़ा होती है, जब वह उसके कारणों पर विचार करने को वापस लौटता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'पब्लियस सिरस' कहता है—

An angry man is again angry with himself when he returns to reason."

"क्रोधी मनुष्य एक बार दूसरे पर क्रोध करने पर फिर अपने पर क्रोध करता है। जबकि वह क्रोध के कारणों पर विचार करने के लिए लौटता है।"

मनुष्य का शत्रु अगर कोई है तो क्रोध है। क्योंकि इसे अपनाने वाले का ही यह शत्रु बन जाता है। जैसे साँप को कोई दूध पिलाता है, और अपने पास रखता है, परन्तु जरा-सी असावधानी होने पर साँप काट खाता है, यही हाल क्रोधरूपी सर्प का है, इसे पालने वाले को यह कहीं का नहीं रखता। बुरा हाल कर देता है। समाज में, राष्ट्र में क्रोधी सर्वत्र अप्रतिष्ठित हो जाता है, कोई उसे चाहता नहीं। क्रोध त्याज्य क्यों है? इसका कारण बताते हुए एक विचारक कहते हैं—

"वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति
रूपं विरूपयति निन्द्यमति तनोति।
दौर्भाग्यमानयति शातयते च कीर्ति
रोषोऽत्र रोषसदृशो नहि शत्रुरस्ति॥"

इस जगत में क्रोध वैर बढ़ाता है, मित्रता को मिटाता है, रूप कुरूप बना देता है, निन्दनीय बुद्धि बढ़ा देता है, दौर्भाग्य लाता है और कीर्ति को नष्ट करता है। इसलिए क्रोध जैसा कोई शत्रु नहीं है।

इसीलिए एक कवि ने कहा है—

"क्रोध करना छोड़ दो, यह क्रोध दुर्गुण-खान है।
पतन का है मार्ग, फिर होता नहीं उत्थान है॥
भस्म होती है इसी में मनुज की सद्भावना।
कृत्य और अकृत्य का फिर, हो न सकता ज्ञान है॥१॥
रजक और महातपस्वी, तुल्य हो जाते जहाँ।
देवता भी फिर वहाँ, पाता न कर पहचान है॥२॥
'पतलीकर' के तत्त्व को जो, जानता नहीं जंगली।
अंगुली निज तोड़ता, कर क्रोध-मदिरापान है॥३॥
चण्डकौशिक की कहानी, जगत में विख्यात है।
क्रोध के आवेश में, हुआ पतित महान् है॥४॥"[1]

क्रोधी महाचण्डाल है।

लोग चण्डाल से घृणा करते हैं। प्राचीन काल में भी बड़े-बड़े तथाकथित साधक चण्डाल से घृणा करके दूर से बचकर चलते थे। परन्तु असली चण्डाल कौन है? इसे बहुत ही कम लोग जानते हैं। असली चण्डाल है क्रोध, जिससे घृणा की जानी

१ तर्ज—ध्यान धर अरिहंत का.....।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। उससे दूर रहना चाहिए। जिस प्रकार चण्डाल गन्दा होता है, इसी प्रकार क्रोधीरूपी चाण्डाल मन का गन्दा होता है, वह अनेक दुर्गुणों से घिरा होता है। देखिए मनुस्मृति (७/४८) में क्रोध से पैदा होने वाले ८ व्यसन बताये हैं—

"पैशुन्यं साहसं द्रोहमीर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥"

(१) चुगली, (२) दुःसाहस, (३) वैर, (४) जलन, (५) दूसरे के गुणों में दोषदर्शन, (६) अयोग्य धन का लेन-देन, (७) कठोर वचन, (८) क्रूरता का बर्ताव। ये ८ व्यसन क्रोध से उत्पन्न होते हैं। क्रोध चाण्डाल जिसमें आ जाता है, वह सभ्य-समाज में आदरणीय नहीं बनता। उसका पारिवारिक एवं व्यक्तिगत जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। क्रोधी आदमी का हर जगह से बहिष्कार होता है। अतः जिसके घट में क्रोध उफन रहा है, क्रोध जनित दुर्गुण घुसे हुए हैं, वह चाण्डाल है।

चिमनराय पण्डित नदी से नहा कर आ रहा था। मार्ग में वह एक चाण्डालिन से छू गया। बस, एक ही क्षण में क्रोध से वह आगबबूला हो उठा। उसकी आँखें लाल हो गईं। वह चाण्डालिन पर बरस पड़ा। चाण्डालिन कुछ देर सुनती रही। फिर भी चिमनराय का क्रोध शान्त न हुआ। लोग इकट्ठे हो गये। चाण्डालिन ने निकट आकर चिमनराय का हाथ पकड़ लिया। लोगों ने उसे टोका—तुमने इनका हाथ क्यों पकड़ा? "वह बोली—यह मेरा पति है। इसे मैं अपने घर ले जाना चाहती हूँ।" अब तो चिमनराय का क्रोध और बढ़ गया। उसने हाथ छुड़ाना चाहा, मगर चाण्डालिन ने छोड़ा नहीं। आखिर पुलिस आई और दोनों को पकड़ कर न्यायाधीश के सामने पेश किया।

अब चिमनराय का क्रोध शान्त हुआ। उसे अपने किये पर पश्चात्ताप हुआ। न्यायाधीश ने पूछा—"तुम दोनों क्यों लड़े थे?" चाण्डालिन बोली—मैं अपने पति को घर ले जाना चाहती थी, मगर ये चल नहीं रहे थे, इसलिए लड़ाई हो गई।"

चिमनराय बोले "मैं इसका पति नहीं हूँ, तब इसके यहाँ कैसे जाता?"

न्यायाधीश—"क्या यह तुम्हारा पति नहीं है?"

चाण्डालिन—"पहले था, महाशय! अब नहीं है।"

न्यायाधीश—"पहले था, अब नहीं, इसका क्या अर्थ है?"

चाण्डालिन—"जब तक इसके घट में चण्डाल था, तब तक यह मेरा पति था, अब इसके घर से चण्डाल निकल गया है, इसलिए अब यह मेरा पति नहीं रहा।"

सचमुच, जहाँ क्रोधरूपी चाण्डाल होता है, वहाँ आदमी का हर जगह अपमान होता है। वह कहीं सुख नहीं पाता, इस चण्डाल के कारण।

दुर्वासा ऋषि ही नहीं, महर्षि थे। महर्षि पद इतना प्रतिष्ठित होता है कि संसार का सबसे शक्तिशाली और वैभवशाली व्यक्ति भी उसे नमन करता है। परन्तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महर्षि दुर्वासा की उपस्थिति से न तो उस स्थान पर सुख-शान्ति और विश्वास का वातावरण निर्मित होता था और न ही लोग अपना अहोभाग्य समझकर उनके सम्मान में आँखें बिछाते थे। बल्कि जहाँ भी दुर्वासा ऋषि पहुँचते, वहाँ अविश्वास, भय और आतंक का वातावरण छा जाता था। लोग उनके दर्शनों से डरते थे और मनाया करते थे कि उनका पदार्पण न हो। क्योंकि वे बड़े क्रोधी थे। कल्याण कार्यों के समय अन्य ऋषियों के आगमन पर लोग जहाँ हर्ष-विह्वल हो जाते थे, वहाँ दुर्वासा के आगमन पर अकल्याण की आशंका करने लगते थे।

एक बार दुर्वासा ऋषि महाराज अम्बरीष से अकारण ही नाराज हो गये और उन्हें शाप दे दिया। अम्बरीष बड़े घबराये। उन्होंने दुर्वासा से दया की याचना की, इस पर तो दुर्वासा और क्रोधित हो उठे। अम्बरीष ने विष्णु से प्रार्थना की। उन्होंने अपना सुदर्शनचक्र छोड़ दिया। चक्र देखकर दुर्वासा बेतहाशा भागे। पर चक्र ने तब तक उनका पिण्ड न छोड़ा, जब तक उन्होंने अपने अकारण क्रोध के लिए अम्बरीष से क्षमा न माँगी। इस प्रकार दुर्वासा ऋषि को भी क्रोध-व्यसन के कारण अत्यन्त नीचा देखना पड़ा, सुख तो कोसों दूर रहा उनसे।

क्रोध की जड़ और उत्पत्ति के कारण

यह निश्चित है कि क्रोधी व्यक्ति को संसार में कहीं सुख नहीं है। वह वाणी और व्यवहार की कटुता के कारण संसार में अपने दुश्मन बढ़ा लेता है। परन्तु मूल में, क्रोध की जड़ अज्ञान ही है। आदमी अपनी और दूसरों की स्थिति के बारे में गलत धारणा बना लेता है, तब उसे कुछ का कुछ दिखाई देता है। बेटे ने आज्ञा न मानी पिता को क्रोध आ गया। क्योंकि पिता बेटे को अपनी सम्पत्ति मानता है, अपना दास समझता है, उसे आज्ञा माननी ही चाहिए। परन्तु जब क्रिया इससे उलटी होती है, तब गुस्सा आता है। यही हाल पत्नी का है, तथा अन्य अधीनस्थ कर्मचारियों आदि का है।

सवाल यह है कि क्रोध उत्पन्न होने के कारण क्या हैं? मुख्यतया ५ कारण हैं—(१) दुर्वचन से, (२) स्वार्थपूर्ति में रुकावट से, (३) अनुचित व्यवहार से, (४) भ्रम के कारण, (५) विचार या रुचि का भेद होने से।

दुर्योधन के दुर्वचन से श्रीकृष्ण को, दुर्मुख दूत के वचन से प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को क्रोध आ गया था। स्वार्थपूर्ति में बाधा उपस्थित होने पर रावण को जटायु पर, सोमिल ब्राह्मण को गजसुकुमाल मुनि पर क्रोध उत्पन्न हुआ। यादवकुमारों के अनुचित व्यवहार के कारण द्वैपायन ऋषि को क्रोध आ गया था। मैतार्य मुनि पर स्वर्णकार को स्वर्णयव चुराने का भ्रम हो गया था, इस कारण क्रोध पैदा हुआ था। इसी तरह पिता-पुत्र, सास-बहू आदि में विचार भेद या रुचि भेद के कारण भयंकर संघर्ष हो जाता है। जब मनुष्य के अहं पर चोट पड़ती है तब उसे क्रोध आता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र में क्रोध उत्पन्न होने के ४ प्रकार बताये हैं—

(१) आत्मप्रतिष्ठित—अपने आप पर होने वाला,

(२) परप्रतिष्ठित—दूसरों के निमित्त से होने वाला,

(३) तदुभय प्रतिष्ठित,

(४) अप्रतिष्ठित—निमित्त के बिना ही उत्पन्न होने वाला।

क्रोध पर विजय पाना ही सुख-शान्ति का कारण

क्रोध को शान्तिपूर्वक सहने से अनेक लाभ हैं। क्रोध आने पर मनुष्य को एकदम चुप और शान्त होकर बैठ जाना चाहिए। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो को जब भी क्रोध आता, वह चुपचाप बैठ जाता, और उसके कारणों पर विचार करता था। पाश्चात्य विचारक सेनेका ने क्रोध का इलाज विलम्ब बताया है—

"The greatest remedy for anger is dalay."

क्रोध का सबसे बड़ा उपचार विलम्ब करना है। जब क्रोध आए तब चुपचाप शान्ति से बैठ जाओ। उस समय कुछ न बोलो, न लिखो, न जवाब दो। कन्फ्युशियस के मतानुसार क्रोध आने पर उसके कारणों पर विचार करो।

जेफरसन ने भी यही कहा है—

"When angry, Count ten before you speak; if very angry, Count a hundred."

"जब तुम गुस्से में हो, तब बोलने से पहले १० तक गिनो, अगर तुम बहुत ही गुस्से में हो तो सौ संख्या तक गिनो।"

शास्त्र में कहा है—**'कोहं असच्चं कुव्विज्जा'** क्रोध को विफल बना दो। वैसे तो जो क्रोध करता ही नहीं वह महान होता है, लेकिन वह भी महान होता है, जो क्रोध को विफल कर देता है। क्रोध की विफलता के ४ चार सूत्र हैं—

(१) जहाँ क्रोध आए, वहाँ से उठकर एकान्त में चले जाना

(२) मौन हो जाना

(३) किसी काम में लग जाना

(४) एक-दो क्षण के लिए श्वास को रोक लेना।

क्रोध का शमन करने के कुछ और भी उपाय हैं—जैसे

(१) प्रतिज्ञा कर लीजिए कि "अपने दुश्मन क्रोध को पास भी न फटकने दूंगा। जब आएगा तो उसका कठोरता से प्रतिकार करूँगा।"

(२) उक्त वाक्यों को लिखकर ऐसी जगह टांग दीजिए, जहाँ आपकी निगाह पड़ती रहे।

(३) जब क्रोध आए तो अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करिए और कुछ न कुछ दण्ड लीजिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(४) मन और कार्य की दिशा बदलिए।

(५) क्रोध आते ही पंचपरमेष्ठी मंत्र का स्मरण कीजिए।

महाराष्ट्र के संत एकनाथ कैसे ही क्रोध का निमित्त उपस्थित होने पर क्रोध को नहीं आने देते थे। एकबार गाँव (पैठन) के लोगों ने उनके अक्रोध की परीक्षा लेने की ठानी। दूसरे गाँव के एक ब्राह्मण को प्रलोभन देकर उन्हें क्रोध लाने का षड्यंत्र रचा। परन्तु ज्यों ही वह गंदे कपड़े और जूतों सहित पूजागृह में बैठे संत एकनाथ की गोद में जा बैठा, त्यों ही एकनाथ मुस्करा कर बोले—कहो, ब्राह्मण देवता! आज कैसे दर्शन दिए! मालूम होता है, आप बहुत जरूरी काम से जल्दी में आए हैं। इसलिए तो आपने जूते भी नहीं खोले। मेरे प्रति आपका कितना हार्दिक स्नेह है। कहिए आपकी क्या सेवा करूँ?" आगन्तुक ब्राह्मण तो उनके सस्नेह व्यवहार से पानी-पानी हो गया। वह क्षमा मांग कर विदा हुआ।

महाराजा रणजीतसिंह के कपाल पर एक पत्थर लगा। एक बुढ़िया ने जामुन के फल पाने के लिए जामुन को मारा था, पर लग गया उनके कपाल पर। क्रोध आना स्वाभाविक था। मगर महाराजा बिलकुल क्रुद्ध न हुए। बुढ़िया से पत्थर मारने का कारण पूछा। बाद में चिन्तन की चिनगारी मस्तिष्क में प्रकटी—पत्थर मारने पर जामुन का पेड़ तो फल देता है, मैं मनुष्य होकर क्या इसे दण्ड दूँगा? नहीं, इसकी गरीबी मिटानी चाहिए। बस, यों सोचकर बुढ़िया को एक हजार रुपये इनाम दिये गये जीवन निर्वाह के लिए। क्रोधोत्पत्ति के बदले सहानुभूति उत्पन्न हुई।

मुनियों के लिए स्पष्ट कहा गया है—**आसुरत्तं न गच्छिज्जा**—झटपट लाल पीला न हो जाए, वह '**उवसमेण हणे कोहं**' शान्ति से क्रोध को मारे।" इस प्रकार क्रोध पर जो विजय प्राप्त कर लेता है, वही संसार में सुखशान्ति और समृद्धि का धनी होता है, सबको अपना बना लेता है। इसके विपरीत जो बात-बात में क्रोध के वशीभूत हो जाता है वह सुखशान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। यही बात गौतम ऋषि ने इस जीवन सूत्र में कही है—

कोहाभिभूया न सुहं लहंति।

क्रोधाभिभूत जन सुख नहीं पाते। आप इस पर चिन्तन-मनन करके अपना जीवन, क्रोध से मुक्त कीजिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१३
अभिमानी पछताते रहते

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके सामने एक ऐसे जीवन की चर्चा करने जा रहा हूँ, जो अभिमान से ग्रस्त होता है। महर्षि गौतम के गौतमकुलक का यह बारहवाँ जीवन सूत्र है। इसका सूत्र इस प्रकार है—

माणंसिणो सोयपरा हवंति

—अभिमानी व्यक्ति शोकपरायण---चिन्तातुर होते हैं, अथवा शोक का पराभव प्राप्त करते हैं।

अभिमानी का स्वरूप

इस जगत् में एक से एक बढ़कर अभिमानी हैं। किसी को अपनी जाति-कुल का अभिमान है, तो किसी को बल का; किसी को अपने रूप पर गर्व है, तो कोई अपने धन-वैभव पर इतराता है; कोई अपनी तपस्या का घमण्ड करता है तो किसी को अपनी उपलब्धियों पर नाज है; किसी को अपने ज्ञान का गर्व है, तो किसी को अपनी बुद्धि का मद है। ये सब अभिमानी या अहंकारी अपने पास जो भी शक्ति या उपलब्धि है, उसका मूल्यांकन अधिकाधिक करते हैं, परन्तु उनसे जब कोई सवाया मिलता है, तो उनका गर्व या अहंकार एक क्षण में चूर-चूर हो जाता है। अभिमानी प्रायः अपना नापतौल अधिक आंकता है, जबकि दुनिया के बुद्धिमानों की दृष्टि में वह कुछ नहीं है, नगण्य है, तुच्छ है। वास्तव में अभिमानी उस महागज पर बैठा हुआ है, जो अपनी आँखों से अपने से ऊपर के व्यक्ति को देख नहीं पाता, अपने कानों से अपने से अधिक गुणी के विषय में सुन नहीं पाता, अपने शरीर से अधिक बलिष्ठ एवं पुष्ट शरीर की गणना कर नहीं पाता। वास्तव में ऐसा व्यक्ति अपने आपको सदैव उत्कृष्ट, ऊँचा, श्रेष्ठ, उत्तम और उन्नत मानता है, और दूसरों को निकृष्ट, नीचा, कनिष्ठ, अधम और अवनत समझता है। यह गर्व स्फीत, मदगर्भित दृष्टि ही अभिमानी की दृष्टि है। वास्तव में यही मनुष्य की सबसे घातक कमजोरी है कि वह अपने न कुछ जीवन को बहुत कुछ समझता है। अहंकारी अपने अहं को, अपने आपको या अपनी मानी हुई वस्तु को अधिक महत्त्व देता है, अपनी या अपनी मानी हुई चीजों की प्रशंसा स्वयं करता है। वह बात-बात में अतिशयोक्ति करता है, अपनी हर चीज की बड़ाई करता है, अपनी शेखीबघारता है, अपने आचार-व्यवहार की डींगें हांकता है, अपने और अपनों के ही गौरवगान करता है, अपने स्वार्थ या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वत्व को सबसे अधिक तूल देता है, अपने देश, प्रान्त जाति, कुल, बल, रूप, परिवार आदि की बढ़चढ़ कर गुणगाथा गाता है, अपनी ही बात को मनवाने का प्रयत्न करता है, अपनी आज्ञा को सर्वोपरि और अन्तिम समझता है, अपने ही माने हुए सत्य को सत्य समझता है, किसी की सफलता का श्रेय स्वयं ही ले लेता है, दूसरे किन्हीं सहायकों या सहयोगियों को श्रेय नहीं देता, यहाँ तक कि ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने वाला व्यक्ति भी जगत् में जो भी अच्छे काम हुए हैं या होते हैं; उनका श्रेय स्वयं लेता है, अहंकर्तृत्व से प्रेरित होकर ऐसा व्यक्ति अच्छे कामों का कर्ता अपने आपको मानता है। एक कवि ऐसे अभिमानियों के मानस का चित्रण करता है—

अच्छा हो तो मैंने किया है, कहता है इन्सान,
बुरा सब करते हैं, भगवान।
धन में फूला, मोह में झूला, बकता है अज्ञान ।।बुरा सब.।। ध्रुव॥
मैंने लाख-करोड़ कमाया, मैंने ऊँचा भवन बनाया।
मैंने कारोबार बढ़ाया, मेरी है यह सारी माया ।।
अपनी सफलताओं पर करता रहता है अभिमान ।।बुरा सब. ।।१।।
लड़के-लड़की खूब पढ़ाए, बी.ए.बी.टी., एम.ए. बनाए।
शादी की, बहू घर में लाए, तब तो मैं-मैं सदा सुनाए।
मर जाए तो ईश्वर के सिर, दोष धरें नादान ।।बुरा सब. ।।२।।

निष्कर्ष यह है कि अहंकारी व्यक्ति सदैव अपनी नाक ऊँची रखने या अपनी टांग ऊँची रखने का प्रयत्न करता है, वह समाज में, जाति में, धर्म-सम्प्रदाय में, राष्ट्र और प्रान्त में सबसे अपना लोहा मनवाना चाहता है, अपनी धाक जमाना चाहता है, अपने वैभव और सत्ता के बल पर छा जाना चाहता है, अपनी स्वल्प विद्या और बुद्धि के बल पर सारे संसार को अपने इशारे पर नचाना चाहता है, अपनी भुजा एवं वाणी-बल पर वह दूसरों को नीचा दिखाने की कोशिश करता है, अपने सौन्दर्य के गर्व पर वह सभी को अपनी ओर आकर्षिक करना चाहता है, अपनी तपस्या का अभिमान करके वह दुनिया में अपने को सर्वश्रेष्ठ तपस्वी घोषित करना चाहता है, अपने थोड़े-से दान को लेकर जगत् में महादानी कहलाना चाहता है, अपनी प्रसिद्धि, अपनी यश:कीर्ति और अपनी प्रतिष्ठा के लिए वह एड़ी से लेकर चोटी तक का पसीना बहा देता है, भले ही उसमें इतनी योग्यता, क्षमता, गुणवत्ता, शक्ति या सामर्थ्य न हो, भले ही दूसरे उससे भी कई गुना अधिक शक्तिशाली, गुणवान्, बलवान्, बुद्धिमान्, योग्य, कार्यक्षम एवं सामर्थ्यवान् हों। मतलब यह है कि वह 'अधजल गगरी छलकत जाय' वाली कहावत दुनिया में चरितार्थ करता है। ऐसे ही लोगों के लिए संस्कृत के एक कवि ने कहा है—

"सम्पूर्णकुम्भो न करोति शब्दमर्धो घटो घोषमुपैति नूनम्।
विद्वान् कुलीनो न करोति गर्वं, जल्पन्ति मूढास्तु गुणैर्विहीनाः ।।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—भरा हुआ घड़ा कभी छलकता नहीं, किन्तु आधा घड़ा अधिक आवाज करता है। विद्वान एवं कुलीन व्यक्ति अभिमान नहीं करता, किन्तु गुणहीन मूर्ख अधिक बकवास करते हैं।

अभिमानी व्यक्तियों का स्वभाव अपने मुह मियामिट्ठू बनने का होता है। साहित्यकार शेक्सपियर के शब्दों में—

'The empty vessel makes the greatest sound.'

"खाली बर्तन सबसे अधिक आवाज करता है।"

—वास्तव में अभिमानी व्यक्ति करता कम है, कहता ज्यादा है। इसीलिए सेक्सपियर अभिमानी के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए कहता है—

"We wound our modesty and make foulthe clearness of our deserving; when of ourselves we publish them."

'जब हम अपनी नम्रता या अपनी योग्यताओं का स्वयं बखान करते हैं, तब हम अपनी नम्रता को घायल करते हैं और अपनी योग्यताओं की असंदिग्धताओं को अशुद्ध-अपवित्र कर देते हैं।

अभिमानी का गर्वोद्धत विचार

अभिमानी प्रायः ऐसा विचार किया करते हैं कि मेरे बिना दुनिया का कोई काम नहीं चलता। कई लोग अपने परिवार के मुखिया होने के नाते अभिमान करते हैं कि 'मेरे बिना परिवार का काम नहीं चलता, मैं न रहूँ, परिवार भूखा मर जायगा। परन्तु यह सब व्यर्थ कल्पना है, किसी के बिना किसी का काम रुकता नहीं। सभी को अपने-अपने भाग्य के अनुसार सब कुछ मिलता है। परन्तु अभिमानी व्यक्ति मान लेता है कि मैं ही इसके लिए सहारा हूँ।

हरिदास नाम का एक बनिया था। उसके परिवार में वह, उसकी पत्नी और दो लड़के, यों चार प्राणी थे। हरिदास फेरी करके किराने का सामान बेचकर अपना गुजारा चलाता था। घर में कमाने वाला वह अकेला ही था, इसलिए उसके मन में यह अभिमान हो गया कि मेरे बिना परिवार का काम एक दिन भी नहीं चल सकता। इसलिए वह स्वयं कस कर मेहनत करता था और लोगों के सामने भी अपनी डींग हांकता था। एक दिन वह सन्त के सत्संग में पहुँचा। सन्त ने कहा—"दुनिया में किसी के बिना किसी का काम नहीं रुकता। यह अभिमान व्यर्थ है कि मेरे बिना परिवार या समाज का काम नहीं चल सकता।" सत्संग पूर्ण होने के बाद जब सभी लोग चले गए तब हरिदास ने संत से कहा—"आपने यह कहा कि दुनिया में किसी का काम नहीं रुका रहता। परन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरे परिवार का मेरे बिना एक दिन भी काम नहीं चल सकता। मैं स्वयं इस बात का साक्षी हूँ। मैं दिन भर में जब कमा कर पैसे लाता हूँ, तभी शाम को रोटी-पानी का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामान आता है। मेरे बिना स्त्री-बच्चे भूखे मर जाएँ।" सन्त ने कहा—'तुम्हारा यह मिथ्या भ्रम है। सबका अपना-अपना भाग्य होता है, उसके अनुसार उसे निर्वाह के लिए सब कुछ मिलता है। व्यर्थ का अहंकार मत करो।" बनिये ने कहा—'मुझे तो आप प्रत्यक्ष चमत्कार बताओ, तब मैं मानूं।' सन्त ने बनिये को एक महीने के लिए कहीं बाहर चले जाने के लिए कहा। वह चला गया। पीछे से सन्त के एक भक्त ने हरिदास के घर जा कर उसकी पत्नी से कहा—हरिदास को जंगल में एक बाघ ने झपटकर मार डाला। बहुत बुरा हुआ।' बनियानी और बालकों ने बहुत शोक मनाया। गाँव के लोगों को पता चला तो कुछ दयालु सेठों ने महीने भर का खाने-पीने का सामान हरिदास के यहाँ भिजवा दिया। एक सेठ ने उसके बड़े लड़के को, एक ने छोटे को अपने यहाँ नौकर रख लिया। एक महीने बाद जब हरिदास लौट कर सीधा सन्त के पास पहुँचा तो उन्होंने रात को एक लंगोटी पहनकर घर जाने और हाल जानने को कहा। वह गया तो सभी ने उसे भूत समझकर अपमानित करके निकाल दिया। बोले—'हमें तुम्हारी जरूरत नहीं है, हम पहले से बहुत सुखी हैं।' हरिदास का अभिमान उतर गया। वह समझ गया कि मेरे बिना परिवार का काम नहीं चल सकता, यह भ्रान्ति थी। अतः सन्त के पास लौटकर उसने अपना आत्म-कल्याण करने का विचार करके सन्तजीवन स्वीकार कर लिया। कवि वृन्द भी अभिमानी की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहते हैं—

"होत न कारज मो बिना, यह जु कहे सुअयान।
जहाँ न कुक्कुट शब्द तहँ, होत न कहा बिहान॥"

महान् दार्शनिक रोझे के मतानुसार 'जो यह सोचता है कि दुनिया के बिना मैं अपना काम चला लूंगा, वह खुद को धोखा देता है, किन्तु मेरे बिना दुनिया का काम नहीं चलता यों कहने वाला बहुत बड़े धोखे में है।'

सूत्रकृतांग सूत्र में अभिमानी की दृष्टि का विश्लेषण करते हुए कहा है—

'अप्पं जणं पस्सति बिंबभूयं'

'अभिमानी अपने अहंकार में चूर होकर दूसरों को सदैव बिम्बभूत (परछाईं के समान तुच्छ) मानता है।'

रहीम कवि के शब्दों में अभिमानी की परिभाषा देखिये—

"जो रहीम ओछो बढ़ै, सो अति ही इतराय।
प्यादे सो फरजी भयो, टेढ़ो-टेढ़ो जाय॥"

अभिमानी प्रदर्शन का आग्रही

अभिमानी अपने सिवाय औरों को देख ही नहीं सकता, इसीलिए तो उसे शास्त्रकारों ने 'मानान्ध' कहा है। अभिमान में अन्धे व्यक्ति प्रायः अपने अधीनस्थ सेवकों से कहा करते हैं—दूर हटो, दूर हटो। परन्तु सूत्रकृतांग सूत्र की दृष्टि में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'बालजणो पगब्भइ' अज्ञानीजन ही गर्व करता है। जो ज्ञानी और विवेकी होता है, दुनिया को खुली आँखों से देखता है, संसार के प्रत्येक पदार्थ की वास्तविकता को समझता है, वह कभी गर्व या अभिमान नहीं करता। वास्तव में देखा जाए तो अभिमानी के हृदय में ज्ञान का निवास हो नहीं सकता। किसी के कमीज की जेब फटी हो तो उसमें पैसे टिके नहीं रह सकते, नीचे गिर जाएँगे, वैसे ही किसी व्यक्ति का हृदय अभिमान से फटा पड़ा हो, उसमें ज्ञान और विवेक कहाँ ठहरेंगे ? एक विचारक कहता है कि 'अभिमानी अपने आपको सर्वोत्कृष्ट और दूसरे को निकृष्ट मानकर दो गलतियाँ करता है।'

अभिमानी के मन में प्रदर्शन की भावना

अभिमानियों का मन इतना संकीर्ण एवं तुच्छ होता है कि वह दूसरों की तरक्की देख कर जलने लगता है। वह दूसरों के घमण्ड को घृणा की दृष्टि से देखता है, दूसरों की प्रतिष्ठा उसे खटकती रहती है, दूसरे का अत्यधिक सम्मान उसे काँटे की तरह चुभता है। वह दूसरों को नीचे गिराकर या दुनिया की नजरों में दूसरों को नीचा दिखाकर उसकी नींव पर अपनी प्रतिष्ठा का महल खड़ा करने का प्रयत्न करता है। अहंकारी व्यक्ति ही अधिक बोलते हैं, वे ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करने के लिए दूसरों से वाद-विवाद करने के लिए कमर कसे रहते हैं। ऐसे अभिमानी एवं अहंकारी लोगों को प्रदर्शन की बीमारी लगी रहती है। वे जब देखो, तब अपनी अहंकारी भूख मिटाने के लिए कोई न कोई आडम्बर करते रहते हैं। दिखावे से उनको इतना अधिक प्रेम होता है कि अगर उनकी दृष्टि में यह आ जाए कि दूसरा उनसे अधिक बाजी मार रहा है तो वे अपना सर्वस्व खर्च करके, दूसरों से उधार लेकर भी अपना प्रदर्शन करके अपना बड़प्पन दिखाते रहते हैं। अपनी हैसियत नहीं होने पर भी अभिमानी दुनिया की जबान से अधिक शक्तिशाली, धनवान् या बुद्धिमान अथवा चारित्रवान कहलाने के लिए, या दुनिया की नजरों में श्रेष्ठ जँचने के लिए अपना सर्वस्व होम देता है।

एक गरीब स्त्री एक दिन किसी सेठ के यहाँ गई। सेठानी ने चूड़ा पहन रखा था। वह हाथीदाँत का बना हुआ और बहुत ही बढ़िया था। पड़ौसिनें उसे देखने आ रही थीं और सेठानी को बधाइयाँ देने वालों का ताँता लग रहा था। गरीब महिला ने जब यह रंगढंग देखा तो मन में सोचा—'मैं भी क्यों न हाथीदांत का चूड़ा पहनूँ और पड़ौसियों से बधाइयाँ प्राप्त करूँ।' बस क्या था, घर आते ही उसने अपने पति से कहा—'मुझे हाथी दांत का चूड़ा ला दो।' पति ने कहा—'देखती नहीं, घर की परिस्थिति कैसी है ? यहाँ तो पेट भी कठिनाई से भरता है और तुम्हें हाथीदांत का चूड़ा चाहिए।"

परन्तु पत्नी भी गर्वीली और हठी थी। उसने साफ कह दिया—"चूड़ा लाओगे, तभी चूल्हा जलेगा। मैं चूड़े के बिना रह नहीं सकती।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पति ने बहुत समझाया, पर उस अहंकारिणी ने एक न मानी। आखिर पति ने हार मान ली। बेचारेने बाजार जाकर एक धनिक से कर्ज लिया और चूड़ा खरीद कर लाया। महिला चूड़ा पहनकर फूली न समाई। अपना चूड़ा लोगों को दिखाने के लिए वह अपनी झौंपड़ी के द्वार पर आकर एक पीढ़े पर बैठ गई। हाथों को सामने लटका दिया इस हालत में वह भूखी-प्यासी बहुत देर तक बैठी रही, पर उसका चूड़ा देखने के लिए कोई भी नहीं आया, बधाइयाँ तो मिलती ही कहाँ से ? उसका पूरा दिन वैसे ही बीत गया। दूसरे दिन भी उसने वही नाटक किया, पर उस दिन भी कोई नहीं फटका। अब तो उसके मन में प्रदर्शन की आग भभक उठी। उसने ली दियासलाई, अपनी झौंपड़ी सुलगा ली। देखते ही देखते आग की लपलपाती ज्वालाएँ आकाश को छूने लगीं। चारों ओर से लोग आग बुझाने आये। आग तो बुझा दी, पर झौंपड़ी जलकर खाक हो गई। लोगों ने बहुत ही सहानुभूति प्रगट की—बेचारा पहले ही गरीब है, फिर यह छोटा-सा झौंपड़ा भी जल गया, कितना नुकसान हो गया ? लोग तो संवेदना प्रगट कर रहे थे, पर उस स्त्री के मन में अब भी प्रदर्शन की आग भड़क रही थी। लोगों ने उससे पूछा—'बहन ! तुम्हारे पास कुछ बचा कि नहीं ?" वह हाथ ऊपर उठाकर बोली—और तो क्या बचता, केवल यह चूड़ा ही बचा रह गया है।" लोगों ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा—"अरे ! तुमने यह चूड़ा कब से पहन लिया ?" वह बोली—"अरे भाई ! अगर यही बात पहले पूछ ली होती तो मेरी झौंपड़ी क्यों जलती ?

तो क्या लोगों को चूड़ा दिखाने के लिए ही तुमने झौंपड़ी जलाई थी ?" लोगों ने पूछा तो वह चुप हो गई। लोग उसकी मूर्खता पर हंस रहे थे। उनकी सहानुभूति अब आक्रोश में बदल गई।

मैं पूछता हूँ क्या ऐसे प्रदर्शनकारी अहंकारियों की जमात की, किसी जाति या समाज में आज भी कोई कमी है ? आज दहेज या अन्य वैभव की चमक-दमक का दिखावा विवाह शादियों में बहुत होता है। समाज में अपना घर फूंक कर प्रदर्शन करने वाले बहुत मिलेंगे। ऐसे भी अहंकारी प्रदर्शन कर्त्ता मिलेंगे जो अपने आपको श्रेष्ठ एवं महान कहलाने के लिए दुनिया भर का खर्च कर देंगे, परन्तु किसी सार्वजनिक सेवाकार्य में पैसा खर्च करना हो, बिना किसी आडम्बर या प्रसिद्धि के किसी सेवाकार्य में पैसा लगाने को कहा जाए तो बगलें झांकने लगेंगे, सौ बहाने बनाकर टालमटूल करेंगे।

सम्मान के भूखे लोग प्रदर्शन में तो बाजी मार जाते हैं, परन्तु अच्छे कार्य के लिए चुपचाप देने में कतराते हैं। **'ऊँची दुकान और फीका पकवान'** वाली कहावत ऐसे ही लोगों पर लागू होती है।

अभिमानी अपमान का बदला लेने, स्वय बर्बाद हो जाता है।

आज अधिकांश अभिमानी व्यक्तियों का मानस ऐसा बन गया है कि वे अपनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूँछ ऊँची रखने के लिए, अपने अहं की पूर्ति के लिए बड़ी से बड़ी धनराशि खर्च कर सकते हैं। कहीं अपना जरा-सा अपमान हो जाए, चाहे वह दृष्टि में न आया हो फिर भी अभिमानी पुरुष उसे बहुत अधिक तूल देकर उस अपमान का बदला दूसरे का अपमान करके लेते हैं और इस तरह अपने अभिमान की भूख मिटाते हैं स्वयं को बर्बाद करके।

एक जगह सामूहिक भोज था। भोज में भोजन परोसने वाला सबको पापड़ परोस रहा था। पंक्ति में बैठे लोगों को वह एक छोर से दूसरे छोर तक पूरा पापड़ देता जा रहा था, किन्तु एक व्यक्ति को पापड़ परोसते समय वह पापड़ जरा-सा खण्डित हो गया। परोसने वाले ने किसी दुर्भाव से वह खण्डित पापड़ नहीं परोसा था। न ही किसी व्यक्ति ने उस पर ध्यान दिया और न उस परोसने वाले ने ही इस पर कोई गौर किया। किन्तु जिसकी थाली में वह खण्डित पापड़ परोसा गया था, उसे यह बहुत बुरा लगा। उसने मन ही मन अपमान की गांठ बाँध ली कि इसने सबकी थाली में पापड़ परोसा, लेकिन मेरी थाली में खण्डित पापड़ परोसा, इसके पीछे मुझे अपमानित करने की इसकी शरारत है। खैर मैं देख लूँगा। पूरा बदला लूँगा इससे।

खण्डित पापड़ परोसने के लिए सामूहिक भोज का आयोजन करना आवश्यक था। पर पास में इतना धन ही नहीं था कि वह सारे गाँव को सामूहिक भोज दे सके। मगर अभिमानी जो ठहरा। उसे अपने तथाकथित अपमान का किसी तरह बदला लेना ही था, लाख जाये पर मेरा अहं न जाये इस प्रकार अहं की बलिवेदी पर वह सामूहिक भोज के लिए कर्ज लेकर भी हजारों रुपये खर्च करने को तैयार हो गया। ठीक समय पर सारे गाँव को भोजन के लिए आमंत्रित किया। भोजन की समाप्ति पर सबको पापड़ परोसने के लिए वह अभिमानी व्यक्ति स्वयं आया और जिस व्यक्ति ने सहजभाव से खण्डित पापड़ परोसा था, उस व्यक्ति को खण्डित करके पापड़ परोसा। उक्त सेठ ने पापड़ खाना शुरू किया, क्योंकि उसके मन में कोई भी भावना नहीं थी। इस अभिमानी व्यक्ति ने हंसते हुए कहा—"सेठजी ! याद है, आपने मुझे खण्डित पापड़ परोसा था, मैंने भी आज खण्डित पापड़ परोस कर उस अपमान का बदला ले लिया है।"

सेठजी ने हंसकर कहा—"अरे मूर्ख ! क्या उसी का बदला लेने के लिए तूने इतना कर्ज करके सामूहिक भोज का आयोजन किया है ? अच्छा होता, तू मुझे अकेले बुलाकर अपना बदला ले लेता तो इतनी पैसे की बर्बादी तो नहीं होती ? अथवा तू मुझे उस समय पूछता तो मैं खण्डित पापड़ के बदले अखण्ड पापड़ तेरी थाली में परोस देता।"

अहं के पुजारी अर्हं के पुजारी नहीं होते

कई बार इसी प्रकार समाज में अभिमानियों में आपाधापी होती है और होड़ लगती है। परन्तु अभिमानी अपने झूठे अहं की पूर्ति करके ही दम लेता है। वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्या अहं की पूर्ति में जितनी शक्ति लगाता है, उतनी शक्ति यदि अर्हं की आराधना में लगा दे तो कितना अच्छा हो ! पर अहं के पुजारी अर्हं के पुजारी नहीं हो सकते।

एक व्यक्ति अरिहन्त भगवान के नाम का जप तथा उनके कल्याणक का तप बहुत किया करता था, परन्तु उसके मन में दुनियादारी तथा जप-तप से होने वाले लाभ के स्वार्थ की एवं अपने आपको जपी-तपी कहलाने की महत्वाकांक्षा भी लगी थी। एक दिन एक मुसलमान भक्त से उसकी मुलाकात हुई। उसने परमात्मा की भक्ति के सिलसिले में बात करते हुये कहा जब मैं सच्चे हृदय से किसी लाभ की आशा या स्वार्थ से प्रेरित न होकर खुदा की बन्दगी करता हूँ तो ऐसा मालूम होता है, साक्षात खुदा मेरे शरीर में प्रविष्ट हो गया है। उस समय मुझे सुखशान्ति का अनुभव होता पर जब मन में अहंभाव का प्रवेश होता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि खुदा शरीर से बाहर चला गया है। शरीर से खुदा के पृथक् होने पर मन को अपार कष्ट होता है। फिर मैं उसे बुलाना चाहता हूँ तो बस एक ही आवाज सुनाई पड़ती है—हम दोनों साथ नहीं रह सकते। हम दोनों (खुदी या खुदा) में से एक को अवश्य ही बाहर निकलना पड़ेगा। इसलिए दोनों का एक स्थान पर एकत्र होना असम्भव है।" खुदी या खुदा कहो चाहे अहं या अर्हं, एक ही बात है।

क्या आप भी अपने मनमन्दिर में अर्हं को विराजमान करना चाहते हैं ? यदि चाहते हैं तो आपको अहं को छोड़ना पड़ेगा। परन्तु अहं के पुजारी में एक विशेषता होती है कि वह अहं को कदापि छोड़ना नहीं चाहता, अर्हं चाहे घर में आए या न आए ! वह अर्हं का पुजारी बनने का ढोंग रच लेगा, धन के बल पर आडम्बर कर लेगा, अहं के पुजारी कहलाने का। पर सच्चे मन से अर्हं का पुजारी नहीं बनेगा। अगर ऐसा होता तो समाज में कभी ये विषमताएँ न होतीं। अपने अहं की पूजा के लिए फिजूलखर्ची और प्रदर्शन करके समाज के गरीब एवं मध्यमवर्गीय लोगों को नीचा दिखाने या अपने पीछे बरबस घसीटे जाने के लिए बाध्य करने की नौबत न आती ! यह आडम्बर पूजा अहं पूजा ही तो है।

अपने अहं की सुरक्षा के लिए हजारों रुपयों का धुँआ

हाँ तो, अभिमानियों की मनोवृत्ति होती है, अपने अहं की सुरक्षा के लिए अपनी बात, चाहे वह गलत ही हो, रखने के लिए, अपनी मान्यता, अपनी प्रतिष्ठा बरकरार रखने के लिए चाहे जितना पैसे का धुँआ हो जाए चाहे मुकद्दमेबाजी में तबाह हो जाए, चाहे कुछ भी स्याह-सफेद करना पड़े, करना ही होगा।

महाराष्ट्र में एक धनिक व्यापारी के दो लड़के थे। पिताजी ने अन्तिम समय में अपनी जमीन-जायदाद का बँटवारा दोनों में कर दिया था। इसके एक दो वर्ष के बाद ही एक दिन बड़ा भाई अपने खेत पर पहुँचा तो छोटे भाई के खेत पर काम करने वालों को सुपारी के पेड़ से सुपारी तोड़ते देखा। उसने उनसे कहा—"यहाँ सुपारी का पेड़ तो मेरे खेत की सीमा में है, तुम इसकी सुपारियाँ क्यों तोड़ रहे हो ?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

छोटे भाई के पास जब यह समाचार पहुँचा तो उसने बड़े भाई की बात का प्रतिवाद करते हुए कहा—"यह सुपारी का पेड़ मेरे खेत की हद में है। इस पर आपका कोई अधिकार नहीं है।" इस पर बड़े भाई को बहुत गुस्सा आया। उसने कहा—"कैसे नहीं है मेरे खेत की सीमा में यह पेड़? मैं कल ही देख आया हूँ।" असल में वह सुपारी का पेड़ दोनों भाइयों के खेत की सीमा पर था। किन्तु दोनों के अहं को चोट पहुँचने से दोनों ही झगड़ा करने पर तुल गये। जब वादविवाद से बात नहीं सुलझी तो वे मुकद्दमेबाजी करने पर उतारू हो गये। दोनों में से कोई भी अपनी बात छोड़ने को, या कुछ भी त्याग करने को तैयार न था। दोनों अभिमान के हाथी पर चढ़े हुए थे। आखिर मुकद्दमा कोई दस साल तक चला। दोनों पक्ष के हजारों रुपये खर्च हो गये, पर फैसला अभी तक न हुआ। आखिर एक नये समझदार न्यायाधीश के पास यह मुकद्दमा पहुँचा तो उसे इन दोनों की मूर्खता पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने मुकद्दमे का फैसला करने के लिए स्वयं खेतों का मुआयना किया। दोनों के खेत की सीमा पर खड़े सुपारी के पेड़ को देखकर न्यायाधीश ने मन ही मन कुछ सोचा और तुरन्त पास में खड़े चपरासी को आदेश दिया—"इस पेड़ को काट डालो, ताकि यह झगड़े की जड़ ही खत्म हो जाय।"। पेड़ कट जाने के बाद न्यायाधीश ने मुकद्दमे का फैसला दे दिया—चूँकि जो पेड़ दोनों भाइयों के बीच में विवाद का विषय था, अब समाप्त करा दिया गया है—इसलिए अब यह मुकद्दमा इसके साथ ही खारिज किया जाता है।"

बन्धुओ! क्या आप सोच सकते हैं कि अहं का झगड़ा कितना बेबुनियाद था। फैसला हो जाने पर तो दोनों भाइयों को बहुत ही पश्चात्ताप हुआ कि हमने व्यर्थ ही हजारों रुपये मुकद्दमेबाजी में खर्च किये, लेकिन पल्ले कुछ भी नहीं पड़ा। इतने रुपयों में कई नये सुपारी के पेड़ लगाये जा सकते थे। पर अहं की पूजा जो करनी थी, उन्हें।

अभिमानी का चिन्तन

इसीलिए गौतमकुलक में कहा है—**माणंसिणो सोयपरा हवंति**—अभिमानी लोग अन्त में शोक-परायण होते हैं। उन्हें अन्त में किये का पछतावा होता है, चिन्ता होती है। अपनी झूठी शेखी पर रोना पड़ता है।

अहंवादी अभिमानी का चिन्तन अपने ही 'स्व' में सीमित बन्द होता है, वह सोचता है—'बुद्धिमान कौन? जो मेरी तरह सोचे, मूर्ख कौन? जिसके विचार मुझ से न मिलें। आदर्श क्या है? जिस पर मैं चलूँ। अभिमानी सोचता है—'जगत मेरे अधीन रहे, विनम्र सोचता है—मैं जगत का सेवक बनकर रहूँ। परन्तु अभिमानी की सारे जगत को अपने-अपने अधीन बनाने की बात स्वप्न में भी—तीन काल में भी नहीं बनती। इसलिए आखिर उसे अपनी बात पर विचार करने को विवश होना पड़ता है। नहीं विचार करता है तो अन्त में उसे बार-बार यह चिन्ता करनी पड़ती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, वह हरदम इसी उधेड़बुन में रहता है कि मेरी बात कैसे रहे ? सारा जगत मेरा सेवक बनकर कैसे रहे ? अहं की पूजा से तो कदापि जगत मेरा सेवक नहीं बन सकता। इसीलिए कहा है कि अहंकारी सदा चिन्तातुर रहते हैं। क्यों और किस लिए ? इसलिए कि उनके अहं की पूर्ति कैसे हो ? इसी उधेड़बुन में रात-दिन पड़े रहने से।

अभिमानी : अहं की मार से विवश

ऐसे अभिमानी अहं की मार से इतने विवश हो जाते हैं, कि वे ऊर्ध्वगामी नहीं हो पाते। सचमुच अहं की मार इतनी दूरगामी होती है कि बड़े-बड़े साधक भी उससे मुक्त नहीं हो पाते।

आचार्य रजनीश ने अपने जीवन की एक घटना लिखी है—'मुझे एक साधनारत सन्त के सम्पर्क में आने का मौका मिला। बात के दौरान सन्त ने अनेक बार अहं भरे शब्दों में दोहराया—"मैंने लाखों की सम्पत्ति छोड़ी है और मेरा एक ऐश्वर्य सम्पन्न परिवार था।" इस प्रकार उनके प्रत्येक शब्द में अहं झलकता था।'

"यों कई बार उनके मुँह से सुन लेने पर एक दिन मैं उनसे पूछ ही बैठा—"आपको साधु बने कितना समय हो गया ?"

'बीस वर्ष'—अहं की अकड़ में उत्तर मिला।

मैंने निर्भीकता से कहा—"इतना लम्बा समय होने पर भी आप हैं तो वहीं जहाँ पहले थे।"

'सो कैसे ?' मुनि झेंपे-से बोले।

मैंने कहा—"पहले आपके मन में यह अहं था कि मैं एक लक्षाधिपति हूँ। और अब यह अहं आपको दबोच रहा है कि मैंने लाखों की सम्पत्ति ठुकराई है। अहंभाव में क्या विशेष अन्तर आया ? मुनि तो मौन रहे, बोलते भी क्या ? अहं की मार से ही वे विवश थे।" इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने अनुभव की बात कह दी—

"अहंकार की अगनि में दहत सकल संसार।
तुलसी बाचें संतजन, केवल सांति - अधार॥"

अत्यधिक अहंभाव एवं घमण्ड की ग्रन्थि

अभिमानी मनुष्य के मन में जब घमण्ड का भाव आ जाता है, तब वह एक मिथ्या गर्व के अहंभाव से फूल उठता है। थोड़ी-सी सत्ता, शक्ति, पद या अधिकार पाकर वह अपने को दूसरों से बहुत ही ऊँचा मानने लगता है। अपने से गरीबों, शक्ति-हीनों, पीड़ितों, मातहतों, दीनहीनों या वृक्षों—अशक्तों को वह मक्खी-मच्छर जैसा निरीह मानने लगता है। शक्ति अथवा जवानी के मद में आकर मनमानी करता है। यह दर्प या अहंभाव अस्वस्थ मस्तिष्क के चिह्न हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य व्यर्थ के घमण्ड में न फँसे और अपनी क्षण-भंगुरता भी जाने। स्वस्थ मानसिक सन्तुलन तभी हो सकता है, जब मनुष्य में न तो अहंकार हो और न ही आत्म-हीनता। दोनों के मध्य की स्थिति ही उचित है। मोहभाव, अत्यन्त आसक्ति और अहंकार, ये आध्यात्मिक पतन के लक्षण हैं। आसुरीशक्ति वाले व्यक्ति में ये ही भाव लहराया करते हैं—

"दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।"

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और कठोरता आदि आसुरी सम्पदा के भाव हैं। ये पतन की ओर ले जाने वाले हैं।

भगवद्गीता में बताया गया है कि कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने मोहितचित्त अर्जुन को उपदेश देना प्रारम्भ किया, जब पर्याप्त उपदेश देने पर भी उसकी आसक्ति, अहंकार और मोह कम न हुए, तब श्रीकृष्ण ने (वैक्रियलब्धि से) अपना विराट रूप दिखाया। उस विराट रूप को देखकर अर्जुन का अहंकार दूर हुआ। उसे इस विराट संसार में अपनी वास्तविक स्थिति का भान हुआ।

उसने समझ लिया कि वह भौतिक संसार जड़-चेतन मिश्रित है। बादलों के बने हुए विविध चित्रों के समान आत्मा के सिवाय समस्त पुद्गल—भौतिक जड़ पदार्थ—बनते और बिखरते हैं। आत्मा-परमात्मा के सिवाय इनमें से कोई भी पदार्थ निरन्तर, अजर, अमर, अविनाशी नहीं है। यह शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय सुख वासनाएँ, तृष्णाएँ, आकांक्षाएँ आदि सब कुछ तुच्छ, विनाशी और क्षणिक हैं। जिस पर मैं इतरा रहा था, वह तो मेरे शरीर आदि जड़ स्वभावी पदार्थ थे। मुझे तो आत्मा-परमात्मा के साथ अभिन्नता स्थापित करनी चाहिए।

इस प्रकार विशाल सृष्टि के साथ अपनी तुलना करने पर अर्जुन को अपनी लघुता, शारीरिक नश्वरता एवं पार्थिव सुखों की अनित्यता का बोध हो जाता है। विराट रूप की एक झलकमात्र से अर्जुन को उसकी वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो गई। फलतः उसका अहंकार दूर हो गया, उसको मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त हुआ, आसक्ति और मोहभाव दूर हुआ, जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ने की भव्य प्रेरणा मिली।

अहंकारी अपनी डींग अधिक हांकता है

अहंकारी मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह अपने आपको बहुत विशाल प्रदेश वाला समझ लेता है, जबकि वह सिन्धु में बिन्दु के समान होता है। एक व्यक्ति अपने प्रदेश-प्रान्त को बहुत बड़ा मानता था। एक दिन उसका गर्व उतारने के लिए एक सज्जन दुनिया का मानचित्र (एटलस) लाए और उसे दिखाते हुए कहा—बताइए कि इसमें आप किस देश में रहते हैं? उसने एशिया पर उंगली रखकर फिर भारतवर्ष के नक्शे पर अंगुलि रखी। फिर उसने पूछा—"भारतवर्ष में भी आप किस प्रान्त और किस जिले में रहते हैं? जरा अंगुलि रखकर बताइए तो।" उन्होंने मध्य प्रदेश और उसमें भी उज्जैन जिले पर अंगुलि रखी। तत्पश्चात् उन्होंने कहा—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"इस जिले में आप गाँव पर अंगुलि रखिए !" उन्होंने एक बिन्दु जिस पर बारीक अक्षरों में लिखा था—'धर्मपुरा।' उस सज्जन ने कहा—"इतने विशाल विश्व में आपका गाँव तो बहुत छोटे-से बिन्दु भर है न ?" उस व्यक्ति का सारा गर्व उतर गया। उस दिन से वह कभी अपने गाँव प्रान्त की डींग नहीं हांकता।'

अहंकारी को अपने नाम से बड़ा मोह होता है

अहंकारी के जीवन का एक पहलू यह भी है कि उसको नाम कामना, बड़ाई, प्रसिद्धि और कीर्ति से बड़ा मोह होता है, वह दान भी देता है तो नाम के लिए, व्रत-नियम आदि धर्माचरण करता है तो भी प्रसिद्धि के लिए तीर्थयात्रा आदि करता है तो भी यश कीर्ति के लिए उसके जप-तप आदि भी किसी न किसी ऐसी ही आकांक्षा से प्रेरित होते हैं। परन्तु वह यह नहीं समझता कि दुनिया में किसका नाम रहा है ? ये सब तो नश्वर वस्तुएँ हैं। ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में ये क्या हैं ? सुन लीजिए—

"अभिमानं सुरापानं, गौरवं घोर-रौरवम्।
प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥"

अभिमान मद्यपान-सदृश है, गौरव साक्षात् रौरव नरक है, प्रतिष्ठा सुअर की विष्ठा के समान तुच्छ है; अतः इन तीनों को त्याग कर सुखी बनना चाहिए।

फिर भी नाम कामना बहुत सी बार मनुष्य को सताती है। भरत-चक्रवर्ती षट्खण्ड साधकर जब ऋषभ कूट पर्वत पर गए तो उन्हें अभिमान हुआ कि मैं एक ही ऐसा प्रथम चक्रवर्ती हूँ, जिसका नाम पर्वत पर सबसे शिरोमणि होगा। किन्तु पर्वत पर पहुँचते ही उन्होंने देखा कि यहाँ तो नाम लिखने तक को स्थान नहीं है। न जाने हजारों लाखों चक्रवर्तियों ने पूर्वकाल में यहाँ नाम अंकित कर रखे हैं। उनका सारा गर्व चूर हो गया। लाचार होकर भरत ने किसी एक का नाम मिटा कर अपना नाम ज्यों ही टंकित किया त्यों ही उनके हृदयाकाश में विवेक बुद्धि की विद्युत् चमक उठी। उनके अन्तर से आवाज आई—"भरत ! आज तूने किसी का नाम मिटाया है, कल कोई तेरा भी नाम मिटाने वाला पैदा होगा। अतः अहंत्वभाव की यह मोहमादकता बुरी बला है। इस विश्व के विराट् पट पर किसका नाम अमिट एवं अमर रहा है ?"

कबीर ने भी साफ-साफ चेतावनी देते हुए कहा है—

कबिरा गर्व न कीजिए काल गहे कर केस।
ना जाने कित मारिहै, क्या घर क्या परदेश ?
कबिरा गर्व न कीजिए अस जोबन की आस।
टेसू फूला दिवस दस, खंखर भया पलास॥

कबीर ने कितनी सच्ची चेतावनी दे दी है, अहंकारियों को !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभिमानी शोक-परायण व चिन्तातुर क्यों रहता है ?

प्रश्न होता है, अभिमानी को सतत शोक या चिन्ता से ग्रस्त क्यों रहना पड़ता है ? जैसा कि गौतम ऋषि ने कहा—'**माणंसिणो सोयपरा हवंति**' इसके अनुसार अभिमानी का स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि उसे कोई दूसरा अपने से बढ़कर नहीं जँचता। वह अपने अभिमान की भूख को मिटाने के लिए अहर्निश चिन्तित, व्यथित और परेशान रहता है। आज अमुक व्यक्ति आगे बढ़ गया है तो कल कोई और उससे भी आगे बढ़ जाता है तो अभिमानी की छाती पर सांप लौटने लगता है। उसे दूसरों से आगे बढ़कर बाजी मारने की सूझती है। उसका अहंकार उसे चैन-से बैठा नहीं रहने देता। शुभचन्द्राचार्य ने ठीक ही कहा है—

'**लुप्यते मानतः पुंसां विवेकामललोचनम्**।'

अभिमान से मनुष्य का विवेकनेत्र नष्ट हो जाता है।

धारा नगरी में राजा भोज की कीर्तिपताका दान-सम्मान के कारण चारों ओर फैल रही थी। उनका एक समवयस्क मित्र था, सेठ सोमदत्त ! वह पर्याप्त धन होते हुए भी पक्का कंजूस था। राजा भोज की मनःस्थिति उसके दान, ज्ञान और सम्मान से वसन्त की-सी प्रफुल्लित थी, पर सेठ की मनःस्थिति थी पतझड़-सी थी, जिसमें न पत्ते, न फूल, केवल ठूँठ ही ठूँठ थे, क्योंकि वृद्धावस्था में सेठ की पत्नी गुजर गई थी, एक लड़का था, वह वेश्यागामी हो गया। पुत्री-जामाता सेठ का धन पाने के लिए उसकी मृत्यु-कामना कर रहे थे। इस कारण सेठ उदासी और बेचैनी का जीवन जी रहा था। एक दिन सकलकीर्ति मुनि से जब सेठ ने अपनी मनोव्यथा तथा अपने मित्र राजा भोज के सुख और सन्तोष की बात कही तो उन्होंने कहा—"अगर तू सच्चा सुख और सन्तोष चाहता है तो धन का मोह छोड़ ! क्या तेरा संग्रहीत धन तेरे साथ परलोक जाएगा ?"

सेठ—नहीं, गुरुदेव !"

मुनि बोले—"तो फिर पुत्रादि को जो देय है, उस अंश धन को देकर शेष धन परोपकार में लगा। जब तू यह कर चुके, फिर तुझे शाश्वत शान्ति की राह बताऊँगा।"

सेठ की बन्द तिजोरियाँ और भण्डार खुल गए। सेठ के नाम के विद्यालय, अनाथालय, चिकित्सालय खुल गए। कवियों और पण्डितों की झोलियाँ भी खूब भरीं। फलतः उन्होंने सेठ के गुणगान गाए और महादानी घोषित किया। साल भर में राजा भोज ने जितना दान दिया था, उतना सेठ ने एक हफ्ते में दे दिया। अतः सेठ अपने को राजा से ऊँचा समझ बैठा। प्रशंसकों और भाटों ने उसे दानवीर कर्ण का अवतार बताकर उसकी खूब प्रशंसा की। इन सबका असर यह हुआ कि सेठ गर्व से फूल गया। उसकी चालढाल और बोलचाल में दर्प और अभिमान टपकता था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सेठ गर्व के नशे में चूर हो गया। इसी नशे में चूर वह मुनि के पास आया और दर्प-पूर्ण भाषा में अपने कार्यों के गीत गाने लगा।

मुनिश्री सब समझ गए, बोले—सेठ ! तू नशे में है। मेरे पास मत आ। तू रात भर सामने वाले पेड़ के नीचे बैठ, कल सुबह आना, फिर तुझ से बात करूँगा। सेठ मुनि की बात सुनकर उदास-हताश हो गया। मन्थन में पड़ गया—"जिसको सारी नगरी महादानी कह कर प्रशंसा के गीत गाती है, उसे मुनि नशेबाज कह कर दुत्कारते हैं।" आँखों में आँसू भर आए। वह खूब रोया। सोकर जब जागा तो सोचा—मुनि तो असत्य और द्वेष से परे होते हैं, उन्होंने ऐसा क्यों कहा ? जरा अपनी ओर तो देखूं। ओ हो ! मैंने दान से कोठार तो खाली किया, पर मान से कोठार पुनः भर लिया। दान खूब दिया, नाम भी खूब कमाया। पर सर्वस्व देकर भी मेरा गर्व न गया। यह तो सौदा हुआ। इसी अहंकार के नशे में मैं राजा भोज को अपने से ओछा समझने लगा। मेरे पैर जमीन पर नहीं पड़ते थे। मुझे अपने समान कोई दिखाई न देता था। इसी अभिमान के नशे में चूर होकर मैं मुनिश्री के पास आया और उन्होंने मुझे नशे में चूर ठीक ही कहा था। मेरा ही दोष है, उन पर रोष करना व्यर्थ है। उन्होंने ऐसा कह कर मुझे जाग्रत किया है, वे मेरे उपकारी हैं। बस, सेठ सोमदत्त ने प्रातः होते ही मुनि चरणों में अपना मस्तक रख दिया। अश्रुधारा में उसका सारा गर्व गल गया। वह विनम्र और विनयी हो गया। अहंकार ने सेठ सोमदत्त के विवेक नेत्र बन्द कर दिये थे। वे अब खुल गए।

अहंकारी को पुरानी स्थिति की लकीर पीटने की चिन्ता

सचमुच अहंकार के समय मनुष्य की शोचनीय स्थिति हो जाती है। पाश्चात्य तत्त्व-चिन्तक 'डिल्लन' (Dillon) कहता है—

'Pride the most dangerous of all faults, proceeds from want of sense or want of thought.'

अहंकार समस्त अपराधों से ज्यादा खतरनाक होता है, क्योंकि वह ज्ञान की कमी या विचार की कमी से अग्रसर होता है।'

अहंकारी व्यक्ति ज्ञान और विवेक की कमी के कारण अपने पुराने रीति-रिवाजों की लकीर पीटता रहता है। उसे रात-दिन यही चिन्ता सताती है कि कैसे मैं अपनी पुरानी स्थिति को कायम रखूं।

एक ठाकुर साहब थे, बड़े गर्विष्ठ। अपनी सम्पन्नता के दिनों में वे बहुत ही ठाटबाट से अफीम सेवन करते थे। उनके अन्तःपुर में कई दासियाँ थीं, एक घोड़ी थी, जिस पर बैठ कर ठाकुर अफीम का नशा करते थे। दासी उनको अफीम लाकर देती, तब इस घोड़ी पर चढ़ कर उसे धीरे-धीरे चलाते और तभी अफीम का नशा चढ़ता था। कुछ वर्षों बाद ठाकुर साहब की स्थिति खराब हो गई। पुरानी जागीरी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हाथ से जाती रही। अब न तो दासियाँ रहीं और न ही घोड़ी जिस पर बैठकर ठाकुर अफीम खाते थे। फिर भी पुरानी रीति के पालन की ठाकुर को हरदम चिन्ता रहती थी। अत. वे अपने मकान की एक दीवार को अपनी घोड़ी के रूप में इस्तेमाल करने लगे। जब भी अफीम सेवन करना होता, वे इस दीवार पर चढ़ जाते और ठकुरानी से कहते—'अब दासियाँ तो हैं नहीं, तुम ही मुझे अफीम घोल कर दे दो।' जब ठकुरानी उन्हें अफीम लाकर पकड़ा देती। तब वे दीवार से कहते—"चल, घोड़ी चल।" इस तरह अहंकारी ठाकुर साहब अपनी पुरानी समृद्धि की परम्परा को ढोए जा रहे थे। वे विवेकपूर्वक उसका परित्याग न कर सके कि अब इस स्थिति में उस परम्परा के पालन की क्या जरूरत है?

इन ठाकुर साहब की तरह धार्मिक साधकों की भी स्थिति भी कुछ ऐसी बनी हुई है कि वे द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव के अनुसार समाजहित को देखते हुए परम्पराओं में उचित संशोधन इसलिए नहीं करते कि इससे पूर्वजों की पुरानी रीति का पालन नहीं होगा, भले ही उनके पूर्वजों ने अपने युग की परिस्थिति अनुसार बहुत-सी परम्पराओं में रद्दोबदल किया हो। परन्तु अहंकार उन्हें ऐसा करने से रोकता है। अहं की रक्षा के लिए चाहे उन्हें ठाकुर साहब की तरह दम्भ और दिखावा ही क्यों न करना पड़े?

अभिमान-रक्षा के लिए दूसरों को नीचा दिखाने की चिन्ता

फिर अहंकारी व्यक्ति अपने अभिमान की रक्षा के लिए हर समय मन में चिन्तित रहता है कि मैं सबसे सर्वोपरि कैसे कहलाऊँ? भले ही उसमें दूसरों से अधिक क्रिया-बल, चरित्र-बल न हो। अगर हो तो भी उसका अभिमान प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से व्यक्त करने की क्या आवश्यकता है? परन्तु अभिमानी इस बात को नजरअन्दाज कर देता है और अपने अहं (क्रिया, चरित्र या धन आदि के) को व्यक्त करने के लिए दूसरों को नीचा दिखाने या समाज की दृष्टि में नीचा गिराने की फिराक में रहता है। जब भी मौका आता है, वह व्याख्यान में, भाषण में, सम्भाषण में अपनी उत्कृष्टता की डींगें हाँकता है और दूसरों के चरित्र, क्रिया, धर्म या धन, सत्ता आदि की कड़ी आलोचना करके लोगों की दृष्टि में उन्हें घृणापात्र और निम्न-कोटि के बना देना चाहता है, ताकि लोग उसकी प्रतिष्ठा और इज्जत अधिक करें, उसके अनुयायी अधिक बनें।

सिद्धि का अभिमान मनुष्य को पराजित कर देता है

कई बार मनुष्य को तप एवं जप की साधना से कई लब्धियाँ, सिद्धियाँ या शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। पर उन्हें पचाना सहज नहीं है। बड़े-बड़े साधक इस सम्बन्ध में असफल हो जाते हैं। अभिमान के हाथी पर बैठकर मानव अपने आपको सारी दुनिया से श्रेष्ठ समझने लगता है, तब वह दूसरों को पराजित करने के प्रयत्न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में लगता है, परन्तु शीघ्र ही उसका अभिमान चूर-चूर हो जाता है, इसीलिए कहा है—"अभिमानी का सिर नीचा।" वह किसी दिन पराभूत हुए बिना नहीं रहता है। पराभूत होने पर वह चिन्तित और शोकमग्न होता ही है।

विधवा रोहिणी का पुत्र देवशर्मा अपनी वृद्ध माता को बिलखती छोड़कर घर से भाग निकला और तीर्थाटन करता हुआ नन्दिग्राम के एक मठ में जाकर तप करने लगा। एक दिन प्रातःकाल देवशर्मा ने स्नान करके अपना चीवर सूखने के लिए जमीन पर डाल दिया और वहीं आसन बिछाकर ध्यान मग्न हो गया। प्रातः-कालीन सन्ध्या पूरी करके जैसे ही देवशर्मा उठा, उसने देखा कि एक कौआ और एक बगुला उसके चीवर को चोंच में दबा कर उड़े जा रहे हैं। उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। उपलब्ध तान्त्रिक सिद्धियों के प्रभाव से उसने क्रोध पूर्ण दृष्टि से पक्षियों की ओर देखा। आँखों से अंगारे बरसने लगे। दोनों पक्षी जल कर वहीं खाक हो गए। देवशर्मा अपनी सिद्धि देखकर फूला नहीं समाया, मानो सारे भूमण्डल में उसके जैसा और कोई सिद्धि प्राप्त नहीं है।

अहंकार से भरा देवशर्मा मठ की ओर चला, मार्ग में नन्दिग्राम पड़ता था। सोचा—चलो भिक्षा लेते चलें। अतः देवशर्मा ने एक गृहस्थ के द्वार पर आवाज लगाई—"**भवति भिक्षां देहि।**" भीतर से आवाज तो आ रही थी, लेकिन कोई बाहर नहीं आ रहा था। देवशर्मा को इससे बड़ा क्रोध उमड़ा। उसने दो, तीन, चार बार आवाज लगाई, तब भीतर से आवाज आई—"स्वामीजी! ठहरिये मैं साधना समाप्त होते ही आपको भिक्षा दूंगी। अहंकारी देवशर्मा का पारा गर्म हो गया—"दुष्टे! साधना कर रही है या हमारा परिहास? जानती नहीं, इस अवज्ञा का परिणाम क्या आएगा?"

संयत और गम्भीर स्वर भीतर से बाहर आया—"महात्मन्! जानती हूँ आप शाप देना चाहेंगे, किन्तु मैं कोई कौआ और बगुला नहीं हूँ जो आपकी कोप दृष्टि से जलकर भस्म हो जाऊँगी। माँ को बिलखती छोड़कर अपनी मुक्ति चाहने वाले साधु! आप मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगे।"

देव शर्मा की सिद्धि का अहंकार चूर-चूर हो गया। कुछ देर बाद जब गृह-स्वामिनी भिक्षा देने के लिए घर से बाहर आई तो साश्चर्य पूछा—'भद्रे! आप कौन-सी साधना करती हैं, जिससे बिना देखे ही आपने मेरे जीवन की घटनाएँ बता दीं?" गृहस्वामिनी ने कहा—मैं जिस गृहस्थ धर्म में हूँ उस धर्म की साधना वफा दारीपूर्वक कर्तव्यनिष्ठा के साथ करती हूँ; आप इसे सिद्धि कहना चाहें तो सिद्धि कह सकते हैं।" देवशर्मा का सिर लज्जा से अवनत हो गया। भिक्षा लिए बिना वह चुपचाप अपने घर की ओर चल पड़ा। सोचने लगा—मैंने न तो गृहस्थ धर्म की ही साधना की और न साधु-धर्म की? दोनों से भ्रष्ट होकर मैं अपनी जरा-सी तान्त्रिक सिद्धि के पीछे दीवाना हो गया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव में बड़प्पन तभी सिद्ध होता है, जब मनुष्य अहंकार को त्याग देता है। पाश्चात्य विचारक यंग (Young) के शब्दों में देखिए—

'Where boasting ends there dignjty begins.'

'जहाँ अभिमान समाप्त होता है वहाँ से बड़प्पन या महानता शुरू होती है। परन्तु अहंकारी मनुष्य इस बात को देवशर्मा की तरह भूल जाता है, वह अपनी सिद्धि के अहंकार में महान् व्यक्तियों की अवहेलना कर देता है, दूसरों की आध्यात्मिक सिद्धियों का तिरस्कार कर देता है। एक दिन गोशालक ने भी अपनी तेजोलेश्या की सिद्धि के गर्व में आकर भगवान महावीर के दो शिष्यों को भस्म कर दिया था, और भगवान महावीर को भी चेलेंजे देने लगा था। वह इसे भूल गया कि जिस समय मदोद्धत होकर वह वैश्यायन बालतपस्वी का उपहास कर रहा था, और उसने गोशालक को भस्म करने के लिए तेजोलेश्या छोड़ी थी, उस समय भगवान महावीर ने ही उसे शीतलेश्या द्वारा बचाया था। उस समय उसका अभिमान उतर गया था, लेकिन तेजोलेश्या की उपलब्धि के गर्व में वह पुनः भगवान को ललकार रहा था। परन्तु भगवान महावीर पर उसका वश न चला। उसका अहं पराजित हो गया।

अहंकारी जब अपमानित हो जाता है, तब उसे बदला लेने की चिन्ता सताती है। उसके अहं पर करारी चोट लगती है तो वह तिलमिला उठता है। परन्तु वह यह भूल जाता है कि जब तक उसके अन्दर अहं भाव की हवा भरी रहेगी, तब तक वह फुटबाल की तरह ठोकरें खाता ही रहेगा।'

अभिमानी व्यक्ति सोड़ाबाटर की शीशी की गोली की तरह न तो अन्दर की गन्दगी को बाहर निकलने देता है और न ही बाहर की ताजी हवा को अन्दर आने देता है।

वह तो अपने अहंकार के घोड़े पर बैठकर दूसरों को जीतने या प्रतिशोध लेने के लिए चल पड़ता है। वास्तव में अभिमानी में दानवीय शक्ति आ जाती है जो उसे पापकर्म करने को प्रेरित करती है। परन्तु जिस प्रकार यक्षाविष्ट अर्जुनमाली का दानवीय (आसुरी) अभिमान धर्मवीर सुदर्शन श्रमणोपासक के दैवीबल के आगे समाप्त हो गया, वैसे ही प्रत्येक अहंकारी का अहंकार अन्ततोगत्वा पराजित होकर रहता है।

पुराणों में एक कथा आती है कि इन्द्र को एक बार यह अभिमान हो गया कि 'मैं न होता तो वृत्रासुर को कोई भी मार नहीं सकता था।' प्रजापति ब्रह्मा ने इन्द्र के इस अहंकर्तृत्व के अभिमान को नष्ट एवं पराजित करने को निश्चय किया। एक अनुपम कान्तिमान विद्युत की भांति देदीप्यमान यक्ष देवों के समक्ष आ खड़ा हुआ। इन्द्र ने उसके मनोहर सौन्दर्य को देखते ही अग्नि से कहा—'जातवेद ! आप हम सबमें अग्रणी पूज्य और ज्योतिर्मान हैं, आप पता लगाएँ कि यह यक्ष कौन है ?'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपनी प्रशंसा सुनकर अहंकाराविष्ट अग्नि ने यक्ष के पास पहुँचकर साहंकार पूछा—"तुम कौन हो ?" यक्ष ने हँसकर कहा—'अग्निदेव ! अपनी शक्ति का अहंकार न करो। यदि सचमुच इतने समर्थ हो तो इस तिनके को जलाकर दिखाओ।' अग्नि ने अपनी सारी शक्ति लगा दी, मगर तिनके को वह जला न पाया। अग्नि देव अहंकार मग्न होकर गए थे, लेकिन लौटे पराजय लेकर। तब इन्द्र ने महाबली मरुत को भेजा। मरुत से भी यक्ष ने वही बात कही। मगर बलगर्विष्ठ मरुत भी उस तिनके का कुछ न कर सका। तब क्रमशः वरुण, पृथ्वी और आकाश सभी ने अपनी शक्ति आजमाई, लेकिन तिनके का कुछ भी न बिगाड़ सके। तब इन्द्र स्वयं वहाँ आए, तिनके को बड़े ध्यान से देखा, फिर ऊपर दृष्टि उठाई तो न तो वहाँ कोई यक्ष था, न छाया। इन्द्र ने ध्यान लगा कर देखा तो पता चला कि उनके कर्तापन के अहंकार को नष्ट करने के लिए ही यह योजना थी। पूछने पर उनने कहा—मैं विश्व का अधिष्ठाता ब्रह्म (आत्मा) हूँ। तुमने अहंकारवश सदा त्याग और बलिदान करने वाले उन व्यक्तियों को भुला कर असुरविजय का सारा श्रेय स्वयं लेना चाहा, इसीलिए तुम्हारे स्वयं विजेता बनने के अहंकार को नष्ट करने और तुममें गुणाग्रहकता पनपाने हेतु मुझे यहाँ आना पड़ा।' इन्द्र का अहंकार नष्ट हो गया। उसने भूल के लिए क्षमा माँगी।

अभिमानी अपनी शक्तियों को नहीं पहिचानता

अभिमानी को मान का ऐसा नशा चढ़ जाता है कि वह अपनी शक्तियों का ठीक माप-तौल नहीं कर पाता। कई बार वह आवेश में आकर, अपनी शक्ति के मद में आकर दूसरों पर आक्रमण कर देता है, मगर शीघ्र ही उसे मुंह की खानी पड़ती है। यहाँ तक कि उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है।

एक राजा था। उसके पास बहुत से जी-हजूरिये रहते थे, जो राजा की हाँ में हाँ मिलाते और उन्हें ठकुर सुहाती कहते थे। राजा की प्रशंसा के पुल बाँधकर वे उसे आसमान में चढ़ा देते थे। राजा को भी उन मिथ्या-प्रशंसकों के मुंह से अपने गुणगान सुनकर अहंकार आ गया। वह अपने आपको शक्तिशाली और समर्थ सम्राट समझने लगा। एक दिन राजा जी-हजूरियों को साथ लेकर समुद्रतट पर घूमने गया। समुद्र में उस समय ज्वार आ रहा था। बड़ी-बड़ी उत्ताल तरंगें उछलती हुई आकाश को छू रही थीं। राजा ने अपनी कुर्सी उन तरंगों के पास रखवाई और जीहजूरियों से पूछा—'क्या मेरा राज्य सर्वत्र नहीं है ?' उन्होंने कहा—'हजूर ! आपका राज्य तो सर्वत्र ही है।' राजा ने कहा—'इस समुद्र को भी मेरी आज्ञा माननी चाहिए या नहीं ?'

जी-हजूरिए बोले—'हाँ, अवश्य माननी चाहिए, महाराज !' राजा ने समुद्र के बढ़ते हुए ज्वार को लक्ष्य करके कहा—'अरे मूर्ख ! तुझे कुछ पता है या नहीं ? तेरा राजा यहाँ जिंदा बैठा है, फिर भी तू आगे क्यों बढ़ रहा है। पीछे हट।' पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समुद्र किसकी मानने वाला था। समुद्र पर भला राजा का शासन कहाँ चलने वाला था। फिर भी राजा ने गुस्से में आकर कहा—'अरे ढीठ! वापिस लौटता है या नहीं! मेरा हुक्म मान जा।' परन्तु समुद्र में अधिकाधिक ज्वार बढ़ता जा रहा था, इधर राजा के क्रोध का ज्वार भी बढ़ा। राजा ने अहंकारवश अत्यन्त क्रोधावेश में आकर तलवार निकाली और दरबारी रोकें उससे पहले ही यों चिल्लाता हुआ कि 'बस, अब तो इसे एक झटके में ही समाप्त कर डालूंगा, पानी में आगे बढ़ गया।' अहंकार के नशे में राजा को भान ही नहीं रहा कि वह कहाँ जा रहा है। थोड़ी ही देर में समुद्र की प्रचण्ड लहरें उस पर फिर गयीं। राजा को सदा के लिए अपनी गोद में सुला दिया।

बन्धुओ! शक्ति के अहंकारी राजा को अपनी शक्तियों का भान न होने से अपने प्राण खोने पड़े। दुनिया की दृष्टि में उसकी कितनी हास्यास्पद स्थिति हो जाती है? इस सोचनीय स्थिति के लिए मनुष्य का अहंकार ही जिम्मेदार है।

अहंकारी दूसरों से कुछ सीखना नहीं चाहता

अहंकारी व्यक्ति अपने आपको सर्वज्ञ, सर्वपूर्ण मान बैठता है, अथवा अपने अभिमान की अकड़ में अपने आपको बहुत पहुँचा हुआ एवं बड़ा मान लेता है। ऐसी मनोवृत्ति के कारण दूसरों से कुछ प्राप्त करने की जिज्ञासा या सीखने की इच्छा ठप्प हो जाती है। क्योंकि वह अपने दिलदिमाग के दरवाजे बन्द कर लेता है, वह किसी दूसरे का विनय करना या उससे नम्रता से बात करना तो चाहता ही नहीं। इस पूर्णता का अहंकार उसे आगे नहीं बढ़ने देता और न ही नया कुछ सीखने देता है। फलस्वरूप उसके अध्ययन-मनन प्रगति प्रशिक्षण पर वहीं ताला लग जाता है। बाद में जब जीवन-संग्राम में कठिनाइयाँ आती हैं, या उतार-चढ़ाव आते हैं तो वह घबरा जाता है, वह उन समस्याओं को शान्ति से सुलझा नहीं पाता। केवल गर्व और गुस्सा करके रह जाता है। उस समय उसे पश्चाताप भी होता है कि मैं विनय-पूर्वक दूसरों से कुछ विद्या या शिक्षा ग्रहण न कर सका। यदि आज मेरे पास अमुक विद्या या सूझबूझ होती तो मैं इस विपत्ति में न पड़ता। परन्तु अब खेद करने से क्या होता जबकि वह उस सुनहरे अवसर को चूक गया।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम इतने समर्थ और वीर थे, लेकिन उनमें अपनी शक्तियों का अभिमान न था। वे वन्य भीलो, निषादों, वानर-जाति के वीरों, इत्यादि सबसे सहयोग लेते थे, सबके यथोचित गुणों के प्रशंसक थे, कृतज्ञता प्रगट करते थे, और उनसे कुछ भी जानने—सीखने योग्य होता तो जानते-सीखते थे। शबरी जैसी शूद्रजातीय महिला से भी उन्होंने किष्किन्धा और लंका आदि के मार्ग के विषय में पूछा था और तो और जब उन्होंने रावण पर विजय प्राप्त कर ली थी, और रावण मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहा था, उस समय भी रावण में राजनीतिज्ञता आदि के गुणों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को स्मरण करके अपने लघुभ्राता लक्ष्मण से कहा—'भाई ! रावण का अब अन्त समय निकट है। तुम उनसे जाकर राजनीति की कुछ शिक्षाएँ ग्रहण कर लो।'

लक्ष्मण ने भाई के परामर्श पर रावण के पास जाकर विनयपूर्वक कुछ शिक्षाएँ ग्रहण कीं।'

कवि ने अभिमानी को सावधान करते हुए कहा है—

अकड़ता क्यों रे अभिमानी !
इस दुनिया में बड़ों-बड़ों का उतर गया पानी ॥ अकड़ता ॥ ध्रुव ॥
जब अपना मन जीत न पाया, ऊँचा आसन वृथा बनाया।
हिलमिल कर रह सका न जग में हुई परेशानी ॥ अकड़ता ॥१॥
अपनी ही तारीफ न कर तू, बेशर्मी का राग न भर तू।
अपने मुंह से अपनी महिमा, जग ने कब जानी ॥ अकड़ता ॥२॥
एक घड़ी की है, सब छाया, जग की सब क्षणभंगुर माया।
सबको मिट्टी में मिलना है भूल न अज्ञानी ॥ अकड़ता ॥३॥

कवि ने जीवन का सत्य स्पष्ट रूप से उद्घाटित कर दिया है।

परन्तु अभिमानी की वृत्ति तो ऐसी होती है कि स्वयं न जानने पर भी दूसरों से सीखना नहीं चाहता, कदाचित् बरबस सीखना भी पड़े तो वह सिखाने वाले के प्रति विनय और कृतज्ञता प्रगट नहीं करता। उसका अहंकार उसे ऐसा करने से रोकता है।

एक परिवार में नई बहू आई हुई थी। उसकी माँ तो अपनी बहुत छोटी उम्र में ही चल बसी थी। घर के किसी ने उस पर ध्यान न दिया। फलतः वह रसोई बनाना आदि गृहकार्य भलीभाँति सीख न सकी। यहाँ ससुराल में पति-पत्नी के सिवाय और कोई था नहीं, जो उसे कुछ सिखा सके। वह भी अभिमानिनी थी, किसी से कुछ सीखने की वृत्ति ही कम थी। परन्तु घर का काम तो उसे करना ही पड़ता था। उसके पति ने उससे कहा कि पड़ौस में जो बुढ़िया माँजी रहती हैं, उनसे तुम पूछ कर सीख लिया करो।' उसने बुढ़िया माँजी से कहा—'माताजी ! आप बड़ी हैं, मेरी माता-समान हैं। अपनी बहू को पूछने पर बता दिया करना।' बुढ़िया ने हाँ भरली। अब जब भी उस बहू को चावल, दाल आदि बनाने के सम्बन्ध में जानना होता तो बुढ़िया के पास जाती और पूछा करती। किन्तु जब बुढ़िया सब कुछ प्रेम से बता देती, तब कृतज्ञता प्रगट करने के बदले अहंकारवश कहती—'यह तो मैं भी जानती हूँ।' यों हर बार बुढ़िया जब उसके पूछने पर बता देती तो उसके मुंह से यह अहंकार भरा वाक्य निकलता। इससे बुढ़िया को भी अच्छा न लगा कि इसे आता-जाता है नहीं, फिर भी शेखी बघारती है कि मैं भी जानती हूँ। कृतज्ञता और विनय तो इसमें है ही नहीं। अतः इसे एक दिन कुछ चमत्कार बताना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक दिन उस बहू के पति ने कहा—आज त्यौहार है। इसलिए खीर-पूड़ी बनाना।" खीर बनाना बहूजी को आता नहीं था। इसलिए दौड़ी-दौड़ी बुढ़िया के पास गई और पूछा—"मांजी ! खीर कैसे बनाई जाती है ! मांजी ने आज उपयुक्त अवसर देखकर कहा—"देख, खीर का क्या है ! इसमें चावल, चीनी, दूध तो डालना ही है, पर थोड़ी-सी हलदी, नमक और मुट्ठीभर राख अवश्य डालना, जिससे जायकेदार हो जाएगी।" बहू ने अपनी पुरानी आदत के अनुसार कहा—"यह तो मैं भी जानती हूँ।" बुढ़िया ने कहा—"जानती हो तो बना लो।" उसने बुढ़िया के कहे अनुसार खीर बनाई। जब उसका पति आया और खीर खाने लगा तो एक दम बे-स्वाद किरकिरी लगी। उसने पूछा—"खीर बनाना किसने बताया था आज ?" "मांजी ने ही बताया था' वह सीधा मांजी के पास पहुँचा और पूछा—माताजी ! आज आपने बहू को ऐसी कैसी खीर बनाने की विधि बताई कि वह खारी और बे-स्वाद हो गई ?" बुढ़िया ने सारी स्थिति स्पष्ट की और कहा—मैं क्या करती, जब भी मैं उसे कुछ बताती हूँ तो वह अभिमानवश कहती है—यह तो मैं भी जानती हूँ। फिर भला किसके मन में उसे सिखाने की उत्सुकता होगी ? लड़का सारी स्थिति समझ गया। उसने अपनी अभिमानिनी पत्नी को डांटा—"किसी से कुछ सीखना हो तो विनय और कृतज्ञता प्रकट करनी पड़ती है, तुम में यह गुण है नहीं। इसीलिए मां जी ने ऐसी खीर बनाने की विधि बता दी। कहना न होगा कि उस दिन के बाद बहूरानी ने कभी अहंकार प्रगट न किया।

झूठी शेखी बघारने पर कलई खुलने की चिन्ता

अभिमानी अपनी झूठी शेखी बघारता है, परन्तु साथ ही इस बात से चिन्तित रहता है कि कहीं मेरी कलई न खुल जाए। वह जनता में एक बार उसके किसी चमत्कार से प्रतिष्ठित हो जाता है, तब वह उस प्रतिष्ठा को बरकरार रखने के लिए लोगों में झूठी शेखी बघारता है। पर उसके मन में तो दबदबा रहता है कि कहीं मेरे से सवाया मिल गया तो सारा मजा किरकिरा हो जाएगा।

महान् तत्त्ववेत्ता डायोजिनिस के पास एक दिन एक झूठी शेखी बघारने वाला आया और कहने लगा—"मैं बड़े-बड़े विद्वानों से मिला हूँ। घंटों तक उनसे वार्तालाप भी किया है उनकी तुलना में तुम्हारे ज्ञान का मूल्य नहीं है।" डायोजिनिस ने कहा—"भाई ! मैं भी बड़े-बड़े धनपालों से मिला हूँ। उनके साथ लम्बी चर्चाएँ भी की हैं, परन्तु इससे मैं धनवान् नहीं बन सका, वैसे ही तुम अपने लिए समझ लो।"

संसार में ऐसे बहुत से लोग हैं, जो अपने पूर्वजों के बढ़चढ़ कर गुणगान करते, उनके प्रशंसा-गीत गाते हैं, पर उनके पास देखा जाए तो उन पूर्वजों का शतांश भी नहीं है। एक बार जार्ज बर्नार्डशॉ किसी विदेशी साहित्यकार से मिलने गए। उन्होंने अपने देश, इतिहास और पूर्वजों की कीर्ति का बखान करना शुरू कर दिया। शॉ सुनते-सुनते ऊब गए। उन्होंने कहा—इस प्रकार पूर्वजों का वर्णन करते-करते तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आप आदिमकाल के बंदरों तक जा पहुँचेगें। आप आज क्या हैं, इतना ही बता सकें तो पर्याप्त होगा।"

साहित्यकार उनकी बात सुनकर चुप हो गया।

क्या इस प्रकार पूर्वजों के पदचिह्नों पर चले बिना ही उनके गुणगान मात्र से उनका कुछ कल्याण हो सकता है ? ऐसे लोग जो बड़े-बड़े आचार्यों, सन्तों और तपस्वियों की सेवा करने, उनका सत्संग करने आदि बातें जोरशोर से कहकर अपना बड़प्पन या अपनी ज्ञानगरिमा सिद्ध करना चाहते हैं, परन्तु जब तक उनमें स्वयं में वे गुण नहीं आ जाते, तब तक केवल पूर्वजों या अपने पूज्यों की गुणगाथाएँ गाकर अपने को उत्कृष्ट या धार्मिक बताना, उस ग्वाले के समान है, जिसकी अपनी गाय एक भी नहीं है, केवल दूसरों की गायें दुहा करता है। सचमुच ऐसा मिथ्याभिमानी जीवन दयनीय है, ऐसे लोग स्वयं गुण से खाली हैं, केवल दूसरे के गुण के बल पर इतराते हैं। दूसरे की तिजोरी में रखे धन की प्रशंसा करने से क्या वह धन प्रशंसक का बन जाएगा ? कदापि नहीं। अपने पुरुषार्थ के बल पर निरभिमान होकर गुणों को प्राप्त करना और उन गुणों से चुपचाप अपना आत्मकल्याण करना ही श्रेयस्कर है। ऐसे मिथ्याभिमान से आदमी फूल सकता है, पर जन-जन के हृदय में फैल नहीं सकता।

अहंकार के कारण तिरस्कार और अधोगति

अहंकारी को सबसे बड़ी चिन्ता उस समय होती है, जब वह पहले तो अज्ञानवश दूसरे की निन्दा, तिरस्कार और अनादर करता रहता है, परन्तु उस मदरूप दुष्कर्म के कारण अन्त में जब उसे नीचगति और अधमयोनि में जन्म मिलता है।

नन्दीपुर के राजा रत्नसार की धर्मपत्नी रानी रम्भा के सन्तान तो अनेक हुई, पर कोई जीवित नहीं रहती थी। इससे राजारानी चिन्तातुर रहते थे। एक बार उनके एक पुत्र हुआ। किसी बुद्धिमान के कहने से पुत्र को जीवित रखने के लिए उन्होंने एक टोटका किया – पुत्र को एक सूप में रख कर पहले उकरड़ी पर डाल दिया। एक घड़ी के बाद उसे ले आए। दैवयोग से वह जीवित रहा। कई बार उसे उकरडी पर डालने और वापस लाने के कारण उसका नाम राजा ने 'उज्झितकुमार' रखा। जवान हो जाने पर भी वह जन्म से ही अहंकारी होने के कारण किसी को नमन नहीं करता था, ठूंठ की तरह खड़ा रहता था। अहंकार वश सारेजगत को तिनके की तरह अपने से तुच्छ मानता था। जब उसे उपाध्याय के पास पढ़ने भेजा गया तो उपाध्याय को भी वन्दन नहीं किया। एक दिन उपाध्याय को भी थप्पड़ मारकर नीचे गिरा दिया। राजा ने उज्झितकुमार के इस उद्दण्ड व्यवहार के विषय में सुना तो उसे बहुत डांटा फटकारा और कहा—अभिमानरूपी हाथी का मर्दन कर, क्योंकि दर्प विनयशरीर का नाश करने वाला सर्प है। तुमने सुना होगा कि जिसके समान संसार में कोई भी शक्तिशाली नहीं था, वह रावण भी अभिमान के कारण नष्ट हुआ था। इसलिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भविष्य में कभी अभिमान मत करना।" परन्तु राजा की यह शिक्षा उज्जितकुमार के गले नहीं उतरी। उसकी उद्दण्डता और अहंकारचर्या देखकर राजा ने उसे विषवृक्ष समझ कर निकाल दिया।

वह भटकता-भटकता एक तापस के आश्रम में पहुँचा। पर तापस को भी मस्तक नहीं झुकाया, इस कारण अविनीत समझ कर उसे वहाँ से विदा किया। वह जिस मार्ग से जा रहा था. रास्ते में सामने से एक सिंह आता दिखाई दिया। पर अहंकार से भरा उज्झितकुमार सिंह के सामने अड़ गया, एक ओर हटा नहीं। सिंह ने एक ही झटके से उसका काम तमाम कर डाला। मर कर वह गधा बना। गधे के भाग्य में तो मालिक की ताड़ना-तर्जना और बोझ ढोना आदि ही होते हैं, अतः उन्हें सहते-सहते जिंदगी पूरी की। वहाँ से मर कर नन्दिपुर में पुरोहित का पुत्र बना। समस्त विद्याओं में पारंगत होते हुए भी अहंकार के संस्कार अभी तक गए नहीं थे। अतः अहंकारवश मर कर डूम बना। उस डूम को जब भी पूर्वजन्म के पुरोहित का परिवार देखता, उसे उसके प्रति अत्यन्त अनुराग पैदा होता। एक बार नगर में केवली भगवान पधारे। पुरोहित का समस्त परिवार उन्हें वन्दन करने गया। केवली भगवान् ने उपदेश दिया—अहंकार त्याग के विषय में। धर्मोपदेश के बाद केवली भगवान् से पुरोहित ने सविनय पूछा—"भगवन्! हम उत्तम जाति-कुल के कहलाते हैं, फिर भी हमें इस डूम पर इतना अनुराग क्यों उमड़ता है? केवली भगवान् ने अन्त से इति तक डूम के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त कह सुनाया। उसे सुनकर जगत् की वास्तविकता समझी और राजा आदि अनेक भव्य प्राणियों ने विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण की। क्रमशः साधना करके मोक्ष पहुँचे। इधर वह डूम बहुत ही चिन्ता करने लगा। जब उसने अपने पूर्वजन्म की बातें सुनी तो अहंकार के कारण हुए इस घोर अनर्थ को जानकर वह बहुत चिन्तित-दुःखित रहने लगा। कथाकार कहते हैं—"आखिर अहंकार त्याग करके समत्व पर चलकर वह क्रमशः मोक्ष जाएगा।

इसीलिए गौतमकुलक में कहा गया—

'माणंसिणो सोयपरा हवंति।'

वास्तव में अभिमानी जीवन अन्त में दुःखित, चिन्तित एवं पश्चात्ताप युक्त होता है। ऐसा समझ कर आप अपने जीवन में अहंकार का त्याग करें और जीवन को नम्र, सरल, सरस, मधुर एवं गुणग्राही बनाएँ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१४
कपटी होते पर के दास

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज गौतमकुलक के तेरहवें जीवन सूत्र पर आपके समक्ष चर्चा की जायेगी। तेरहवाँ जीवन सूत्र इस प्रकार है—

मायाविणो हुंति परस्स पेसा।

मायावान् (कपटी) दूसरों के दास या गुलाम होते हैं। अर्थात् कपटयुक्त मानव जीवन में दूसरों का दास बनता है। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि इस जन्म में कपट करने वाले मानव आगामी जन्म में दूसरों के दास, नौकर या गुलाम बन कर जीते हैं, और पूर्वजन्म में जिस व्यक्ति ने कपट, छल, माया या वंचना की हो, उसे इस जन्म में दासता, गुलामी या चाकरी करनी पड़ती है। जहाँ माया होती है, वहाँ उसके परिणामस्वरूप दासता निश्चित है। व्यक्ति इसे चाहे या न चाहे, कपट क्रिया दम्भाचार, मायाचार, निह्नवता, कुटिलता, माया या वञ्चना के फलस्वरूप उसे दासता, गुलामी, चाकरी या नौकरी स्वीकार करनी ही पड़ती है। चाहे वह पशु-पक्षी के रूप में हो, या मानव के रूप में।

माया की पहचान

प्रश्न होता है कि माया को कैसे पहचाना जाये ? माया मन के गूढ़ किले में बन्द होकर बैठ जाती है, प्रकट में तो मायाचार ही आता है। परन्तु यह बात निश्चित है मनुष्य के मन के सिंहासन पर बैठी हुई मायारानी मन से निकलकर वाणी में, तथा कायिक चेष्टा एवं व्यवहार में भी आती है, उस समय पहचान ली जाती है। एक माया को छिपाने के लिए मनुष्य कई घाट घड़ता है। कई प्रकार के मंसूबे बाँधता है, योजना बनाता है और तब दूसरों को धोखा देने, ठगने और छल-कपट द्वारा अपना विश्वास दूसरों के दिल-दिमाग में बिठाने की कोशिश करता है।

यों तो मनुष्य के द्वारा की गई माया बहुत-सी बार उजागर हो जाती है। मन में छिपे हुए चोर को चतुर लोग झटपट जान जाते हैं। जानने के बाद फिर तो उसकी फजीहत होती है, उस पर से सज्जनों का विश्वास उठ जाता है। इसीलिए कविवृन्द कहता है—

"फेर न ह्वै है कपट सों, जो कीजे व्यवहार।
जैसे हांडी काठ की, चढ़ै न दूजी बार॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसे काष्ठ की हंडिया अग्नि की आंच पर एक बार ही चढ़कर जल जाती है, दूसरी बार वह नहीं चढ़ सकती, वैसे ही कपट की प्रवृत्ति एक ही बार चल पाती है, जब मनुष्य उसे जान जाता है, तब उस प्रवृत्ति के धोखे में नहीं आता।

एक भगवां वेषधारी साधु था। वह एक शहर में पहुँचा और एक धनिक से कहा—"मुझे यहाँ चौमासा करना है, कोई झौंपड़ी बता दीजिए।" सेठ ने बड़ी श्रद्धा से कहा—झौंपड़ी क्यों, महाराज! आपके लिए यह भवन तैयार है, इसमें कई कमरे हैं। आराम से ठहरिये, और चातुर्मास बिताइये।" परन्तु साधु ने अपना वैराग्य भाव बताते हुए कहा—"हम साधु हैं, हमें तुम्हारे भवनों से क्या मतलब? हमें तो छोटी-सी झौंपड़ी ही काफी है।" सेठ ने शहर के बाहर अपनी जगह में श्रद्धापूर्वक घास-फूस की एक झौंपड़ी बनवादी और साधु को उसमें निवास कराया। संयोगवश चातुर्मास के दौरान ही सेठ को पता चला कि कुछ चोर आने वाले हैं और उसके घर में चोरी करेंगे।" सेठ को बड़ी चिन्ता हुई। रात को बिस्तर पर लेटे-लेटे उसे एक उपाय सूझा कि चोर तो इस हवेली को संभालेंगे। मैं उनके आने से पहले ही अगर बहुमूल्य गहने और नकद स्वर्णमुद्राएँ सोना आदि एक गठड़ी में बन्द करके महात्मा की झौंपड़ी पर रख आऊँ तो कितना अच्छा हो? चोरों को असली माल हाथ नहीं लगेगा। बस उसी समय उठकर सेठ ने एक गठड़ी में बहुमूल्य सामान डाले और ब्राह्ममुहूर्त में महात्मा की झौंपड़ी पर पहुँच गया। महात्मा दूर से ही सेठ के पैरों की आहट सुनकर ध्यानस्थ हो गया। सेठ पर महात्मा की ध्यान मग्नता का बहुत प्रभाव पड़ा। जब ध्यान खुला तो सेठ ने महात्मा के चरणों में पड़कर निवेदन किया—"महाराज! आपके इस भक्त पर बड़ा भारी संकट आ गया है। इस संकट से आप ही उबार सकते हैं।" महात्मा ने पूछा—"कौन-सा संकट आ पड़ा है, सेठ! और कैसे उद्धार चाहता है?" "महात्मन्! मेरे घर पर चोरों का दल चोरी करने आने वाला है। अगर मेरा धनमाल ले जायेंगे तो आप साधु-सन्तों की, अतिथियों की सेवा और परिवार का पालन कैसे कर पाऊँगा। अतः मैंने सोचा कि आप निःस्पृह परोपकारी एवं त्यागी सन्त हैं, आपके पास इन बहुमूल्य वस्तुओं की गठड़ी को रखना चाहता हूँ, ताकि मेरा माल सुरक्षित रहे। चोरों को आपके यहाँ रखी हुई चीज की कोई शंका भी न होगी।" महात्मा सुनकर पहले तो एकदम ताव में आये—"अरे माया के मजदूर! तू सन्तों के पास धन रख सन्तों को भी माया में लिपटाना चाहता है, राम राम! मैं तो इस धन को देखना और छूना भी पाप समझता हूँ। सन्तों का धन से क्या काम?"

सेठ—परन्तु महात्माजी! मैं आपको यह धन थोड़े ही दे रहा हूँ। यह तो मैं अपनी धरोहर सुरक्षा के लिए आपके पास रख रहा हूँ। आपको इसे छूना भी नहीं है और न ही खोलकर देखना है। केवल आपकी निगरानी में मैं इसकी सुरक्षा चाहता हूँ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महात्मा के मन में सेठ की बात सुनते ही कपट तो आ ही गया था। ऊपर से वैराग्य की बातें करके वह सेठ पर अपने त्याग-वैराग्य की छाप डालना चाहता था। अतः महात्मा ने नम्रता से कहा—"देखो सेठ ! आपने हमारी इतनी सेवा भक्ति की है। इस लिहाज से हम आपकी अमानत को यहाँ रखने देते हैं। हम तो इसे हाथ से छुयेंगे भी नहीं। तुम्हीं अपने हाथ से इस धूनी को गहरी खोदकर इसमें गाड़ दो और ऊपर कुछ रेत और राख बिछा दो, ताकि किसी को शंका न हो। पर हाँ हम चातुर्मास पूर्ण होते ही जाएँ, तब तुम अपनी पूँजी सम्भाल लेना।"

सेठ बहुत प्रसन्न हुआ और अपने हाथ से धूनी को गहरी खोदकर उसमें गठड़ी रख दी। ऊपर काफी रेत डाल दी और उसके ऊपर राख। इस प्रकार सेठ निश्चिन्त होकर साधु को प्रणाम करके घर लौट गया।

जब चोरों का उपद्रव समाप्त हो गया, तब सेठ ने सोचा अभी क्या जल्दी है। महात्मा के यहाँ तो मेरा धन सुरक्षित ही है, जब चाहेंगे, तब ले आयेंगे। चातुर्मास पूर्ण होने से एक दिन पहले महात्मा ने रात को वह धूनी खोदी और उसमें से धन की गठड़ी निकालकर उतने ही वजन के पत्थरों की एक दूसरी गठड़ी बाँध कर वहाँ रख दी। धन वाली गठड़ी लेकर वहाँ डेढ़ कोस दूर एक नदी के किनारे पेड़ के नीचे गड्ढा खोदकर उसे वहाँ दबा दी। दूसरे दिन चातुर्मास समाप्त होते ही साधु अपना दण्ड कमण्डलु लेकर सेठ से कह कर चल पड़े। कोई डेढ़ मील दूर जाने के बाद ही वे वापस लौटे और सेठ को अपने मस्तक पर चिपका एक तिनका उतार कर वापस देते हुए बोले—लो सेठ ! यह अपना तिनका सम्भाल लो। कहीं मेरे साथ आ जाता तो मुझे चोरी का पाप लगता।" सेठ श्रद्धापूर्वक बोला—"यह तिनका आप रास्ते में ही डाल देते। इस तिनके को लौटाने के लिए आप वापस क्यों पधारे ?"

महात्मा—"अगर मैं नहीं लौटाता तो मुझे घोर पाप लगता। मैं पाप से बहुत डरता हूँ।" सेठ महात्मा की पाप-भीरुता से बहुत प्रभावित हुए। महात्मा वहाँ से चल पड़े तब सेठ के मन में स्फुरणा हुई कि चलूँ अपनी धरोहर रखी हुई धन की गठड़ी भी ले आऊँ। सेठ अपनी झौंपड़ी पर पहुँचा और ज्यों ही धुनी को खोद कर देखा तो धन की गठड़ी के बदले पत्थर की गठड़ी ! सेठ के होश गुम हो गये। पहले तो उसे महात्मा के प्रति कोई शंका नहीं थी, किन्तु बोधिसत्त्व ने जब उस महात्मा की फूंक-फूंक कर चलने की वृत्ति देखी तो उन्हें शंका हुई और सेठ को सावधान किया कि उस महात्मा को पकड़ो, उसे थोड़ा-सा धमकाओगे तो वह अपने आप बता देगा। सेठ घोड़े पर बैठकर उसी रास्ते से चल पड़ा, कोई दो कोस पर महात्मा मिल गये। सेठ ने उन्हें नमन करके पूछा—"महाराज ! वह गठड़ी कहाँ रखी है ?" महात्मा एकदम आवेश में आकर बोले—सेठ ! मुझे क्या पता। उस गठड़ी का ? मैंने तो उसे न छुआ है, न देखा है। मैंने तो तुम्हें पहले ही कह दिया था, अपनी गठड़ी सम्भाल लें। मैं तो एक तिनका भी ले आया था, वह भी वापस देने आया था, तब धन की गठडी मैं कैसे लाता ?" सेठ ने थोड़ा-सा गर्म होकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा—"महाराज ! सीधी तरह से बता दीजिए, नहीं तो मैं आपको पुलिस के हवाले करूँगा, फिर मार खाकर आपको बताना पड़ेगा।" महात्मा मार के डर से काँपने लगा, उसने नम्रता से कहा—"ऐसा करके महात्मा की इज्जत मत लेना भाई ! चलो मेरे साथ, मैं तुम्हें तुम्हारी गठड़ी बता देता हूं।" और झटपट महात्मा नदी तट पर उस वृक्ष के नीचे सेठ को लाया और वहाँ खोदकर सेठ को वह गठड़ी बता दी। गठड़ी पाकर सेठ अपने घर लौट गया, परन्तु महात्मा की माया और गूढ़ माया को देखकर उसकी श्रद्धा समाप्त हो गई। इसीलिए शास्त्रों में स्थान-स्थान पर उच्च साधकों को हिदायत दी गई है—

"मायं च वज्जए सया। —उत्तरा० १/२४
मायामोसं विवज्जए॥" —दश० ५/५१

साधक सदा माया का त्याग करे।
मायामृषा (कपट सहित असत्य) से भी सदा दूर रहे।

साधक में माया : जीवन का कर देती सफाया

यह इसलिए बताया गया है कि भारत की अन्ध-श्रद्धालु जनता साधुवेष पर मुग्ध हो जाती है; साधु संन्यासी का बेष देखते ही उसके चरणों में तन-मन न्योछावर कर देती है। इसलिए माया प्रायः साधुवेष में अधिक पनपती है। साधुवेष की ओट में दम्भ और माया चलाकर अपना उल्लू सीधा करने वाले संसार में कम नहीं है। इसी लिए उच्च साधक के लिए तथा धर्माचरण में जरा-सी भी माया क्षम्य नहीं बताई है। साधुवेष में वंचक लोग कैसे धूर्तता करते हैं। सुनिये—कुछ वर्षों पहले समाचारपत्र में पढ़ा था। एक ठग को पता चला कि अमुक धनिक के घर में भूतों का वास है। इसलिए उसे वहम है कि उसके परिवार में किसी न किसी की मृत्यु हो जाती है, सन्तान नहीं होती। ठग ने योगी का वेष बनाया और नगर के बाहर अपना अखाड़ा जमाया। उक्त धनिक ने परमात्मा की शरण न लेकर इस ठगयोगी के चरण पकड़े। ठगयोगी ने सेठ को बड़े-बड़े सब्जबाग दिखाये। फिर भूत-प्रेत भगाने हेतु घर में घुसा। सबको घर के बाहर निकाल दिया। फिर चारों तरफ से दरवाजे और खिड़कियाँ बन्द करके सब पेटियाँ खोलकर उनमें से गहने निकाले। उन्हें एक मटके में भरकर उसका मुँह कपड़े से बाँध दिया। ऊपर सील लगादी। फिर दरवाजे खोले और कहा—"मैंने घर के सब भूत प्रेत पकड़ कर इस मटके में भर दिये हैं। अब इन्हें साइकिल पर रखकर जंगल में छोड़कर आता हूँ। जब तक मैं लौटकर न आऊँ, तब तक आप इस कमरे का दरवाजा न खोलें। एक साइकिल भी लाई गई। मटके को उसने लगैज कैरियर पर बाँधा और चल पड़ा। आज तक नहीं लौटा। कुछ घण्टों की प्रतीक्षा के बाद उसकी धूर्तता का रहस्य खुला। इसीलिए तो कहा गया है—

"तन उजला मन सांवला, बगुला कपटी भेख।
इनसे तो कागा भला, बाहर भीतर एक॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रकारों ने तो बारम्बार साधकों को माया-सेवन के दुष्परिणाम बताकर इससे दूर रहने के लिए सावधान किया है, परन्तु इस वेष में माया आसानी से चल जाने के कारण धूर्त लोग प्रायः साधु सन्यासी का वेष धारण कर लेते हैं।

माया में प्रवीण : फंसाने में उस्ताद

कई लोग कपट करने में इतने पटु होते हैं कि उनके कपट का सहसा किसी को पता नहीं लगता। फिर उनके जाल में भी प्रायः ऐसे लोग फंस जाते हैं जो अन्ध-विश्वासी हों, भूत-प्रेत आदि से पीड़ित हों, धनार्थी हों, या और किसी पद-प्रतिष्ठा, अधिकार या सत्ता के लिए लालायित हों। उन्हें ऐसे धूर्त, मायी लोग बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें बनाकर अपने चंगुल में फंसा लेते हैं। नीतिकार का यह कथन कितना सत्य है ?

"संलापितानां मधुरैर्वचोभिर्मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम्।
आशावतां श्रद्दधतां च लोके किमर्थिनां वंचयितव्यमस्ति ॥"

जिन लोगों के साथ मीठे-मीठे वचनों से बातें की गई हैं और मिथ्या शिष्टाचारों तथा नम्र व्यवहारों से जिन्हें वश में कर लिया गया है, जो आशावान् एवं श्रद्धावान् बन गये हैं, किसी न किसी सांसारिक के स्वार्थ को लेकर आते हैं, उन लोगों को ठगना, या उनके साथ छल करना कौन बड़ी बात है

ऐसे लोग जो दूसरों को धोखा देने एवं ठगने में उस्ताद होते हैं, वे सामान्य स्तर के लोगों से अधिक दिखावा करते हैं, अधिक सतर्क रहकर अपनी माया को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। इसी दृष्टि से नीतिकार कहते हैं—

असती भवति सलज्जा, क्षारं नीरं च शीतलं भवति।

जो कुलटा-व्यभिचारिणी स्त्री होती है, वह अधिक लज्जा करने का नाटक करती है। खारा पानी अपेक्षाकृत अधिक ठंडा होता है।

ऐसी कई कुलटा स्त्रियाँ होती हैं, जो मायावश अपने पति को किसी न किसी उपाय से मार डालती हैं। अपने जार के साथ व्यभिचार करती हैं अथवा पति के जीते-जी भी अनाचार सेवन करती हैं। पति के दिल में ऐसा विश्वास जमा देती हैं कि उसके सरीखी कोई पतिव्रता नहीं है। परन्तु उनकी माया का पर्दाफाश होते देर नहीं लगती। नीतिकार ने कहा है—

विश्वासप्रतिपन्नानां वंचने का विदग्धता ?

विश्वास में लिये हुए लोगों के साथ वंचना करने में कौन-सा पाण्डित्य है ?

माया : अनेक पापों का स्रोत

जो भी हो, माया करने वाला व्यक्ति बहुत ही सफाई से पहले उस व्यक्ति के मन-मस्तिष्क में अपना विश्वास जमा लेता है। इसीलिए माया को साधारण पाप नहीं, भयंकर पाप बताया है। कई लोग कहते हैं—माया में तो किसी जीव की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा नहीं होती, न कोई ब्रह्मचर्य-भंग होता है, फिर उसे पाप क्यों कहा गया ? वास्तव में, सीधे तौर पर देखने से माया में जीव हिंसा होती दिखाई नहीं देती, न ब्रह्मचर्य-भंग आदि होता मालूम होता है, परन्तु माया से भावहिंसा होती है, जो द्रव्यहिंसा से भयंकर है। फिर माया करने वाला जिसके प्रति माया करता है, उसे कभी-कभी मार भी डालता है, कभी किसी के साथ व्यभिचार सेवन की दृष्टि से माया करता है, माया एक प्रकार का असत्याचार तो है ही। माया कभी-कभी धन लालसावश की जाती है, इसलिए चोरी और परिग्रह ये दोनों पाप माया के द्वारा हो जाते हैं। इसलिए यों कहा जा सकता है कि मायी व्यक्ति किस समय कौन-सा पाप करेगा, यह कहा नहीं जा सकता।

माया साधना को चौपट कर देती है

माया करने वाला साधु आचार्य आदि किसी भी पद के योग्य नहीं होता। शास्त्र में एक जगह बताया है कि यदि कोई विद्वान साधु किसी पूर्वकर्म के उदयवश ब्रह्मचर्य आदि में से कोई व्रत भंग कर देता है, परन्तु आचार्य या स्थविर के पास आकर सच्चे हृदय से आलोचना कर लेता है, सत्यवादी है तो उसे आचार्य, उपाध्याय आदि में से कोई भी पद दिया जा सकता है, परन्तु असत्यवादी या माया करने वाले को कोई भी पद नहीं दिया जा सकता !

माया साधक के जीवन में साधना को विखण्डित करने वाली तेज छुरी है जिसे अपनाकर साधक अपनी साधना का सत्यानाश एवं उसे विफल कर देता है, बल्कि माया करने वाला भव्य भी नहीं है। एक आचार्य कहते हैं—

"या प्रत्ययं बुधजनेषु निराकरोति,
पुण्यं हिनस्ति परिवर्द्धयते च पापम्।
सत्यं निरस्यति तनोति विनिन्द्यभावं
तां सेवते निकृतिमत्र जनो न भव्यः।

जो विद्वानों के हृदय में विश्वास नष्ट कर देती है, पुण्य को खत्म कर देती है और पाप को बढ़ाती है, सत्य को ठुकराती है और निन्द्य भावों को जीवन में फैलाती है, उस माया का जो सेवन करता है, वह व्यक्ति भव्य नहीं है।

मायी की सभी प्रवृत्तियाँ कुटिल

इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि माया मानव जीवन के लिए कितनी अनर्थकर है। जिस जीवन में माया आ जाती है उसकी प्रत्येक गति, मति, प्रवृत्ति व्यवहार, वाणी और विचार आदि कुटिल हो जाते हैं, वे सीधे, सहज, सरल, सरस और स्वाभाविक नहीं रहते, खासतौर से औपचारिक हो जाते हैं। वह किसी के साथ बोलता है, तो भी मन में कुटिलता रखकर, किसी के प्रति शुभकामना व्यक्त करता है, तो भी कुटिलता-पूर्वक, किसी के साथ अच्छा व्यवहार करता है तो भी उसके पीछे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोई न कोई स्वार्थ, वक्रता या कौटिल्य रहता है। जिसे आज की भाषा में पॉलिसी कहते हैं, वही मायावान के मन, वचन, चेष्टा, व्यवहार आदि में आ जाती है। अप्पय्य दीक्षित ने ठीक ही कहा है—

"कुटिलगतिः कुटिलमतिः कुटिलाशयः कुटिलशीलसम्पन्नः।
सर्वं पश्यति कुटिलं कुटिलः कुटिलेन भावेन॥"

—कुटिल व्यक्ति सभी चीजें कुटिलभाव से कुटिलरूप में देखता है, उसकी गति भी कुटिल होती है, मति भी कुटिल उसका मनोभाव भी कुटिल और उसका आचरण भी कुटिलता से युक्त होता है।

एक मायी पण्डित का उदाहरण लीजिए—

एक ज्योतिषी था। वह था तो अधूरा ही ज्योतिषी, किन्तु उसने लेबल बहुत बड़ा लगा रखा था। दो चार ऐसी घटनाएँ हो गईं, जिनसे वह नगर के प्रमुख ज्योतिषियों की पंक्ति में माना जाने लगा।

एक दिन राजा ने अपने प्रमुख ज्योतिषियों को आमंत्रित किया। उनके पहुँचने पर राजा ने सभी का यथोचित सम्मान किया और आगन्तुक ज्योतिषी के समक्ष एक प्रश्न रखा—"महारानी जी गर्भवती हैं। बताइए, उनके होने वाली सन्तान पुत्र होगी या पुत्री?" सभी यह प्रश्न सुनकर मंथन में पड़ गये। परन्तु उसी क्षण राजा ने एक विशेष संकेत दिया—आज के प्रश्न का उत्तर जो नये ज्योतिषी आए हैं, वे देंगे।"

यह सुनते ही अधूरे ज्योतिषीजी बहुत सकपकाए! उन्हें यह कल्पना ही नहीं थी कि जवाब देने के लिए उन्हीं से कहा जाएगा। परन्तु वे अपनी माया में निपुण थे। इसलिए उन्होंने अपनी बुद्धि-कुटिलता की शान पर चढ़ाई और एक उत्तर स्फुरित हो गया। राजा द्वारा प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर के विषय में उन्होंने कहा—"राजन्! अभी मैं इस विषय में कुछ भी नहीं कहूँगा। सिर्फ एक पन्ने पर इसका उत्तर लिख देता हूँ। आप उसे तभी खोलकर देखें, जब महारानीजी प्रसव से निवृत्त हो जाएँ।" पण्डितजी ने एक कागज लेकर उस पर लिख दिया—

'पुत्रो न पुत्री'

अपनी माया से 'न' शब्द पुत्र और पुत्री के बीच में रखकर उन्होंने अपना छल प्रयोग सफल किया। उनका इरादा था कि "पुत्र होगा तो 'न पुत्री' और पुत्री होगी तो 'पुत्रो न' कहकर अपनी बात सिद्ध कर दूँगा।" परन्तु ऐसे अर्धविदग्ध ज्योतिषी केवल माया के सहारे ही अपनी जीवन नैया खेते थे, परन्तु उनका मन प्रति-क्षण आशंकित एवं भयभीत रहता था कि पता नहीं कब अविश्वास के भंवर जाल में मेरी नैया डूब जाए।

इस प्रकार माया का जाल बुनते रहने वाले अपनी आत्म-शुद्धि की साधना नहीं कर पाते, जिंदगी यों ही पूरी हो जाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

माया के रहते आत्म-शुद्धि नहीं

शास्त्र में साधकों को आत्मशुद्धि के लिए आलोचना, निन्दना, गर्हणा, प्रायश्चित आदि साधनाएँ बताई हैं, किन्तु उन सबके साथ एक कड़ी शर्त रखी गई है कि आलोचना आदि की साधनाएँ तभी सफल होंगी और साधक की आत्मशुद्धि भी तभी होगी, जब वह माया की वैतरणी नदी को पार कर जाएगा। अगर मन में या वचन में जरा भी माया रखकर आलोचना आदि करेगा, तो वह यथार्थ आलोचना आदि नहीं होगी, यथार्थ आलोचना आदि के न होने की स्थिति में आत्मशुद्धि नहीं हो सकेगी। पाप उसके अन्तर में तीखे कांटों की तरह खटकते और चुभते रहेंगे, उसके अन्तर में पापों का बोझ बना रहेगा, वह हलका नहीं होगा। इस कारण उसके जीवन में समाधि भाव-शान्ति भाव नहीं आ सकेगा। सूत्र कृतांग सूत्र (श्रु: २, अ. २, ३-१३) में स्पष्ट बताया है—

"मायी मायं कट्टु णो आलोएइ, णो पडिक्कमेइ, णो निंदइ, णो अहारिंह तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ।"

मायी साधक अकार्य करके उसकी आलोचना, प्रतिक्रमण, आत्मनिन्दा, गर्हणा आदि नहीं करता और न यथोचित तपःकर्मरूप प्रायश्चित ग्रहण करता है, (वह कृत पापों को ढकना चाहता है), उसे अपयश का भय बना रहता है। इस कारण उसकी आत्मशुद्धि नहीं हो पाती।

वास्तव में, अपनी माया या अपने जीवन के किसी भी अंग-प्रत्यंग में प्रचलित माया को तो मनुष्य स्वयमेव पहचान लेता है। उसके लिए किसी दूसरे को वकील बनाने की जरूरत नहीं होती।

माया तेरे कितने रूप ?

माया यहाँ न तो धन-सम्पत्ति के अर्थ में है और न ही वह ब्रह्म की माया के अर्थ में है। यहाँ मुख्य रूप से माया कपट अर्थ में है। जहाँ-जहाँ कपट, छल, झूठ-फरेब, दम्भ आदि हो, वहाँ-वहाँ माया का वास है। इस प्रकार हम देखते हैं कि माया अनेक रूपों में मानव जीवन में खेलती रहती है। कभी वह कपट के रूप में आती है तो कभी कूट नीति और मायाचार के रूप में आती है, कहीं वह प्रतारणा, धोखेबाजी और वंचना के रूप में आती है, तो कहीं छल, झूठ-फरेब, धोखा-धड़ी, और बेईमानी के रूप में अपनी झांकी दिखाती है। कभी वह दुराव और छिपाव के रूप में जीवन में प्रविष्ट होती है तो कभी कुटिलता और जटिलता के रूप में। कभी वह दम्भ और पाखण्ड के रूप में अवतरित होती है तो कभी वह ढोंग और बहानेबाजी के रूप में। मतलब यह कि माया का एक ही रूप नहीं है, वह विविध रूपों में जीवन की नाट्यशाला में नाटक के रंगमंच पर आती है।

माया : कपट के रूप में :

कपट माया का दाहिना हाथ है। वह जीवन में जब आता है तो कलुषित कर देता है। कभी-कभी यह कपट दूसरों को बदनाम करने के लिए एक षड्यंत्र के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूप में रचा जाता है। परन्तु जो व्यक्ति षड्यंत्र के रूप में जिसके लिए कपट का प्रयोग करता है, वह व्यक्ति यदि सत्यनिष्ठ होता है तो प्रयोगकर्ता का कपट अधिक देर तक नहीं चल सकता। शीघ्र ही उसका पर्दाफाश हो जाता है।

तथागत बुद्ध श्रावस्ती राज्य के किसी नगर से गुजर रहे थे। यह स्थान उनके विरोधियों का गढ़ था। विरोधियों को जब यह पता लगा कि बुद्ध इस नगर में हैं, तब उन्होंने एक चाल चली। एक कुलटा स्त्री के पेट पर बहुत-सा कपड़ा बाँधकर उसे बुद्ध के निवासस्थान पर भेजा गया। वह स्त्री जहाँ बुद्ध थे, वहाँ पहुँची और जोर-जोर से चिल्लाकर कहने लगी—देखो, यह पाप इसी महात्मा का है, यह ढोंग रचाए घूम रहा है, और अब मुझे स्वीकार भी नहीं करता। बुद्ध की धर्मसभा में इससे खल-बली मच गई। उनके प्रधान शिष्य आनन्द बहुत ही चिन्तित होकर कहने लगे—"भगवन्! अब क्या होगा? बुद्ध मुस्कराकर बोले—"वत्स! तुम बिलकुल चिन्ता मत करो। कपट अधिक देर तक नहीं चला करता। चिरस्थायी फलने-फूलने की शक्ति केवल सत्य में है।" इसी बीच हुआ यह कि उस स्त्री की करधनी खिसक गई, इस कारण वे बाँधे हुए सारे कपड़े खिसक कर जमीन पर आ पड़े। उस स्त्री की पोल खुल गई। वह स्वयं अपने कृत्य पर बहुत लज्जित हुई। लोग उसे मारने दौड़े। परन्तु बुद्ध ने यह कहकर उन्हें रोक दिया कि जिसकी आत्मा मर गई हो, वह मरी से भी अधिक है। फिर उसे शारीरिक दण्ड देने से क्या लाभ?

किसी पर दोषारोपण के लिए रचा हुआ कपट देर-सबेर खुल ही जाता है। ऐसा कपट स्वयं के लिए तो दुःखदायी है ही, दूसरों के जीवन पर अपमान, बदनामी और अश्रद्धा का कीचड़ उछालता है।

माया : मायाचार के रूप में

मायाचार एक प्रकार का दम्भ होता है, जिसे जैन शास्त्र में 'मायामृषा' भी कहा है। कपट और असत्य इन दोनों का इसमें मिश्रण होता है। इसे 'मिथ्या-चार' भी कहा जा सकता है। इसमें करना कुछ और तथा दिखाना कुछ और होता है। कथनी और करणी का इसमें स्पष्ट अन्तर होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने ऐसे लोगों के लिए कहा है—

"वंचक भक्त कहाय राम के।
किंकर कंचन कोह-काम के॥"

ऐसे व्यक्ति मुख में राम बगल में छुरी' की कहावत चरितार्थ करते हैं। भगवद्गीता में 'मिथ्याचार' की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते॥"

जो व्यक्ति बाहर से अपनी कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर, वाणी, गुदा और मूत्रेन्द्रिय)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को बिलकुल रोककर मन ही मन इन्द्रिय विषयों का स्मरण करता रहता है, वह मूढात्मा मिथ्याचारी कहलाता है।

जो व्यक्ति बाहर से तो उज्ज्वल पवित्र सन्त या भक्त के वेष में रहता है, धार्मिक क्रियाकाण्ड भी करता है, भगवान् का जाप भी करता, तपस्या भी करता है, परन्तु अन्दर से उसका मन वश में नहीं है, इन्द्रियों पर उसका नियन्त्रण नहीं है। मन और इन्द्रियाँ विषयों की ओर दौड़ती रहती हैं। वह ध्यान तो लगा लेता है, परन्तु बगुले की तरह उसकी दृष्टि या चिन्तन अपने अभीष्ट सांसारिक पदार्थों की ओर ही होता है।

बौद्ध जातक में एक कथा है। वाराणसी में ब्रह्मदत्त राजा के राज्य काल में बोधिसत्व चन्दनगोह के रूप में जन्मे थे। वह चन्दनगोह घोर जंगल में रहती थी। एक दिन उसने देखा कि उसके निवास के पड़ौस में ही एक साधु पर्णकुटी बनाकर रहने आए हैं। अतः प्रसन्न होकर सोचने लगी—"अच्छा हुआ, मुझे रोज प्रातःकाल सन्त के दर्शन होंगे।" वह प्रतिदिन प्रातःकाल साधु के दर्शन करने उनकी पर्णकुटी पर जाने लगी।

परन्तु यह साधु सच्चा नहीं था, मायाचारी या मिथ्याचारी था। ऊपर से साधु के क्रियाकाण्ड करता था, पर उसके अन्तर में सांसारिक पदार्थों की लालसा थी। एक दिन उस साधु के कुछ सेवक अपने घर से पका हुआ मांस ले आये थे, उसने अहिंसा मर्यादा का विचार न करके वह माँस खा लिया। माँस उसे बहुत स्वादिष्ट लगा, इसलिए सेवकों से पूछा—"यह माँस तुम किसका लाये थे?" सेवक बोले—"यह तो चन्दनगोह का माँस था।" चन्दनगोह का नाम सुनते ही साधु के मन में एक दुष्ट विचार स्फुरित हुआ कि जो चन्दनगोह प्रतिदिन मेरे दर्शनार्थ आती है उसे पकड़कर चट कर जाऊ।" ढोंगी साधु ने मांस के साथ खाने की सामग्री—घी, दही, मिर्च-मसाले आदि इकट्ठे करने शुरू कर दिये। चन्दनगोह के आने का समय हुआ, तब वह साधु पर्णकुटी के द्वार पर हाथ में लोह का बड़ा-सा सरिया लेकर बैठ गया और मुंह से भगवान् का नाम जपने लगा।

परन्तु यह चन्दनगोह भी कच्ची मिट्टी की नहीं थी। रात को चोर लोग उसका उपयोग करते थे, इसलिए इस बकभक्त की माया उससे छिपी न रह सकी। आज उसके चेहरे पर से वह समझ गई कि कुछ न कुछ दाल में काला है। यह साधु मेरे आने के समय में ध्यान में कभी बैठता नहीं है, पर आज····।" साधु के रंगढंग देखकर वह वापस मुड़ गई और पर्णकुटी के पीछे आ गई। रसोड़े में से चन्दनगोह के माँस की गन्ध आने से वह समझ गई कि यह ढोंगी साधु मुझे मारने के लिए ताक कर बैठा है। फिर चन्दनगोह पर्णकुटी के अन्दर न घुसकर ज्यों ही बाहर से ही जाने लगी त्यों ही साधु ने हाथ में लिया हुआ सरिया उस पर फेंका। परन्तु चन्दनगोह तो सरसराहट करती हुई वहाँ से चली गयी, उसके हाथ न आयी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसकी पूछ से जरा-सा स्पर्श हुआ था सरिये का। यह देखकर साधु के मुँह से निकला—"धत्तेरे की ! मैं निशाना चूक गया।"

चन्दनगोह ने इसके उत्तर में कहा—"आप मेरे प्रति लक्ष्य चूक जायें तो कोई हर्ज नहीं, प्रभु भक्ति का लक्ष्य न चूकें। परन्तु मैं देख रही हूँ कि आप प्रभु भक्ति का लक्ष्य चूक गये हैं। मैं आपको साधु समझकर आपके दर्शनों को आती थी, मगर आप तो पूरे बक भक्त ही निकले ! आज मैं समझी कि जटा, मृगचर्म आदि धारण करने मात्र से ही कोई साधु नहीं हो जाता। आप बाहर से साफ-सुथरे हैं, परन्तु आपके अन्तर में मैल भरा है।"

यह सुनकर साधु लज्जित होकर बोला—"अरी चन्दनगोह ! मेरी भूल हुई। आओ, मैंने स्वादिष्ट रसोई बनाई है, भोजन कर लो।"

चन्दगोह—"मुझे नहीं चाहिए, आपका भोजन ! आपको ही मुबारक हो वह ! परन्तु मैं आपको साफ-साफ कह देती हूँ कि आज ही आप अपना बोरिया-बिस्तर बाँध कर यहाँ से चले जाएँ, नहीं तो मैं बस्ती में जाकर लोगों को कह दूंगी कि एक ढोंगी साधु यहाँ चन्दनगोह को पकड़ने का धंधा करता है। फिर आपकी फजीहत होगी।"

ढोंगी साधु उसी क्षण अपना दण्डकमण्डल लेकर वहाँ से नौ दो ग्यारह हो गया।

सचमुच, मायाचारी लोग, किसी भी लोकश्रद्धेय वेष को धारण करके अपना मायाजाल फैलाते रहते हैं। कोई सांसारिक पदार्थों के लिए, तो कोई धन और भवन के लिए इस वेष का उपयोग करता है।

माया : प्रतारणा एवं वंचना के रूप में

प्रतारणा और वंचना धोखेबाजी के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। मनुष्य प्रायः लोभ के वश धोखेबाजी किया करता है, अथवा किसी पद, अधिकार, सत्ता या जमीन-जायदाद के स्वार्थ से इस प्रकार की प्रतारणा किया करता है अथवा वाणी से मीठी और चिकनी चुपड़ी बातें करके मनुष्य दूसरों को चकमा देता है।

बम्बई के एक व्यापारी ने दूसरे महायुद्ध में तथा बाद में लगभग २५-३० लाख रुपये कमाये थे। चोरबाजारी बहुत ही जोखिम भरी थी, उसे छोड़ कर वे गाँव में मामा के यहाँ आए। उनकी इस कमाई की चर्चा पूरे गाँव में फैल गई। एक मायापटु मनचले ने सेठजी से एकान्त में बातचीत करना चाहा। सेठ ने स्वीकार किया। दूसरे दिन सुबह दोनों खेतों की ओर घूमने निकल पड़े। रास्ते में वह सेठ के भाग्य की तारीफ करने लगा। एक खेत दिखाकर कहा—इसमें निधि गड़ी हुई है। हमारी हैसियत तो है नहीं कि हम इस खेत को खरीद कर निधि को निकाल सकें। आप जैसे भाग्यशाली ही इस निधि के अधिकारी बन सकते हैं।" बस, सेठ उस वंचक की बातों में आ गए। फिर वह खेत के सकेतित स्थल पर सेठ को ले गया; जहाँ से आवाज आई—सेठ ! मैं बन्धन में पड़ी हूँ, मुझे निकालो।" इस पर से सेठ को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विश्वास हो गया। सेठ से खेत का मूल्य पूछा तो उस धूर्त ने कहा—खेत का मालिक तो २५ हजार कहता है, पर मैं आपको २० हजार में दिला दूंगा।" इस पर सेठ ने कहा—१५ हजार में सौदा तय करा दो एक हजार तुम्हें दलाली दे दूंगा। सौदा तय हो गया १५ हजार में। दस हजार तो सेठजी के पास थे, वे उन्होंने दलाल को दे दिये। दलाल ने कहा—"शेष पाँच हजार आप मामाजी से ले आइए। तब तक मैं इसकी लिखा-पढ़ी कराता हूँ।" सेठ अपने मामा के पास आये। उनसे ५ हजार रुपये माँगे तो उन्होंने पूछा—किसलिए चाहिए?"

सेठ ने कहा—"एक जरूरी काम है। एक खेत देखकर आया हूँ। वहाँ निधि गड़ी हुई है। १५ हजार में खेत मिल रहा है।" मामा सारी बातें सुनकर दलाल की चालाकी समझ गये। वे तुरन्त सेठ के साथ कुदाली फावड़ा लेकर उस खेत पर पहुँचे जहाँ निधि बताई गई थी, वहाँ खोदने लगे। इतने में आवाज आई—"खोदना रोको; नहीं तो मैं भस्म कर दूंगा।" साहसी मामा ने कहा—"तुम सांप हो तो हम आदमी हैं, मार डालेंगे तुम्हें।" आखिर खोदना न रुका तो वह गिड़गिड़ा कर कहने लगा—अब मत खोदिये। मुझे चोट लग सकती है। मैंने तो अपने पेट के लिए यह प्लान रचा था।" अब सेठजी की समझ में आया कि यह सब जालसाजी थी। परन्तु दस हजार रुपये जो वंचक को दे चुके थे, वे व्यर्थ गये।

इस प्रकार धोखेबाजी और जालसाजी के किस्से आए दिन अखबारों में पढ़ते हैं। किसी ने सौ रुपये के नोटों के बदले में हजार रुपये के बना देने का लोभ देकर असली नोट ले लिए और नकली नोट पकड़ा दिये, एक दो को तो दे दिये, बाकी के लोगों के हजम कर लिये। कोई दस तोले सोने का सौ तोला सोना बना देने का चकमा देकर सारा सोना लेकर फरार हो गया। कोई किसी प्रकार से रुपये ठग कर ले गया।

ये सब वंचना, प्रतारणा और धोखेबाजी जालसाजी आदि माया की ही बेटियाँ-पोतियाँ हैं। इन्हें अपनाकर तो व्यक्ति ठगी, झूठ-फरेब और धोखाधड़ी करता है। परन्तु ये सब कपट के धंधे करने वाले व्यक्ति देर-सबेर से उन दुष्कर्मों के फल अवश्य भोगता है, तब वह रोता-पीटता है। दूसरो को ठगने या वंचना करने वाला व्यक्ति एक तरह से आत्म-वंचना करता है, अपने आपको ही ठगता है। पाश्चात्य विचारक जी० बैली (G. Bailey) कहता है—

"The first and worst of all frauds is to cheat oneself."

तमाम छलकपटों में सबसे निकृष्ट छलकपट है—अपने आपको ठगना—आत्म-वंचना करना।

सौ रुपये का नोट देख दुकानदार ने अपने ग्राहक से कहा—मेरे पास तो ८० रुपये ही हैं।" ग्राहक नोट भुनाने चला गया, क्योंकि दुकानदार को उसे साढ़े दस रुपये ही देने थे। मगर चालाक ग्राहक थोड़ी देर बाद लौट आया और कहने लगा—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"अजी ! आप अभी ८० रुपये ही दे दीजिए। बाकी के रुपये बाद में ले जाऊँगा।" दुकानदार ने वह सौ रुपये का नोट ग्राहक से लेकर उसे ८० रुपये दे दिये। ग्राहक शाम तक नहीं लौटा तो दुकानदार ने नोट भुनवाने के लिए गल्ले में से १०० रुपये का नोट निकाला। नोट देखते ही उसने सिर पीट लिया—"हाय ! यह तो सौ रुपये का नहीं, पैसे में बिकने वाला विज्ञापनी नोट है।" पर अब क्या हो ? अब तो वह ठगा जा चुका था। यह आज के जनजीवन में व्याप्त माया का नमूना है !

माया : दम्भ और दिखावे के आकार में

दम्भ वाणी-व्यवहार से अधिक सम्बन्धित है, दिखावा या प्रदर्शन व्यवहार से। दम्भ की माया आजकल विवाह शादियों या मेलों-ठेलों में अधिक पाई जाती है। दुकानदार लोग भी इस प्रकार का दम्भ किया करते हैं। कई दुकानदार ग्राहक को अपना विश्वास बिठाने के लिए कहते हैं "अधिक ले सो छोरा-छोरी खाय, अधिक ले, सो गौ खाय।" ग्राहक समझता है कि दुकानदार जब अपने बच्चों और गाय की कसम खा रहा है, तब यह मुझसे ज्यादा नहीं लेगा, मगर यह दुकानदार का शब्दछल होता है—"जो भी अधिक मुनाफा लिया जाता है, वह लड़के-लड़कियों के या गाय के खाते में जमा कर दिया जाता है, इससे बच्चों के पालन या गोपालन का खर्च तो निकल ही जाता है, ग्राहकों को विश्वास में लेकर ठगा जाता है, सो अलग।

महात्मा गाँधीजी ने कहा था—"**दम्भ तो सिर्फ झूठ की पोशाक है।**" इसी प्रकार अपने आपको अपनी हैसियत, बलबूते या क्षमता से अधिक दिखाकर किसी व्यक्ति से रुपये ठगना भी दम्भ है। आजकल के विवाहों में ऐसा दम्भ बहुत चलता है, दिखावा भी एक फैशन बन गया है, जिसके बल पर मनुष्य अपनी इज्जत का सौदा करता है।

माया : कुटिलता और जटिलता के रूप में

कभी-कभी माया भयंकर रूप धारण कर लेती है, जिसे कुटिलता कहते हैं। कुटिलता के लिए मायी मानव एक असत्य को छिपाने के लिए बीसों असत्य बोलता है। कभी-कभी तो दूसरे के देखते ही देखते उसकी आँखों में मायी मनुष्य धूल झोंक देता है। अपने पापों पर ऐसा पर्दा डाल देता है कि किसी को भी उस पर संदेह करने की गुंजाइश न हो।

एक स्त्री के दो प्रेमी थे। एक दण्डनायक था, दूसरा था—उसी दण्डनायक का पुत्र। एक दिन दण्डनायक पुत्र उस स्त्री के पास बैठा बातचीत कर रहा था, तभी उसका पिता—दण्डनायक आ गया। स्त्री ने उसके पुत्र को चट् से घर में छिपा दिया। थोड़ी देर पश्चात् उस स्त्री का पति भी आ गया। अब दण्डनायक घबराया। लेकिन मायावी स्त्री ने उससे कहा—"तुम इस दरवाजे से निकल जाओ, मैं दरवाजा खोल देती हूँ। यों दण्डनायक को निकाल दिया। स्त्री के पति ने पूछा—"दण्डनायक क्यों आया था।" उस मायाविनी ने अपनी पैनी सूझ से उत्तर दिया—यह इसलिए आया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

था कि इस (दण्डनायक) का अपने पुत्र से झगड़ा हो गया था, लड़का अपने पिता के क्रोध से बचने के लिए यहाँ आ गया था, मैंने उसको पिछले कमरे में छिपा दिया था। दण्डनायक ने आते ही मकान का दरवाजा बन्द कर दिया ताकि लड़का कहीं भाग न जाए और वह उसे तलाश करने लगा। लेकिन जब लड़का उसे न मिला तो क्रोध में भन्नाता हुआ वह निकल गया।"

इस सूझ-बूझ और माया से भरे अनूठे उत्तर से पति अपनी पत्नी के व्यभिचारिपन को तो समझ ही न सका, उलटे वह उसकी दयालुता और सहृदयता पर प्रसन्न हो कर धन्यवाद देने लगा। पत्नी ने अपने पाप पर पर्दा डाल दिया।

कुटिल प्रकृति का व्यक्ति चाहता रहता है कि कहीं मेरा असली रूप या व्यक्तित्व प्रगट न हो जाए। जिससे मुझे सबके सामने दोषी और लज्जित होना पड़े। उसकी अन्तरात्मा में एक गुप्त भय, छिपी हुई शंका, दुरूहता, अस्पष्टता, और छिपाने की प्रवृत्ति सदा बनी रहती है। वह सोते-जागते, बैठते-उठते, बातचीत या व्यवहार करते, चलते-फिरते अपने व्यवहार में सदैव सतर्क रहता है।

जटिलता ऐसा मनोविकार है, जो मनुष्य को गूढ़ बना देता है। जटिल व्यक्ति सदा एक जगह स्थिर होकर नहीं रहता। वह प्रायः रूप बदलता रहता है। वह अपने अपराधों को छिपाने के लिए अथवा दण्ड से बचने के लिए अपना वेश, व्यवसाय, स्थान और रूप आदि बदलता रहता है. ताकि किसी की गिरफ्त में न आए। तस्करी (स्मगलिंग) या चोरबाजारी करनेवाले व्यक्ति प्रायः इस प्रकार की माया का सहारा लेते हैं। यह जीवन की सुख-शान्ति और प्रतिष्ठा को बर्बाद कर देती है।

आज मनुष्य ने अपना जीवन जटिल, दुरूह और आडम्बर पूर्ण बना लिया है। उसका अन्दर का भाव कुछ और तथा बाहर का आचरण बिलकुल दूसरा है। वह सोचता कुछ है और करता या दिखाता कुछ है। ऐसी जिंदगी में अनेक समस्याएँ, जटिलताएँ एवं परेशानियाँ आए-दिन मुँहबाए खड़ी रहती हैं। मनुष्य का जीवन भारभूत हो जाता है। जटिलता के कारण मनुष्य के व्यक्तित्व के दो हिस्से हो जाते हैं—(१) असली व्यक्तित्व, जो छिपा रहता है, वह दोष युक्त, पापी और अपराधी होता है। (२) सात्त्विक, सरल, निर्दोष और भय से युक्त व्यक्तित्व। इस प्रतिकूलता के कारण गुप्त मन में सदा महाभारत मचा रहता है। दूसरों को धोखा देने, ठगने नीचा दिखाने आदि की इच्छाएँ और जटिलताएँ मायी व्यक्ति के मन में छिपी रहती हैं।

माया : दुराव और छिपाव के रूप में

दुराव और छिपाव भी माया के सहचर हैं, जो स्थायी रूप से मन के कोनों में छिप जाते हैं, जैसे छेद में कील या बिलों में चूहे। ये अज्ञात मन में जटिल भावना-ग्रन्थियों के रूप में छिप कर अपना कार्य किया करते हैं। मनोविज्ञान शास्त्र के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यों का कहना है कि मनुष्य के दैनिक जीवन में बहुत-से मानसिक रोग दुराव-छिपाव की जटिलता के कारण होते हैं। मानव जिस चीज को छिपाना चाहता है, वह प्रायः अनैतिक, अपराध या पाप होती है। उसके साथ उसकी अन्तरात्मा नहीं होती। इसलिए ये विषाक्त विचार दुविधा उत्पन्न करते हैं।

दुराव के कारण मन में अशान्ति, किसी भी सत्कार्य में अरुचि, संघर्ष, निराशा, लोकलज्जा का भय आदि मानसिक संताप होते हैं। दुराव के कारण नासूर, भगंदर, दमा, बवासीर, संग्रहणी, खुजली, स्वभाव का चिड़चिड़ापन आदि रोग हो जाते हैं। प्रायः सभी प्रकार के पागलपन, स्त्रियों को हिस्टीरिया तथा मृगी के दौरे छिपी हुई इच्छाओं के कारण होते हैं। दुराव की ग्रन्थियाँ वीर्यकोष को निःशक्त कर देती हैं, जिस कारण सन्तान नहीं होती। इस प्रकार विविधरूपा माया को छोड़ने के लिए कवि कहता है—

छोड़ दे सारा मायाचार।

पाप छिपा कर क्यों रखता है ? बनता है बीमार ॥ छोड़ दे०॥ ध्रुव ॥

सदा न छिप कर रह पाता छल, आज नहीं तो खुल जाता कल ॥

अविश्वास का लग जाता है, घर-घर में बाजार ॥ छोड़ दे० ॥ १ ॥

छल ना की झूठी चतुराई, फट जाते हैं भाई-भाई।

मुंह से भले न कुछ कह पाएँ, पर मन मे बेजार ॥ छोड़ दे० ॥ २ ॥

माया से दासता : क्यों और कैसे ?

गौतम ऋषि माया का दुष्परिणाम दासता बताते हैं। उनका कहना है कि माया करनेवाले यहाँ भी गुलाम या दास का—सा जीवन व्यतीत करते हैं और अगले जन्म में भी उनके पल्ले गुलामी ही पड़ती है। क्योंकि मायी प्रायः तिर्यंचगति में पशुपक्षी की योनि में जन्म लेते हैं। जहाँ उन्हें जिंदगी भर पराधीनता, गुलामी और दासता का जीवन बिताना पड़ता है। उन्हें भूखे-प्यासे रहने, बोझा ढोने, मालिक की मार पड़ने आदि परतन्त्रता का दुःखमय जीवन ही जैसे-तैसे व्यतीत करना होता है। कदाचित् मानव जीवन भी मिला तो, नारी का पारतन्त्र्य युक्त, परवशता से भरा गुलामी और दासता से युक्त जीवन मिलता है। यह सब पूर्वकृत माया के ही दुःखद फल हैं।

इसी जन्म में भी मायाचार के फलस्वरूप दूसरों के यहाँ नौकरी करनी पड़ती है या गुलामी की दशा में रहना पड़ता है।

चार युवक मित्र थे, चारों स्वेच्छाचारी और मायाचारी। माता-पिता से पढ़ने का कह कर वे आवारा फिरते और मटरगश्ती करते थे। एक बार वे चारों अपने माता-पिता से कहे बिना अपने-अपने घरों से कपटपूर्वक पर्याप्त धन लेकर पर्यटन के लिए चल पड़े। घूमते-घामते वे एक बड़े शहर में एक लॉज में ठहरे। वे प्रतिदिन नित नये बढ़िया-बढ़िया भोजन करते और सैरसपाटा करते हुए मौज उड़ाते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

थे। सिनेमा भी प्रतिदिन देखते थे। यों १५ दिन बीत गए। पैसा सब खर्च हो चुका, इसलिए अब चारों ने अपने वतन की ओर जाने का निश्चय किया। जब वे रवाना होने लगे, तब लॉज वाले ने सौ रुपये का बिल उनके समक्ष रखा। बिल देख कर वे चौंके—'इतना अधिक बिल कैसे हुआ?" लॉज वाले ने कहा—"उस समय भोजन की प्लेटों का आर्डर देना और खाना बहुत अच्छा लगता था, अब बिल चुकाना कड़वा लगता है? परन्तु चारों मायाचारियों के पास धन समाप्त हो चुका था, इसलिए चेहरा फीका पड़ गया। वे लॉज वाले से झगड़ा करने लगे कि "हम इतना पैसा नहीं देंगे।" इस पर लॉज वाले ने कोर्ट में मुकद्दमा दायर किया। न्यायाधीश ने फैसला दिया कि "जब तक वे लॉज का पूरा बिल न चुका दें, तब तक चारों को लॉज में नौकरी करनी होगी।"

इसीलिए तो कहा गया—

'मायाविणो हुंति परस्स पेसा'

मायी जन दूसरों के दास बनते हैं।

छल कपट करनेवाले को दूसरों की चाटुकारी, चापलूसी, खुशामद, नम्रता, विनय आदि का व्यवहार करना पड़ता है, दूसरे की रुचि का पूरा खयाल रखना पड़ता है, मायाचार करने में भी पूरी सतर्कता रखनी पड़ती है, यह सब दासता या गुलामी ही तो है। एक नौकर भी अपने मालिक का इतना ध्यान नहीं रखता, उसे सिर्फ मालिक के द्वारा सौंपे हुए काम से मतलब रहता है, परन्तु माया—कपट करने वाले को जिसके साथ वह कपट करना चाहता है, उसके प्रति बहुत ही नम्र, मधुर व सरस व्यवहार करना पड़ता है। अपने भावों को छिपाने, बाहर-अन्दर की भिन्नता को प्रगट न होने देने के लिए कम प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इस प्रकार मायाचारी का पार्ट अदा करने के लिए मायी को रातदिन दूसरे की इच्छा रखनी पड़ती है।

माया के फलस्वरूप इस जन्म में दासता

पूर्व जन्म में किसी ने माया छलकपट या कुटिलता की हो तो उसका फल इस जन्म में दासता के रूप में मिले बिना नहीं रहता।

पद्मिनी वाराणसी के कमठ सेठ की इकलौती और लाड़ली बेटी थी। वह बचपन से महा माया का घट थी। माता-पिता को भी झूठ बोलकर, कपट रचकर खुश रखती थी। उनका भी पुत्री के प्रति अत्यन्त मोह था। यौवन अवस्था आते ही 'चन्द्र' नामक एक परदेशी के साथ घर जमाई बन कर रहने की शर्त पर पद्मिनी की शादी कर दी। कुछ अर्से बाद पद्मिनी के माता-पिता चल बसे। अब पद्मिनी और चन्द्र दोनों घर के मालिक हुए। परन्तु मायाविनी पद्मिनी अब स्वच्छन्द और अनाचारी हो गई। पति कहीं बाहर जाता तो वह परपुरुष के साथ अनाचार सेवन करती थी। परन्तु पति के आने पर वह अत्यन्त विनय का ढोंग करती और उसके वियोग में दुःखित हो जाने का ऐसा वर्णन करती कि पति समझता—यह महासती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पद्मिनी के एक पुत्र हुआ, तब वह सोचने लगी कि इसे स्तनपान कराऊँगी तो मेरे सब अंग शिथिल हो जायेंगे, मेरा सौन्दर्य और यौवन फीका पड़ जायेगा। अतः पति से कहा—"आज तक मैंने किसी परपुरुष का स्पर्श नहीं किया, तो अब इस बालक को मैं स्तनपान कैसे करा सकूंगी ?" भोलेभाले पति ने उसकी कपटभरी बातें सच्ची मानकर बालक को स्तनपान कराने, खिलाने आदि के लिए एक धाय रख ली।

एक दिन चन्द्र अपनी दुकान में बैठा था। उस समय मकान की छत पर से एक तिनका एक तरुण ब्राह्मण के सिर पर पड़ा। जो उसकी दुकान में बैठा था। अतः चन्द्र ने वह तिनका उसके मस्तक से उठाकर फेंक दिया। इस पर ब्राह्मण कटारी से अपना मस्तक काटने लगा। चन्द्र ने उसे कसकर पकड़ लिया, पूछा—"यह क्या कह रहे हो, भाई ?" वह बोला—"आज तक मैंने किसी का बिना दिया हुआ तिनका भी नहीं लिया और आज यह तिनका मेरे मस्तक ने बिना दिये ग्रहण कर लिया अतः मेरा व्रत भंग हुआ है, इसलिए मैं मस्तक काट रहा हूँ।" चन्द्र ने बहुत कुछ समझाकर उसे वैसा करने से रोका।

चन्द्र के मन में इस ब्राह्मण की व्रत दृढ़ता देखकर विचार आया—"मेरी स्त्री पतिव्रता है और यह ब्राह्मण निर्लोभी और ब्रह्मचारी है, अतः मेरे घर में रहने लायक है।" यों सोचकर चन्द्र उसे आग्रहपूर्वक अपने घर ले गया, भोजन कराया और कहा—बस, अब तुम मेरे घर पर ही रहो। कहीं जाना मत। तुम्हारी सब व्यवस्था मैं करूँगा।" यों उस ब्राह्मण को घर में रखकर चन्द्रसेठ निश्चिन्त हो गया। कुछ ही दिनों बाद ब्राह्मण और पद्मिनी में परस्पर प्रेम बढ़ा और दोनों एक दूसरे से अनाचार सेवन करने लगे।

एक बार चन्द्रसेठ कुसुमपुर गया। वहाँ नगर के बाहर एक उद्यान में एक पक्षी काष्ठ की तरह निश्चेष्ट पड़ा देखा। लोगों के झुंड के झुंड आकर उसे तपस्वी की तरह पूजने लगे। परन्तु जब उसके पूजक लोग चले जाते, तब वह दुष्ट पक्षी उड़ कर चुगे के लिए गये हुए दूसरे पक्षियों के घोंसलों में घुस कर उनके अंडों को चटकर जाता। फिर अपने स्थान पर आकर ध्यानस्थ योगी-सा बैठ जाता।

फिर चन्द्रसेठ अपने सेवक के साथ शौच के लिए गया, तो वहाँ एक तपस्वी को देखा, जो गाड़ी की धूसर परिमित भूमि देखता तथा पूंजता हुआ एक वृक्ष के नीचे आकर कायोत्सर्ग में स्थित हो गया। इसी दरम्यान एक राजकन्या अपनी सखियों के साथ वहाँ खेलने के लिए आई। जब वह राजकन्या अपनी सखियों को छोड़कर अकेली कुतूहल वश उस तापस को देखने निकट आई तो उसने उसे अकेली जानकर उसकी गर्दन मरोड़ दी और उसके गहने उतार कर जमीन में गाड़ दिये। राजकुमारी को मारकर एक खड्डे में गाड़ दिया। फिर वह दूसरी जगह जाकर कायोत्सर्ग में स्थिर हो गया।

यह सब कौतुक देखकर चन्द्रसेठ अपने डेरे पर आया। इधर राजा ने अपनी पुत्री की चारों ओर खोज कराई, पर वह मिली नहीं, अतः नगर के चौराहे पर घोषणा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कराई—"जो राजपुत्री को ढूंढ़कर लायेगा उसे मैं एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दूंगा।" यह सुनकर चन्द्रसेठ के सेवक ने राजा के पास जाकर सारी घटना सुनाई। राजा ने तापस को गिरफ्तार करवा कर मृत्युदण्ड दिया।

इन दोनों अति-आचारों को देखकर चन्द्रसेठ विचार में पड़ गया—जिस प्रकार मैंने इन दोनों घटनाओं में आचार की अति के साथ अत्यन्त कपट देखा, वैसे ही मेरी पत्नी में भी अति-आचार था, इसी कारण उसने पुत्र को स्तनपान नहीं कराया, और तरुण ब्राह्मण में भी अति-आचार था, क्योंकि एक तिनका उसके सिर पर पड़ गया, जिसके लिए वह अपना सिर काटने को तैयार हो गया। क्या इन दोनों अति-आचारी जनों में दम्भ और अनाचार तो नहीं है। मुझे इसकी परीक्षा करनी चाहिए। यों सोचकर चन्द्रसेठ वहाँ से माल लेकर वाराणसी पहुँचे। सब सामन तथा आदमियों को शहर के बाहर किसी धर्मशाला में रख कर रात को अकेला गुप्त रूप से घर आया और एक सूराख के पास चुपचाप खड़ा रहा, जहाँ से घर की सारी वस्तुएँ दिखाई दे सकें। चन्द्रसेठ ने अपनी पत्नी को ब्राह्मण के साथ निःशंक काम-क्रीड़ा करते देखा। यह देखकर वह चुप न रह सका। उसने एक श्लोक का उच्चारण किया—

"बालेनाचुम्बिता नारी, ब्राह्मणस्तृणहिंसकः।
काष्ठभूतो वने पक्षी, जीवानां रक्षकोव्रती॥
आश्चर्याणि च चत्वारि, मयाऽपि निजचक्षुषा।
दृष्टान्यहो ततः कस्मिन्, विश्रब्धं क्रियतां मनः?॥"

"मैंने भी अपनी आँखों से चार आश्चर्य देखे—(१) बालक को स्तनपान न कराने वाली स्त्री, (२) तिनके के लिए अपना वध करने वाला ब्राह्मण, (३) वन में काष्ठ की तरह पड़ा रहने वाला पक्षी और (४) जीवों की रक्षा करने वाला व्रती साधु। तब फिर मेरा मन किस पर विश्वास करे?" अपने पति के वचन सुनते ही पद्मिनी अनाचार सेवन अधबिच में छोड़ कर उठी और ब्राह्मण को घर से बाहर निकाला। फिर पति के स्वागतार्थ सामने आई। परन्तु चन्द्रसेठ स्त्री के कपट चरित्र को देखकर संसार से विरक्त हो गया। शुद्ध वैराग्य भावना से जैन साधु से दीक्षा ग्रहण की। चारित्र-पालन करके उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पहुँचा।

उधर उस ब्राह्मण और पद्मिनी का बुरा हाल हुआ। वे दोनों दूसरों के यहाँ चाकरी करके जैसे-तैसे बड़ी मुश्किल से गुजारा चलाते थे। पद्मिनी तो स्त्री होने के कारण अत्यन्त पराधीन रहती थी। ये दोनों लैला-मजनू, वह काष्ठभूत पक्षी और वह तापस ये चारों अनन्तकाल तक जन्ममरण रूप संसार में परिभ्रमण करेंगे। कहा भी है—

"जह जह वंचइ लोयं, माइल्लो कुडइय वचेहिं।
तह तह संचिणइ मलं, बंधइ भवसायरं घोरं॥"

—ज्यों-ज्यों मायी व्यक्ति अपने कूट-कपटयुक्त वचनों से लोगों को ठगता है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धोखा देता है, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक कर्ममल का संचय करता है और उसके फल-स्वरूप घोर संसार सागर में भ्रमण करने का बन्धन करता है।

निष्कर्ष यह है माया करने से व्यक्ति इस जन्म में दासता एवं परवशता का दुःख पाता है।

माया से अगले जन्म में दासता

माया का फल केवल इसी जन्म में मिलता हो, ऐसा नहीं है, अपितु अगले जन्म में भी मनुष्य पाता है। एक उदाहरण लीजिए—

पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में दो वणिक् रहते थे। उनमें परस्पर बहुत मैत्री थी। पर उनमें एक सरलस्वभावी था, जबकि दूसरा था माया का भण्डार। फिर भी दोनों का साझा व्यापार था। जो सरलमन वणिक् था, वह कपटी से कुछ भी छिपाता नहीं था, मन लगाकर काम करता था, जबकि कपटी सरलमना वणिक् को बहुत ठगता था। फिर दोनों की रुचि दान देने की बहुत थी। आयुष्य पूर्ण करके दोनों में से सरलस्वभावी तो युगलिया हुआ और जो कपटी था, वह युगलक्षेत्र में चार दाँत वाला सफेद हाथी हुआ। वह जब बड़ा हुआ तो एक दिन घूमते-घूमते उसने पूर्व भव के मित्र युगलिये को देखा। उसके हृदय में प्रेम उमड़ा। उस युगलिये को वह अपनी सूँड से उठा कर अपनी पीठ पर बिठा लेता। उसकी यह विशेषता देखकर सभी युगलियों ने उसे सबसे विशिष्ट जानकर उसका नाम विमलवाहन रखा, उसे अपना नायक माना। उस हाथी को भी जाति स्मरण ज्ञान हुआ, जिससे उसने अपना पूर्वजन्म जाना कि मैं माया करने से तिर्यंच हाथी बना हूँ; मैं पराधीन और दास बना हूँ।

इसीलिए एक आचार्य कहते हैं—

अधीत्यनुष्ठानतपः शमाद्यान्
धर्मान् विचित्रान् विदधत् समायान्।
न लप्स्यसे तत्फलमात्मदेह—
क्लेशाधिकं तांश्च भवान्तरेषु॥

हे साधक! ज्ञान, चारित्र, तप, शम आदि विविध धर्मों का आचरण माया सहित करते हुए तुम इनका फल अपनी काया को क्लेश के अतिरिक्त नहीं प्राप्त कर सकोगे, दूसरे जन्मों में भी उनका फल वही मिलेगा।

माया रहित जीवन : आत्मशुद्धियुक्त

वास्तव में, जिस जीवन में माया का वास होता है, वहाँ किसी धर्माचरण में या रत्न त्रय की साधना में एकाग्रता नहीं आ सकती, वह अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों का गुलाम, सांसारिक पदार्थों का दास और शरीर का वशवर्ती मोही बन जाता है धर्म भी मायारहित शुद्ध सरल जीवन में टिकता है। यही भगवान महावीर ने फरमाया—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।'

हमारा प्राचीन भारतीय योग शास्त्र तो मन की निष्कपटता पर अधिक जोर देता है। महात्मा ईसा के ये अमर वचन देखिये—

'जिनका हृदय बालकों की तरह पवित्र है, स्वच्छ है, जो सरल और निष्कपट हैं, वे ही ईश्वरीय राज्य में प्रवेश करेंगे।'

'स्वच्छ हृदय मायारहित होता है, उसी में परमात्मा का निवास होता है।'

जो जीवन मायारहित सरल सत्यमय होता है, उस पर पशु-पक्षी आदि सभी प्राणी विश्वास कर लेते हैं, सरल, स्वभावी, व्यक्ति की वे सब सेवा करते हैं। सरल स्वच्छ हृदय में पर हृदयस्थ माया का पता लग जाता है, वह व्यक्ति राजनीतिक क्षेत्र में हो तो भी गाँधीजी की तरह विरोधी भी उस पर विश्वास करते हैं, वह अजातशत्रु बन जाता है। द्रौपदी के हृदय में आए हुए गन्दे विचारों की शुद्धि सरलता से मायारहित होने पर ही हुई। मायारहित होने पर ही आलोचना, निन्दना, गर्हणा, प्रायश्चित्त आदि द्वारा व्यक्ति आत्मशुद्धि कर सकता है।

साध्य कितना ही पवित्र एवं उत्कृष्ट क्यों न हो, यदि उस तक पहुँचने का साधन मायादि दोषों से युक्त गलत है, तो साध्य की उपलब्धि भी असम्भव है। जिस तरह मिट्टी का तेल जलाकर वातावरण को सुगन्धित नहीं बनाया जा सकता, उसी तरह मायादि दोषयुक्त साधनों के सहारे उच्च लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। वातावरण शुद्धि के लिए लोग सुगन्धित द्रव्य जलाते हैं, तथैव उत्तम साध्य के लिए साधनों का होना अनिवार्य है, जनसेवा जैसा सार्वजनिक क्षेत्र हो, या राजनैतिक, सामाजिक क्रान्ति हो या व्यक्तिगत साधना, सर्वत्र मायादि रहित शुद्ध साधनों के होने पर लक्ष्य की प्राप्ति होगी। आर्थिक क्षेत्र में भी नीति धर्मयुक्त पुरुषार्थ न करके लोग जुआ, सट्टा, चोरी, मिलावट, तस्करी, मुनाफा खोरी आदि मायायुक्त अनुचित उपायों को अजमाते हैं, वे स्व पर-कल्याण एवं आत्मशुद्धि के मार्ग में स्वतः रोड़ा अटकाते हैं, स्वयमेव माया जनित उपायों का आश्रय लेकर या झूठे आडम्बर आदि से प्रसिद्धि एवं वाह-वाही प्राप्त करके कुछ अर्से के लिए भले ही चमक जाएँ, पर वह तो 'चार दिनों की चाँदनी, फिर अंधेरी रात' की तरह अस्थायी चमक हैं, बुझते हुए दीपक की तरह एक बार की भभक है, फिर तो अन्धकार एवं पतन है। अतः जीवन का उत्थान चाहते हैं, आत्मा की विशुद्धि की अपेक्षा है, रत्नत्रय की साधना से साध्य—मोक्ष प्राप्त करने की तड़फन है, तो मायारहित जीवन बनाइये, वही उन्नत जीवन है। मायायुक्त जीवन तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सांसारिक सजीव-निर्जीव पदार्थ आदि की गुलामी और परतन्त्रता की ओर ही ले जाता है, इनकी गुलामी से मुक्त शुद्ध स्वतन्त्र जीवन तो मायारहित होने पर ही प्राप्त होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१५

पाते नरक, लुब्ध लालची

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज आपके समक्ष एक ऐसे जीवन की चर्चा करना चाहता हूँ, जो महालोभी और महाकांक्षी होने से नरक का मेहमान बनता है। गौतमकुलक का १४वां जीवन सूत्र है यह ! गौतम महर्षि कहते हैं—

'लुद्धा महिच्छा नरयं उवेंति'

अर्थात् लोभी और महान् इच्छाओं वाले व्यक्ति नरक पाते हैं। इस सूत्र में लोभी और महाकांक्षी—महेच्छक व्यक्ति का जीवन कितना दुखी व उसकी अन्तिम गति कैसी होती है ? यह बताने के साथ-साथ उसका परिणाम—जीवन की सफलता असफलता का निचोड़ भी बता दिया है।

नरक के साथ लोभ और महेच्छा का सम्बन्ध

आप लोग जानते हैं कि नरक एक भयंकर गति है, जहाँ बड़े भयंकर दुःख और भय हैं। दुःख और भय के मारे जहाँ लोग चिल्लाते-चीखते हैं, जोर-जोर से हायतोबा मचाते हैं, विलाप करते हैं, रोते-झींकते हैं, करुण पुकार करते हैं, फिर भी उनकी पुकार सुनकर कोई भी सहायता और रक्षा के लिए नहीं आता। बल्कि जब नारकीय जन दुःख और यातना के समय जोर-जोर से रुदन करके पुकारते हैं—"हे माता-पिता ! हे तात ! मुझे छोड़ दो, मुझे बचाओ, मैं आयंदा ऐसा नहीं करूँगा, मैं आपका दास हूँ, मारो मत मुझे, तब नरक के परमाधार्मिक देव उसके साथ सहानुभूति बताना और उस पर दया करना तो दूर रहा, उलटे जोर से गर्जकर कहते है—"अब तुझे अपने को बचाने और दया की बात सूझी है, जिस समय अमुक पाप करता था, उस समय कहां गया था ? उस समय दूसरों के गिड़गिड़ाते रहने पर भी तुझे उनके प्रति दया, सहानुभूति नहीं आई, अब अपने लिए दया और सहानुभूति की याचना करता है !" यों कहकर और अधिक क्रूरता के साथ उसे यातना दी जाती है। उसकी चमड़ी उधेड़ ली जाती है, अधिक से अधिक क्रूर व्यवहार उसके साथ किया जाता है। इसीलिए नरक का निर्वचन एक आचार्य करते हैं—

'नरान् कायति शब्दायते-आह्वयते इति नरकः'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ मनुष्यों को सहायता या रक्षा के लिए चिल्ला-चिल्लाकर या पुकार कर बुलाया जाता है, वह नरक है।

आजकल के कई शिक्षित लोग नरक को गप्प समझते हैं, वे कहते हैं कि लोगों को डराने के लिए कुछ बुद्धिमानों ने नरक शब्द गढ़ लिया है और जब-तब नरक का हौआ बता कर उन्हें साहस के काम करने से रोकते हैं। परन्तु नरक न होता तो इतने भयंकर पापकर्म करने वालों को, जिनको यहाँ किसी प्रकार की सजा नहीं मिली है, दूसरा लोक न हो तो सजा कहाँ मिलेगी? मनुष्य की जीवन यात्रा केवल इस लोक में ही तो समाप्त नहीं हो जाती, वह अनेक जन्मों तक चलती है, उन जन्मों की यात्रा में क्रूरकर्म करने वालों में से जिन लोगों ने भयंकर क्रूर कर्म किये हैं, उन्हें जहाँ पड़ाव करना पड़ता है, वह है नरक। नरक एक ऐसा पड़ाव है, जहाँ उन क्रूर कर्मा लोगों को अपने कुकर्मों की भयंकर सजा मिलती है। अगर ऐसा न हो तो सत्कर्म करने वाले और दुष्कर्म करने वाले दोनों का जन्म एक ही गति में होगा। फिर सत्कर्म करने और दुष्कर्म छोड़ने की प्रेरणा कैसे मिलेगी? यह तो सारी अव्यवस्था हो जाएगी और कर्मफल का सिद्धान्त ही झूठा हो जाएगा। इसलिए नरक का अस्तित्व वास्तविक है, गप्प नहीं है। जो लोग ऐसे साहस के काम करते हैं, जिनसे दूसरों की प्राण-हानि होती हो, दूसरों का दिल दहल जाता हो, दूसरों के मन में भयंकर प्रतिक्रिया उत्पन्न होती हो, अनेक जीवों का संहार होता हो; जैसे चोरी, डाका, लूट, बलात्कार, शिकार, पशुवध, मांसाहार, पंचेन्द्रियवध, युद्ध अपनी क्रूर महत्वाकांक्षाएँ, आदि सब नरक-गमन के कारणभूत साहस हैं।

सभी धर्मों में नरक को एक या दूसरे प्रकार से, अपने-अपने देश की भाषा में माना है। सभी धर्म शास्त्रों में क्रूर कर्म करने वालों के लिए नरक का विधान किया गया है।

परन्तु जो लोग यह समझते हैं, कि नरक मिलना होगा, जब मिलेगा या नहीं भी मिले, यहाँ हम बेरोकटोक साहसिक क्रूर कर्म करते रहें, उनसे हमारा क्या बिगड़ने वाला है, यहाँ तो कोई हमें नरक नहीं दे सकता, वे लोग भी भयंकर भ्रम में हैं। जो यहाँ नरक के काम करते हैं, उन्हें भविष्य में तो नरक मिलने ही वाला है, परन्तु यहाँ भी प्रायः उन्हें नारकीय जीवन बिताना पड़ता है। उनका जीवन इतना दुःखमय, रोग, शोक और भय से आक्रान्त हो जाता है कि उन्हें इस जीवन में ही नरक की-सी पीड़ा—असह्य यातना और वेदना मिल जाती है। धन, कोठी, कार, बंगला साधन और सुविधाएँ होते हुए भी वे नारकीय जीवन का अनुभव करते हैं, या तो जेल में सड़-सड़ कर मरते हैं अथवा असाध्य रोग से रिस-रिस कर इस लोक से विदा होते हैं अथवा बुरी तरह से उनकी मौत होती है।

अतः ऐसी घातक एवं पीड़ादायक नरकस्थली इसी जन्म में तैयार हो जाती है अथवा मिल जाती है। एक पाश्चात्य विचारक कहता है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"A guilty Conscience is a hell on earth, and points to one beyond."

एक अपराधी चेतना इस पृथ्वी पर नरक है, जो वैसे व्यक्ति को परलोक (नरक) की ओर अंगुलिनिर्देश करता है।"

एक और पाश्चात्य विचारक के शब्दों में—

Hell is but the Colleted ruins of the moral world and sin is the Principle that has mane them.

"नरक क्या है ? नैतिक जगत् के संग्रह किये हुए खण्डहर और पाप वह सिद्धान्त है, जिसने इन्हें खण्डहर बनाया है।"

वास्तव में देखा जाय तो हिंसा आदि पापों से नीति-धर्म आदि के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। उन्हीं के फलस्वरूप मनुष्य यहाँ भी पतित और भ्रष्ट जीवन जीता है जिसे नारकीय जीवन कहते हैं। नरक जीवों को जैसे अज्ञानान्धकार के कारण कोई बोध, सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन प्रायः नहीं मिलता, वैसे यहाँ भी नारकीय जीवन जीने वालों को सम्यग्ज्ञान-सम्यदर्शन की झांकी नहीं मिलती। इसके कारण ऐसे नारकीय जीवन जीने वाले लोग यहाँ लड़ते-झगड़ते हैं, परस्पर हत्या, चोरी, लूटपाट, व्यभिचार आदि में ही रचे-पचे रहते हैं।

ऐसे भयंकर नरक या नारकीय जीवन को प्राप्त कराने वाले दो तत्त्व हैं—(१) महेच्छा और (२) लोभ। जिस जीवन में असीमित विशाल इच्छाएँ रहती हैं और लोभ रहता है, वह यहाँ भी नारकीय जीवों का-सा जीवन बिताता है, और परलोक में भी उसे नरकगति में नारकीय जीवन मिलता है।

महेच्छा और लोभ से प्रेरित नारकीय जीवन की एक झलक

जिसके जीवन में इच्छाओं के साथ लोभ का घेरा रहता है, वह इच्छाओं को पूर्ण करने में इतना पागल हो जाता है कि तमाम अनुचित एवं पापकर्मों को करने से नहीं हिचकिचाता। उसकी इच्छाएँ उसे रात-दिन आर्तध्यान और रौद्रध्यान के नारकीय गर्त में डाले रहती हैं। इच्छाओं का कीड़ा बनकर वह उसी गन्दगी में क्षणिक आनन्द मानता है, फिर वही हाय-हाय शुरू होती है।

अपनी विकृत महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए वह एडी से चोटी तक पसीना बहा देता है। ये विकृत महत्वाकांक्षाएँ व्यक्तिगत स्वार्थपरता, (लोभ) वासना तृष्णा और अहंकारिता से लिपटी होती हैं। उन विकृत महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए व्यक्ति अपना और समाज का सर्वनाश करके नारकीय जीवन बिताता है।

अमेरिका के एक छोटे-से राज्य का नाम है—हैटी। उसका शासनाध्यक्ष 'नियोनियस नुजिलो' इसी विकृत महत्वाकांक्षा और लोभ के रोग से पीड़ित था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह गोरा नहीं, काला किरानी था। प्रारम्भ में वह एक डाकखाने में बाबू था। पड़ौसियों के जानवर चुरा लेना, और चटकर जाना, उसका प्रारम्भिक कार्यक्रम था। बाद में उसने अमीरों को शराब, जुआ और लड़कियाँ सप्लाई करने का धन्धा अपनाया। एक कुख्यात तस्कर मैक्सीन के साथ साँठ-गाँठ करके वह राजनीति में घुसा और हथकण्डेबाजों के सहारे शासनाध्यक्ष बन गया। उसने विभिन्न प्रकार की तिकड़मबाजी करके करोड़ों की सम्पत्ति कमाली और पानी की तरह विलासिता एवं रंगरेलियों में बहा दी। उस राज्य में चल रही अपराधी प्रवृत्तियों में उसका छिपा हाथ रहता था और उससे वह भारी कमाई करता था।

महत्वाकांक्षी और लोभी नुजिलो ने संकेत करके अपने राज्यों में सिर्फ दो नारे लिखवाये—एक ईश्वर का, दूसरा नुजिलो का। वह अपने राज्य में अपने को ईश्वर के समकक्ष कहलवाता था। एक बार नुजिला ने समाचार पत्रों में अपनी मृत्यु का समाचार छपवा दिया, फिर कुछ दिनों बाद वह प्रकट हो गया। उसकी मृत्यु पर जिन-जिन लोगों ने खुशियाँ मनाई थीं, उनका पता लगाकर उसने उन सभी लोगों को मौत के घाट उतरवा दिया।

सामान्य लोभ के साथ उसकी विकृत महत्वाकांक्षा का सबसे नृशंस कुकृत्य कुछ ही वर्षों पहले संसार ने जाना, जो नादिरशाह, चंगेजखाँ और हलाकू के कुकृत्यों को भी मात कर गया।

बात तनिक-सी थी। नुजिलो की एक रखैल 'डोला आयसाबेल माये' ने उसे ताना मारा कि उसके कृषि फार्म के पेड़ों की पत्तियाँ चरवाहे लोग अपने जानवरों को चरा देते हैं और वह शासक होते हुए भी उन्हें रोक नहीं पाता।" व्यंग करारा था। नुजिलो ने उसी क्षण रुष्ट प्रेमिका को आश्वासन दिया कि 'वह चरवाहों के पूरे गाँव का ही अस्तित्व मिटा देगा।' दूसरे दिन वह सेना को साथ लेकर उस गाँव 'ऊआनामि' पहुँचा और वहाँ के समस्त नीग्रो नागरिकों का कत्ले आम करा दिया। नर-नारी, बालक-वृद्ध, सभी घरों से पकड़कर लाये जाते और रस्सों से बँधे उन लोगों को भोंथरी कुल्हाड़ियों से लकड़ी चीरने की तरह काट डाला गया। गिरजाघर में छिपे हुए अबोध बालकों तक को उसने नहीं छोड़ा। वहाँ के निवासी कुल २५०० लोगों का उसने अपनी क्रूर महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सफाया करवा दिया। एक भी जीवित नहीं बचा। वह सारा इलाका लाशों से पट गया और जमीन रक्त रंजित हो गई।

इस प्रकार २५०० निरीह निरपराध मनुष्यों के नृशंस वध की मिसाल कम से कम इस शताब्दी में तो नहीं मिलती।

कहते हैं, उसने अपनी छोटी-सी जिन्दगी में अपने बालों से भी अधिक संख्या में कुकृत्य किये होंगे। ये किसी अभाव या संकट के कारण नहीं, किन्तु अपनी विकृत महत्वाकांक्षा एवं लोभवृत्ति से प्रेरित होकर किये थे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आखिर इस पाप का घड़ा फूटा। सन् १८९१ में जन्मे और १९३० में एक राज्य के शासनाध्यक्ष बने पापी नुजिलो को उसी के राज्य के किसी खीजे हुए प्रजाजन ने ३१ मई १९६१ को गोली से उड़ा दिया।

क्या आप नुजिलो के जीवन को नारकीय जीवन नहीं कहेंगे ? बन्धुओ ! इस प्रकार के बड़ी-बड़ी विकृत इच्छाओं और लिप्साओं से प्रेरित व्यक्ति वहाँ भले ही पूर्व पुण्यवश कुछ दिन के लिए आनन्द मना ले, लेकिन आखिर उन भयंकर कुकृत्यों के फल भोगते समय उसे नानी याद आ जाती है। एक पंजाबी कवि ने इसका शब्दचित्र खींचा है उसकी वह कुछेक पंक्तियाँ मुझे याद आ रही हैं—

"हंसदे ने खिल खिल जेहड़े, रोवणगे यार कलनूं।
यम्मां ने लेखा लेणा, फड़के तलवार तैनूं॥"

जो आज अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण होते देख उन पाप कर्मों को करके खिलखिलाकर हंसते हैं, वे कल को (भविष्य में शीघ्र ही) फूट-फूट कर रोयेंगे। जब यम (नरक के परमाधामी देव) तलवार हाथ में पकडकर उसके पाप कर्मों का लेखा लेंगे, यानी फल देंगे।

उच्छृंखल विशाल इच्छाएं मन-मस्तिस्क पर हावी हो जाती हैं

यह तो आप जानते ही हैं कि इच्छाएँ अनन्त हैं और मनुष्य जितनी इच्छाएँ करता है, उतनी कदापि पूरी नहीं होतीं, न हो सकती हैं। प्रसिद्धवक्ता सिसरो (Cicero) ने भी कहा है—

"The thurst of desire is never filled nor fully satisfied" इच्छा की प्यास कभी बुझती नहीं है, और न ही पूर्णतया सन्तुष्ट होती है। एक बार एक आध्यात्मिक गुरु ने अपने शिष्य से पूछा—"वत्स ! यह तो बताओ कि क्या तुमने कहीं कोई बिना पाल का सरोवर देखा है ?" शिष्य ने गुरुजी का आशय समझ कर कहा—"***इच्छा गुरुजी ! बिन पाल सरवर।***" गुरुदेव ! दुनिया में इच्छा एक ऐसा सरोवर है, जिसके कोई पाल नहीं है, क्योंकि इच्छाओं की कोई सीमा नहीं होती। इसीलिए इच्छा पूरी न होने के दो कारण हैं—एक कारण तो यह है कि मनुष्य की इच्छाओं, कामनाओं, तृष्णाओं या एषणाओं की कोई सीमा नहीं होती। वे असीम होती हैं और फिर दूसरा कारण यह भी है कि मनुष्य की इच्छाओं का एक रूप या प्रकार स्थिर नहीं होता, वह बिजली की चमक की तरह बार-बार बदलता रहता है। एक इच्छा अभी पूरी हुई ही नहीं, तब तक दूसरी उससे विरोधी इच्छा पैदा हो जाती है। मनुष्य यदि उन इच्छाओं की गिनती करने बैठे तो गिनती करता-करता थक जाये। फिर इस छोटी-सी जिन्दगी में इतनी असीम इच्छाओं की पूर्ति कर ही कैसे सकता है ? कभी-कभी तो एक इच्छा की पूर्ति करने में ही वर्षों लग जाते हैं, उस दौरान कई नई-नई इच्छाएँ आकर अपनी झांकी दिखा जाती हैं। इच्छाओं के पीछे दीवाना बना हुआ मनुष्य इस बात को नहीं समझता कि मैं जिन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उच्छृंखल एवं नीति-धर्ममर्यादा के विरुद्ध इच्छाओं को पूरी करना चाहता हूँ, वे छोटी-सी जिन्दगी में कैसे पूर्ण होंगी ? मान लो, आज ही उसकी जीवन लीला समाप्त होने आ गई, मृत्यु सामने आकर खड़ी हो गयी तो उन उच्छृंखल इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं, विकृत कामनाओं, वासनाओं एवं तृष्णाओं का क्या होगा ? वे कैसे सुलझेंगी, जिनके लिए वह प्रतिदिन अनवरत मनमस्तिष्क को बौद्धिक व्यायाम कराके थकाता रहता है, चिन्ताक्रान्त रहता है, जीवन के मूलभूत उद्देश्य और लक्ष्य को सर्वथा भूलकर उन उच्छृंखल इच्छाओं के पीछे अहर्निश भागता रहता है ?

जिन्दगी पानी के बुलबुले की तरह क्षणिक है, यह नितान्त सत्य है। भरी जवानी में, उठती उम्र के नौजवानों की लाशें रोज ही आँखों के आगे से गुजरती हैं, फूल-से कोमल बच्चे देखते ही देखते मुर्झा जाते हैं, फिर उस व्यक्ति के जीवन की क्या गारंटी है कि वह बुढ़ापा आने से पहले इस लोक से विदा नहीं होगा ? और बचपन, यौवन और प्रौढ़ अवस्था को झटपट पार करके क्या बुढ़ापा नहीं झांकने लगेगा ? बुढ़ापा आने के बाद तो मृत्यु कुछ भी दूर नहीं है। किसी समय आ सकती है वह ! अतः इच्छाओं के घोड़ों पर सवार होकर सरपट दौड़ने वालों के लिए यह सोचने की बात है कि यदि वह दुखःद घड़ी कल ही उपस्थित हो जाये तो क्या करेंगे ? क्या उनकी बड़ी-बड़ी आसमानी इच्छाएँ उनके तूफानी मनसूबे, और उनकी येन-केन-प्रकारेण प्रचुर धन कमाने की हविस, संसार के रंगमंच पर विलासिता और काम-भोग की वासनाएँ ज्यों की त्यों धरी नहीं रहेंगी।

यदि शरीर की अमिट वासनाओं, मन की अनन्त तृष्णाओं और अहंकार जनित विकृत महत्वाकांक्षाओं के रूप में समस्त इच्छाओं में से प्रत्येक को तृप्त करने में एक-एक भी लगा दिया जाये तो सारा का सारा जीवन लगा देने पर भी सबका नम्बर नहीं आयेगा। यही नहीं, स्वल्प मात्रा में भी एक-एक इच्छा को पूर्ण करने में एक-एक पल लगाया जाये तो भी सम्पूर्ण जिन्दगी खपा देने के बावजूद सब इच्छाओं की बारी नहीं आयेगी। कुछ इच्छाएँ कदाचित पूर्ण होने-सी लगें, किन्तु बीच-बीच में आग में घी डालते रहने पर भी न बुझने वाली ज्वाला प्रज्वलित होती रहेगी, वह शान्त होने वाली नहीं।

हाँ, तो क्या मनुष्य इन इच्छाओं की पूर्ति के गोरख-धन्धे में ही लगा रहेगा ? क्या वह उच्छृंखल इच्छाओं का गुलाम बन कर उनके इशारे पर ही जिन्दगी भर नाचता रहेगा ? इसके बदले में जीवन यात्रा के लिए आवश्यक और उचित साधन जुटाने में सामान्य श्रम, समय और मनोबल लगाने के अलावा शेष बचे श्रम, समय, मनोबल एवं पुरुषार्थ को आत्मकल्याण एवं परमार्थ में लगाया जाए तो कुछ इच्छाओं की पूर्ति से मिलने वाले कल्पित एवं क्षणिक वैषयिक आनन्द की अपेक्षा अक्षय और आत्मिक आनन्द मिलता। परन्तु यह तभी हो सकता है, जबकि वासनाओं, तृष्णाओं और महत्वाकांक्षाओं पर उचित नियन्त्रण प्राप्त करके मस्तिष्क को आत्मचिन्तन के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के लिए पर्याप्त अवकाश दिया जाए। परन्तु देखा यह जाता है कि मनुष्य विविध प्रकार की इच्छाओं के उच्छृंखल एवं बेलगाम घोड़ों पर सवार होकर सारा समय, बल, श्रम एवं साधन लगा देता है, इन्हीं की मनमानी करने में। उच्छृंखल वासनाएँ, तृष्णाएँ और महत्वाकांक्षाएँ ही मनुष्य का सारा ओज, रुचि एवं मस्तिष्क जोंकों की तरह चूसती रहती हैं। यदि इन नागिनों से छुटकारा पा ले और अपना अधिकांश समय, श्रम एवं बल आत्मकल्याण के लिए सोचने-विचारने और कुछ करने में लगाए तो जीवन के वास्तविक लक्ष्य को आसानी से पूर्ण कर सकता है। परन्तु अधिकांश मनुष्य जानबूझ कर इन इच्छाओं के दास बन जाते हैं। कई बार वह प्रतिज्ञा भी कर लेता है, परन्तु इच्छाएँ उस पर इतनी हावी हो जाती हैं, कि इच्छाओं के सामने आते ही सारी प्रतिज्ञाएँ ताक में धरी रह जाती हैं।

यद्यपि मनुष्य इच्छाओं के चंगुल में फंस कर अतृप्ति के कारण बार-बार दुःख पाता है, इच्छा की पूर्ति करने में कई खतरों का भी सामना करना पड़ता है, उसका जीवन सदा भयाक्रान्त रहता है, फिर भी वह बारबार उन्हीं इच्छाओं में लिप्त हो जाता है। सन्त तिरुवल्लुवर कहते हैं—"इच्छा कभी तृप्त नहीं होती, किन्तु अगर कोई मनुष्य उसका स्वेच्छा से त्याग कर दे वह उसी समय सम्पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।"

इसलिए उचित तो यह है कि मनुष्य किसी भी प्रकार की उच्छृंखल इच्छा को अपने पर हावी न होने दे।

इच्छाएं असन्तुष्ट पर हावी होती हैं

आज अधिकांश व्यक्ति असन्तुष्ट दिखाई देता है। मनुष्य प्रत्येक मनोरथ—उच्छृंखल मनोकामना—में सफलता, शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करना चाहता है, जो कुछ प्राप्त है, उसमें सन्तोष नहीं करता और अपनी योग्यता, सामर्थ्य और क्षमता से अधिक पाना चाहता है। यह निश्चित है, वह उतनी और उस प्रकार की वस्तु मिल नहीं सकती। इसीलिए वह असन्तुष्ट रहता है। असन्तोषजनित दुःख, चिन्ता और मगज-मारी उसके जीवन को घेरे रहती है।

जब व्यक्ति अपने से अधिक धनवान तथा साधन सम्पन्न को देखता है, काम-भोगों की अधिक सुखसुविधाएँ दूसरों के पास उसकी दृष्टि में आती हैं, दूसरों के यहाँ कार, कोठी, नौकर-चाकर और सन्तानों की चहलपहल देखता है, तो उसके मन में भी आता है कि मैं भी ऐसा ही क्यों न बन जाऊँ। मेरे पास भी मौजशौक के साधन हों, मेरे आँगन में बच्चों की चहलपहल हो, मेरी तिजोरी में भी चाँदी भवानी की छनाछन हो, मेरे पास भी कार, कोठी और नौकर-चाकर हों। बस, इसी असन्तोष में से इच्छाओं का जन्म होता है, फिर इच्छाओं के साथ नाना कल्पनाओं के रंग भरे जाते हैं, इच्छाओं की पूर्ति के लिए नाना प्लानों की दौर शुरू होती है। इस प्रकार इच्छाएँ असन्तुष्ट मनुष्य पर हावी होकर चुड़ैलों की तरह तंग करती रहती हैं। यही बात ऋषिभाषित में कही गयी है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"इच्छा बहुविहा लोये, जाये बद्धो किलिस्सति ।
तम्हा इच्छामणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधति ।।"

संसार में इच्छाएँ अनेक प्रकार की हैं, जिनसे बँध कर जीव बहुत क्लेश—दुःख पाता है । इसलिए इच्छा को अनिच्छा से जीत कर ही मनुष्य सुख पाता है ।

अनिच्छा से इच्छाओं को कैसे जीता जाये ? यह सवाल आज का नहीं, सनातन है । हर युग का मनुष्य इस पर विचार करता रहा है । भगवान महावीर ने उत्कृष्ट साधकों के लिए बताया—

'इच्छा लोभं न सेविज्जा'

"साधक को इच्छा और लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए ।" गृहस्थ साधकों के लिए उन्होंने 'इच्छापरिणामव्रत' बताया, क्योंकि उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि वह सारे परिवार को साथ लेकर इच्छाओं पर सर्वथा विजय प्राप्त कर ले ।

इच्छाएँ जब भी आएँ, तब भी उसे मन को समझाना होगा, मन के विरुद्ध सत्याग्रह भी करना होगा, तभी वह इच्छाओं पर अनिच्छा द्वारा विजय प्राप्त कर सकेगा ।

एक मुसलमान को सांसारिक पदार्थों से विरक्ति हो गई । उसे सभी वस्तुएँ रखना भाररूप मालूम होने लगा । उसने सोचा कि वस्तुएँ पास में रहेंगी तो फिर इच्छा जगेगी, उनसे उत्कृष्ट वस्तुओं को या उनसे अधिक वस्तुओं को पाने की, इसलिए इन वस्तुओं पर से ही ममत्व छोड़ दिया जाए तो अच्छा है । अतः उसने घर में से बर्तन, कपड़े, गहने आदि सब चीजें बाहर निकाल कर एक जगह ढ़ेर कर दीं । फिर उसने याचकों को बुलाकर उनको वे सब चीजें बाँट दीं । अपने पास उसने फूटी कौड़ी भी न रखी ।

फिर उसने अपने मन से कहा—"अरे मन ! अब तेरे पास कुछ भी नहीं रहा । अब तू बिलकुल निर्धन और अकिंचन हो गया है । अब तू किसी भी वस्तु की इच्छा मत करना । अगर इच्छा करेगा भी तो वह पूर्ण नहीं होगी । क्योंकि अब न तो एक भी पैसा पास में है और न ही कोई साधन ।" मुस्लिम विरक्त के मन ने स्वीकार कर लिया कि वह अब कोई भी वस्तु नहीं चाहेगा ।"

पर मन आखिर मन ही ठहरा, बड़ा चंचल, उतावला और उद्दण्ड ! वह कहाँ तक स्थिर रह सकता था ! जब मुस्लिम को शाम तक भोजन नहीं मिला और वह शाम को नगर के बाहर विश्राम के लिए बैठा तो मन ने इच्छा की—"कहीं से चावल दाल मिलता तो पेट भर लेता ।" परन्तु पास में फूटी कौड़ी भी नहीं थी, इसलिए मन की इच्छा पूरी न हुई ।

कुछ ही देर बाद एक गाड़ी वाला आया तो उसने उससे पूछा—"एक बैल का एक दिन का किराया तुम्हें कितना देना पड़ता है ?" गाड़ी वाले ने कहा—"तांबे का एक सिक्का देना पड़ता है ।" विरक्त मुस्लिम बोला—"भाई ! इस बैल के बदले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आज मुझे इस गाड़ी में जोत लो। सुबह मुझे एक ताँबे का सिक्का दे देना, ताकि उससे मैं अपना पेट भर सकूँ।"

गाड़ी वाले ने दया लाकर उस बैल को छोड़कर विरक्त को गाड़ी में जोत लिया। रात भर उससे काम लिया। सुबह होते ही उसे एक तांबे का सिक्का देकर छोड़ दिया।

रातभर के परिश्रम के कारण विरक्त का शरीर थककर चूर-चूर हो गया था, इसलिए उसे विश्राम की इच्छा हुई। विश्राम से पूर्व उसे मन की इच्छा पूर्ण करनी थी, इसलिए ताँबे के सिक्के के बदले चावल दाल लाया और पेट भरकर भोजन किया।

भोजन के पश्चात् वह मन से कहने लगा—"रे मन ! अगर तू प्रतिदिन ऐसी ही इच्छा करता रहेगा तो इसी प्रकार परिश्रम करना होगा, शरीर भी थककर चूर-चूर हो जाएगा, फिर वह तेरे कहे अनुसार भजन आदि नहीं कर सकेगा।"

रात भर के परिश्रम से विरक्त के मन को इतना कष्ट हुआ कि भविष्य में उसने कभी ऐसे भोजन की इच्छा नहीं की, जब भी, जैसा भी, जहाँ भी, जो भी, जितना भी भोजन मिल गया, उसी में तृप्त हो गया। असन्तोषी बन कर मन ने फिर कभी शिकायत या मांग नहीं की और न ही कभी भोजन की इच्छा की।

यह है, इच्छा को अनिच्छा के अभ्यास से जीतने का एक तरीका। एक पाश्चात्य विचारक Helvetius (हेल्वेटियस) ने भी इस सम्बन्ध में कहा है—"By annihilating the desires, you annihilate the mind." इच्छाओं को शून्य करने के लिए तुम्हें मन को शून्य (खाली) करना चाहिए।

इच्छाओं के साथ ही लोभ घुस जाता है

मनुष्य पहले बड़ी-बड़ी इच्छाएँ करता है, फिर उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए लोभ को साथ ले लेता है। लोभ बार-बार उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए मन को उकसाता है। इस प्रकार मन इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए कमर कसता है और नाना पाप कर्म करने को तैयार हो जाता है। इसलिए अगर इच्छाएँ इच्छा करने तक ही सीमित रहें तो मन से उन्हें खदेड़ा जा सकता है, किन्तु जब वे लोभ को साथ ले लेती हैं तब इच्छाओं के पैर मजबूती से जम जाते हैं। फिर उन्हें उखाड़ना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।

एक पाश्चात्य विचारक Pliny (प्लीनी) का इस विषय में स्पष्ट चिन्तन है—"The lust of avarice has so totally seized upon mankind that their wealth seems rather to possess them, than they to possess their wealth."

"धन-लोभ की लालसा ने मनुष्य जाति को पूर्णतया इस प्रकार जकड़ लिया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि मालूम होता है धन पर उसके आधिपत्य के बजाय धन ही उन पर आधिपत्य जमाए बैठा है।"

लोभ का काम ही है कि वह मनुष्य को इच्छाओं की पूर्ति के लिए बार-बार उत्तेजित करता है। वह शैतान की तरह जब मनुष्य के मन में घुस जाता है तो मन पर उसका कब्जा हो जाता है, फिर वह मन को गलत और उच्छृंखल इच्छाओं की पूर्ति के लिए आदेश देता रहता है। वह असंतोष की आग भड़काता रहता है, मानव-मन में।

लोभ किस प्रकार असन्तोष की आग लगा कर मन को इच्छा की पूर्ति के लिए उकसाता है? इसके लिए मुझे एक रोचक उदाहरण याद आ रहा है—

एक पहाड़ पर अनार का बगीचा था। तलहटी से अनार के पेड़ दिखाई दे रहे थे। अनार के फलों से झुकी हुई टहनियाँ भी स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। अनारों को देख कर वहाँ घूम रहे एक भक्त के मुंह में पानी भर आया। उसके मन में अनार खाने की प्रबल इच्छा जागी। मन की उद्दाम कामना की पूर्ति के लिए अनार खाने के लोभ ने मन को विवश कर दिया, जिससे घर की ओर बढ़ते हुए कदम पहाड़ पर चढ़ने के लिए बाध्य हो गए। कामना-आकांक्षा को लिए वह पहाड़ पर पहुँचा वहाँ भी पक्की अनारों को देख वह अपने लोभी मन को रोक न सका। बगीचे के संरक्षक के सामने उसने अपनी इच्छा व्यक्त की और उससे अनार खाने की इजाजत मांगी। बगीचे के संरक्षक ने भला आदमी समझ कर उसे अपनी इच्छानुसार अनार खाने की स्वीकृति देदी। अब क्या था! वह बगीचे में घुसा और एक पेड़ पर अच्छी सी पकी अनार देख कर तोड़ी और उसे चाकू से काट कर खाने लगा। पर वह अनार खट्टी थी। इसलिए खा नहीं सका। फिर उसने ४-५ वृक्षों से अनार तोड़ी पर वे सब खट्टी थीं, इसलिए खा न सका, उसकी मनोकामना पूर्ण न हुई। वह परेशान होकर बगीचे में इधर-उधर घूमता रहा। उसे अपनी इच्छानुसार अनार मिल नहीं रही थी, इसलिए हैरान था। उसके चेहरे पर परेशानी स्पष्ट झलक रही थी। उसी बगीचे में एक सन्त एक पेड़ की छाया में ईश्वर भजन में मस्त बैठा था। उसके घाव पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं, उस ओर उसका ध्यान भी नहीं जाता था। वह तो भक्ति के संगीत में मग्न था। सन्त को देख कर इस आगन्तुक भक्त ने नमस्कार किया और पूछा—'ये मक्खियाँ आपको काट रही हैं, आप इन्हें उड़ा कर कष्ट मुक्त क्यों नहीं होते?" सन्त ने इस भक्त को नीचे से चल कर पहाड़ पर बगीचे में कष्ट कर के आते, अनार खाने की लालसावश संरक्षक से अनार पाने की मांग करते और अपनी इच्छानुसार अनार न मिलने से परेशान होकर इधर-उधर भटकते हुए भी देखा था। अतः सन्त ने गम्भीर स्वर में कहा—"मुझे कष्ट क्यों होगा? मेरा मन तो भक्ति की धारा में बह रहा है। ये मक्खियाँ तो घाव के मवाद को खा रही हैं, मुझे तो नहीं खा रही हैं? हो सकता है, इससे शरीर को कुछ पीड़ा हो, पर मेरे मन और आत्मा को तो पीड़ा नहीं हो रही है। वह तो भक्ति रस में डूब चुके हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु वत्स ! तू अपनी मक्खियों को क्यों नहीं उड़ाता, जो तेरी आत्मा के रस को चूस रही हैं ?"

भक्त ने उत्तेजित होकर कहा—'तुम बकवास क्यों कर रहे हो ? सन्त होकर झूठ बोलते हो ? मुझे कहाँ मक्खियाँ काट रही हैं ?" सन्त ने शान्त स्वर में कहा—"वत्स ! तू भूल रहा है । तुझे अज्ञान और मोहवश कामना और इच्छा की मक्खियाँ भिनभिनाती हुई नजर नहीं आतीं । कामना और इच्छा की मक्खियों ने तुझे पहाड़ पर चढ़ाया, भिखमंगा बनाया, इधर-उधर भटकाया, परेशान किया ! सोच, तूने अपनी इच्छाओं और लोभ से प्रेरित होकर कितनी अनारों को और अपने समय को बर्बाद किया ? भाई, याद रख, ये मक्खियाँ तो थोड़ी देर के लिए केवल तन को ही पीड़ा देती हैं, परन्तु अतृप्त इच्छाएँ, ये लालसाओं, मन की आकांक्षाओं और कामनाओं की ये मक्खियाँ तो तेरे हृदय में सदैव डंक चुभोती रहती हैं, तेरी आत्मा को उत्पीड़ित करती रहती हैं । उनके डंक की चुभन कुछ क्षण और कुछ दिन तो क्या अनेक युगों और अनेक भवों तक पीड़ा देती रहती है । अतः लोभ युक्त इच्छाओं और कामनाओं में तो भयंकर कष्ट है । इनसे तुझे बचना चाहिए ।"

बन्धुओ ! ये इच्छाओं की मक्खियाँ, लोभ प्रेरित होकर क्या मन को व्यथित और उत्पीड़ित नहीं कर देतीं ? इसीलिए स्वामी रामतीर्थ ने कहा था—"इच्छा रोग है । समस्त भय और चिन्ता इच्छाओं का परिणाम है । जिस क्षण तुम इच्छाओं से ऊपर उठ जाओगे, इच्छित वस्तु तुम्हारी तलाश करने लगेगी ।" इसीलिए भगवान् महावीर ने अनुभव की आंच में तपे हुए ये उद्गार प्रगट किये—

"इच्छा लोभं न सेविज्जा ।"

इच्छा एवं लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए ।

तात्पर्य यह है कि इच्छाओं को आते ही मन से खदेड़ देना चाहिए, उन्हें मुँह नहीं लगाना चाहिए । ऐसा करने पर ही लोभ आता रुक सकेगा, अन्यथा, इच्छाओं को पपोलते ही लोभ झटपट प्रविष्ट हो जाएगा । प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक रोशे (Roche foucauld) ने कहा है—

It is much easier to suppress a first desire than to satis by those that follon."

"बाद में उसके पीछे आने वाली उन इच्छाओं को सन्तुष्ट करने के बजाय पहली इच्छा का दमन करना अधिक आसान होता है ।"

इच्छाओं की पूर्ति भी अपूर्ति से बढ़कर दुःखकर

साधारण मनुष्य सोचता है कि अमुक इच्छा की पूर्ति हो गई तो मुझे सुख हो गया, परन्तु वह यह नहीं सोचता कि इच्छाएँ ही पहले तो अपने आप में चिन्ता और दुःख की कारण हैं, और फिर किसी इच्छा की पूर्ति होते ही मनुष्य को अनेक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इच्छाओं को पूर्ण करने की चाट लगेगी। फिर वह अपनी सारी शक्ति, समय और मेहनत उसी में लगाएगा। इसके अतिरिक्त उसकी अनुचित इच्छा-पूर्ति के साथ-साथ हजारों लोगों को उससे दुःख और कष्ट होगा, वह कितना बड़ा पाप होगा? एक आदमी अनुचित तरीके से अपनी तिजोरी नोटों से भरी देखना चाहता है, उसे उन नोटों की अब कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु दूसरों की देखादेखी वह भी यही चाहता है और नोटों से तिजोरी भरता है, गरीबों का शोषण करके दूसरों को दुःखी करके। यह कितना महंगा सौदा है!

एक सेठ ने ज्योतिषी से पूछा—"मेरे भाग्य में धन कितना है?" ज्योतिषी ने जन्मपत्री देखकर बताया—"धन का क्या पूछना? दस पीढ़ी तक तो धन के अक्षय भण्डार भरे रहेंगे।" सेठ का चेहरा उतर गया यह सुनते ही, वह बोला—तुमने तो बहुत बुरी बात बता दी। दस पीढ़ी के बाद मेरा खजाना खाली हो जाएगा तो ग्यारहवीं पीढ़ी क्या खाएगी? उसके लिए तो अभी से कुछ जोड़ना चाहिए या नहीं? मुनीम आया तो चिन्ता का कारण पूछा। सेठजी ने अपनी चिन्ता का कारण बताया तो मुनीम ने कहा—"सेठजी! यह तो अच्छा ही है कि आपका धन दस पीढ़ी तक चलेगा! सेठ—"ग्यारहवीं पीढ़ी भूखों मरेगी क्या यह अच्छा है?" मुनीम चतुर था, सोचा—"युक्ति से समझाना चाहिए सेठ को।" उसने कहा—"सेठजी! कुछ दान कीजिए दान से लक्ष्मी दृढ़ होती है।" मुनीम सीधा लिये हुए एक ब्राह्मण के घर पर ले गया और सेठ से कहा—"आप इस ब्राह्मण को दान लेने की प्रार्थना कीजिए।" सेठ ने ब्राह्मण से सीधा दान लेने की प्रार्थना की। ब्राह्मण संतोषी था। उसने कहा—"जरा घर में जाकर देख आऊँ।" वह भीतर जाकर आया और बोला—सेठजी, माफ कीजिए, आज तो सीधा कहीं से आ गया है, मुझे जरूरत नहीं है।" सेठ ने कहा—"इससे क्या हुआ! यह रख लीजिए, कल काम आ जाएगा।" संतोषी ब्राह्मण बोला—"कल की चिन्ता आज क्यों करूँ? जब भिक्षा पर जीना है तो संग्रह किसलिए? कल कोई भी देने वाला आ जायेगा। दाता सबको समय पर देता ही है।" उत्तर सुनकर सेठ के हृदय की आँखें खुल गईं। सोचा—एक तो यह है कि कल की भी चिन्ता नहीं करता, और एक मैं हूँ, जो ११वीं पीढ़ी की चिन्ता में घुलता जा रहा हूँ। कैसा मूर्ख हूँ मैं।"

कहना न होगा, उसी दिन से सेठजी की ग्यारहवीं पीढ़ी के लिए धन-संग्रह की इच्छा भी दूर हो गई! किन्तु जो मनुष्य एक इच्छा की पूर्ति होते ही दूसरी और तीसरी इच्छा की पूर्ति में घुलता जाता है, वह कितना दुःखी और दयनीय बन जाता है?

इच्छाओं की माँग, विभिन्न रूप में

जब कोई इच्छा मन में जागती है तो वह मन से माँग करती है—"अमुक वस्तु चाहिए।" देखना यह है कि किसकी कौन-सी मांग है? पाश्चात्य विचारक काउली (Cowley) के शब्दों में देखिए—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"Poverty wants somethings, luscury wants many, avarice all things."

गरीबी कुछ चीजें माँगती है, विलासिता चाहती है बहुत-सी चीजें किन्तु लोभ-प्रेरित इच्छा (लालसा) तमाम चीजें चाहती है। अतः कहना होगा कि लालसारूप इच्छा और विलासिता रूप की इच्छा की मांग बहुत ही अनुचित और जीवन के लिए अनिष्ट है। इन उच्छृंखल इच्छाओं की मांगों से मनुष्य का जीवन भी दुःखी हो जाता है, फिर अपनी-अपनी अभीष्ट इच्छा की पूर्ति न होने पर तो दाहज्वर के समान असन्तोष के कारण अपने मन में कुढ़ता रहता है दूसरों की इच्छा को मिटाकर वह अपनी इच्छा तृप्त करने में लगा रहता है।

मैंने टॉल्स्टाय की लिखी हुई एक कहानी पढ़ी थी—एक पिता के तीन पुत्रियाँ थीं। पिता ने तीनों की अलग-अलग जगह शादियाँ कर दीं। एक लड़की किसान को दी, एक कुम्हार को और एक जुलाहे को दी। बरसात के दिन आ गए थे। जब वर्षा नहीं हुई तो कुम्हार बड़ा खुश था। उसकी पत्नी प्रभु को धन्यवाद देती है—'धन्य हो प्रभु, हमने सब घड़े बनाकर रखे थे, यदि वर्षा आती तो वे सब नष्ट हो जाते। आठ दिन तक पानी न आए तो हमारे सब घड़े आँवें में पक जाएँ।" लेकिन किसान की पत्नी बड़ी परेशान है। उसका खेत तैयार है। वर्षा नहीं हुई। अगर ८ दिन की देर हो गई तो बीज बोने में विलम्ब होगा, बच्चे भूखे मर जाएँगे।" इसलिए वह भगवान् से जल्दी पानी बरसाने की प्रार्थना करती है। लेकिन जुलाहे की पत्नी भगवान् से कहती है—अब तेरी मर्जी है, चाहे आज बरसा, चाहे ७ दिन बाद, हमारा काम हो गया है। कपड़े सब बुनकर तैयार हैं, रंग भी लिये गये हैं।" कहानी कहती है—भगवान् अपने देवताओं से पूछता है—बोलो मैं किसकी इच्छा पूरी करूँ? ये तो सिर्फ तीन व्यक्ति हैं। अगर सारी सृष्टि के लोगों से इच्छाएँ पूछी जाएँ तो असंख्य प्रकार की होंगी। इस प्रकार इच्छाएँ पूरी करने में ही मैं लगा रहा तो उनकी जिन्दगी का अन्त आ जायेगा, लेकिन इच्छाएँ अतृप्त और अधूरी ही रहेंगी।"

सचमुच इच्छाएँ अपनी-अपनी लालसा से प्रेरित होने से अनन्त हैं। एक पूरी होती है, तो भी वह दुःख देती है, अनेकों को। स्वयं व्यक्ति भी परेशान हो जाता है। परन्तु यहाँ उस जीवन को नरक प्राप्ति का कारण बताया गया है, जो लोभ प्रेरित महेच्छाओं-बड़ी-बड़ी उच्छृंखल इच्छाओं से संचालित हो। अतः हमें देखना यह है कि लोभप्रेरित महान् उच्छृंखल (अमर्यादित) इच्छाएँ कितने प्रकार की हैं?

उच्छृंखल इच्छाओं के मुख्य कितने रूप?

वैसे तो इच्छाओं के अनन्त रूप हैं, किन्तु आत्मिक प्रगति में सीधा अवरोध पैदा करने वाली आसुरी इच्छाएँ मुख्यतया तीन प्रकार की हैं—वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा। क्रमशः ये इच्छाएँ तृष्णा, वासना और अहंता से प्रबल रूप से प्रेरित होने तथा अमर्यादित हो जाने के कारण इन तीन एषणाओं के रूप में परिलक्षित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होती हैं। इन्हें क्रमशः सूर्पणखा, ताड़का और सुरसा की उपमा दी जाती है। पहली एषणा का मुख्य प्रेरक बल लोभ होता है, दूसरी का काम और तीसरी का अहंकार मिश्रित क्रोध। ये तीनों एषणाएँ जैनधर्म की भाषा में महेच्छाएँ कहलाती हैं। गीता में इन तीनों के प्रेरक बलों को नरक के द्वार कहा गया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

ये तीन नरक के द्वार हैं, जो आत्मा के गुणों नष्ट करने वाले हैं। वे हैं—काम, क्रोध तथा लोभ। इसलिए आत्मार्थी को इन तीनों नरक द्वारों का त्याग करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि तृष्णा, वासना और अहंता के रूप में प्रविष्ट हुआ निकृष्ट इच्छाओं का अतिवाद मनःक्षेत्र को कलुषित कर देता है, उसे भय और शोक से आक्रान्त कर देता है, इसलिए नरक-स्थल बन जाता है। वे ही फिर उच्छृंखल महेच्छाएँ संक्रामक बीमारियों की तरह अनेक बुराइयों को लाकर मन और आत्मा के गुणों का नाश करके सर्वनाशी सिद्ध होती हैं। वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा की दुष्प्रवृत्तियाँ चिन्तनतंत्र को बुरी तरह जर्जर कर देती हैं।

धन के सम्बन्ध में असन्तोष लोभ बनकर फूटता है, वासना का असन्तोष काम कहलाता है और स्वामित्व या अहंपूर्ति का असन्तोष मोह कहलाता है। अहंकार की पूर्ति में कहीं त्रुटि रह जाने का असन्तोष क्रोध के रूप में भी फूटता है। इन तीनों प्रकार के असन्तोष से मानसिक पाप एवं दुष्कर्म अपना पोषण पाते हैं। परिवारों का मधुर मेल-मिलाप और स्नेह इसी के कारण नष्ट होता है। दाम्पत्य जीवन की प्रेम-प्रतीति में पलीता लगाने वाले ये ही तीन दुष्ट असंतोष हैं। शान्ति और प्रेम के साथ मधुर जीवन यापन करते हुए आनन्द की सरिता बहाने और स्वरूप कल्याण करने में संलग्न होने की अपेक्षा येन-केन-प्रकारेण अन्याय, शोषण एवं अनीति से धन इकट्ठा करने की हविस में देश-विदेश मारे-मारे फिरने और प्रेत-पलीत की तरह निरन्तर व्यस्त और व्यथित रहने में यह दुष्ट असन्तोष ही एकमात्र कारण हो सकता है।

इस त्रिविध असन्तोष को प्रगति का प्रेरकबल मानना सर्वथा भूल है। उससे तृष्णा, वासना और अहंतापूर्ति रूप उच्छृंखल आसुरी इच्छाओं को उत्तेजना तो अवश्य मिलती है पर उनकी पूर्ति कदापि नहीं हो सकती क्योंकि उद्विग्न और असन्तोषी व्यक्ति में शान्तचित्त, आत्मनिरीक्षण, आवश्यक धैर्य और निरन्तर अभ्यास की लगन नहीं होती। वह बावला तो आज ही, अभी ही सब कुछ पाने की तृष्णा में सब पर हावी होने का उपक्रम करता है। उसे इतनी फुरसत कहाँ, जो आत्मनिरीक्षण करे और उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचने के लिए अपने अन्दर उन महापुरुषों जैसे सद्-गुणों को बढ़ाए और जब वह सन्तोषी हो जाएगा, तब तो आत्म-परायण व्यक्ति की तरह इन आसुरी इच्छाओं—महत्वाकांक्षाओं को बिलकुल पसन्द नहीं करेगा। उसमें आध्यात्मिक उन्नति की और सद्गुणों को बढ़ाने की महत्वाकांक्षा होगी, किसमें किसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा एवं अनुचित एवं अनैतिक उपायों से आगे बढ़ने की बढ़ा-चढ़ी नहीं होगी। हाँ ऐसी आध्यात्मिक मनोवृत्ति वाला व्यक्ति उचित और स्वाभाविक तरीकों से तुच्छता से आगे बढ़कर महत्ता को प्राप्त करने का लक्ष्य रखेगा, साथ ही वह दूसरों की अपेक्षा अधिक विद्वान, परोपकारी, सेवाभावी, संयमी, सभ्य, सहिष्णु एवं धार्मिक बनने का पुरुषार्थ करेगा, पर दूसरों को गिरा कर या दूसरों को नीचा दिखाकर, दूसरों को बदनाम करके नहीं; क्योंकि ऐसा व्यक्ति न तो धन, यश और वासना से लुब्ध होगा। न इनके लिए लालायित होगा। वह तो महापुरुषों जैसे आदर्श उपस्थित करेगा। उसका नाम न चाहते हुए भी नररत्नों की श्रेणी में अंकित हो जाएगा। इसलिए ऐसी आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षा की प्रेरणा तो अभीष्ट है, परन्तु आसुरी इच्छाओं की उत्तेजना पैदा करने वाली महत्त्वाकांक्षा अभीष्ट नहीं।

वास्तव में देखा जाए तो असन्तोष का असुर ही तीन रूप बनाकर अपनी मायावी दुष्टता के साथ आपके सामने उपस्थित होता रहता है, और प्रेम तथा आनन्द के साथ जीवन यापन कर सकने वाली सहनशीलता में पलीता लगाता रहता है। इसीलिए आसुरी एवं अमर्यादित महेच्छाओं के मुख्य तीन रूप दुष्ट असन्तोष से उत्तेजित होकर जन-जीवन में प्रविष्ट होते हैं—वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा।

तीनों एषणाओं से बचने का उपाय

धन, सन्तान (कामवासना) और अहंता की लिप्सा जब अमर्यादित, उच्छृंखल एवं नीति-धर्मविरुद्ध हो उठती है, तभी उसे एषणा या लोभप्रेरित महेच्छा कहा जाता है। उचित प्रयत्न के साथ उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नैतिक तरीकों से उपार्जित धन गृहस्थ जीवन के लिए आवश्यक और नैतिक दृष्टि से समर्थनीय होता है। क्योंकि इसके बिना गृहस्थ के शरीर एवं परिवार का निर्वाह होना कठिन होता है। जिन लोगों ने गृहस्थ धर्म अपना लिया है, और विवाहित जीवन-यापन कर रहे हैं, उनका उचित नैतिक मर्यादाओं के अनुरूप सिर्फ मर्यादा में सन्तानोत्पादन की दृष्टि रखकर कामोपभोग सेवन को शास्त्रकारों ने गृहस्थ के लिए अनुचित और अनैतिक नहीं बतलाया है। तथा शुभकार्य, दान, परोपकार एवं सेवा के कार्य करके एक सद्गृहस्थ समाज में अपना सम्मान स्थिर करे, जनता के हृदय में अपने प्रति श्रद्धा-भक्ति एवं आदर उत्पन्न करे, सदाचारपूर्ण उत्कृष्ट जीवन-यापन करके लोकश्रद्धा का भाजन बने, लोग उसकी प्रशंसा करे या उसकी प्रतिष्ठा करें, यह अनुचित नहीं है।

पर इन तीनों ही आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकना असंतोष और अधीरता से सम्भव नहीं है। धर्म मर्यादाएँ छोड़कर उच्छृंखल रीति से इन तीनों—धन, कामोपभोग एवं यश-का अर्जित करना आसुरी महेच्छा—ऐषणा की कोटि में चला जाएगा। धन, कामोपभोग और यश की उचित और व्यवस्थित प्रगति तो विवेक और दूरदर्शिता के आधार पर ही सम्भव हो सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि धार्मिक सद्गृहस्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपनी वर्तमान स्थिति पर सन्तोष अनुभव करता हुआ मन को प्रसन्नता से, आशा से, उत्साह और धर्मानुराग से परिपूर्ण रखे, जिससे प्रगति का कठिन और उतार-चढ़ाव का मार्ग पार करते हुए दिनानुदिन ऊँचा उठ सकने की स्थिति को प्राप्त कर सके। असन्तुष्ट व्यक्ति तो उन्मत्त-सा होता है, वह स्वयं परेशान रहता है, और दूसरों को परेशान करता है। वह परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालने का तथा परिस्थितियों को भी अपने अनुरूप बनाने का प्रयत्न नहीं करता। इसलिए वह आसुरी महत्त्वाकांक्षाओं से मुक्त होकर संसार को स्वर्गोपम बनाने की अपेक्षा नरकोपम बना देता है। उसके मन-वचन-काया नारकीय जीवन के परमाणुओं से ओतप्रोत हो जाते हैं। वह बड़ा आदमी बनने की महत्त्वाकांक्षा में इस संसार के लिए अत्यधिक हानिकारक सिद्ध होता है। आततायी एवं उपद्रवकारियों की तरह वह दूसरों को शोषित, पददलित और पीड़ित करते हुए उनकी लाशों पर चढ़कर ही बड़ा बन पाता है। समाज का सन्तुलन ऐसे आसुरी महत्त्वाकांक्षियों ने ही बिगाड़ा है और बिगाड़ते हैं। इसलिए इन मानसिक रोगियों से ऐसे ही सतर्क रहना चाहिए, जैसे ईंट-पत्थर मारने वाले पागलों से बचा जाता है।

प्रत्येक धर्मशास्त्र में इन भौतिक विभूतियों की पापवर्द्धक एषणाओं से सदा बचे रहने का विधान किया गया है। उसे रोकने और नियन्त्रित रखने के लिए पद-पद पर उपदेश दिया गया है। इसलिए प्रत्येक सद्गृहस्थ को इन तीनों एषणाओं से बचते हुए शान्ति, प्रेम, आनन्द, उल्लास, धैर्य एवं सन्तोष के साथ नैतिक जीवन व्यतीत करने की इच्छा करनी चाहिए। एषणाओं की पूर्ति न होने के असन्तोष से तो आज तक कोई तृप्त नहीं हो सका है। योगशास्त्र में उदाहरण देकर इसे समझाया गया है—

तृप्तो न पुत्रैः सगरः, कुचिकर्णो न गोधनैः।
न धान्यैस्तिलकः श्रेष्ठी, न नन्दः कनकोत्करैः॥

चक्रवर्ती 'सगर' साठ हजार पुत्र पाकर भी सन्तोष न पा सका, कुचि कर्ण बहुत-से गोधन से भी तृप्त न हो सका, तिलक श्रेष्ठी प्रचुर धान्यसंग्रह करके भी सन्तुष्ट न हुआ और नन्दराजा सोने के ढेरों से भी शान्ति न पा सका।

वित्तैषणा का प्रकोप

वित्तैषणा का अर्थ है—संसार के धन, धान्य, सुख-साधन और वैभव से सम्बन्धित पदार्थों का अनैतिक एवं अमर्यादित रूप से इकट्ठा करने या अर्जित करने की आसुरी महेच्छा—तृष्णा।

आज दुनिया में धन की गरीबी इतनी नहीं है, जितनी मन की है। मनुष्य अनेकों वस्तु चाहता है, अपने से बड़े और वैभवसम्पन्न सुखी स्थिति के लोगों को देखकर यह इच्छा उत्पन्न होती है कि किसी भी प्रकार से क्यों न हो, हमारे पास भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इतना ही वैभव और ऐश्वर्य क्यों न हो। इस प्रकार मनुष्य प्रचुर धन का स्वामी बनने के, अन्ततः ऐश्वर्य का सुखोपभोग करने के स्वप्न देखा करता है। आज प्रायः हर व्यक्ति धन के लिए प्यासा-सा फिरता है। धन, अधिक धन और अधिकाधिक धन! यह एक ही पुकार प्रायः प्रत्येक दिल-दिमाग से उठती सुनाई देती है। धर्मध्वजी पाखण्डी सन्त-महन्तों से लेकर जेबकट और चोर-डाकुओं तक हर वर्ग के लोग धन की आकांक्षा से पीड़ित होकर अपने-अपने चरखे चलाते रहते हैं। विचारणीय यह है कि क्या धन की इतनी आवश्यकता है, क्या गरीबी इस सीमा तक पहुँच गई है कि मनुष्य को सतत धन के लिए उद्विग्न हुए बिना काम न चले। पर बात बिलकुल ऐसी नहीं है। अपने से बड़े (धन-साधन सम्पन्न) लोगों के साथ अपनी तुलना करके खिन्न होता है कि मैं भी इतना ही बड़ा क्यों न हो जाऊँ! बस ईर्ष्या और तृष्णा की आग उसके मन में प्रचण्ड वेग से जलने लगती है। यह तृष्णा और तज्जनित असन्तोष की आग ही मन की गरीबी है। इसीलिए तो कहा गया है—

"को हि दरिद्रो? यस्य तृष्णा विशाला।"

दरिद्र कौन है? वह दरिद्र नहीं, जिसके पास धन नहीं है, परन्तु वह दरिद्र है, जिसकी तृष्णा विशाल है।

कपड़ों में लगी हुई आग से जलता हुआ मानव कोई और उपाय न देखकर कुए में कूद पड़ने को भी इस आशा से तैयार हो जाता है कि मेरी जलन मिट जाएगी। इस प्रकार जिसका मन महेच्छाओं की तृष्णा में बुरी तरह जल रहा है, उसके लिए कुकर्म के कुएँ में कूद पड़ना, कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जीवनयापन के लिए गृहस्थ को थोड़े-से धन की, नियमित आजीविका की एवं कुछ जीवनोपयोगी साधनों की जरूरत पड़ती है, उनके उपार्जन का औचित्य सर्वत्र समझा जाता है, परन्तु आसुरी पुरुषार्थ तब बनता है, जब मनुष्य पिशाचिनी वित्तैषणा के चंगुल में फँसकर रात-दिन उसी की बात सोचता रहता है, और तदनुसार अनुचित और अनैतिक तरीके आजमाता है, उसी के निमित्त पूरा जीवनक्रम लगाये रखता है। इसी को वित्तैषणा कहते हैं। वित्तैषणा में धन आदि जीवनयापन के पदार्थ साधन न बनकर साध्य बन जाते हैं। उस तृष्णा के वशीभूत होकर मनुष्य बुरे से बुरे अनैतिक कार्य करता है। अतः गरीबी नहीं, तृष्णा दुष्कर्मों की जननी है। गरीब भीख माँग सकता है या पेट भरने लायक कोई छोटी-मोटी बुराई कर सकता है। उसमें इतनी अक्ल कहाँ होती है कि बड़े-बड़े योजनाबद्ध प्लान बनाकर अनैतिक उपायों पर पर्दे डालकर लाखों की सम्पत्ति डकार जाए। यह कार्य आसुरी बुद्धि-सम्पन्न, साधन सम्पन्न शिक्षित और समर्थ लोगों का प्रायः होता है। डाकू गरीब नहीं होता। गरीब कीमती बन्दूक कहाँ से प्राप्त करेगा? शरीर में इतना बल कहाँ से लाएगा? रिश्वतखोरी, ठगी एवं बेईमानी के जो विशालकाय अनर्थ होते हैं, वे सब इसी आसुरी एषणा से प्रेरित सम्पन्न लोगों के द्वारा किये जाते हैं। इस प्रकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ और वैभव की असीम तृष्णा में संलग्न व्यक्ति अनुचित उपायों से धन कमाकर उसका उपयोग विलासिता में, दुर्व्यसनों में, विविध प्रदर्शनों में, विवाहादि के प्रसंग पर फिजूलखर्ची में, कुरूढ़ियों के पोषण में करते हैं। इस प्रकार धन के अर्जन और दुर्व्यय से जनसाधारण में ईर्ष्या और असन्तोष पैदा होता है, गरीबों-अमीरों के बीच असमानता बढ़ती है, अपने बाल-बच्चों को उत्तराधिकार में बिना श्रम के मुफ्त का माल देकर उन्हें निकम्मे, आवारागर्द, दुर्व्यसनी एवं उड़ाऊ बनाये जाते हैं। वास्तव में इस प्रकार का धन सन्तान को देकर वे उन्हें परावलम्बी और अपाहिज तथा हीनवृत्ति का शिकार बनते हैं। इससे वे बालक परस्पर झगड़ते हैं, आलसी, अहंकारी और दुर्व्यसनी बनते हैं। ये सब बुराइयाँ वित्तैषणा में संलग्न व्यक्ति पैदा करते हैं। यह तृष्णा उनके लिए ही नहीं, सारे समाज के लिए घातक सिद्ध होती है। इसलिए वित्त को नहीं, वित्तैषणा को निन्द्य बताया गया है।

मगध सम्राट कोणिक के पास किस बात की कमी थी? उसके पास राज्य था, धन था, सुख के सभी साधन थे, सभी प्रकार की सुविधाएँ थीं। परन्तु वित्तैषणा से ग्रस्त होकर अपने हल और विहल कुमार नामक भाइयों को अपने हक में मिले हुए न्याययुक्त हार और सिचानक हाथी को प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा उसके दिल में जगी।

बात यह हुई कि कोणिक चम्पानगरी को अपनी राजधानी बनाकर राज्य कर रहा था। एक बार उसके छोटे भाई हल और विहल सिचानक हाथी पर बैठकर तथा हार आदि आभूषण पहनकर सैर करने जा रहे थे, तभी कोणिक की रानी पद्मावती की दृष्टि उन पर पड़ी। उसके मन में ईर्ष्या की आग भभक उठी। उसने कोणिक को उत्तेजित किया कि यह हार और हाथी तो आपके पास शोभा देते हैं, इनके पास किस काम के? कोणिक ने पहले तो बहुत समझाया कि ये तो उनके हक के हैं, परन्तु पदमावती हठ ठानकर बैठ गई कि हार और हाथी किसी तरह से उनसे लेकर मुझे देंगे, तभी प्रसन्न रहूँगी।" इस पर कोणिक ने हल-विहल से हार और हाथी ला देना स्वीकार किया।

दूसरे ही दिन कोणिक ने एक राजा के नाते अधिकारपूर्वक हल-विहल कुमार से हार और हाथी माँगें, तो उन्होंने अपनी स्थिति दुर्बल जानकर रातोरात ही अपना अन्तःपुर, हार-हाथी आदि सब वस्तुएँ लेकर चम्पानगरी से कूच किया और विशालानगरी में अपने मातामह महाराजा चेडा की शरण में पहुँच गये। उन्होंने शरणागत एवं दौहित्र के नाते उन्हें रख लिया।

इधर कोणिक को पता चला तो उसने कोपायमान होकर चेडा महाराजा के पास यह सन्देश लेकर दूत भेजा कि हार, हाथी एवं हल-विहल कुमार को वापस सौंपे, अन्यथा आपका राज्य आदि भी छीन लिया जायेगा।" चेडा महाराजा ने इन्हें वापस भेजने से इन्कार करके दूत को लौटा दिया। इस पर कोणिक राजा अपार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सैन्य लेकर विशालानगरी पर चढ़ आया। इधर चेडा महाराजा भी अन्याय के प्रतीकारार्थ युद्ध के लिए सुसज्ज थे। उनके साथ १८ गणराजा और उनकी सेना थी। दोनों में घोर युद्ध हुआ। दोनों की सेना के एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य इस संग्राम में मारे गए। नतीजा क्या निकला—लोभी एवं महत्वाकांक्षी कोणिक के हाथ में न हार आया और न हाथी। न ही हल-विहल कुमार उसके हाथ में आए। हाथी तो संग्राम में मर ही गया था। हाथी के मरते ही हल-विहल कुमार विरक्त होकर भाव दीक्षित हो गए। वैभव की तृष्णा की आग में जलते रहने के सिवाय कोणिक कुछ न कर सका और फिर इतना बड़ा युद्ध करके क्रूरकर्म के कारण वह मर कर छठी नरक में गया। कितनी भयंकर वित्तैषणा रूपी डाकिन है, जिसने केवल हार और हाथी पाने की महत्वाकांक्षा को लेकर एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का संहार करवा दिया, धनक्षति हुई सो अलग।

वित्तैषणा तृष्णा की बढ़ी हुई अति मात्रा है, जो अनीतिमय उपार्जन के लिए प्रोत्साहित करती है, विविध अपराध उसी के कारण होते हैं। निर्वाह के लिए उचित न्याय्य उपार्जन तक सन्तुष्ट रहा जा सके, तो श्रम, धन, बल और मनोयोग की पर्याप्त बचत हो सकती है, जिन्हें महान् प्रयोजनों में लगाकर जीवन को धन्य बनाया जा सकता है। उस बचत को लोकमंगल में उदारतापूर्वक व्यय किया जा सकता है। पर वित्तैषणा मनुष्य को इन सब उज्ज्वल सम्भावनाओं से वंचित कर देती है। वित्तैषणा ग्रस्त मनुष्य के पास सब कुछ पर्याप्त होने पर भी रात-दिन धन की हाय-हाय लगी रहती है। उसका एक क्षण भी अशान्ति, बैचेनी, चिन्ता, और परेशानी के बिना व्यतीत नहीं होता। बेचारे न जीवन का मूल्य समझ सकते हैं, न उसका लाभ प्राप्त कर सकते हैं, वस्तुतः वे दयनीय हैं।

पिशाचिनी पुत्रैषणा

पुत्रैषणा का मोटा अर्थ है—अमर्यादित या उच्छृंखल रूप से सन्तानोपत्ति करने की महेच्छा। इसका आन्तरिक रूप है—पाशविक एवं अति काम-भोग की वासना। अतिकाम-भोग मानव को आध्यात्मिक जीवन से विमुख कर देते हैं। अति काम-भोग का फल अधिक सन्तान के रूप में आता है, पर काम वासनाओं में लिपटे हुए लोग सन्तान को चरित्रवान, धार्मिक, विवेकी एवं संयमी नहीं बना सकते। क्योंकि वे केवल बच्चों को लाड़ लड़ाना और झूठा प्यार करना जानते हैं। वे अति-प्यार के कारण बच्चों को आलसी, पराधीन, निरुद्यमी, निरुत्साही, दुर्व्यसनी एवं कुसंगी बना देते हैं। बुरी संगति में पड़कर उनके बच्चे सभी बुराइयों से लिप्त हो जाते हैं। वे उन्हें धर्मसंस्कार बिलकुल नहीं दे सकते।

काम विकार से ग्रस्त लोग क्षणिक सुख के लिए बिना विचारे सन्तानोत्पत्ति का महान् दायित्व अपने कन्धों पर ले बैठते हैं, किन्तु उसके वहन करने की परिपूर्ण क्षमता न होने से वे अपने लिए ही नहीं सारे समाज के लिए संकट उत्पन्न कर देते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आज प्रायः ऐसा अविवेक पूर्ण दुःसाहस चारों ओर बढ़ रहा है। एक ओर बालकों की संख्या तेजी से बढ़ रही है, दूसरी ओर खाद्य पदार्थों से लेकर वस्त्र, मकान, चिकित्सा, शिक्षा, रोजी, रोटी आदि के सभी साधन पिछड़ते जा रहे हैं। बढ़ती हुई जनसंख्या अगणित समस्याएँ पैदा करती हैं। इस बढ़ती हुई मंहगाई और घटती हुई आमदनी के युग में अंधाधुंध बच्चे पैदा करते जाना किसी भी दृष्टि से बुद्धिमत्ता नहीं है। अधिक सन्तान पैदा होने पर मनुष्य उनके शिक्षा-संस्कार एवं नैतिक जीवन तथा सदाचार पर ध्यान नहीं रख पाता। फलतः सन्तान कैसे संस्कारी, नीतिमान, सदाचारी एवं कर्तव्यपरायण बन सकती है। फिर सन्तान का सद्गुणी होना बहुत कुछ पति-पत्नी के हार्दिक प्रेम, विलासिता एवं शृंगार तथा फैशन से दूर रह कर सादगी और उचित संयम पर निर्भर है। कामवासना की शारीरिक और मानसिक अमर्यादित प्रक्रियाएँ व्यभिचार को जन्म देती हैं। उससे स्वास्थ्य, सद्भाव एवं दाम्पत्यजीवन की निष्ठा पर बहुत आघात पहुँचता है। एक पतिव्रत की तरह एक पत्नीव्रत का महत्व भी नैतिक धार्मिक दृष्टि से एवं सामाजिक जीवन की स्वस्थता की दृष्टि से अनिवार्य है। जिस प्रकार अपनी कमाई के अतिरिक्त दूसरों का पैसा हड़पना पाप है, उसी प्रकार अपनी छोटी-सी दम्पतिमर्यादा के बाहर विकार की दृष्टि से देखना पाप है, घातक है। पाप दृष्टि से हजार नारियों को देखने पर भी संयोग का अवसर एक से भी नहीं मिलता। पाप हजार मन का चढ़ा और लाभ रत्ती भर भी नहीं हुआ, ऐसी व्यर्थ विडम्बना में, पापपंक में लिप्त करने से क्या भलाई हो सकती है? जो विवाहित हैं, वासना का क्षेत्र उनके लिए उतना ही सीमित है, उससे बाहर नहीं। जो अविवाहित हैं, उन्हें बे वक्त की शहनाई नहीं बजानी चाहिए। अकारण अशान्ति को आमंत्रण देना शक्ति के सर्वनाश के सिवाय और क्या है, बिछुड़े हुए लोगों को अपनी शक्तियों को संचित करके समाज-सेवा में तथा आध्यात्मिक विकास में लगाना चाहिए। वासना क्या है? मछली का पेट फाड़ने वाली आटा लगी काँटे की नोक मात्र है। इसके क्षणिक से जादू से अपने को बचाए रखना, भयंकर बर्बादी से बचाना है। वासना के क्षेत्र में असन्तोष की भयंकरता वित्तैषणा से भी प्रचण्ड है। जो रात-दिन परस्त्री संगम की हविस रखते हैं, राग-रंग और भ्रष्टचरित्र स्त्रियों में ही घिरे रहते हैं, उनका जीवन घोर नरक समान ही तो है। वित्तैषणा से समाज का आर्थिक ढाँचा चरमरा गया है तो पुत्रैषणा से मानसिक ढाँचा लड़खड़ा गया है। संसार को अणुबमों से इतना खतरा नहीं है, जितना अमर्यादित कामवासना के बवण्डर से। इसी कारण पश्चिम के लोग त्रस्त हो गए हैं। ययाति राजा इसी कारण जिंदगी के बहुत बड़े लाभ से वञ्चित रहा।

फिर पुत्रैषणा से लिप्त नर-नारी पुत्र प्राप्ति के लिए भयानक कुकर्म तक कर बैठते हैं। खासतौर से महिलाएँ भोपों, सयानों तथा जादूगरों आदि के चक्कर में फँस कर व्यभिचार आदि कर्म में प्रवृत्त होती हैं, दूसरे के बच्चे को मारने तक के कुमर्म कर डालती हैं। यह पुत्रैषणा कितनी भयंकर है। पौत्रैषण के चक्कर में पड़-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर एक बुढ़िया ने अपना धर्मकर्म तक छोड़ दिया था। बहुत कुछ समझाए जाने के बाद वह पुनः धर्माचरण में संलग्न हुई।

अतः कामवासना को एक क्रीड़ाकौतुक मानकर खिलवाड़ एवं मनोरंजन की तरह उसका उपयोग न किया जाए, हो सके तो ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताया जाए, जिससे स्वास्थ्य, बल, श्रम और धन का ह्रास न हो।

यही पुत्रैषणा राक्षसी के पंजे से छूटने का उपाय है। सिनेमा, अश्लील चित्र, बेहूदा साहित्य, गंदे-गाने, भड़कीला शृंगार, फैशनेबल वेशभूषा, कुसंग का वातावरण वासना की आग को बुरी तरह भड़काने में लगा हुआ है, फलतः मानसिक ओज का निरन्तर क्षरण होता जा रहा है। अतः इस मानसिक व्यभिचार से बचा जाए। कामवासना की दुष्प्रवृत्ति पर अधिकाधिक अंकुश रखा जाए। तभी पुत्रैषणा से सच्चे माने में बचा जा सकता है। फिर एक बात यह भी है, अधिक सन्तान पैदा होने पर मनुष्य उन्हीं की चिन्ता में, उन्हीं के लाड़ लड़ाने में, उन्हीं के मोह में फंसा रहता है, उसे आध्यात्मिक जीवन विकास की ओर चिन्तन का जरा भी अवकाश नहीं मिल पाता। आज अधिकांश गृहस्थों की यही दशा है। बड़े-बड़े शहरों में देखेंगे तो आप को पता लगेगा कि वहाँ बच्चे और घर वालों को खिलाने-पिलाने, स्कूल भेजने, उन्हें नहलाने-धुलाने, कपड़े पहनाने आदि में ही महिलाओं का सारा दिन चला जाता है। रात को भी देर तक भोजनादि से निवृत्त होकर थक कर निद्रादेवी की गोद में जाती हैं। उन्हें आत्म-चिन्तन के लिए जरा भी अवकाश नहीं मिल पाता। कितनी महंगी पड़ती है, यह पुत्रैषणा ?

लोकैषणा की हेय लालसा

बिना ही कोई उत्तम काम किये, सेवा के लिए कष्ट सहन किये बिना वाह-वाही एवं प्रसिद्धि लूटने, तथा बढ़ाचढ़ा कर अपनी प्रशंसा सुनने, तिकड़म बाजी से उच्च पद या सत्ता पाने की मानसिक दुर्बलता को लोकैषणा कहते हैं। अहंकार-प्रदर्शन के लिए लोग अनावश्यक ठाट-बाट रचते हैं। अमीरी का रौब गांठ कर फिजूल खर्ची से बड़प्पन सिद्ध करके प्रशंसा एवं सम्मान पाने में जितना समय, धन और श्रम व्यय किया जाता है, यदि उसका चौथाई भी महानता के सम्पादन में लगता तो सच्ची उन्नति का महल खड़ा हो जाता। प्रदर्शन के आडम्बर एवं शेखी खोरी के घटाटोप को छलप्रपंच भरी विडम्बना के सिवाय और क्या कहा जाए ? विवाह शादियों में अन्धे होकर पैसे की होली जलाना, ठाट-बाट रचने में अपनी गाढ़ी कमाई फूंकना, फैशन और बड़प्पन दिखाना लोकैषणा के ही हथकंडे हैं।

लोकैषणा का उन्माद इतना भयंकर होता है कि सेवा क्षेत्र में आदर्श चारित्र्य, सदाचार, त्याग-बलिदान की कष्ट साध्य प्रक्रिया अपनाने से कतराने वाले लोग सस्ते हथकंडे अपनाते हैं, धुंआधार भाषण देना, प्रवचन मंच पर जा बैठना, नेतागीरी का ढोंग करना, अखबारों में समाचार और फोटो छपाना, आदि सम्मान पाने के सस्ते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तरीके हैं। यश, सम्मान, परिचय का परोक्ष लाभ और धन का गबन जैसे लाभों को यदि केवल स्टेज कौशल, बाचालता, संस्थाबाजी एवं नेतागीरी के आधार पर सस्ते मोल में खरीदा जा सकता है तो उसे कौन छोड़ना चाहेगा ? चन्दा डकार जाने और हिसाब-किताब में गोलमाल करने की संस्थाओं में पूरी गुंजाइश रहती है। अधिकारियों को उसका लाभ मिलता है। सेवा क्षेत्र को कलुषित करने में सबसे विघातक प्रवृत्ति कार्यकर्ताओं की पद-लिप्सा, अधिकार-लिप्सा और सस्ती वाहवाही लूटने की हेय मनोवृत्ति ही प्रधान कारण है। लोकैषणा प्रेरित तथाकथित लोक सेवी साथियों को गिराने, उखाड़ने से लेकर हत्या कराने तक के अनेकों भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं, अपनी तनिक सी यशोलिप्सा एवं स्वार्थलिप्सा के कारण सार्वजनिक संस्था को बदनाम कर देते हैं। राजनैतिक जीवन में तो इस तरह लोकैषणा प्रेरित आपाधापी, छीना झपटी, लूट खसोट चलती ही है। हजारों रजवाड़ों में ऐसे कारनामे प्राचीन काल में हुए हैं।

अतः ऐषणाओं के इस नारकीय जीवन से बचा जाए, इस दृष्टि से, सावधान करने हेतु गौतम महर्षि कहते हैं—

"लुद्धा महिच्छा नरयं उवेंति।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१६
क्रोध से बढ़कर विष नहीं ?

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपको जीवन के ऐसे मोड़ पर ले जा कर बता देना चाहता हूं कि एक जीवन ऐसा भी है, जिसमें अमृत के बदले जहर बरसता है। आप पूछेंगे कि वह जहर क्या है, कौन-सा वह विष है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने जीवन सम्पर्क में आने वाले को भी विषाक्त बना देता है ? गौतम ऋषि ने यही प्रश्न उठा कर साथ-साथ समाधान किया है। उनका यह १५ वाँ जीवन सूत्र है—

कोहो, विसं किं ?

अर्थात्-जीवन में विष क्या है ? क्रोध। अब आप समझ गए होंगे कि एक जीवन ऐसा होता है, जिसमें अमृत के बदले विष बरसता है, अमृतमय बनने के बदले वह जीवन विषमय बनता है।

मनुष्य के पास अमृत और विष दोनों हैं

मनुष्य की जो शुद्ध आत्मा है, वह तो अमृतमय है, उसमें स्वाभाविक रूप से कोई भी विष नहीं है। किन्तु वह आत्मा जब क्रोध, काम आदि बाह्य जहरीले वातावरण के सम्पर्क में आती है, उनमें आसक्त हो जाती है या इष्ट-वियोग एवं अनिष्ट संयोग के समय क्षुब्ध हो जाती है, तब विषाक्त बन जाती है। ऐसी विषाक्त आत्मा जिस किसी के सम्पर्क में आती है, वहाँ भी विष ही फैलाती है।

यों देखा जाय तो मनुष्य को उपनिषद् के ऋषियों ने 'अमृत पुत्र' कहा है। अमृत पुत्र का मतलब है—जो परमात्मा है, अजर-अमर है, निर्विकार है, निरंजन निराकार है, उसका पुत्र अर्थात् उसका उत्तराधिकारी बेटा। मनुष्य को अमृत पुत्र कहने के पीछे रहस्य यही है कि संसार के समस्त प्राणियों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो परमात्मा के निकट पहुँच कर स्वयं अमृतमय बन सकता है। दूसरे किसी प्राणी में मोक्ष पहुँचने या प्राप्त करने की योग्यता नहीं है। इसलिए अमृत पुत्र अगर कोई हो सकता है तो मनुष्य ही। मनुष्य जब अमृतपुत्र है तो उसके पास अमृत का भण्डार तो है ही। किन्तु वह अपने अमृत के भण्डार को विष से लिपटा लेता है। मनुष्य के पास तीन बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण साधन हैं—मन, वचन और काया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन तीनों से वह चाहे तो अमृत बरसा करता है, चाहे तो विष। अमृत तो मनुष्य को उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है, और विष वह संसार के वातावरण में रह कर ले लेता है। इस तरह मनुष्य के पास अमृत और विष दोनों ही हैं।

क्रोधी मन से क्रोध विष बरसाता है

दूसरे व्यक्ति या प्राणी जब भी मनुष्य के सम्पर्क में आएँ या सम्पर्क में आते हों, तब वह यदि मन में क्रोध ले आए, मन में उसके प्रति रोष और द्वेषपूर्वक विचार करे, मन में कठोरता और घृणा का भाव ले आए, दूसरी जिन्दगियों का कोई विचार न करे, अपने ही स्वार्थ और मतलब की दृष्टि से विचार करता है तो मन में आया हुआ वह क्रोध दूसरों के प्रति मन से जहर बरसाता है।

एक दूसरा व्यक्ति है, उसकी दृष्टि अमृतमयी है। वह सारे संसार के प्राणियों को आत्मवत् भाव से देखता है। उसके मन में दूसरे प्राणियों के या दूसरे मनुष्यों के प्रति दया, क्षमा, कोमलता और अहिंसा की भावना है, उसका विचार है, ये भी जीएँ मैं भी जीऊँ, अथवा इन्हें जलाकर जीऊँ, इनको जीने की प्राथमिकता देकर मैं अपना जीवन जीऊँ, उनके द्वारा कभी अपकार किये जाने पर भी वह क्रोध न करके जीवों के स्वभाव का चिन्तन कर क्षमा या सहिष्णुता धारण करता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों के प्रति मन से अमृत बरसाता है।

स्कन्धक श्रावस्ती नगरी के जितशत्रु राजा का इकलौता पुत्र था। एक उसकी बहन थी, जिसका नाम था पुरंदरयशा। कुम्भकार कटक नगर के राजा दण्डक के साथ उसकी शादी की गई। दण्डक राजा के यहाँ पालक नामक पुरोहित था, वह नास्तिकवादी था। एक बार किसी कार्यवश दण्डक राजा ने जितशत्रु राजा के यहाँ पालक को भेजा। पालक ने जितशत्रु की राजसभा में धर्मचर्चा के सिलसिले में अपनी नास्तिक विचारधारा का प्रतिपादन किया, किन्तु वहीं उपस्थित स्कन्धक राजकुमार ने जैनसिद्धान्त की दृष्टि से उस विचारधारा का युक्तिपूर्वक खण्डन किया, जिससे पालक को निरुत्तर होना पड़ा। अपने अहं को चोट लगने से पालक के अपने मन में स्कन्ध के कुमार के प्रति अत्यन्त क्रोध का विष घोल लिया। किन्तु वहाँ उसकी एक न चली। फलतः अपना काम निपटाकर वह वापस अपने नगर को लौटा।

एक बार विचरण करते-करते बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी का पदार्पण श्रावस्तीनगरी में हुआ। तीर्थंकर प्रभु की धर्म देशना सुनकर स्कन्ध कुमार को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने ५०० पुरुषों के साथ प्रभु से मुनिदीक्षा ली और उग्र विहार करने लगे। इसी दौरान उन्होंने जैन सिद्धान्तों का गहन अध्ययन किया। तीर्थंकर भगवान् ने स्कन्दक मुनि को योग्य जानकर ५०० साधुओं के आचार्य बना दिये।

एक दिन स्कन्दकाचार्य ने प्रभु के चरणों में सविनय निवेदन किया—"भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं अपनी सांसारिक पक्ष के बहन-बहनोई—पुरन्दरयशा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रानी एवं दण्डक राजा को प्रतिबोधित करने जाऊँ।" इस पर प्रभु मौन रहे। जब उन्होंने दूसरी बार पूछा तो प्रभु ने फरमाया—"वहाँ तुम पर प्राणान्त उपसर्ग आएगा। यह सुन कर स्कन्दकाचार्य ने पूछा—"भगवन्! इस उपसर्ग में मैं आराधक रहूँगा या नहीं?" प्रभु बोले—तुम्हारे सिवाय सभी शिष्य आराधक होंगे।" स्कन्दकाचार्य बोले—"तो कोई चिन्ता नहीं!" यों कहकर प्रभु को वन्दना करके ५०० अनगारों के सहित स्कन्दकाचार्य कुम्भकारकटक नगर पहुँचे।

पालक के मन में स्कन्दकाचार्य के प्रति पहले से क्रोध विष भरा था, अतः ज्यों ही उसने सुना कि स्कन्दकाचार्य आ रहे हैं, उसने साधुओं के ठहरने के स्थान उद्यान में अनेक शस्त्र जमीन में गड़वा दिये। स्कन्दकाचार्य अपने ५०० शिष्यों सहित उसी उद्यान में विराजमान हुए। दण्डक राजा पौरजनों सहित उन्हें वन्दन करने आए। आचार्य ने धर्मोपदेश दिया। उसे सुनकर सभी लोग हर्षित हुए। क्रोधाविष्ट पालक राजा को एकान्त में लेकर कहने लगा—"राजन्! आपके यह स्कन्दक तो पाखण्डी हैं, आचारभ्रष्ट हैं, इनमें साधुता तो लेशमात्र भी नहीं है। ये ५०० साधु जो इनके साथ आए हैं, ये सहस्रयोधी सुभट हैं। ये आपका राज्य लेने के लिए हैं।" राजा ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—"तुमने यह कैसे जाना?" पालक बोला—"मुझसे क्या छिपा रह सकता है! मैं यथावसर इनका मायाजाल बताऊँगा।" यों कहकर किसी बहाने से सभी साधुओं को किसी दूसरे उद्यान में ठहराया। फिर जमीन में गाड़े हुए सभी शस्त्र निकालकर पालक ने राजा को बताए। शस्त्र देखते ही राजा को मुनियों पर पक्का शक हो गया। उसने कोपायमान होकर शीघ्र पालक को आज्ञा दी—"मैं इनको यथा योग्य दण्ड देने की सारी जिम्मेवारी तुम्हें सौंपता हूँ। यों कहकर राजा अपने महल में चला गया।

तत्पश्चात पालक पुरोहित ने पूर्व द्वेषवश पुरुष पीलने की एक बड़ी घाणी मंगवाई और स्कन्दकाचार्य के शिष्यों को क्रमशः एक-एक करके उस घाणी में डालने लगा। उस समय स्कन्दकाचार्य ने प्रत्येक शिष्य को यही उपदेश दिया—"मुनिवर! देखना, तुम्हारी साधना की कठोर परीक्षा है। इस समय अजर-अमर अविनाशी आत्मस्वभाव से बिलकुल विचलित न होना, अनित्य परभाव में जरा भी प्रवेश न करना। यह पालक तुम्हारा शत्रु नहीं, अपितु तुम्हारी मुक्ति की साधना में सहायक मित्र मिला है। जिन कर्मों का क्षय चिरकाल के बाद होता, वे कर्म अब अल्पकाल में ही क्षीण हो जाएँगे। इसलिए मृत्यु से बिलकुल डरना मत। धर्म-पालन करते हुए मृत्यु आ जाए इससे बढ़कर शुभ अवसर कौन सा होगा? मुनिराज तो समाधिमरण चाहते ही हैं। इस वेदना से भी घबराना मत। ऐसी वेदनाएँ तो आत्म-समभावक के बिना अनन्त बार भोगता आया है। अतः समता में स्थिर रहना। धैर्य बिलकुल न खोना। सभी जीव अपने-अपने कृत कर्मों को भोगते हैं। दूसरा तो केवल निमित्त बनता है। अतः एकमात्र शुद्ध आत्मस्वरूप को उपलब्ध करने के लिए शुद्ध ध्यान में लीन रहना।" इस प्रकार के गुरुवचन सुनकर ४९९ मुनिवर तो समस्त कर्मरूपी ईंधन जलाकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शुक्ल ध्यान में लीन होकर अन्तकृत केवलज्ञानी हुए और मोक्ष पहुँचे। अब एक सबसे छोटा शिष्य पीलना रह गया था उसे जब घाणी में पापी पालक पीलने लगा तो स्कन्दकाचार्य से न रहा गया। वे बोले—"ऐ पालक ! पहले मुझे पील, फिर तुम्हारी इच्छा हो वैसे करना।" परन्तु दुरात्मा पालक नहीं माना। उसने आचार्य के देखते ही देखते लघु शिष्य को घाणी में पील दिया। उसने भी क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान पाया और अव्याबाध सुखरूप मुक्ति प्राप्त की। परन्तु पालक के इस घोर दुष्कृत्य को देखकर आचार्य ने सोचा—"इस दुष्टात्मा ने मेरी इतनी-सी बात न मानी ! मेरी आँखों के सामने इस पापी ने कितना घोर अनर्थ कर डाला ? मालूम होता है, केवल पालक ही दुष्ट नहीं, इस नगर का राजा भी दुष्ट है और प्रजा भी महानिर्दयी है।" यों अत्यन्त क्रोधावेश में आकर आचार्य पालक से कहने लगे—बस पापी ! तेरी दुष्टता की हद हो गयी। मैं अपने तप के प्रभाव से तुम सबसे इसका बदला लिये बिना नहीं रहूँगा। मैं यह घोर संकल्प पूरा न करूँ तो मेरा नाम स्कन्दकाचार्य नहीं।" यों कहते-कहते आचार्य के सारे शरीर में, मन के कोने-कोने में क्रोध का विष व्याप्त हो गया, उसी अवस्था में पालक ने उन्हें घाणी में पील दिया। अतः उक्त निदान एवं मन में क्रोधरूपी विष के प्रभाव से विराधक स्कन्दकाचार्य मर कर अग्निकुमार नामक देवरूप में पैदा हुए।

उस समय स्कन्दकाचार्य का रक्त लिप्त रजोहरण मांसापिण्ड के भ्रम से कोई पक्षी उठाकर ले उड़ा। संयोगवश उसके मुंह से छूटकर वह रजोहरण राजमहल के आगे गिर गया। रानी पुरंदरयश (स्कन्दकाचार्य की बहिन) ने उसे पहचान कर कहा—हो न हो, यह तो मुनि का रजोहरण है। मालूम होता है, राजा ने मुनिहत्या कराई है। लोगों के मुख से भी उसने सारा वृत्तान्त सुना तो कुपित होकर वह राजा के पास आकर कहने लगी—

"अरे पापात्मा, दुर्नीतिकारक राजन् ! यह आपने क्या दुष्कृत्य कर डाला ? मुनिहत्या !! यह तो आपको घोर नरक का मेहमान बनाएगी। साधु हत्या तो महा-अनर्थकारी है। यों बारबार धिक्कार और फटकार कर रानी संसार से विरक्त हो गई। शासनदेवी की सहायता से रानी ने मुनिसुव्रत स्वामी से भागवती दीक्षा अंगीकार की और आत्मकल्याण किया। इधर स्कन्दकाचार्य ने अग्निकुमार देव बनकर अवधिज्ञान से तुरन्त अपने मारनेवाले को जाना और भयंकर रोषावेश में आकर पालक सहित दण्डक राजा तथा उसका राज्य जलाकर भस्म कर दिया। तब से उस प्रदेश का 'दण्डकारण्य' नाम प्रचलित हुआ।

इस प्रकार स्कन्दकाचार्य के मन में व्याप्त क्रोध विष ने कितना भयंकर अनर्थ कर डाला। राजा दण्डक और पालक पुरोहित ने भी क्रोधविष को अपनाकर मुनियों की हत्या जैसा जघन्य दुष्कृत्य कर डाला।

इसीलिए कवि कहता है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोमलता का भाव न मन में।
फिर क्या सुन्दरता से तन में॥
जीवन विष बरसाए ! दया बिन बावरिया, हीरा जन्म गँवाए।

सचमुच मनुष्य के मन में अमृत का भण्डार होते हुए भी वह क्रोध को अपनाकर दूसरों के प्रति विष बरसाता है। यह विष जब दिमाग में चढ़ जाता है, तब शेक्सपीयर के शब्दों में वह बहरा बन जाता है। वह कहते हैं—

"In rage deaf as the sea, hasty as fire."

'गुस्से में मनुष्य समुद्र की तरह बहरा और आग की तरह जल्दबाज बन जाता है।'

मन में क्रोधरूपी विष को घोल लेने की अपेक्षा अगर मनुष्य अहिंसा, दया, सहानुभूति, धैर्य आदि अमृत तत्त्वों को अपनाए तो कितना अच्छा हो? किन्तु क्रोधरूपी जहर से दोस्ती करके वह उतावली में अपना सर्वनाश बुला लेता है। पालक ने जरा से वादविवाद में पराजय के अपमान को लेकर ही इतना बड़ा कोपकाण्ड कर दिया। दण्डक उसके बहकावे में आकर क्रोधविष के वशीभूत हुआ और मुनियों की हत्या का भागी बना और वर्षों पुराने साधक स्कन्दकाचार्य ने भी क्रोधावेश में आकर निदान करके अपना संयमी जीवन खो दिया, किनारे लगी हुई जीवन नैया पुनः अथाह संसार-सागर में धकेल दी।

क्रोध ध्यान करने से भी विष फैलता है

शास्त्र में क्रोधयुक्त ध्यान की बात आती है। वह क्या है? मन में क्रोध के विषैले परमाणुओं को एकत्र करना ही क्रोधरूप रौद्र ध्यान है। क्रोध ध्यान करने वाला पहले मन में दूसरों को अपने क्रोधविष से पीड़ित करने की भूमिका बनाता है, तत्पश्चात् उसे कार्यरूप में परिणत करता है।

महाशतक भगवान महावीर के उत्कृष्ट श्रावकों में से एक थे। उनकी एक पत्नी थी रेवती, जो मांसाहारी थी। वह प्रतिदिन गायों के ताजे जन्मे हुए बछड़ों को मरवाकर उनका मांसभक्षण करती थी, उसके इस कृत्य को देखकर उसकी दूसरी धार्मिक और अहिंसक सौतें बहुत खीजती थीं। उसके साथ रोज कहा-सुनी भी होती थी। परन्तु रेवती इतनी ढीठ और जबर्दस्त औरत थी कि उसके सामने सब काँपती थीं। रेवती ने एक दिन क्रोधवश मन में दृढ़ निश्चय कर लिया अपनी ६ सौतों को मार डालने का। फलतः उसने गुप्तरूप से उन्हें जहर देकर मार डाला। रेवती ने अपनी सौतों को विष से मार डालने से पहले अपने मन में क्रोधविष का ध्यान ही तो किया था।

इसी प्रकार कूलबालुक, गोशालक, पालक, नमुचि, शिवभूति आदि ने भी क्रोधविष से आविष्ट होकर दूसरों को पीड़ा देने से पहले क्रोध ध्यान ही तो किया था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वचन से भी क्रोधविष उगलता है

इसी प्रकार वचन में भी क्रोधविष व्याप्त हो जाता है, तब मनुष्य अपना आपा भूल जाता है। क्रोध मिश्रित वचन कितने मर्मान्तक, कटु, उग्र और असत्य होते हैं, उससे कितना अनर्थ हो जाता है, स्व-पर की कितनी हानि और वैर-विरोध की परम्परा बढ़ती है, यह तो भारतीय इतिहास को उठाकर देखने से आप स्वयं जान जाएँगे। रहीम कवि का भी यही कहना है—

"अमृत ऐसे वचन में, रहिमन रिस की गांस।
जैसे मिसरिहु में मिली, निरस बाँस की फांस॥"

जिसके मुखकमल से वाणी का अमृत रस झरने के बदले क्रोध का विष उगला जाता हो, समझ लो, वहाँ वचन में क्रोध का बिष घोलकर नरक में जाने की तैयारी कर ली। पातंजल महाभाष्य में ठीक कहा है—

"एकः शब्दः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति।" एक शब्द का यदि विवेकपूर्वक हित बुद्धि से प्रेम और शान्ति के साथ प्रयोग किया गया है तो वह स्वर्ग लोक की ओर ले जाता है, इस लोक में आपके लिए वह वाणी कामदुहा-धेनु-सी हो रही है, आपके जीवन में सोई हुई विराट चेतना को जगा रही है। किन्तु इसके विपरीत यदि आप अपशब्द, कटु शब्द एवं मर्मस्पर्शी वचन बोलते हैं, दूसरों को लड़ने के लिए आप उकसाते हैं, या वाणी से काँटा चुभोते हैं, आग लगा देने वाले वचन बोल रहे हैं, तो समझ लीजिए वह वचन आपको नरक की ओर ले जा रहा है। ऐसे शब्द आपके मुँह को भी गन्दा करते हैं, दूसरों में भी उसकी भयंकर प्रतिक्रिया जगाते हैं। क्रोध युक्त कठोर मर्मस्पर्शी एवं कटुवाणी विष का काम करती है। वाणी मिली थी आप को अमृतरस बरसाने के लिए, लेकिन आप वाणी में क्रोध मिलाकर बरसाने लगे हलाहल विष ! हम देखते हैं कि कई परिवारों में जरा-जरा बात पर क्रोध से आँखें लाल हो जाती हैं, भौंहे तन जाती हैं, और फिर शस्त्रों से आपस में लड़ाई भी ठन जाती है। इस विष को खाने पर तो मनुष्य केवल इसी जन्म में थोड़ी-सी देर में खत्म हो जाता है। परन्तु क्रोध रूपी विष को मन में—दिमाग में प्रविष्ट कराने पर, वचन द्वारा उसे उगलने पर तथा काया की चेष्टाओं द्वारा उस विष को कार्यरूप में परिणत करने पर तो एक जन्म नहीं, अनेक जन्मों तक मनुष्य को उसी गति और योनि में भटकना पड़ता है।

युवक सोम नवपरिणीत था और अपनी पत्नी को लेने के लिए ससुराल आया हुआ था। किन्तु उसको मुनि दर्शन का नियम था, इसलिए गाँव में विराजित आचार्य चण्डरुद्र के पास अपने साले के साथ वह आया। साले ने आचार्य के सामने दो-तीन बार मजाक में सोम की ओर इशारा करके कहा—"गुरुदेव ! इनको संसार से विरक्ति हो गई है। इन्हें मूंड लीजिए।" सोम ने चाहा कि वह इस बात से इन्कार करदे, कि यह सब मेरा उपहास कर रहे हैं, किन्तु वास्तविक बात कहने के लिए ज्यों ही सोम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ने मुंह खोला, एक अन्य साथी ने आगे बढ़कर पहली बात की पुष्टि कर दी। युवकों की चख-चख से क्रोधी चन्डरुद्र आचार्य का स्वभाव एकदम उग्र हो उठा। उन्होंने कहा—"अच्छा, ऐसी बात है, तो ले इसे मूंडता हूँ।" यों कह कर चट से सोम का मस्तक मूंड डाला और बना दिया उसे साधु। बात हँसी की थी, परन्तु अनियन्त्रित और अति होने के कारण तूल पकड़ गई। चण्डरुद्र का क्रोधी स्वभाव देखकर अन्य साथी तो वहाँ से खिसक गये, सोम बेचारा फंस गया। उसने लज्जावश लिए हुए साधु के बाने को अपने लिए कल्याणकारी समझ कर सन्तोष माना और साधुत्व की साधना करने में जुट पड़ा। दशविध श्रमणधर्म के सिद्धान्त उसने पहले ही पढ़ लिये थे अब तो उनका पालन करना था। परन्तु उसकी साधना में विघ्न न हो, इसके लिए उन्होंने गुरु से सविनय निवेदन किया—गुरुदेव ! जो कुछ हुआ सो हुआ, मैंने साधुत्व स्वीकार कर लिया। अब यहाँ रहना ठीक न होगा। क्योंकि मेरे परिवार के लोग, जब इस अप्रत्याशित घटना को सुनेंगे तो वे क्रुद्ध होंगे। सम्भव है, प्रतिकार के लिए वे आयें और आपको भी दण्ड देने से न चूकें। आप मेरे गुरु हैं। आपकी रक्षा करना मेरा परम कर्तव्य है। इसलिए अब यह स्थान बदल लेने में ही अपना हित है।"

गुरु बोले—"तुझे दीक्षा देने से ही मुझे भयंकर कष्ट उठाने पड़ेंगे। बात तो तेरी ठीक है कि यहाँ से चलकर कहीं और जगह जाना चाहिए। पर बता मेरा वृद्ध शरीर है, फिर रात्रि का अंधेरा बढ़ता जा रहा है। शरीर में चलने की ताकत प्रायः समाप्त हो चली है, फिर रात के अंधेरे में चलना तो मेरे लिए और भी कठिन है।"

सोम विनीतभाव से बोला—"गुरुदेव ! आप उसकी चिन्ता न करें। मैं आपको अपने कन्धों पर बिठा लूंगा। अभी तो मैं युवक हूँ।" युवक साधक सोम गुरु के इंगित की प्रतीक्षा में था।"

चण्डरुद्र क्रोधी तो थे ही। क्रोधी व्यक्ति दूसरे के स्वार्थ, हित या जीवन को नहीं देखता। वह बात-बात में उग्र हो जाता है। उन्होंने तपाक से कहा—तू मुझे दुःख देकर ही रहेगा। चल तेरी इच्छा है तो मुझे अपने कन्धों पर बिठा ले, किन्तु जहाँ तूने चलने की जरा भी गड़बड़ की तो मैं सहन नहीं करूँगा।" युवक सोम मुनि ने गुरु के कथन को सविनय स्वीकार किया। अपने कन्धों पर गुरु को बिठाया और वहाँ से चल पड़ा। गहन, गह्वर वन-टीले, पहाड़ आदि पार करते हुए सोम मुनि आगे बढ़ रहे थे, किन्तु सोम मुनि का पैर अंधेरे में ऊबड़-खाबड़ जगह में पड़ते कि चण्डरुद्र उसकी खोपड़ी पर मुट्टी से प्रहार करते। आधी रात बीती, नींद के झौंके युवक मुनि को आने लगे, फिर ऊबड़-खाबड़ जगह में पैर पड़ते कि गुरु गुस्से में आकर कहते—"दुष्ट ! मुझे मार ही डालेगा क्या आज ? बुद्धू ! मुझे दुःख देने को लाया ही क्यों था।" ऊबड़-खाबड़ रास्ते में चलने से सोममुनि के पैर छिद गये थे। उनमें से खून रिसने लगा था, फिर गुरु का क्रोधी स्वभाव ! सारी शक्ति लगा कर वे संभले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी पर कहाँ तक सम्भलते ? गुरु की ओर से गालियाँ, कटुवचन और प्रहार सहते-सहते हद हो गई ! कई बार तो गुरु का क्रोध सीमा पार कर जाता। वे तुरन्त चिल्लाते—अरे दुष्ट ! तुझे दिखाई भी नहीं देता ! अभी तो मार दिया होता मुझे।' परन्तु मुनि सोम तो मानो साक्षात् सहनशीलता और नम्रता का आगार बन गये थे। सिर फट गया। सारा शरीर खून से लथपथ हो गया, फिर भी अपनी कोई चिन्ता नहीं। निःस्वार्थ भाव से चल रहे थे। समता उनके रोम-रोम में रम गई थी। इसीलिए रह-रहकर उन्हें मन में वेदना होती कि सम्भल न सकने के कारण गुरुदेव को इतना कष्ट हुआ। जब गुरु अकुलाते तो वह सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में कहते—"गुरुदेव ! आप मुझे ठीक दण्ड दे रहे हैं। मैं कैसा अभागा हूँ कि आपको सुविधापूर्वक भी नहीं ले जा सका।" यों समभाव से गुरुदेव के चण्ड स्वभाव और प्रहार को सहने के कारण सोम मुनि को केवलज्ञान का प्रकाश हो गया। अब उनके पैर सम्भल-सम्भल कर पड़ने लगे। गुरुदेव ने कहा—"अब इतनी मार खाकर आया है ठिकाने ! पहले ही ऐसे चलता तो मुझे इतना कष्ट तो न होता।"

"गुरुदेव ! आपकी कृपा से मैं अब ठीक सम्भल कर चल रहा हूँ।" सोम मुनि के इस कथन पर आचार्य चण्डरुद्र विचार में पड़े गये। उन्होंने उनके सिर पर हाथ फिराकर देखा तो गर्म रक्त निकल रहा है। फिर भी इतनी सहनशीलता ! आचार्य ने पूछा—"सोम ! क्या तुझे कोई ज्ञान हो गया है ?"

"गुरुदेव ! आपकी कृपा है।" सोम मुनि ने कहा।

"क्या केवलज्ञान हो गया है या और कोई ज्ञान ?" गुरु ने पूछा। "गुरुदेव ! आपकी कृपा हो, फिर कमी क्या रह सकती है ?" गुरुदेव एकदम चौंके और शिष्य को रोक कर कंधे से नीचे उतरे। आचार्य चण्डरुद्र को एकदम पश्चात्ताप हुआ, वे करुण स्वर में कहने लगे—"वत्स ! मैंने तुम्हें कितना कष्ट दे दिया। तुम्हें तो समभाव से कष्ट सहने के कारण केवलज्ञान हो गया। पर मैं वाणी से क्रोधविष उगलने के कारण पाप से भारी हो गया। मैंने घोर पाप कर्मों के बन्धन कर लिये। न मालूम ये कितने जन्मों में छूटेंगे। वत्स ! धिक्कार है मुझ पापी को कि अपने सहनशील, विनयी शिष्य को भी कष्ट देने से न चूका। मुझे क्षमा कर दो तात ! जो पाठ मैं आचार्य होकर भी न सीख सका था, वह आज तुमने मुझे सिखा दिया। अब मैं जीवन भर कभी क्रोध न करूँगा।"

वाणी में क्रोध के विष को बसा लेने से आचार्य चण्डरुद्र स्वयं तो पाप कर्मों से भारी हुए ही, पर दूसरों को कष्ट में डाल कर कितना आघात पहुँचाया। यही कारण है कि सोममुनि से पहले के कोई साधु उनके पास टिक न सके। बल्कि उनके मन में आचार्य के कटु शब्दों की भयंकर प्रतिक्रिया भी हुई होगी।

इस प्रकार मनुष्य वाणी द्वारा अमृत बरसाने के बजाय क्रोधविष बरसाता है। इसीलिए एक कवि कहता है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"जब हो जाता मनुज पर क्रोध-भूत असवार ।
आंख बन्द होती तुरत, खुलता मुख का द्वार ।।"

अपेक्षित है, मानव अपना मुख द्वार खोलने के साथ-साथ विवेक की आँख खुली रखे ।

पर देखा है कि बहुधा मनुष्य इस मामले में समझदारी से काम नहीं लेता । वह उतावला और क्रुद्ध होकर वाणी से विषवृष्टि करता रहता है ।

एक महानगरी में एक धनिक रहता था । उसने अपनी विशाल कोठी इस नगरी में बनवाली थी । एक दिन वह एक सन्त को अपनी कोठी दिखला कर प्रशंसा पाने की उत्सुकता से ले गया । सन्त को घुमा-घुमाकर सारी कोठी दिखलाई । अलग-अलग कमरों पर लगी तख्तियों पर लिखा था—स्नानघर, शयनघर, आदि ।

इतने में उसने देखा कि नौकर एक बच्चे को बरामदे में स्नान करवा रहा है । बस, यह देखते ही उनका पारा गर्म हो गया । गुस्से में आकर गालियों के उपहार के साथ नौकर को लगे डांटने—अरे पागल ! मूर्ख, बुद्धू, अन्धा कहीं का ! बरामदे में स्नान करवा रहा है, यह स्नानघर किसलिए बनवाया है ?" यों काफी देर तक वे अन्ट-सन्ट बकते रहे ।

सन्त ने चलते समय उसकी दुर्वासा-सी प्रकृति को लक्ष्य करके कहा—"सेठ जी ! और तो बहुत-से घर बनवा लिये, एक 'लड़ाई घर' बनवाना क्यों बाकी रख दिया ?"

वे समझ तो गए, परन्तु अपनी क्रोध विष से भरी कटु वाणी को छोड़ सके या नहीं ? यह कहा नहीं जा सकता । वाणी में जब क्रोध रूपी विष भर जाता है, तब उसका असर दिल-दिमाग पर भी पड़ता है । तथागत बुद्ध का यह वाक्य विचारणीय है—"स्वच्छ पानी का बर्तन जब गर्म हो जाता है, तब उस पानी से भाप निकलने लगती है और वह खौलने लगता है । उस समय खौलते हुए पानी में अपना प्रतिबिम्ब नहीं देखा जा सकता । उसी प्रकार जब मनुष्य क्रोधाभिभूत होता है, तब उसकी समझ में नहीं आता कि उसका आत्महित किस में है ?"

चेष्टा या कृति में क्रोध विष तो और भी भयंकर

वाणी से आगे बढ़कर क्रोध रूपी विष जब मनुष्य की कृति या चेष्टा में प्रविष्ट हो जाता है, तब तो वह और भी भयंकर हो जाता है । उसके कारण वह नीच गति में और नीच योनि में जन्म लेता है । अगर वहाँ भी उसका विवेक नहीं जागता है तो वह क्रूर-क्रूरतर प्राणी की योनि में जन्म लेता रहता है, वहाँ स्वयं भी कष्ट पाता है औरों को भी कष्ट देता है ।

आप जानते ही हैं कि चण्डकौशिक सर्प कैसे बना था । चण्डकौशिक में विष कहाँ से और किस कारण से आया था ? विष का स्रोत तो वह क्रोध ही था,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिसे उसने साधु जीवन जैसे पवित्र और उच्च साधनामय जीवन में अपना लिया था। उक्त साधु का क्रोध मन और वचन की भूमिका को पार करके कायिक चेष्टा तक पहुँच गया था। मन में ही क्रोध कर लेता तो स्थूल दृष्टि वाले लोगों को पता न चलता कि वह सर्प क्यों और कैसे बना है ? परन्तु वह साधु तो वचन से क्रोध न करके कायिक चेष्टा में क्रोधरूपी विष को ले आया। कहानी मैं पहले सुना चुका हूँ, इसलिए दोहराऊँगा नहीं। चण्डकौशिक का पूर्वजन्म का जीव साधु अपने शिष्य को अत्यन्त क्रुद्ध होकर मारने दौड़ा था, किन्तु स्वयं खम्भे से टकरा जाने के कारण वह वहीं धड़ाम से गिर पड़ा और वहीं उसके प्राणपखेरु उड़ गये। उस साधु की चेष्टा क्रोधरूपी विष से व्याप्त थी, इसलिए उसे तदनुरूप क्रोधरूपी विष से ओतप्रोत सर्पयोनि मिली। वह चण्डकौशिक विषधर बना। वह भी सामान्य सर्प नहीं, दृष्टि विष सर्प !

क्रोध का विष कितना भयंकर होता है ? उसकी मार कितनी दूर तक होती है ? बल्कि यह कहा जा सकता है, कि सर्प के विष से भी मनुष्य के क्रोध का विष भयंकर मारक होता है। परन्तु आज का स्थूलदृष्टि वाला मानव सांप को अधिक विषैला मानता है, क्रोध विष से व्याप्त मनुष्य की अपेक्षा। मैं आपसे ही पूछता हूँ कि आपको पता चल जाए कि इधर सामने से एक जहरीला सांप आ रहा है, तो क्या आप इस रास्ते से जाएँगे ? नहीं जाएँगे। आप किसी और रास्ते से जाने का प्रयत्न करेंगे, या फिर ठहर कर जाएँगे ? परन्तु क्रोध के जहर से जहरीला मानव आ रहा हो तो आप उस रास्ते से बेधड़क होकर जाएँगे। परन्तु आप यह निश्चित समझिए कि सर्प के विष की अपेक्षा मनुष्य का क्रोध विष अधिक खतरनाक है। एक दृष्टान्त से इसे समझिए—

एक बार सांप से सिंह आदि जानवरों ने कहा—"भाई, हम तो काटते हैं, तो कुछ रक्त या मांस खाने को मिलता है, परन्तु तुम को क्या मिलता है ? फिर तुम क्यों किसी को काटते हो ?" सांप ने कहा—"भाई ! मेरा काटा हुआ तो फिर भी कुछ दिनों में ठीक हो जाता है, पर मनुष्य को देखो, उसके क्रोध-रूपी विष का काटा हुआ मनुष्य एक जन्म में क्या, कई जन्मों तक प्रायः ठीक नहीं होता।" पागल कुत्ते का काटा हुआ मनुष्य प्रायः तीन दिन में ठीक हो जाता है, सर्प का काटा हुआ भी प्रायः तीन चार दिन में ठीक हो जाता है, बिच्छू का काटा हुआ भी प्रायः २४ घन्टे के अन्दर-अन्दर ठीक हो जाता है, परन्तु मनुष्य के क्रोधरूपी विष द्वारा काटा हुआ प्राणी चिरकाल में, कई दफा तो कई जन्मों में जा कर ठीक होता है।

वस्तुतः क्रोध का विष सांप के विष से भी भयंकर होता है। क्रोध स्वयं एक भयंकर विषधर है। बाइबिल का कहना है—"क्रोध को लेकर सोना अपनी बगल में जहरीले सांप को लेकर सोना है।" जिसने अपनी आस्तीन में इस सांप को पाल रखा है, भगवान् ही उसका रक्षक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रोध : विष का स्रोत

लोग कहते हैं बिच्छू के कांटे (डंक) में और सांप आदि की दाढ़ में विष रहता है, परन्तु ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि क्रोध में विष रहता है, या यों भी कहा जा सकता है कि क्रोध विष का जनक है। जब मनुष्य अत्यन्त क्रोधाविष्ट होता है, तब उसके शरीर में विष व्याप्त हो जाता है। अत्यन्त क्रोधी एवं अतिरौद्र मनुष्य की दुर्भावनाओं का रंग एकदम काला, गाढ़ काला होता है। चमड़ी का रंग नहीं किन्तु अन्दर के परमाणुओं का रंग काला होता है। तीर्थंकरों ने छह लेश्याओं के अलग-अलग रंग, रस, गन्ध और स्पर्श का वर्णन किया है। उनमें से कृष्ण लेश्या का रंग बिलकुल काला श्याह बताया है, उसका रस अतिकटु, स्पर्श अत्यन्त खुर्दरा, और गन्ध, अत्यन्त वीभत्स बताई है। अमेरिका की एक विदुषी महिला 'मदर जे. सी. ट्रस्ट' ने मानव शरीर में पाये जाने वाले विभिन्न रंग के अणुओं और उन अणुओं पर से मानव के चरित्र का विश्लेषण करने का अभ्यास किया था। इस सम्बन्ध में उसने 'अणु और आत्मा' आदि दस पुस्तकें भी लिखी हैं।

न्यूयार्क के वैज्ञानिकों ने परीक्षा करने के लिए गुस्से में भरे हुए मनुष्य के खून की कुछ बूंदें लेकर पिचकारी द्वारा उन्हें एक खरगोश के शरीर में पहुँचाईं। नतीजा यह हुआ कि बाईस मिनट बाद खरगोश आदमियों को काटने दौड़ने लगा। पैंतीस मिनट पर उसने अपने आप को काटना शुरू कर दिया और एक घन्टे के अन्दर वह पैर पटक-पटक कर मर गया।

क्रोध करते समय खून में जहर फैल जाता है। इसलिए मनोवैज्ञानिक चिकित्सकों का कहना है कि माताओं को क्रुद्ध अवस्था में बच्चों को स्तनपान नहीं कराना चाहिए।

एक माता किसी से लड़ते-लड़ते अत्यन्त क्रुद्ध हो गई। क्रोधावेश में ही उसने अपने बच्चे को स्तनपान कराया। परन्तु स्तनपान करते ही बालक मर गया। डॉक्टरों ने जाँच करके बताया कि अत्यन्त क्रोधावेश में इस महिला का खून जहरीला बन गया था, जिसके फलस्वरूप स्तनपान करते ही बालक की मृत्यु हो गई।

सचमुच क्रोध शरीर में विष पैदा करता है। क्रोधी व्यक्ति के शरीर में कई प्रकार के विष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनकी तीक्ष्णता से भीतरी अवयव गलने लगते हैं। जिस प्रकार दमा, गठिया, डायाबिटीज, यकृतवृद्धि आदि रोग मनुष्य को घुला-घुला कर मार डालते हैं। उसी प्रकार क्रोध से उत्पन्न होने वाले विष भी घुला-घुला कर मार डालते हैं। डॉ० अरोली और केनन ने अनेक परीक्षणों के बाद यह घोषित किया है कि क्रोध के कारण अनिवार्यतः उत्पन्न होने वाली विषैली शर्करा खून को अशुद्ध कर देती है। खून अशुद्ध और विषाक्त होने के कारण पाचनशक्ति बिगड़ जाती है, सारा शरीर और चेहरा पीला पड़ जाता है। नसें खिचती हैं एवं गर्मी व खुश्की बढ़ जाती है। सिर का भारीपन, कमर में दर्द, पेशाब का पीलापन, आँखों के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे अँधेरा आदि सब क्रोधविष जन्य उपद्रव हैं। क्रोधरूपी विष के कारण शरीर में अनेक व्याधियाँ लग जाती हैं और दिनानुदिन मनुष्य क्षीण होकर अल्पकाल में काल के गाल में चला जाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक 'सोना' कहते हैं—क्रोधरूपी विष मनुष्य को मद्यपान की तरह विचारशून्य, दुर्बल एवं लकवे की तरह शक्तिहीन बना देता है। दुर्भाग्य की तरह यह जिसके पीछे पड़ता है, उसका सर्वनाश करके ही छोड़ता है। क्रोधजन्य महाव्याधि का शरीर और मन पर जो दूषित असर होता है, वह जीवन को पूरी तरह असफल बना देता है। अशान्ति, आशंका, आवेश आदि विकार उसे घेरे रहते हैं। पाश्चात्य विचारक Otway (ऑटवे) कहता है—

"It is in my head, it is in my heart, it is everywhere, it rages like a madness and I most wonder how my reason holds."

यह क्रोध मेरे मस्तिष्क में है, यह मेरे हृदय में है, यह सर्वत्र घुस गया है; यह पागल पन की तरह भड़क उठता है, और मैं बहुत आश्चर्य करता हूँ कि यह मेरी तर्क शक्ति को कैसे पकड़ लेता है !"

क्रोध विष को न रोकने से भयंकर हानि

क्रोध-रूपी विष जब मन, वचन और काया में फैलने लगे कि तुरन्त उसे रोक देना चाहिए। जो इस विष को फैलने से रोकता नहीं है, उसे भयंकर कष्ट उठाना पड़ता है।

क्रोधविष को न रोकने से स्कन्दकाचार्य अग्निकुमार बन गये थे, यह मैं पहले बता चुका हूँ। द्वैपायन ऋषि ने यादवों पर भयंकर क्रोध करके निदान कर लिया था, कि मैं यादवों और द्वारिका का विनाश करने वाला बनूँ।" फलतः वे अग्निकुमार देव हुए। द्वारिकानगरी भस्म कर दी। श्रीकृष्ण आदि कुछेक यादवों को छोड़कर अन्य समस्त यादवों का सर्वनाश कर दिया। सारांश यह है कि क्रोध के वश होकर द्वैपायनऋषि ने अपनी तपस्या का फल खो दिया। त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में भगवान् महावीर ने शय्यापालक के कानों में अत्यन्त क्रोध विष से व्याप्त होकर गर्मा-गर्म शीशे का रस उंडेलवा दिया था, जिसके परिणामस्वरूप उनके कानों में भगवान् महावीर के भव में कीलें ठुकीं।

अतुकारी भट्टा को क्रोधविष से व्याप्त होने के कारण बर्बर वेश में अनेक संकट सहने पड़े। क्रोधवश कूरड़-उकूरड़ मुनियों ने संयम जीवन से हाथ धोए। क्रोध के कारण तपस्वी मुनि चाण्डाल कहलाए।

दबे हुए क्रोध को पुनः जगाना तो और भी भयंकर

किन्हीं दो व्यक्तियों में किसी कारणवश झगड़ा हो गया। क्रोध के कारण दोनों उत्तेजित हो गए। किन्तु शान्त एवं परोपकारी हितैषी सज्जन ने बीचबिचाव करके उस लड़ाई को शान्त करा दी। परन्तु किसी क्रोधप्रिय एवं कलहप्रिय व्यक्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ने पुनः एक को या दोनों को उकसा कर क्रोधित किया और लड़ाया, यह चंचल बंदर को मदिरा पिलाने के समान महान् अनर्थकर है। सूत्र कृतांग सूत्र (श्रु० १, अ० ४, उ० १) में शान्त क्रोध को पुनः उत्तेजित करने के परिणाम के विषय में बताया है—

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी
विओसियं जे उ उदीरएज्जा।
अन्धे व से दंडपहं गहाय
अविओसिए धासति पावकम्मे।

जो क्रोध विष के भयंकर परिणाम से अनभिज्ञ पुरुष दोषयुक्त कठोर बोलता है; जैसे ब्राह्मण को 'डोड' कहना, बनिये को किराउ, श्वपाक को चाण्डाल कहना, काने को काना, कुबड़े को कुबड़ा कहना आदि तथा विविध प्रकार से उपशान्त द्वन्द्व, कलह या क्रोध को जो पुनः उदीरणा करके जगाता है, वह पापकर्मी पुरुष, अनुपशान्त (क्रोधादि को उपशान्त किये बिना) होकर उसी तरह चतुर्गति संसार में भटकता रहता है, जैसे अन्धा जंगल की पगडन्डी पकड़ कर अच्छी तरह से न जानने के कारण रास्ते में कांटे, एवं सिंह आदि हिंस्रपशुओं से पीड़ित होकर भटकता रहता है।

क्रोधरूपी विष को आते ही रोक दो

पिछले २५ वर्षों में विज्ञान ने बहुत शोध की है। उनमें से एक शोध है—सूक्ष्म कीटाणुओं को देखने की। रोग के विषैले कीटाणुओं को सूक्ष्मवीक्षण यंत्र (दूरबीन) से देखकर उन कीटाणुओं से बचने या उन्हें शीघ्र हटाने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि क्षय (टी. बी.), कैंसर आदि भयंकर रोग आगे न बढ़ सकें, वहीं दब जाएँ। इसीप्रकार आपको भी मन, वचन और काया में प्रविष्ट क्रोध के विषैले कीटाणुओं को पहले सूक्ष्म आत्म-निरीक्षण से देखकर आगे बढ़ने से रोकना है, उन क्रोध के विषाक्त कीटाणुओं से अपने आपको बचाना है। अगर आप जीवन में प्रविष्ट होने वाले क्रोध के विषाक्त कीटाणुओं को रोकेंगे नहीं या दबाएँगे नहीं तो वे आत्मा को अस्वस्थ एवं अशुद्ध बनाकर आपको जन्म-जन्मान्तर में बार-बार हैरान करेंगे।

एक जगह जंगल में दो मित्र बैठे हुए थे। अचानक एक सांप आया, उसने दोनों के अंगूठे में काट खाया। उनमें से एक मित्र ने सोचा कि अगर मैं इस अंगूठे को काट डालूंगा तो यह विष आगे बढ़ने से रुक जाएगा, आगे नहीं फैलेगा और मैं बच जाऊँगा।" यह सोच कर उसने चट से अपना अंगूठा जहाँ सांप ने काटा था, काट डाला और उस पर पट्टी बाँध दी। दूसरे मित्र ने सोचा—"अंगूठे का क्या काटना! सांप ने केवल अंगूठा ही तो काटा है! यह अभी ठीक हो जाएगा।' यह सोच कर वह बैठा रहा। उसने अंगूठा काटा नहीं। नतीजा यह हुआ कि थोड़ी देर में जहर चढ़ा और सारे शरीर में फैल गया। विष के फैलते ही वह मर गया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्धुओ ! आप भी अपना यही हाल समझिए। अगर आप क्रोधरूपी विष को आते ही रोकेंगे नहीं, उसे जहरीले फोड़े की तरह पपोलते रहेंगे तो याद रखिये एक न एक दिन क्रोध का विष भी आप के सारे जीवन में फैल जाएगा और वह आपको ले डूबेगा। आपकी आत्मा को अध्यात्मपथ पर आगे नहीं बढ़ने देगा। इसलिए क्रोध-रूपी विषैले कीटाणु का पता लगते ही तुरंत उसे खदेड़ने की कोशिश कीजिए।

क्रोध को देखने और नापने की प्रक्रिया

क्रोधरूपी विष जीवन में है या नहीं ? है तो कितनी डिग्री है ? उसके बाद नियंत्रण का अभ्यास कैसे करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत करता हूँ। रोग के कीटाणुओं को देखने की तरह क्रोध के विषाक्त कीटाणुओं को बारीकी से देखने के लिए सूक्ष्म अन्तर्निरीक्षण—आलोचन आवश्यक है।

इसके साथ ही क्रोध कितनी डिग्री का है ? क्रोधनियंत्रण के प्रति रुचि है या नहीं ? इसके नाप-तौल के लिए कुछ प्रश्न प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनके उत्तर अपने आप ही 'हाँ' या 'ना' में आप दे लें।

(१) आपको क्रोध आता है या नहीं ?

(२) तीव्र आता है या मन्द ?

(३) क्रोध सकारण आता है या अकारण ?

(४) यदि सकारण आता है तो कौन-सा कारण है ?—(अ) आपके मन के अनुकूल या आज्ञानुसार अमुक व्यक्ति ने कार्य नहीं किया इस कारण ? (आ) पहले किसी ने आपके प्रति कोई उपकार किया था इस कारण ? (इ) वर्तमान में आपकी कोई धन, जन या किसी पदार्थ को क्षति पहुँचाई, इस कारण ? या (ई) आपके अहं को चोट पहुँची, इस कारण ? (उ) आपका अपमान कर दिया, इस कारण ? या (ऊ) और कोई कारण बना ? अथवा (ऋ) दुर्वचन से, स्वार्थपूर्ति में बाधा से, अनुचित व्यवहार से, भ्रान्ति से या विचारभेद, अथवा रुचिभेद से क्रोध आया ?

(५) जो भी कारण क्रोध का बना, उसके निवारण के लिए आपने कोई उपाय किया या नहीं ?

(६) क्रोध आपको प्रतिदिन आता है या कभी-कभी पांच दस दिन में ?

(७) एक दिन में एक बार आता है या अनेक बार ?

(८) क्रोध आने पर तत्काल शान्त हो जाता है या गाँठ बांध कर लंबे समय तक टिकता है ?

(९) बाद में आपको क्रोध के लिए कभी पश्चात्ताप होता है ? या कभी क्रोध-नियन्त्रण न कर सकने के लिए कुछ प्रायश्चित लेने की इच्छा होती है ?

(१०) जब क्रोध आता है तब अपने भीतर ही सीमित रहता है, या गाली, मारपीट या हाथ पैर चलाने के रूप में बाहर आ जाता है ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(११) क्रोध का परिणाम अन्ततः बुरा होता है, क्या यह कभी सोचा है ?

(१२) क्षमा मानसिक सन्तुलन या सहिष्णुता क्रोध के प्रसंग के समय रखी जा सकना सम्भव है ? क्या उसके लिए कभी प्रयत्न भी किया है ?

(१३) प्रयत्न या अभ्यास करने पर लक्ष्यांक तक या लक्ष्यांक से पहले कहाँ तक पहुँच पाया हूँ ? इसे नापने की प्रक्रिया यह है—

(अ) प्रतिकूल वचन कहे तो क्रोध नहीं आता, (आ) दूर का आदमी कहे तो क्रोध नहीं आता। (इ) घर का या निकट का आदमी कहे तो भी क्रोध नहीं आता। (ई) अमुक-अमुक स्थिति में क्रोध नहीं आता।

क्रोध से विषाक्त कीटाणुओं के निवारण का प्रयत्न

डाक्टरों का कहना है कि दूध, पानी या तरल पदार्थों में रोगोत्पादक विषैले कीटाणुओं के होने का खतरा रहता है, अतः उन्हें उबाल (गर्म) करके पीया जाता है। उबालने पर उनमें किसी प्रकार के कीटाणुओं के होने का खतरा नहीं रहता वैसे ही अगर हमारे मन, वचन और काया में भी क्रोध के विषाक्त कीटाणु आ गए हों तो उन्हें पश्चात्ताप और प्रायश्चित रूप परिताप की आग में उबालकर मिटा देने चाहिए। क्रोध के विचार आ गए हों तो उनके लिए पश्चात्ताप के साथ ही प्रायश्चित-तप रूप परिताप करना चाहिए, ताकि वे विचार जड़मूल से ही समाप्त हो जाएँ। अगर क्रोधादि के विचारों को पपोलते रहेंगे, उनका मुलाहजा रखेंगे, उन्हें बार-बार स्थान देंगे तो फिर वे आपके जीवन में डेरा जमा लेंगे।

रमणलाल नाम का एक युवक था। वह बहुत ही क्रोधी था। बात-बात में क्रोध करना उसका स्वभाव बन गया था। पत्नी के बार-बार प्रेरणा देने पर एक दिन वह एक संत के प्रवचन में पहुँचा। संत ने अपने प्रवचन में क्रोध के दुर्गुण के विषय में बोलते हुए कहा—"क्रोध बहुत ही बुरा है, अत्यन्त हानिकारक है, जन्म-जन्मान्तर तक वैर की परम्परा बढ़ाता है, यह मनुष्य के जीवन में विष घोल देता है, बुरे संस्कार जमा देता है, आदि।" रमणलाल को अपने क्रोधी स्वभाव से घृणा हो गई थी, वह ऊब चुका था, अपनी क्रोधी प्रकृति से, उसने सोचा-संत ने जो कुछ कहा है, वह हूबहू मेरे पर ही घटित होता है। मुझ में ऐसा ही भयंकर क्रोध है। जब मुझे क्रोध चढ़ता है, तब मैं अपने बच्चों, पत्नी, माता या मित्रों पर उतारता हूँ। जब वह नशा उतर जाता है, तब पछताता हूँ; रोता हूँ पर मैंने आज तक इसके निवारण का उपाय ढूंढ़ने का प्रयत्न नहीं किया। इसीकारण तो मेरा क्रोध उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। निमित्त न मिले, वहाँ तक तो मैं बड़ा सयाना, समझदार, एवं शान्ति-प्रिय दिखाई देता हूँ; किन्तु निमित्त मिलते ही मेरी सारी समझदारी, सयानापन एवं शान्ति-प्रियता काफूर हो जाती है। उस समय क्रोध दुगुने जोर से उछलता है।" इस प्रकार रमणलाल पश्चात्ताप करने लगा। रोग से हैरान होने पर ही रोगी इलाज करता है। इसमें भी क्रोध रोग का इलाज कराने की रुचि जागी। अत्यन्त जिज्ञासा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और नम्रतापूर्वक इसने भी सन्तचरणों में निवेदत किया—"गुरुदेव ! आपने जिस दोष का आज वर्णन किया, वह हूबहू मेरे जीवन में है। मैं अतीव क्रोधी स्वभाव का हूँ। मैं अपने इस क्रोध-रोग से अत्यन्त बेचैन हो उठा हूँ, ऊब गया हूँ। कृपया, इसका कोई अकसीर इलाज बताइए, जिससे मैं क्रोध-रोग से छुटकारा पा सकूँ। मैं आपका अत्यन्त उपकार मानूंगा।"

संत ने आश्वासन देते हुए कहा—"वत्स ! घबराओ मत। प्रयत्न करने पर कोई भी वस्तु असम्भव नहीं। यह तुम्हारे पूर्व संस्कारों का परिणाम है। धीरे-धीरे अभ्यास से ये कुसंस्कार भी निर्मूल हो जाएँगे।" यों कहकर संत ने उसे एक मंत्र दिया और बताया—"जब क्रोध का प्रसंग उपस्थित हो, तब मौन धारण करके इस मंत्र को २१ बार बोलना तथा उस क्रोधजन्य वातावरण को छोड़कर कहीं दूर चले जाना। यद्यपि कुछ दिनों तक तो पड़ी हुई आदत तुम्हें बहुत हैरान करेगी। परन्तु अपने दृढ़ संकल्प पर डटे रहना। भविष्य में गलती न हो, इसके लिए प्रभु से प्रार्थना करना। अपनी आत्मा को लक्ष्यपूर्वक जागृत रखना। इसी प्रकार का ध्यान और जप करना, जिसमें क्षमा, नम्रता, प्रेम, मैत्री, प्रमोद, करुणा, दया, जीवों के स्वभाव, आदि का गहराई से चिन्तन करना। इस मंत्र पर भी सुबह-शाम एकाग्रतापूर्वक चिन्तन-मनन के साथ जप करना। जिज्ञासु रमणलाल को मंत्र क्या मिल गया, तीन लोक की निधि मिल गई। उसकी प्रसन्नता का पार न रहा। यद्यपि पूर्व संस्कारवश कुछ दिनों तक तो वह यदा-कदा क्रुद्ध हो जाता; लेकिन वह कोरी स्लेट थी, मन में श्रद्धा का तत्त्व अधिक था, तर्कजाल में फँसा नहीं था, इसलिए कुछ ही दिनों में उसका क्रोध-रोग शान्त होता दिखाई दिया। रमणलाल की जागृति से धीरे-धीरे क्रोध विकार पलायमान होने लगे।

एक दिन रमणलाल के क्रोध विजय की कसौटी हुई। एक दिन घर में खिचड़ी बनी थी, उसमें मां व पत्नी दोनों ने नमक डाल दिया था। नमक दो बार पड़ जाने के कारण खिचड़ी खारी हो गई थी। वही खिचड़ी रमणलाल की थाली में परोसी गई थी। खिचड़ी का कौर मुह में डालते ही खारी लगी। पहले ऐसा प्रसंग आता तो वह खिचड़ी की थाली माँ या पत्नी के माथे पर दे मारता था, पर अब रमणलाल बदल गया था। पूर्व संस्कारों ने जोर तो खूब लगाया, पर आज बागडोर रमणलाल के हाथ में थी। वह 'ओ३म् गुरुदेव' मन में बोल कर जरूरी कार्य के बहाने सीधा दूकान पर पहुँचा। उसके बाद जब माँ ने खिचड़ी खाई तो उन्हें भी खारी लगी। बहू से पूछने पर पता लगा कि उसने भी नमक डाल दिया था। अब मां की समझ में आया कि रमण भोजन की थाली पर से क्यों उठकर चला गया था। मां तुरन्त दूकान पर पहुँची। पुत्र को आग्रहपूर्वक मनाने लगी—बेटा, जल्दी घर चलो। हमें पता नहीं था, भूल से नमक दो बार डाल दिया था। हमारी भूल के लिए हमें क्षमा करो। तुम जो कहोगे, वह मैं बना दूंगी।" मां के वात्सल्यमय वचन सुनकर रमणलाल के घर के द्वार खुले। आज उसे वात्सल्य का अनुभव हुआ। सोचने लगा—क्रोध ने मुझे बहरा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व अंधा बना दिया था। अकारण ही मां और पत्नी पर क्रोध करके मैंने बहुत अन्याय किया।" इस प्रकार पश्चात्ताप करता हुआ रमण घर आया। मां के चरणों में पड़कर माफी मांगी-मां ! मुझे क्षमा करो। आज तक मैंने तुम्हारे और पत्नी के प्रति क्रोध करके बहुत अन्याय किया। मैं मूर्ख, पिशाच, क्रोधान्ध बना। मुझे संत ने दानव से मानव बना दिया। अब मैं कभी क्रोध न करूंगा। इस प्रकार पश्चात्ताप और परिताप दोनों से रमणलाल के जीवन में प्रविष्ट क्रोध के विषैले कीटाणु समाप्त हो गए।

पश्चात्ताप से पहले पूर्वताप आवश्यक

हमारे यहाँ निर्जरा और संवर दो तत्त्व आत्मशुद्धि के लिए बताये हैं। जीवन में क्रोधादि विष के कीटाणु प्रविष्ट हो जाने के बाद पश्चात्ताप एवं तपश्चर्यादि प्रायश्चित्त रूप परिताप के द्वारा उन कीटाणुओं को नष्ट करके आत्म-शुद्धि करना निर्जरा है, लेकिन वे कीटाणु आयें उससे पहले ही उन्हें रोक देना—आश्रवनिरोध रूप संवर है, जिसकी अत्यन्त जरूरत है। यानी पश्चात्ताप व परिताप के बजाय पूर्वताप किया जाय तो अधिक अच्छा है। क्रोध के विषाक्त जन्तु जीवन में प्रविष्ट होने के बाद पश्चात्ताप या परिताप करके उन्हें जला देना तो उचित है, लेकिन जन्तु प्रविष्ट होने से पहले ही पूर्वताप करना—यानी जन्तुओं को आने ही न देना उससे भी बेहतर है। आत्मशुद्धि के लिए पूर्वताप करके क्रोधादि विषाक्त जन्तुओं का प्रवेश जीवन में न होने देना उत्तम तो है, पर इसकी प्रक्रिया क्या है ? यह भी सोच लेना आवश्यक है—

क्रोध का प्रसंग आते ही मौन हो जाना, स्थानान्तरण कर जाना, क्रोध का प्रत्युत्तर क्रोधपूर्वक न देना, क्रुद्ध के प्रति भी प्रेम और आत्मीयता का व्यवहार करना, किसी को शत्रु ही न मानना सबको मित्र मानना, मन में दूसरों के प्रति मिथ्या भ्रम, पूर्वाग्रह, द्वेष, वैर विरोध या रुचिभेद-मतभेद के कारण दुराग्रह न रखना, अपने को बहुत महान् एवं धार्मिक और दूसरों को छोटा व पापी मानने की वृत्ति भी न रखना। क्रोध के अवसर पर महामन्त्र का जाप करने लगना आदि। ये और इस प्रकार के कुछ उपाय हैं क्रोध के पूर्वताप के।

अमरीका का एक प्रोफेसर बहुत क्रोधी था। मित्र की सलाह से उसने अपने नौकर से कह दिया—जब भी मुझे गर्म होते देखो, तुरन्त खाली लिफाफा दिखा दिया करो।" बस, जब भी नौकर उसे क्रुद्ध होते देखता, तुरन्त खाली लिफाफा लाकर सामने रख देता। इस प्रकार करने से उसकी क्रोध करने की आदत छूट गयी। मुहम्मद साहब ने कहा—"गुस्सा आने के समय बैठ जाओ, फिर भी शान्त न हो तो लेट जाओ।" भौंकते हुए कुत्ते के ठोकर मारोगे तो वह और ज्यादा भौंकेगा। इससे बेहतर है कि उस पर ध्यान ही न दो, तो वह अपने आप चुप हो जायेगा। इसी तरह कोई आप पर क्रोध कर रहा हो, या गाली दे रहा हो, उस समय आप भी क्रोध करके गाली देने लगेंगे तो क्रोध का विष ज्यादा से ज्यादा फैलता जायेगा। इसकी अपेक्षा अगर आप उस समय चुप्पी साध लेंगे तो उसका जोर अपने आप ठण्डा हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जायेगा। क्रोधी के प्रति क्रोध करने से क्रोधी का बल बढ़ जाता है। जैसे शत्रु हमारा बल हरण कर लेता है, वैसे, क्रोधरूपी शत्रु भी हमारा बल क्षीण कर देता है। माघ कवि ने कहा है—

'क्रोधो हि शत्रुः प्रथमं नराणाम्।'

'क्रोध मनुष्यों का सबसे पहला शत्रु है।'

क्रोधी के प्रति क्रोध करके अपना बल मत घटाओ

कई लोग क्रोधी के क्रोध को देखकर सोचने लगते हैं कि मैं क्या इससे कम हूँ, या कमजोर हूँ ? इसकी गाली सहन कर लूं यह मुझ से कैसे हो सकता है ? परन्तु ऐसा करने से क्रोधी का बल बढ़ता है, क्रोधी के प्रति क्रोध करने या गाली देने वाले का बल घटता है।

एक बार श्रीकृष्ण, बलदेव, सत्यक और दारुक चारों वन में घूमते-घूमते बहुत दूर निकल गये। वहाँ उन्हें रात हो गयी। घर वापस लौटने का मौका नहीं था। उन्होंने निश्चय किया—आज रात को किसी पेड़ के नीचे बितायेंगे, पर हममें से एक व्यक्ति बारी-बारी से जागता रहे, ताकि कोई उपद्रव हो तो शान्त किया जा सके। सर्वप्रथम दारुक की बारी थी। इसलिए वह अपने पहरे पर बैठ गया, बाकी तीनों सो गये। कुछ ही देर बाद एक पिशाच आया, वह बोला—"मुझे बड़ी जोर की भूख लगी है, इसलिए इन तीनों को खा लेने दे।" दारुक—"यह कैसे हो सकता है। मैं इनकी रक्षा के लिए तैनात हूँ। मेरे रहते तुम इन्हें नहीं खा सकते। इस पर पिशाच दारुक से भिड़ गया। दोनों में रस्साकस्सी होने लगी। ज्यों-ज्यों दारुक का रोष बढ़ता जाता, त्यों-त्यों पिशाच का बल बढ़ता जाता। अतः दारुक पिशाच को परास्त न कर सका। इतने में तो उसका समय पूरा हो गया। अब बारी थी—सत्यक की। वह जब पहरे पर बैठा, तब फिर वह पिशाच आया और उसी तरह अपनी बात दोहरा कर सत्यक से लड़ने लगा। सत्यक ने भी ज्यों-ज्यों पिशाच के प्रति क्रोध प्रगट किया, त्यों-त्यों उसका बल कम हो गया, पिशाच का बल बढ़ गया। अब सत्यक के सो जाने के बाद बलदेव की बारी थी। बलदेव भी अत्यन्त रोष में आकर पिशाच से भिड़ गया, परन्तु दारुक की तरह वह भी थोड़ी देर में हाँफने लगे, थककर चूर हो गये। वह भी पिशाच को परास्त न कर सके, क्योंकि गुस्सा करने से पिशाच का बल बढ़ जाता। अब श्रीकृष्णजी का नम्बर था। वे पहले तो शान्त खड़े हो गये। पिशाच का जोश भरा रोष ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, श्रीकृष्ण शान्ति से उसे कहते रहे—शाबाश ! तू बड़ा वीर है। तेरी माता धन्य है, जिसने ऐसा वीरपुत्र पैदा किया।" इस तरह शान्त रहने से पिशाच का बल घटता गया। आखिर वह इतना निर्बल हो गया और हार कर चला गया। सबेरे तीनों व्यक्ति उठे तो उनके लाल शरीर देखकर कारण पूछा तो तीनों बोले—रात में हम एक पिशाच से लड़े थे। इसी कारण खून से शरीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लथपथ है।" श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—पिशाच भयंकर नहीं होता, बशर्ते कि हम उसे बल दें। तुमने जैसे-जैसे उस पर रोष किया, उसका बल बढ़ता गया, तुम्हारा बल कम होता गया। मैंने उस पर तनिक भी रोष नहीं किया तो वह मेरे सामने अत्यन्त निर्बल होकर हार गया। तात्पर्य यह है कि क्रोधी के प्रति क्रोध करने से उसका बल बढ़ता जायेगा, आपका घटता जायेगा। अतः आप अपने जीवन में क्रोध मत करिये, इससे आपका बल बढ़ेगा। गौतम-महर्षि ने इसीलिए कहा है—

कोहो, विसं किं ?

क्रोध विष है, उससे दूर रहो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१७

अहिंसा : अमृत की सरिता

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपको ऐसे जीवन की परख देना चाहता हूँ, जो अमृत से लबालब भरा हो ! ऐसा अमृतमय जीवन किस तत्त्व को अपनाने से होता है ? यह भी गौतम ऋषि ने बता दिया है। यह गौतमकुलक का १६ वाँ जीवन सूत्र है, जिस पर आज मैं विवेचन करना चाहूँगा ! यह जीवन सूत्र इस प्रकार है—

अमयं ? अहिंसा

अमृत क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया—"अहिंसा" अर्थात्-जिस जीवन में अहिंसा है, वह जीवन अमृतमय बन जाता है। अहिंसा से ओतप्रोत जीवन ही अमृतमय है। उस जीवन में अमृत की पवित्र सरिता बहती है, जिसमें अहिंसा देवी का निवास है। अहिंसा धर्मी का कण-कण अमृतमय बन जाता है। उसके मन, वचन, काया में अमृत आ बसता है।

अमृत : मनुष्यों को भी सुप्राप्य

'अमृत' नाम सुनकर आप चौंक गए होंगे कि यह अमृत भला हम मर्त्यलोक के प्राणियों—मनुष्यों के भाग्य में कहाँ पड़ा है ? यह तो देवों के भाग्य की वस्तु है; देवों को प्राप्त होती है। परन्तु आप सच मानिए, यह अमृत जिसका जिक्र इस जीवन सूत्र में किया गया है, मनुष्य भी प्राप्त कर सकते हैं। देवों को भी अमृत यों ही नहीं प्राप्त हो गया। उन्हें भी अपने भव्य और दिव्य पुरुषार्थ के कारण अमृत प्राप्त हुआ है।

पुराणों में बताया गया है कि जब देवी देवता अमृत की खोज में भटकने लगे, तब उन्हें पता चला कि अमृत तो समुद्र में है। तब समुद्र को मथने का निश्चय हुआ। कहते हैं, जब देव समुद्र मंथन करने लगे तो सबसे पहले अमृत नहीं, हलाहल विष निकला। देवी देव चिन्ता में पड़ गए कि इस विष का क्या करें ? किसी ने कहा—"विष पी जाने पर ही अमृत मिलेगा। अमृत पीने वाले को पहले विष पीना पड़ता है।" पर विष कौन पीए ? जो पीएगा वही समाप्त हो जायगा, फिर अमृत उसके क्या काम आयेगा ? सब ने क्रमशः इन्द्र, विष्णु आदि शक्तिशाली देव-नेताओं से कहा कि आप इसे पी लीजिए। परन्तु उन्होंने अपनी असमर्थता बताई, तब सबने शंकरजी से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा—देव-शिरोमणि ! आप कृपा करके इस विष को पी जाइए और हमें कृतार्थ कीजिए।" शंकरजी ने कहा—"अभी तो मैं इसे पी जाऊंगा, परन्तु यह याद रखिए, भविष्य में अमृत भी उसी के पास टिकेगा, जो जहर को पचा लेगा। जिसमें विष पीने की शक्ति होगी, वही अमृत को सुरक्षित रखकर उसका लाभ उठा सकेगा।" पुराणों में रूपक की शैली में इसका वर्णन है। परन्तु उसका रहस्य यही है कि जो व्यक्ति क्रोध, अभिमान, लोभ, छलकपट, मोह, द्रोह, द्वेष, वैर विरोध, घृणा, ईर्ष्या आदि विषों को शान्तभाव से—समभाव से पी जाएगा, वही अहिंसा और प्रेम का अमृत प्राप्त कर सकेगा। उसे सबका प्रेम मिलेगा, उसके हृदय में दया, क्षमा, सन्तोष, सरलता आदि अहिंसा के गुणों का अमृत लहराता रहेगा।

यही कारण है कि शंकरजी ने विष को शान्तभाव से पी लिया, किन्तु उसे न तो अन्दर उतरने दिया और न ही बाहर रहने दिया। कण्ठ में ही रख लिया। इसी कारण उनका नाम 'नीलकण्ठ महादेव' पड़ गया। शंकरजी क्रोधादि विष को पीकर हजम कर सके, इसी कारण वे 'शिव-शंकर' तथा 'महादेव' बने और समस्त देवी देवों को अमृत-पान करा सके। शंकरजी के चित्र में आपने देखा होगा कि उनके गले के चारों ओर विषधर सर्प लिपटे रहते हैं कि वे सर्प उन्हें कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकते, क्योंकि उन सर्पों का विष अमृत से भरे महादेव पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता। इसका भी रहस्य यही है कि सांगोपांग अहिंसा का अमृत जिसके पास हो, वह चाहे विरोधियों के बीच में रहता हो, शत्रुरूपी विषधर उसको चारों ओर से घेरे रहते हों, उसकी निन्दा, बदनामी और विरोध करते हों, फिर भी उन विरोधी विषधरों के विष उगलने का उस पर कोई असर नहीं होता। वह विरोधियों और शत्रुओं को भी भगवान महावीर की तरह शान्तभाव से उनके द्वेष-रोषादि सहकर उन्हें अपनी अहिंसा का अमृत बाँटता चला जाता है। इसलिए देवों ने जैसे अमृतपान कर लिया, वैसे मनुष्य भी अमृतपान कर सकते हैं, बशर्ते कि उनमें क्रोधादि विषों को पीकर हजम करने की शक्ति हो, अपनी निन्दा, घृणा, विरोध या बदनामी को शान्त भाव से समभावपूर्वक सहन करने की सामर्थ्य हो और तभी अमृत से ओतप्रोत वह मनुष्य विरोधियों, पतितों, दुःखितों' पीड़ितों, शत्रुओं, एवं निन्दकों को अपना बनाकर उनके जीवन में व्याप्त विषों को निकाल सकेगा, उनमें भी अमृतत्व भर सकेगा। अपना अमृत उन्हें भी बाँट सकेगा।

वह अमृत क्या है ?

प्रश्न होता है कि अमृत के विषय में भारतीय विद्वानों की यह कल्पना रही है कि उसके पीने से प्राणी अमर हो जाता है। देवताओं ने अमृतपान किया, इसलिए वे 'अमर' कहलाये तो क्या इस अमृत के पीने से मनुष्य भी वैसा अमर हो सकता है ? इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि देवतागण जिस अमृत का पान करते हैं, उससे वे 'अमर' अवश्य कहलाते हैं, लेकिन वे भी अपनी आयु पूर्ण होने के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बाद मरते हैं, वे भी मरणशील हैं। संसार में कोई भी शरीरधारी ऐसा नहीं है, जो मरणशील न हो, मरता न हो, सदा जीवित रहता हो। चाहे तीर्थंकर, अवतार, पैगम्बर या चक्रवर्ती, बलदेव वासुदेव आदि कोई भी शक्तिशाली से शक्तिशाली पुरुष क्यों न हो, उन्हें भी एक न एक दिन प्राप्त शरीर को छोड़ना पड़ता है। वे अपने आयुष्य के एक भी क्षण को घटा या बढ़ा नहीं सकते, फिर देवों की क्या विसात है कि वे अपने आयुष्य के क्षण को घटा या बढ़ा सकें, या अनन्त काल तक जी सकें। परन्तु देवों के आयुष्य पूर्ण होने को 'मरण' न कहकर शास्त्रीय परिभाषा में 'च्यवन' कहा गया है। जबकि मनुष्य के देहान्त या आयुष्य के अन्त को मरण कहा गया है। महान साधकों के लिए हमारे यहाँ 'मरण' शब्द का प्रयोग करना शोभास्पद नहीं माना जाता, इसलिए उनके देहावसान या निधन को स्वर्गारोहण या स्वर्गवास हो जाना कहा जाता है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो देवों का तथाकथित अमृत कदाचित मनुष्य प्राप्त कर ले और उसे पी भी ले तो सम्भव है, वह दीर्घायु हो जाये, स्वस्थ, सशक्त और आत्मबली हो जाये, परन्तु फिर उसका मरण कदापि न हो, ऐसा होना असम्भव है।

तब फिर प्रश्न होता है कि ऐसा अमृत और कोई होना चाहिए, जिससे मनुष्य चाहे शरीर से अमरत्व प्राप्त न कर सके, किन्तु अपने जीवन, अपने उत्तम कार्यकलापों से और अपने यथार्थ यश से अमरत्व प्राप्त कर सके; अमर बन जाये। वह अमृत कौन-सा है ? और किस प्रकार का है ? इसी प्रश्न के उत्तर में गौतमऋषि कहते हैं—"**अमयं अहिंसा।**" अर्थात्—वह अमृत अहिंसा है।

केवल गौतमऋषि ही नहीं, कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र भी इसी बात का समर्थन करते हैं—

'अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः।'

—योगशास्त्र

संसार रूपी मरुस्थली में अहिंसा ही एक अमृत का झरना है।

वैदिक धर्म शास्त्र के मूर्धन्य महर्षि मनु भी यही कहते हैं—

"अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते।"

—मनुस्मृति ६–६०

अहिंसा प्राणियों के लिए अमृत के समान है।

हाँ, तो आप समझ गये होंगे कि इस मनुष्य लोक में अगर कोई अमरत्व प्राप्त कराने वाला अमृत है तो अहिंसा है। अहिंसा के आचरण से, अहिंसा के मुख्य अंगभूत दया, क्षमा, सेवा, सहानुभूति, करुणा आदि के सेवन से मनुष्य अमृतत्व या अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। जब मनुष्य अहिंसा के विविध कार्य करता है तो स्वाभाविक है कि जनमानस में उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति, और आदरभाव हो, लोग उसके सेवाकार्य एवं दयाकार्य से प्रभावित होकर युगों-युगों तक उसके गुणगान गायें,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसे अन्तर्मन से आशीर्वाद दें और उसकी यश-सौरभ चारों ओर फैले। यही अहिंसा के अमृत से अमरता का एक रहस्य है।

दूसरा रहस्य यह है कि अहिंसा भाव अहिंसा या विधेयात्मक अहिंसा की लहरें जब मानव हृदय के कण-कण में आती हैं, मानववाणी से अहिंसा का अमृत निर्झर फूटता है, मानव के हाथ, पैर, आदि अवयवों से जब निःस्वार्थ निष्काम दया और सेवा का कार्य प्रवाह बनकर बहता है, तब असंख्यगुनी निर्जरा (कर्मों के क्षय की प्रक्रिया) होने लगती है और इस प्रकार अहिंसा के उत्कृष्ट भावों का रसायन आने पर चार घाती कर्मों का सर्वथा क्षय होकर केवलज्ञान प्राप्त होते देर नहीं लगती और तब आयुष्य पर्यन्त शेष समस्त अघाती कर्मों को भोग कर उनका भी सर्वथा क्षय होने पर मनुष्य सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है, वही सदासर्वदा के लिए अमरत्व का स्थान है, जिसे अहिंसामृत के द्वारा मनुष्य प्राप्त कर लेता है और अजर-अमर-अविनाशी बन जाता है।

इसी बात की पुष्टि सूक्तिमुक्तावली करती है—

'मोक्षं ध्रुवं नित्यमहिंसकस्य।'

अहिंसक के लिए शाश्वत मोक्ष की प्राप्ति निश्चित है।

अहिंसामृत के पान से अमर बनने का एक रहस्य यह भी है कि मनुष्य जब रक्षा, दया, करुणा, सेवा, क्षमा एवं सहानुभूति के विधेयात्मक रूप में तथा किसी जीव को न मारने, न पीटने, न सताने, और न पीड़ा देने के निषेधात्मक अर्थ में जब अहिंसा का आचरण करता है उस समय शुभभावों के कारण वह देवगति का आयुष्य बन्ध करके देव बन सकता है, अपने पुण्य पुंज से वह देवलोक में जा सकता है। देवलोक का देव अमर कहलाता ही है। इस प्रकार अहिंसा के पालन से मानव अमर बन जाता है।

इसीलिए शंकराचार्य रचित प्रश्नोत्तरी में भी कहा है—

का स्वर्गदा प्राणभृताम् ? अहिंसा

प्राणधारियों को स्वर्ग प्रदायिनी कौन है ? अहिंसा।

इसके अतिरिक्त अहिंसा के पालन से व्यक्ति इस लोक में भी अमरोपम—देवतुल्य बन जाता है। उसमें दया, क्षमा, शील, सन्तोष, करुणा, वात्सल्य, सेवा, सहानुभूति, मानवता आदि दिव्य दैवी गुण आ जाते हैं, वह दैवी सम्पदा का धनी बन जाता है, मतलब यह है कि उच्चकोटि के देवों में जो दिव्यत्व होता है, वही मनुष्य लोक में अहिंसा अमृत का पान करनेवाले मनुष्यों में आ जाता है, अमरत्व इसीलोक में जीते जी प्राप्त हो जाता है। और फिर देवों को जो दिव्य रूप, आरोग्य, दीर्घ आयु तथा प्रशंसनीयता प्राप्त होती है, वह सब अहिंसक मनुष्यों को इसी लोक में प्राप्त हो जाती है। जैसाकि योगशास्त्र (२/५२) में कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता ।
अहिंसायाः फलं सर्वं, किमन्यत् कामदैव सा ।।

दीर्घ आयु, श्रेष्ठ रूप, नीरोगता एवं प्रशंसनीयता (प्रतिष्ठा), ये सब अहिंसा के ही फल हैं। अधिक क्या कहें, अहिंसा सभी मनोरथों को सिद्ध करने वाली काम-धेनु है। बृहस्पति स्मृति भी इसी बात का समर्थन करती है—

रूपमारोग्यमैश्वर्यमहिंसा फलमश्नुते ।

सुन्दर रूप, स्वस्थ तन-मन, और सम्पत्ति सुख-सामग्री आदि ऐश्वर्य, इन अहिंसा के फलों को अहिंसक प्राप्त करता है।

निष्कर्ष यह है कि देवों (अमरों) को जो सुख, आरोग्य, रूप, ऐश्वर्य आदि प्राप्त होते हैं, वे सब अहिंसामृत का पान करने वाले मनुष्य लोक के अमरों को प्राप्त होते हैं।

ये सब तथ्य अहिंसामृत से अमरत्व प्राप्त करने के रहस्य हैं। अहिंसामृत को छोड़कर और किसी अमृत का पान करने से अमरत्व प्राप्त होने में सन्देह है।

स्थूल अमृत से वास्तविक अमरता नहीं

जो लोग स्थूल अमृत के चक्कर में पड़कर अपने धनबल और सत्ताबल के जोर से अमृत बनवा कर उसका पान करने का उपक्रम करते हैं, वे कदापि अमर नहीं हो सकते।

जब तक स्वाभाविक रूप से अहिंसा के अमृत का स्पर्श नहीं होगा, तब तक न तो सच्ची अमरता, एवरलास्ट अमरता प्राप्त होगी, और न ही देवों का अमरत्व प्राप्त होगा क्योंकि देवों को जो अमरता प्राप्त होती है, वह भी मनुष्य लोक में अहिंसामृत का सेवन करने से ही प्राप्त होती है। किन्तु जो लोग इस तथ्य को न समझ कर अपने लौकिक वैभव, ऐश्वर्य और सत्ता के बल पर केवल खरीदा हुआ अमृत-रसायनों से बना हुआ स्थूल अमृत-पीकर अमर बनने के स्वप्न देखते हैं, उनके वे स्वप्न अधूरे ही रहते हैं।

प्रागैतिहासिक काल की एक घटना है। सभी प्रकार के सुख-साधन, वैभव और सत्ता से सम्पन्न एक सम्राट् था। वह अपने वैभव की नींद में इतना मस्त रहता था कि उसे पता नहीं चलता था कि कब दिन हुआ और कब रात पड़ी। एक दिन सम्राट् के मन में एक विचार आया कि मृत्यु आएगी तो यह सब सुख, सम्पत्ति, वैभव, सत्ता, और ठाठबाठ छिन जाएगा। अतः कुछ न कुछ उपाय करना चाहिए।" राजा ने अपने गंवार नौकरों एवं पासवानों से पूछा तो उन्होंने कहा—"महाराज ! इसका उपाय यह है कि आप अमर बन जाइए।"

अमर कैसे बना जाए ? यह जब सम्राट् ने पूछा तो उन्होंने कहा—"अमृत पान करके।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्राट्—"अमृत का नाम तो सुना है, पर कैसे बनेगा, कहाँ मिलेगा ?"

नौकर बोले—"वाह महाराज ! आपके पास अपार सम्पत्ति और सत्ता है, फिर क्यों नहीं बनेगा ? आप अपनी राजधानी में बड़े-बड़े रसायनशास्त्रियों को बुला कर बसाइए, उन्हें बड़ा पारितोषिक देकर आदेश दीजिए कि वे अमृत बना दें।"

सम्राट् के दिमाग में बात जँच गई। सम्राट् ने उसी समय प्रधानमन्त्री को बुला कर आदेश दिया—"अमृत निर्माण करने में कुशल रसवैज्ञानिकों को आमंत्रित करके उनसे अमृत बनवाओ।" प्रधानमन्त्री ने देश के श्रेष्ठ रसायनशास्त्रियों और रसवैज्ञानिकों को ढूँढ-ढूँढ कर सम्मानपूर्वक बुलाया। उन्हें राजा की आज्ञा सुनाई। विशाल पारितोषिक के लोभ से वैज्ञानिक राजधानी में जम गए। अमृत निर्माण में व्यय के लिए राजकोश खोल दिया। वनस्पति, जड़ी-बूटी, फल, फूल, मूल, पृथ्वी के समस्त द्रव्य, रस, स्वर्ण, पारद, अभ्रक, हीरा, मुक्ता आदि द्रव्यों का ढेर लग गया और एक दिन सचमुच अमृत तैयार हो गया। सम्राट् ने ज्योतिषियों से अमृत पान का शुभ मुहूर्त निकलवाया। इसीदिन भव्य समारोह मनाने की घोषणा की। अमृत पान के लिए सप्त धातुओं का एक खास मण्डप बनवाया गया। अमृत पान के लिए जो पात्र था वह नीलम, माणिक्य तथा पुखराज से जड़ाया गया। बैतालिकों के गान शुरू हुए। शहनाइयाँ बज उठीं। राजा ने आज तमाम नागरिकों को सरकारी रसोड़े से भोजन के लिए आमंत्रित किया था। इसलिए जनता का तांता लग गया। अमृतपान का शुभदिन और शुभमुहूर्त आ पहुँचा। राजा नवनिर्मित मण्डप में इन्द्र धनुषी रंग के रत्नजटित सिंहासन पर बैठे। देशभर में से सम्राट की इस अभूतपूर्व सिद्धि को देखने के लिए नामी कलाकार, गायक, धनिक, शूरवीर, विद्वान ज्ञानी और नेता आये हुए थे। सभी नागरिक एवं आगंतुक यथास्थान बैठ गये। फिर क्रमशः उठ-उठ कर राजा को इस सिद्धि के लिए अभिनन्दन देकर अपने-अपने स्थान पर आसीन हो गये। कटोरे में अमृत भर कर राजा के समक्ष रखा गया। परन्तु राजा की आँखें प्रधानमन्त्री की प्रतीक्षा में थी, और सब आये, पर वे अभी तक नहीं आये। राजा सोचने लगे—"मानव लोक में इस अपूर्व अवसर पर सभी मुझे अभिनन्दन दे ने आये हैं, पर प्रधानमन्त्री क्यों नहीं दिखते ? इतने में श्वेत केश राशि युक्त वृद्ध प्रधानमन्त्री आये, और आँखें नीचे झुकाकर चुपचाप बैठ गये। सम्राट कुछ कुपित-से होकर बोले—"मन्त्रीवर ! क्या आज का समारोह आपको पसन्द नहीं है ?"

प्रधानमन्त्री—"देवदुर्लभ यह प्रसंग मुझे रुचिकर न हो, यह कैसे हो सकता है ?" सम्राट—"मन्त्रीवर ! आप इस शुभ समारोह पर एक भी शब्द न बोले, इसका क्या कारण है ? देश-देशान्तर के समागत, अतिथि मुझे अभिनन्दन दे चुके, पर आप.....।" प्रधानमन्त्री—'महाराज.....'यों कहकर रुक गए। सम्राट—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"कहिए जो कुछ आपके मन में हो ! क्या इस अमृत का पानकर मैं अमर नहीं बनूंगा ?"

प्रधानमन्त्री—"महाराज ! यह अमृत तो है, यह सच है, किन्तु सच्चा अमरत्व इससे नहीं मिलेगा। इस अमृत का पान करके आप अमर बनेंगे, मगर इसमें सच्चा अमरत्व नहीं है। सभा में सन्नाटा छा गया। राजा भी आश्चर्यपूर्वक उद्विग्न हो उठे। हजारों व्यक्तियों के नेत्र एवं कान प्रधानमन्त्री पर लग गये। सम्राट ने पूछा—"तब इसका क्या किया जाए ?" प्रधानमन्त्री-बोले—"इस अमृत को ढोल दीजिए।" सभा में से एक साथ कई आवाजें आयीं—महामन्त्री की बुद्धि पर पाला पड़ गया है, इनकी बुद्धि सठिया गई है, तभी कहते हैं—अमृत ढोल दो। राजन् ! ऐसा मत होने दीजिए। कितने वर्षों की साधना के बाद इस पृथ्वी पर यह अमृत बना है।" राजा ने सबको शान्त रहने का आदेश देते हुए कहा—"सुनो ! प्रधानमन्त्री जी इसका रहस्य बतायेंगे।"

"अवश्य, महाराज ! मैं बताऊँगा कि सच्चा अमृत कौन-सा है ? किसके पीने से सच्चा अमरत्व प्राप्त होगा ?" प्रधानमन्त्री ने निर्भीक होकर कहा। प्रधानमन्त्री को सबने शीघ्र ही सच्चे अमृत का रहस्य समझाने को कहा।

प्रधानमन्त्री बोले—"वेदों, उपनिषदों और पुराणों के रचयिता ऋषिमुनियों को आज हजारों वर्ष हो गए फिर भी भारतीय जनता याद करती है न ? मैं पूछता हूँ, वे आज भी अमर हैं या नहीं ?"

सम्राट ने कहा—"हाँ, ऐसा ही है।"

"परकार्यार्थ जीते जी शरीर को समाप्त करके अपनी हड्डियों का दान करने वाले दधीचि को भी विश्व याद करता है या नहीं ?"—प्रधानमन्त्री ने पूछा।

सम्राट—"बेशक उन्हें हम आज भी याद करते हैं।"

"एक शरणागत कबूतर की रक्षा के लिए अपना शरीर चीर कर मांस देने वाले शिवि राजा आज भी अमर हैं या नहीं ? जनता के कल्याण के लिए हलाहल विष गले में सुरक्षित रखने वाले कैलाशपति अमर हैं न ?" सम्राट बोले "अवश्य हैं।"

तब महाराजा को ज्ञात होना चाहिए कि सच्चा अमरत्व तो अहिंसामृत को अपनाने से प्राप्त होता है। जो व्यक्ति दया, क्षमा, करुणा, सेवा, सहानुभूति आदि अहिंसा के अंगों का सेवन करके समर्पणपूर्वक अपनी काया घिसा डालता है, उसी को सच्चा अमरत्व मिलता है। मन, वचन, काया से अहिंसा का अमृत पान कर दूसरों को अमृत पिलाने वाले को ही सच्चा अमरत्व प्राप्त होता है। जिनके जीवन का प्रतिक्षण स्वपर-कल्याण में व्यतीत होता है वे शान्ति के धनी सेवाव्रती ही यथार्थ अमरत्वपान के अधिकारी होते हैं। अपने पास जो भी धन, साधन सत्ता, वैभव पद आदि हैं, उनका उचित उपयोग जनता जनार्दन की सेवा में, विश्व कल्याण में करता है, सचमुच वही अमरत्व प्राप्त करता है। इसलिए मेरा मन्तव्य है कि इन समस्त गुणों की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सारभूत अहिंसा ही अमृत है, वही सच्चा अमरत्व प्रदान करती है। अगर आप सच्ची अमरता चाहते हैं तो आज से ही अहिंसामृत की साधना में संलग्न हो जाएँ। ज्यों-ज्यों आपकी अहिंसा-साधना परिपक्व होती जाएगी, आप अमरत्व की ओर बढ़ते जायेंगे ?" महामन्त्री की बात सुनकर सम्राट एक क्षण कुछ सोचकर बोले—"तब इस अमृत का क्या किया जाए ?"

महामन्त्री—"इसे ढोल दीजिए महाराज !" इस बार विरोध में एक भी स्वर सभा में से नहीं उठा। सम्राट ने सच्चा अमरत्व प्राप्त करने से उसी समय अहिंसामृत की साधना करने का संकल्प किया और अपने हाथ से वह अमृत वहीं का वहीं ढोल दिया।"

बन्धुओ ! आप भी सच्चे अमरत्व को प्राप्त करने के उपाय के सम्बन्ध में समझ गये होंगे। एक पाश्चात्य विद्वान हेजलिट (Haslitt) के शब्दों में अहिंसामृत को ढूंढिए—

"A gentle word a kind look a good-natured smile can work wonders and accomplish miracles."

"एक नम्र शब्द, एक दयापूर्ण दृष्टि, एक अच्छे स्वभाव की मुस्कराहट आश्चर्य पैदा कर सकती है, और चमत्कार की पूर्ति कर सकती है।"

अहिंसा भूतल की अमृतसरिता क्यों और कैसे ?

प्रश्न होता है, अहिंसा ही अमृत क्यों ? क्या अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो वास्तविक अमृत बन सके। उत्तर में निवेदन है कि अहिंसा, सेवा, दया, सहानुभूति प्रेम, वात्सल्य, करुणा, अनुकम्पा, क्षमा, दान आदि अनेक कोमल भावनाओं को लिए हुए हैं और अमृत का काम केवल कोमल भावनाएँ ही कर सकती हैं। अहिंसा के पालन में मानव अपने आपको विश्व के प्राणियों में विलीन कर देता है, उसमें 'मैं' व 'तू' का द्वैतभाव नहीं रहता; दूसरे की पीड़ा की अनुभूति अहिंसक को होने लगती है। अहिंसक दूसरों के दुःखों को देखकर रह नहीं सकता। वह भरसक प्रयत्न करता है, दूसरों के दुःखों को दूर करने को; इसीलिए मानव जीवन में अहिंसा को प्रतिष्ठित करना आवश्यक माना गया है।

जहाँ चारों ओर मारकाट मच रही हो, लोग परस्पर एक दूसरे के खून की होली खेल रहे हों, दुष्ट, उद्दण्ड या अत्याचारी हो गए हों और अपनी उद्दण्डता पर उतरे हुए हों, जहाँ व्यक्ति के जीवन में नाना प्रकार के अपराध प्रविष्ट हो गये हों, जहाँ रोग, शोक और चिन्ताओं के दुःख से मानव कराह रहा हो, वहाँ अहिंसा के सिवाय ऐसा कौन-सा अमृत है, जिससे ये सारी समस्याएँ हल होकर शक्ति, सुख, आनन्द और प्रेम का स्वर्गोपम वातावरण बनाया जा सकता हो ? मेरी दृष्टि में अहिंसा ही इन सबका एकमात्र हल है। सत्य, ब्रह्मचर्य अस्तेय या अपरिग्रह से ये सारी समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं। मनुष्य अहिंसा के अमृत का पान करके ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऊपर बताये हुए दोषों और दुर्गुणों को मिटाने और वातावरण में सुख, शान्ति आनन्द और प्रेम को फैलाने में सफल हो सकता है और कोई उपाय इतना कारगर साबित नहीं हो सकता। इसलिए अहिंसा इस भूतल पर अमृत की सरिता है। अहिंसा रूपी अमृत-सरिता में डुबकी लगाकर व्यक्ति अपने आपको तो अमर बनाता ही है, वह जिस किसी का संस्पर्श करता है, उसके जीवन में भी अमृत भर देता है।

जिस प्रकार सरिता की धारा स्वयं शीतल रहती है और जो उसके पास आता है, उससे सम्पर्क स्थापित करता है, उसको भी वह शीतलता प्रदान करती है, इसी प्रकार अमृत की सरिता अहिंसा में अवगाहन करने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा में शीतलता, शान्ति और आनन्द का अनुभव करता ही है, साथ ही उसके सम्पर्क में जो भी आता है, वह भी आनन्दित हो उठता है। चोर-डाकू अपने से वैर न मानने वालों की भी सम्पत्ति हरण कर लेते हैं, किन्तु उनकी भी दुष्टवृत्ति अहिंसा के अमृत से शीतल हृदय वाले महान् आत्माओं के पास पहुँचकर बदल जाती है। वे उनके प्रभाव से सज्जन बन जाते हैं।

तथागत बुद्ध के सम्पर्क में आकर अंगुलिमाल डाकू से भिक्षु बन गया, यह अहिंसामृत का प्रभाव ही तो था। वाल्मीकि डाकू महात्मा नारद के सम्पर्क से ऋषि वाल्मीकि बन गया, यह चमत्कार अहिंसामृत का ही तो था। भगवान महावीर के सम्पर्क से चण्डकौशिक विषधर विषवमन करना छोड़कर अमृत का स्रोत बन गया, क्या यह अहिंसा का दिव्य प्रसाद नहीं था?

दूर की बात जाने दीजिए—गाँधी युग की बात तो आपमें से बहुत से जानते भी होंगे। गुजरात के मूक लोकसेवक रविशंकर महाराज को कौन नहीं जानता? उनके हृदय में आतंककारी डाकुओं के प्रति अगाध प्रेमामृत भरा था। अतः भयंकर आतंकवादी डाकुओं से मिलने का निश्चय किया। डाकुओं के मिलने की जहाँ संभावना थी वहाँ वे अंधेरीरात में चल दिये। चारों ओर छाया हुआ घना अन्धकार वातावरण को भयानक बना रहा था। दोनों ओर खड़ी टेकरियों के बीच बहता छोटा-सा झरना। किसी महाकाय व्यक्ति की भयंकर आवाज सुनकर अजनबी यात्री रुक गया। चारों ओर से बन्दूकधारी डाकुओं ने उसे घेर दिया। जब उन्होंने बन्दूकतानी तो अजनबी यात्री रविशंकरजी का मुक्त हास्य फूट पड़ा। बोले—'मैं भी तो तुम्हारी बिरादरी का डाकू हूँ। दस्युओं ने बन्दूक नीची कर ली और पूछा—"यहाँ क्यों आये हो?" "आप सबसे मिलने आया हूँ।" महाराज ने कहा। "किस गिरोह के हो?" डाकुओं के यह पूछने पर उन्होंने कहा—मैं महात्मा गाँधी के गिरोह का हूँ। तुम लोगों को लूटने की सही रीति सिखाने आया हूँ। फिर उन्होंने दस्युओं को अपने पास बिठाकर बड़े मार्मिक शब्दों में कहा—"हमें तो पराधीन बनाने वालों के विरुद्ध वीरता प्रगट करनी चाहिए। निरपराध देशवासियों को लूटने से क्या लाभ? चलो, मेरे साथ, महात्मा गाँधीजी की टोली में शामिल होकर अंग्रेज सरकार के विरुद्ध बगावत प्रारम्भ करो।" रविशंकर महाराज के आत्मीयता भरे उपदेश और उनके हृदय में निहित अहिंसामृत का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

डाकुओं पर अचूक प्रभाव पड़ा। रविशंकर महाराज के अहिंसामृत ने उनके दुखते घावों पर मरहम का काम किया। उस अहिंसामृत का प्रभाव यह हुआ कि बहुत-से डाकुओं ने अपना यह गलत धन्धा छोड़ दिया और सात्त्विक आजीविका से जीवन यापन करने लगे। जिसमें अहिंसा का अमृत होता है, वह शत्रुओं को अपने अहिंसा के अमृत से मित्र बना लेता है, उनकी शत्रुता को नष्ट कर देता है।

प्राचीन काल में चीन देश में एक अहिंसक तथा उदार राजा राज्य करता था। एक बार इसके राज्य की जनता ने दुःखी होकर शासन के विरुद्ध बगावत कर दी। राजा के पास खबर पहुँची तो मन्त्रियों के परामर्श से विद्रोहियों को समाप्त करने का संकल्प लेकर सदलबल वे उस विद्रोही क्षेत्र में पहुँचे। सभी को विश्वास था कि राजा अभी हमें विद्रोहियों पर सशस्त्र आक्रमण करने और मौत के घाट उतारने का कहेगा। किन्तु राजा ने विद्रोही क्षेत्र में पहुँचते ही यह घोषणा करवाई—"इस प्रदेश के समस्त कष्टों को जानने के लिए स्वयं इस देश का राजा आया है। यहाँ के विद्रोह को वह स्वयं शान्त करके जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। अतः समस्त बागियों को मेरा खुला निमन्त्रण है कि वे स्वयं आकर मुझ से मिलें। इस प्रदेश के लोगों की इस पहली गलती को मैं माफ कर दूंगा।" बस, घोषणा सुनते ही सब स्त्रीपुरुष अपने कामकाज छोड़कर राजा के स्वागत के लिए दौड़ पड़े। उनके समक्ष अपना मस्तक श्रद्धा से झुका दिया। सबने प्रसन्नतापूर्वक एक स्वर से कहा—"आप हमारे न्यायप्रिय राजा हैं, आप स्वयं अपनी प्रजा के कष्टों को दूर करने आये हैं, इसलिए हम बहुत प्रसन्न एवं नत हैं। हमारे अपराध क्षमा करें।" सारा ही पासा पलट गया। मन्त्रियों ने जब राजा को विद्रोहियों को कुचल डालने की बात याद दिलाई तो राजा ने कहा—"आप लोग स्वयं ही देख लो। मुझे तो अब न कोई विद्रोही मालूम पड़ रहा है, न शत्रु। सभी प्रेम से, श्रद्धा से मेरी बात मानने को तैयार हैं। सभी ने मेरी शरण स्वीकार कर ली। फिर मैं इन्हें शस्त्रास्त्रों से कैसे कुचल सकता हूँ। मैंने अहिंसा के शस्त्र से इन सबकी विद्रोही भावना समाप्त कर दी हैं। यह है अहिंसामृत का अचूक प्रभाव! अहिंसामृत ने समस्त विद्रोहियों के घाव पर इतना मधुर लेप लगा दिया कि उनका हृदय-परिवर्तन हो गया।

इसी प्रकार बड़े-बड़े भयंकर अपराधी, कैदी, दुष्कर्मी एवं जीवन से ऊबकर आत्महत्या करने वाले व्यक्तियों को भी जब अहिंसक व्यक्ति का मधुर सम्पर्क एवं सान्निध्य मिलता है, तो वे भी अपनी दुष्टता, अपराधवृत्ति, दुष्कर्म आदि सहसा छोड़ देते हैं। ऐसे एक नहीं, हजारों उदाहरण संसार के इतिहास में मिलते हैं। ईसामसीह ने जेकस जैसे दुर्जन, दुराचारी धनिक को अपने प्रेमामृत के प्रयोग से सुधार दिया था। समाज द्वारा उत्पीड़ित एक वेश्या को ईसामसीह ने पत्थर मारने वाले लोगों को शान्त करके उनके प्रहार से बचाया और उसका जीवन बदल दिया।

इसी प्रकार अहिंसा की महत्त्वपूर्ण अंग—सेवा-निःस्वार्थसेवा उन दुःसाध्य रोगियों को नहीं मिलती तो संसार के उन अशान्त और दुःखी लोगों की आज कितनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बुरी हालत होती। अहिंसा के अमृत ने ही उनकी परिचर्या के लिए उन्हें प्रेरित किया, जिसके फलस्वरूप अनेक दुःखियों और रोगियों की पीड़ा कम हुई, उन्हें सान्त्वना मिली। उन्हें अपने दुःख निवारण में सहायक देखकर दुःखानुभव कम हुआ।

आज मानवता उन लोगों की अपार ऋणी है, जिन्होंने पीड़ित, पददलित, अछूत शोषित और चिन्तित मानव बन्धुओं की नहीं, पशुओं की सेवा करके उनके आँसू पोंछे। क्या अब भी अहिंसा अमृत है, अहिंसा भूतल पर अमृत की सरिता है, इसमें कोई सन्देह रह जाता है ?

अगर अहिंसा रूपी अमृत इस पृथ्वी पर न होता तो यह सारी पृथ्वी नरक जैसी हो जाती, यहाँ दुःखों और कष्टों के अंबार लग जाते। कोई मनुष्य किसी के वश में न रहता, कोई भी किसी की हितैषी बात न मानता, सर्वत्र मारकाट, भय, आतंक और दंगा फिसाद होता। आज दुनिया में अहिंसामृत के कारण ही इतनी शान्ति और सज्जनता है।

पाश्चात्य विचारक पेन (Penn) कहता है—

Love is indeed heaven upon earth; since heaven above would not be heaven without it."

"प्रेम वास्तव में पृथ्वी पर स्वर्ग है। ऊपर का स्वर्ग तब तक स्वर्ग नहीं होगा, जब तक वहाँ प्रेमामृत नहीं होगा।"

अहिंसा अमृत के कितने रूप ?

अब देखना यह है कि अहिंसा अमृत तो है, लेकिन किस-किस रूप में वह अपना कार्य करता है ? सबसे पहली और महत्त्वपूर्ण बात अहिंसा के सम्बन्ध में यह है कि यह जिस व्यक्ति के जीवन में उतरती है, उसकी दृष्टि प्राणिमात्र के प्रति या कम से कम मानव मात्र और पंचेन्द्रिय पशुपक्षियों के प्रति आत्मीयता की होनी चाहिए। **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** की भावना उसके जीवन में ओतप्रोत होनी चाहिए, मानव मात्र के प्रतिबन्धुता एवं मैत्री भावना उसके रगरग में रमी हुई होनी चाहिए। तभी वह अहिंसा अमृत का विविध रूपों में प्रयोग करके प्राणियों को अपने अमृत का आनन्दानुभव करा सकेगा।

एक आचार्य ने अमृत के स्रोतों का पता लगाकर एक उक्ति कही है—

"वाचामृतं यस्य मुखारविन्दे, दानामृतं यस्य करारविन्दे।
दयामृतं यस्य मनोऽरविन्दे, त्रिलोकवन्द्यो हि नरो वरोऽसौ॥"

'जिसके मुख कमल में वाणी का अमृत है, जिसके कर-कमलों में दान का अमृत है और जिसके हृदय कमल में दया का अमृत है, वही श्रेष्ठ मनुष्य त्रिलोकवन्द्य होता है।'

यह तो निश्चित ही है कि वाणी, हाथ और हृदय में जो अमृत है, उसका मूल उद्गम स्थान या भंडार तो अहिंसा अमृत ही है। तीनों ही अवयव हैं, शरीर के। तीनों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में अहिंसा अमृत हो, तभी ये तीनों अमृत रूप हो सकते हैं, यदि अहिंसा इन तीनों में से एक में भी न हो; न वाणी में अहिंसा हो, न मन में अहिंसा हो और न हाथ (काया) में अहिंसा हो तो ये तीनों कभी अमृतमय नहीं हो सकते, ये तीनों ही उस स्थिति में विषमय बन जाएँगे। इसलिए मानना चाहिए कि वाचामृत, दानामृत या दयामृत, ये तीनों अहिंसामृत के ही रूप हैं, या अहिंसामृत की ही संतान हैं; अहिंसा ही इन तीनों को अमृतपान कराने वाली जननी है।

अहिंसा : वाचामृत के रूप में

जब अहिंसा वाणी में आ जाएगी, तब वाणी में से अमृत झरने लगेगा। तब जो भी बोला जाएगा, मधुर बोला जाएगा, प्रेम और आत्मीयतापूर्वक बोला जाएगा। उस वाणी में क्रोध, अभिमान, कपट, राग-द्वेष, वैर-विरोध या ईर्ष्या का विष घुला हुआ नहीं होगा और न ही उसमें किसी को खुश करने या अपना मतलब गांठने के लिए चिकनी-चुपड़ी मीठी-मीठी बातें होंगी, जो राग और मोह से प्रेरित हों, या माया से अनुप्राणित हों, चापलूसी और खुशामदी के रंग से रंगी हुई हों। इस प्रकार वाचामृत में न किसी के प्रति कर्कश, कठोर अपशब्द या गाली के शब्द होंगे, न किसी के प्रति ताने होंगे। जिसकी वाणी में अहिंसा का अमृत प्रवाह हिलोरे ले रहा होगा, वह अपनी वाणी से कोई भी छिछोरापन का, गंदा या आक्षेपात्मक शब्द नहीं निकालेगा और न ही किसी के प्रति मिथ्या दोषारोप करेगा। वह अपनी वाणी पर अहिंसा का नियंत्रण, संयम का विवेक और तपरूप में मौन को स्वीकार कर लेगा; परन्तु अपनी वाणी से कदापि गंदे और हलके शब्द नहीं निकालेगा; नहीं असत्यवचन या धोखा देनेवाले, सन्देहास्पद, या द्व्यर्थक वचनों का प्रयोग करेगा। आजकल राजनीतिज्ञों तथा कूटनीतिज्ञों की भाषा में स्वार्थ से सनी सभ्यता का पुट मिला रहता है। वे अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग तर्ज बदलते रहेंगे। परिवार में उनके बोलने की सभ्यता अलग होगी, मित्रों में पृथक् होगी। समाज के लोगों या सभा सोसाइटियों में उनकी वाणी का रूप अलग होगा। यह बहुरूपियापन वाणी के अमृत को नष्ट कर देता है। यह स्वयं के जीवन को भी नष्टभ्रष्ट कर देता है। इसलिए जहाँ वाचामृत होगा, वहाँ अहिंसा का जागृत पहरा होगा।

अहिंसा का अमृत वाचामृत के रूप में जब प्रगट होगा, तब दीन-दुखियों पीड़ितों, पददलितों एवं पिछड़े लोगों के प्रति स्नेह, सहानुभूति, आत्मीयता और सद्भावना से परिपूर्ण होगा। किसी के लिए अपमानजनक या क्षोभजनक वचन तो प्रकट होगा ही नहीं। यही वाचामृत की विशेषता है। बल्कि वाचामृत की संजीवनी बूटी के द्वारा वह दुःखितों एवं पीड़ितों को आश्वासन देकर उनकी व्याधि और आधि को दूर करने का प्रयत्न करेगा। परस्पर बढ़े हुए विरोध, मनमुटाव, द्वेष, रोष या कलह को वाणी का मधुर अमृत छींट कर ही शान्त किया जा सकता है। वाणी में अहिंसा का अमृत विरोधी से विरोधी चोर, जुआरी, दुष्ट, हत्यारे आदि का हृदय परिवर्तन करने में समर्थ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दीनबन्धु, एण्ड्रयूज अपना अध्ययन पूरा करके दक्षिण पूर्व लन्दन के ऐसे प्रदेश में जाकर रहने लगे, जहाँ चोर, शराबी, जुआरी, बदमाश और पतित लोग रहते थे। इन दीन-दुखियों की सेवा में उन्होंने चार वर्ष बिताए। एक बार एक व्यक्ति दीनबन्धु के सम्पर्क में आया, जो शराब पीकर बहुत ऊधम मचाता था। पुलिस उसे पकड़ कर जेल में भेज देती, पर वह जेल से छूट कर आता, तब दीनबन्धु उसे स्नेहपूर्वक आलिंगन करते, प्रेम से बोलते और उसके कल्याण के लिए भगवान से हृदय से प्रार्थना करते। एकदिन वह चिढ़कर बोला—"तुम मेरे पीछे क्यों पड़े हो ? मुझे तुम्हारे ईशु पर रत्तीभर भी विश्वास नहीं है।"

दीनबन्धु वाणी में अमृत घोल कर बोले—"भाई ! तुझे विश्वास हो या न हो, भगवान तुझ पर स्नेह बरसाते हैं।" बस, दीनबन्धु का यह एक वाक्य सुनकर उसका जीवन बदल गया। दीनबन्धु की सच्ची करुणा से सनी अमृतमयी वाणी ने उस पर जादू-सा असर डाला। लोग यह परिवर्तन देखकर आश्चर्यचकित हो उठे। कोई उससे पूछता—"क्यों भाई ! तुममें यह परिवर्तन कैसे आ गया ?" तो वह कहता—"भगवान मुझसे प्रेम करते हैं, इसलिए मुझे उनका प्रेमपात्र बनना ही चाहिए।"

यही व्यक्ति आगे चलकर धर्मपादरी बना और अफ्रीका में वर्षों तक जनसेवा की।

यह है वाचामृत का चमत्कार, जो अहिंसा माता से अनुप्राणित हो कर एक दुष्ट व्यक्ति का जीवन परिवर्तन करने में समर्थ हुआ।

अहिंसा: दानामृत के रूप में

हाथों से जब दान, परोपकार और सेवा के रूप में अमृत बरसता है, तब उसका मूल शक्तिस्रोत अहिंसा ही होती है। जब मनुष्य में दीन-दुःखियों, रोगियों या पीड़ितों के प्रति आत्मौपम्य भावना जागती है, अनुकम्पा की लहर उठती है, दूसरे का दुःख उसे अपना दुःख लगता है, दूसरे प्राणियों को कष्ट या पीड़ा से कराहते देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता है, तब वह जो दान, परोपकार और सेवा करता है, वह अमृत की तरह दुःखी और पीड़ित को, नवजीवन देने में समर्थ होता है। अतः दान, परोपकार, सेवा आदि तभी अमृतमय बनते हैं, जब उस दान, परोपकार, सेवा आदि के पीछे अहिंसा की कोमल भावनाएँ हों, अनुकम्पा बुद्धि हो, या किसी धर्मात्मा पुरुष के प्रति पूज्य बुद्धि हो। अन्यथा, जो दानादि अहंकारवश, ईर्ष्यावश, स्वार्थ बुद्धिवश, प्रतिस्पर्द्धावश, या नामना-कामना से प्रेरित होकर होते हैं, उनके पीछे उदारता, आत्मीयता, प्रेम और स्नेहभाव की सुधा नहीं होती है। वे न्याय-नीतिपूर्वक धन कमाना भी जानते हैं और समय आने पर दीनदुःखी, पीड़ित प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य भावना रखकर दान, परोपकार या सेवा के रूप में उसका व्यय करना भी जानते हैं। ऐसे ही व्यक्ति अपने दानादि को अमृतमय बना देते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वीडन के सम्राट की बहन राजकुमारी युजिनी के हृदय में दया और करुणा का अमृत सरोवर लहराता रहता था। दुःसाध्य रोगियों की पीड़ा को देखकर उसका हृदय विकल हो उठता था। उसने निःस्वार्थ अनुकम्पा से प्रेरित होकर अपने हीरे-मोतियों के आभूषण बेच डाले और एक विशाल हॉस्पिटल बनवाया, जिसमें रोगियों के उपचार के सभी अद्यतन साधन उपलब्ध थे। इतना ही नहीं, राजकुमारी स्वयं रोगियों की सेवा-सुश्रूषा करती थी। नर्सों के मना करने पर वह कहती—"इस प्रत्यक्ष सेवा कार्य से मुझे अत्यन्त आनन्द आता है। इसकी आनन्द-अनुभूति और सन्तुष्टि मुझे होती है।"

एक बार हॉस्पिटल में एक कुष्ट रोगी आया। उससे सभी दूर रहना चाहते थे। सभी घृणा करते थे उससे। राजकुमारी को ज्ञात हुआ तो वह स्वयं उस रोगी के पास पहुँची। पूछा—"भाई! कितने अर्से से इस रोग से पीड़ित हो?" उसने कराहते हुए कहा—"माताजी! मुझे इस रोग को पीड़ित हुए ६ वर्ष हो गए हैं। इसके कारण अंग-अंग में पीड़ा होती है, खून और मवाद भी बहते हैं। कोई भी मेरे निकट आना नहीं चाहता।' राजकुमारी की आँखों में आंसू छलछला आए। उसने कहा—"भाई! चिन्ता मत करो। मैं इस पवित्र कार्य को भगवान् की पूजा समझ कर करूँगी।" राजकुमारी ने झटपट पानी गर्म किया, अपने हाथों से उस रोगी के घाव धोए, फिर दवा मंगा कर पिलाई, घाव पर मरहमपट्टी की। नौकर से थोड़े फल मंगाए और रोगी को खिलाए।" यह क्रम लगभग ७ महीने तक चला। राजकुमारी ने दैनिक चर्या बनाली। आखिर एक दिन राजकुमारी की निःस्वार्थ सेवा फलित हुई। रोगी कुष्ट व्यधि से मुक्त हुआ। स्वस्थ होने के बाद जिस दिन डॉक्टर ने उसे घर जाने की अनुमति दी उस दिन वह राजकुमारी के चरणों में गिर कर अश्रुपूरित नेत्रों से कहने लगा—"मां! आपको मैंने बहुत कष्ट दिया, क्षमा कर दें। सचमुच आप मेरी दूसरी माता हैं। मां भी बच्चे की इतनी सेवा नहीं करती, जितनी आपने राजकुमारी होकर की है। आपके सेवा और प्रेम के अमृत ने ही मेरा रोग नष्ट करके, मुझे नया जीवन दिया है। मैं आपकी सेवा को आजीवन भूल नहीं सकूंगा।" राजकुमारी की आँखें भी गीली हो गयीं। भाई! हॉस्पिटल को बनाने में मैंने जो हीरे मोती के आभूषण दिये थे, आज सचमुच वे तुम्हारी आँखों के मोती (अश्रु) के रूप में ऊग निकले हैं। मैं धन्य हो गई हूँ, इन्हें देख कर।"

बन्धुओ! युजिनी का दानामृत और सेवामृत सच्चे माने में अमृत बन गया। यह अहिंसामृत का ही चमत्कार है।

अहिंसा : दयामृत के रूप में

तीसरा दयामृत है। अहिंसामृत दयामृत के रूप में अभिव्यक्त होता है। अहिंसा देवी जिसके घट में आ जाती है, उसके हृदय से प्रेम, दया, करुणा, स्नेह, सहानुभूति आदि भावों का अमृत-निर्झर बहता है। जिस हृदय में दया, करुणा, स्नेह,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रेम आदि का अमृत बहता होगा, वहाँ क्रोध, अभिमान, लोभ, मोह, कपट, मत्सर आदि कीटाणु नहीं होंगे। क्षमा और वात्सल्य का, मैत्री और आत्मीयता का उस हृदय में स्थायी निवास हो जाएगा। परन्तु जिस हृदय में काम, क्रोध आदि की गन्दगी होगी, वहाँ अमृत नहीं रहेगा, वह हृदय विषाक्त हो जाएगा। उस हृदय में प्रेम भी होगा तो वहाँ स्वार्थ और वासना की दुर्गन्ध होगी। छलकपट एवं मायाचार की बदबू वहाँ फैली हुई होगी। बाहर से उस व्यक्ति का व्यवहार मधुर, प्यार-भरा प्रतीत होगा, परन्तु अन्दर से कटु और कपट पूर्ण होगा। परन्तु हृदय में दया, प्रेम, स्नेह, करुणा आदि अमृत भावनाएँ निखालिस होंगी तो वे सब अमृत बनेंगी और अमृत का काम करेंगी। जिसके भी सम्पर्क में वह व्यक्ति आएगा, उसको अपनी दया आदि के अमृत से प्रभावित कर देगा। उसके हृदय में स्थित दयामृत का पौधा बढ़ता-बढ़ता एक दिन विशाल वृक्ष के रूप में पल्लवित-पुष्पित हो जाएगा। इसीलिए कहा है[1]—"दुनिया के जितने भी धर्म हैं, जिन्हें मानव अपनाता है, वे सभी दयामृत की सरिता के महातट पर पल्लवित, पुष्पित एवं अंकुरित होकर बढ़ते हैं। अगर दयारूपी अमृत सरिता सूख जाए तो वे सभी धर्म, सूख कर झड़ जाएँगे। वे कब तक हरे भरे रह सकते हैं?

एक पाश्चात्य विद्वान् ने ठीक ही कहा है—

"A mind full of piety and knowledge is always rich; it is a bank, that never fails; it yields a perpetual dividend of happiness."

"दया और ज्ञान से भरा हुआ हृदय हमेशा धन से परिपूर्ण होता है। ऐसा हृदय एक बैंक है, जो कभी फेल नहीं होता। यह खुशी का एक स्थायी लाभांश देता रहता है।"

कमलपुर के हरिवाहन राजा का पुत्र भीमकुमार जैसा शरीर से सुकुमाल था, वैसा वह हृदय से भी कोमल था। बुद्धिसागर मन्त्री के पुत्र मति-सागर के साथ उसकी गाढ़ी दोस्ती थी। एक दिन शुभ समाचार प्राप्त हुए कि नगर के बाहर उद्यान में देवचन्द्राचार्य पधारे हैं। राजा हर्षित हो कर समस्त राजपरिवार, राजकुमार, मन्त्री एवं प्रतिष्ठित नागरिकों सहित आचार्यश्री के वन्दनार्थ गए। सभी यथायोग्य स्थान पर बैठ गए, तब आचार्यश्री ने उपस्थित जनसमूह को धर्मोपदेश दिया। जिसे सुनकर राजा ने सम्यक्त्व सहित श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किए। राजकुमार को भी गुरु देव के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। आचार्य श्री ने भीम को योग्य समझ कर कहा—"राजकुमार! तुम्हें आज से मन-वचन-काया से दया की सम्यक् रूप से आराधना करनी है। क्योंकि दया दूसरे सत्य आदि सभी धर्मों की माता है। अहिंसा-व्रत का विधेयात्मक रूप दया है, अहिंसाव्रत सभी व्रतों की सुरक्षा के लिए बाडरूप

---

१ 'दयानदी-महातीरे सर्वे धर्मास्तृणांकुराः।
तस्यां शोषमुपेतायां, कियन्नन्दति ते चिरम्?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। अतः आज से किसी भी निरपराध जीव की हिंसा मत करना शिकार आदि दुर्व्यसन छोड़ देना।" गुरुदेव के वचन श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य करके भीमकुमार ने सम्यक्त्व सहित प्रथम अहिंसा-अणुव्रत स्वीकार किया। आचार्य प्रवर ने भीमकुमार को धन्यवाद देते हुए कहा—"देखना, तुमने जो स्थूल प्राणातिपात विरमणव्रत लिया है, उस पर दृढ़ रहना।" भीम आचार्य का वचन शिरोधार्य करके राजा आदि के साथ अपने स्थान पर लौटा।

एक दिन भीमकुमार अपने मित्र मतिसागर के साथ खेल रहा था, इतने में एक कापालिक आया। वह आशीर्वाद देकर भीम से एकान्त में कहने लगा—"राजकुमार! आप परोपकारी एवं दयालु हैं। मैंने भुवनक्षोभिणी नामक विद्या का पूर्वार्द्ध तो, 12 वर्ष में सिद्ध कर लिया है, उत्तरार्द्ध सिद्ध करने हेतु मुझे काली चौदस को श्मशान में जाना है, उस समय आप जैसे उत्साही मेरे उत्तर साधक बनें तो मेरी विद्या सिद्ध हो जाए।" परोपकार समझ कर कुमार ने उसकी बात मानली। काली चौदस में अभी 10 दिन बाकी थे, तब तक वह राजकुमार के साथ ही रहा। मित्र ने बहुत मना किया कि इस पाखण्डी एवं दुर्जन की संगति अनर्थकर है, फिर भी वचनबद्ध राजकुमार उस कापालिक को छोड़ न सका। काली चौदस के दिन उसके साथ वह श्मशान में गया। कापालिक मण्डल बना कर किसी देव का स्मरण करके भीम का शिखा बेध करने लगा। परन्तु राजकुमार सावधान होकर हाथ में नंगी तलवार लिए खड़ा हो गया। यों दाल गलती न देख कापालिक ने अपना विशाल भयंकर रूप बनाया और क्रोध से गरजता हुआ बोला—"अरे भीम! या तो तू अपने आप अपना मस्तक दे दे, नहीं तो मैं अपने पराक्रम से ले लूंगा।" परन्तु भीम ने उसकी एक भी चाल न चलने दी। आखिर कापालिक ने भीम को पकड कर आकाश में उछाला, किन्तु वहां से गिरते समय कमला नाम की यक्षिणी ने उसे हाथों में झेल लिया। वह उसे अपने रत्नजटित भवन में ले गई, सिंहासन पर बिठाया। फिर वर मांगने के लिए कहा तो कुमार ने कहा—"मेरे तो जिनेश्वर देव का शरण है, वही सर्वस्व है। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।" यक्षिणी ने भी जिनेश्वर देव का शरण स्वीकार किया। यह बातचीत हो रही थी, इतने में सहसा मधुर ध्वनि सुनाई दी। भीम ने पूछा—यह आवाज कहाँ से आ रही है? यक्षिणी ने कहा—एक साधु यहाँ चौमासा करके उपवास सहित विराजमान हैं, वे स्वाध्याय कर रहे हैं, उसी की यह आवाज है।" भीम ने उनके दर्शन-वन्दन करने की इच्छा प्रगट की अतः यक्षिणी उसे मुनि के पास ले गई। वहाँ दोनों स्वाध्याय श्रवण में लीन हो गए।

इतने में आकाश से एक भुजा उत्तरती दिखाई दी, वह भीम के पास आकर गिरी और उसकी तलवार लेकर चलने लगी, भीम कुतूहलवश उस भुजा को नमा कर उस पर चढ़ गया। भुजा ने उसे आकाश मार्ग से अनेक पर्वत नदी वन लांघती हुई कालिका मन्दिर के पास ले जा कर उतारा। विकराल रक्त, मांस, हड्डी, नरमुण्ड वहाँ बिखरे हुए थे। काली की भयंकर मूर्ति के आगे वही दुष्ट कापालिक बैठा था,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिसकी दाहिनी भुजा पर भीम चढ़कर आया था। भीम एक ओर छिप कर बैठ गया। कापालिक ने बाँए हाथ में एक पुरुष को पकड़ रखा था, दाँए हाथ में उसके तलवार थी। वह उस पुरुष से कह रहा था—अपने इष्ट देव का स्मरण कर ले, अब मैं तेरा मस्तक काट कर देवी की पूजा करूँगा।" उस पुरुष ने कहा—"मेरे तो परम उपकारी वीतराग देव का सर्वप्रथम शरण हो, तदनन्तर परोपकारी दयावान धर्मिष्ठ मित्र भीमकुमार का शरण हो।" यों कहते ही भीमकुमार ने एकदम प्रगट होकर दुष्ट कापालिक को ललकारा—अरे पापिष्ठ ! ठहर जा तुझे मजा चखाता हूँ। तू मेरे मित्र की हत्या करना चाहता है। मेरे रहते तू उसका बाल भी बांका नहीं कर सकता। मैं वही भीमकुमार हूँ।" कापालिक सहसा मन्त्रिपुत्र को छोड़ कर भीम की ओर दौड़ा। भीम ने उसके दोनों पैर पकड़ कर नीचे पटक दिया और उसकी छाती पर पैर रख कर पीटने लगा।" यह देख देवी (कालिका) व्याकुल होकर कहने लगी—"भीम ! इसे मत मार। यह मेरा सेवक है। 108 मनुष्यों के मस्तक कमल चढ़ा कर यह मेरी पूजा करेगा। तब मैं प्रसन्न होकर इसे वरदान दूंगी। अभी तो तेरा पराक्रम देख कर तुझ पर तुष्ट हूँ। वर मांग।" भीम बोला—माता ! अगर तू मुझ पर तुष्ट है तो आज से मन-वचन-काया से जीवहिंसा का त्याग कर। सभी धर्मों का मूल दया है। दया से सर्व मनोवांछित फल मिलते हैं। हिंसा से अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। अतः हिंसा का त्याग करो, दयामृत का सेवन करो।" यह सुन कर देवी ने कहा – अच्छा, आज से मैं समस्त जीवों को अपने समान मान कर दया करूँगी। किसी को न मारूँगी। यों कह कर देवी अदृश्य हो गई।

मन्त्रिपुत्र ने अपनी आप बीती कह सुनाई और कुमार का अत्यन्त उपकार माना। कापालिक ने भी कहा—"कालिका देवी को आपने दया धर्म अंगीकार कराया, इससे मैं प्रसन्न हूँ और आपको मैं अपना धर्म गुरु मानता हूँ। मैं आपका सेवक हूँ। आप तो अनेक गुणों से समृद्ध हैं।"

प्रातःकाल एक देवाधिष्ठित हाथी दोनों को अपने पर बिठाकर एक उजड़े हुए नगर में ले गया। कुमार नगर के मुख्य द्वार पर मंत्रिपुत्र को बिठाकर स्वयं नगर की गतिविधि देखने लगा। इतने में एक सिंह को अपने मुंह में एक पुरुष को पकड़कर ले जाते देखा तो कुमार ने उसे छोड़ देने को कहा। यह भी कहा कि अगर आप कोई देव हैं तो कवलाहार आप के लिए उचित नहीं, तथापि मांस खाने की इच्छा हो तो मेरा शरीर का मांस मैं दे देता हूँ, उसे खालो।" सिंह बोला—आपका कहना ठीक है, पर इस मनुष्य ने पिछले जन्म में मुझे बहुत दुःख दिया है, अतः उसका बदला मैं इस पापी से सौ-सौ भवों तक लूं, तो भी मेरा क्रोध शान्त नहीं होगा।" कुमार ने कहा—"अरे भद्र ! यह तो बेचारा दीन है, दीन पर इतना क्रोध ! फिर क्रोध करके बदला लेने से अनेक जन्म बिगड़ते हैं। अतः क्रोध करना छोड़ दे।" परन्तु सिंह नहीं माना। उलटा कुमार पर झपटने लगा, तब कुमार भी अपनी तलवार उसके मस्तक पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फिराने लगा। इस पर सिंह उस मनुष्य को वहीं छोड़कर अदृश्य हो गया। यह कुमार के अहिंसा व्रत की परीक्षा थी, जिसमें वह उत्तीर्ण हो गया।

कुछ ही देर बाद वही सिंह रूप धारी देव (राक्षस) ने अपने असली रूप में प्रकट होकर कुमार से वरदान माँगने को कहा। दयालुकुमार ने उससे कहा—"इस नगर को पुनः बसाओ और आगे के लिए किसी के प्रति वैर मत रखो।" राक्षस ने वैसा ही कर दिया।

इतने में एक चारणमुनि आकाशमार्ग से होकर उस नगर में पधारे। सभी लोग राजा, मंत्री, कुमार, राक्षस तथा नागरिक आदि उनके वन्दनार्थ गए। मुनि ने अपने धर्मोपदेश में क्रोध का स्वरूप एवं दुष्परिणाम बता कर क्रोध न करने को कहा। इस पर उस राक्षस ने मुनि से कहा—"भगवन्! मैंने इस कुमार के अहिंसामृत से सने वचन सुनकर इसे वचन दे दिया है कि मैं आज से इस नगर के राजा तथा समस्त प्रजा के प्रति क्रोध छोड़ता हूँ।" उस नगर के राजा हेमरथ ने अपने उपकारी राजकुमार भीम को अपनी कन्या मदालसा अति आग्रह करके ब्याह दी। इतने में कालिका देवी कापालिक सहित विमान में बैठकर वहाँ आई। कुमार को प्रणाम करके कहने लगी—"भीमकुमार! लो यह मेरा नवरत्नमय हार, इसके प्रभाव से आप तीन खण्ड के अधिपति बन जाएँगे तथा इससे आकाश-गमन भी आप कर सकेंगे। सभी राजा आपकी आज्ञा में रहेंगे। इसके पश्चात् देवी ने भीमकुमार को उसके वियोग से व्याकुल माता-पिता से शीघ्र मिलने का अनुरोध किया। अतः वह हेमरथ राजा से अनुमति लेकर अपनी पत्नी तथा मंत्रिपुत्र (मित्र) सहित अपने नगर की ओर रवाना हुआ। इधर राजकुमार भीम के पिता हरिवाहन नृप भी खूब धूमधाम से उसका स्वागत करने आए। मंत्रीपुत्र ने अथ से इति तक सारी बातें राजा को कह सुनाईं। सभी राजपरिवार को भीमकुमार के मिलन से बहुत आनन्द हुआ।

एक दिन राजा हरिवाहन ने अपने राजकुमार भीम को राजगद्दी पर बिठाकर गुरुदेव से भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। अब भीम राजा सुखपूर्वक प्रजा पालन करने लगे। क्रमशः वे त्रिखण्डाधिपति बने। एक बार चार ज्ञान के धारक श्रीक्षमासागर आचार्य अनेक मुनिमण्डल सहित नगर में पधारे। सहस्राम्रवन में विराजे। भीमराजा भी राजपरिवार सहित उनके वन्दनार्थ गया। धर्म-देशना सुनी। तत्पश्चात् भीमराजा ने आचार्यश्री से पूछा—भगवन्! मैंने पूर्वजन्म में कौन-से पुण्य किये थे जिनसे मैंने इतने सुख पाए?" आचार्यश्री ने भीमराजा के पूर्व भव का वृत्तान्त कह सुनाया और अन्त में कहा—भीमनरेश! जैसे आपने पूर्वजन्म में वन में लगे दावानल में जलते हुए सांप पर दया लाकर और उसे प्राणों की बाजी लगाकर दावानल से बाहर निकाला था, उसी प्रकार वर्तमान जन्म में भी तुम दया का पालन तथा हिंसा का त्याग करना।" यह सुन भीमराजा को ऊहापोह करते-करते जातिस्मरणज्ञान हो गया, जिसके प्रकाश में उन्होंने अपना पूर्वजन्म देखा। गुरुदेव के प्रति श्रद्धाभक्ति दृढ़ हुई। अतः एक दिन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरुदेव से चौमासा करने की प्रार्थना की। गुरुदेव ने भी लाभ जानकर वहाँ चौमासा किया। चातुर्मास में राजा ने अपने समस्त राज्य में अमारिपटह बजवाकर जीव हिंसा न करने की घोषणा कराई। प्रतिदिन गुरुदेव के व्याख्यान सुनने से भीमराजा को संसार से विरक्ति हो गई। चातुर्मास पूर्ण होने के बाद भीमराजा ने गुरुदेव से भागवती दीक्षा ले ली। अब वे गुरुदेव के साथ विहार करने लगे। निरतिचार चारित्र-पालन करते हुए एक दिन उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। अनेक जीवों को प्रतिबोध देते हुए भीममुनि क्रमशः मुक्ति पहुँचे।

यह है दयामृत का चमत्कार ! दयामृत अहिंसामृत का ही व्यक्त रूप है। इसके प्रभाव से भीमकुमार अनेक संकटों से पार हो गए। दयामाता के प्रताप से उन्हें अनेक जीवों का आशीर्वाद और सहयोग मिला। यद्यपि उनकी दयावृत्ति की अनेक बार कसौटी तो हुई, परन्तु वे अन्त तक अपने अहिंसाव्रत पर डटे रहे।

अमृतयोग की साधना

अहिंसा अमृत है, इसका अनुभव तो आपको हो ही जाता है, परन्तु इस अमृतयोग की अगर उच्च साधना की जाए तो उसके प्रभाव से मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी आदि प्राणी ही नहीं, प्रकृति जगत् के कण-कण में परिवर्तन हो जाता है। ऐसा अहिंसा-मृत का साधक जहाँ कहीं भी रहता है, वहाँ उसके सान्निध्य में रहने वाले प्राणी तो अपना पारस्परिक वैर-विरोध भूल ही जाते हैं, किन्तु आसपास की पृथ्वी वनराजि सुगन्धित, हरी-भरी और समृद्ध हो जाती है, वहाँ का जल, वायु और वातावरण सुगन्धित हो जाता है, उसकी साधना में सारी प्रकृति सहायक हो जाती है। इसीलिए गौतम ऋषि ने कहा है—

"अमयं किं अहिंसा।"

अमृत क्या है, अहिंसा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१८

शत्रु बड़ा है, अभिमान

धर्म प्रेमी बन्धुओ !

आज मैं गौतमकुलक के सत्रहवें जीवनसूत्र के विषय में आपके समक्ष विवेचन करूँगा। सत्रहवाँ जीवनसूत्र है—

माणो अरी किं ?

अर्थात्—शत्रु क्या है ?, मान ! अभिमान मानव जीवन का सबसे बड़ा दुश्मन है।

अभिमान-शत्रु से सावधान !

आपको कहीं से यह पता चल जाए कि आपका कोई शत्रु पूरी तैयारी के साथ आ रहा है, तो आप क्या करेंगे ? आप एकदम सावधान हो जाएँगे। शत्रु से भिड़ने के लिए आप भी पूरी तैयारी करेंगे। आप सोचेंगे कि शत्रु कहीं चालाकी से अचानक हमला न कर दे।

आप कहेंगे कि हमारा शत्रु कौन है ? बाहर के शत्रुओं का यहाँ जिक्र नहीं है यहाँ तो हमारी आत्मा के शत्रु से मतलब है। 'अरिहन्त' भगवान् का कोई बाहरी शत्रु नहीं होता। वे अपने आन्तरिक शत्रु हैं, वह आप पर जब-तब हमला करता रहता है, वह आपके जीवन के उज्ज्वल चित्र को बार-बार बिगाड़ता रहता है। उस शत्रु का नाम है—अभिमान !

सामान्य व्यक्ति तो अभिमान को शत्रु ही नहीं मानता। वह तो अभिमान को गले से लगाता है, पुचकारता है, अपने जीवन में बहुत बड़ा स्थान दे देता है। सामान्य व्यक्ति ही क्यों, कभी-कभी बड़े-बड़े साधक भी उसके दावपेंच में आ जाते हैं, वे भी अपने होशहवास खोकर अभिमान के चक्कर में पड़ जाते हैं।

शत्रु का खास लक्षण यह है कि जो हमारा अहित करता है, हमें धोखा देकर अपने चंगुल में फंसा लेता है, हमें अपना गुलाम बना कर नानाप्रकार के कुकृत्य—पाप कर्म कराता है। कई बार शत्रु पहले की शत्रुता का बदला लेकर हमें दुःखी करता है, घोर संकट में डाल देता है, अनेक प्रकार की यातनाएँ देकर हमारा अपकार करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहंकार या अभिमान इसीप्रकार का एक शत्रु है, जिससे हमें सावधान रहना है। हम चाहे कितने ही उच्च साधक हो गए हों, चाहे ११वें गुणस्थान तक पहुँच गए हों, फिर भी गफलत में नहीं रहना है।

अभिमानरूपी शत्रु जब आता है तो साथ में क्रोध, माया, लोभ, मोह, दम्भ, द्रोह, स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर, मद, हिंसा, अविनय, असत्य आदि दलबल के साथ आता है। जहाँ अभिमान आता है, वहाँ अहं के चोट लगने पर क्रोध तो आ ही जाता है। जहाँ दूसरे के प्रति क्रोध आया, वहाँ द्वेष भी आ पहुँचता है। अपने अभिमान की भूख मिटाने के लिए मनुष्य लोभ को आमन्त्रण दे ही देता है। साथ ही अपनी कुटिलता, अपनी वंचना या मेरे-तेरे के भाव को छिपाने के लिए माया भी आ धमकती है। इसीलिए (आचारांग) शास्त्रकार कहते हैं—

'जे माणदंसी से मायादंसी'

जो मानदर्शी होता है, वह मायादर्शी भी होता है।

अर्थात्—जहाँ अभिमान महाराज का पदार्पण होता है, वहाँ मायारानी तो आ ही जाती है।

इसी प्रकार जहाँ अभिमान आता है, वहाँ ज्ञान और विवेक के नेत्र बन्द हो जाते हैं, इसलिए मोह महाराज तो उसकी सेना के नायक बन कर आ ही जाते हैं। आचारांग सूत्र (५/४) में स्पष्ट कहा है—

उन्नयमाणे य नरे महामोहे पमुज्झई

अभिमान करता हुआ मनुष्य महामोह से प्रमुग्ध (विवेकमूढ़) हो जाता है।

पाश्चात्य विचारक Dillon (डिल्लन) ने भी यही बात कही है—

'Pride, the most dangerous of all faults, proceeds from want of sense, or want of thought.'

अभिमान, जो कि तमाम अपराधों में खतरनाक अपराध है, ज्ञान की कमी या विचार की कमी से आगे बढ़ता है।

इसी प्रकार जहाँ अहंकार आ जाता है, वहाँ मनुष्य अपनी बात चाहे झूठी या अहितकर भी हो उसे रखने के लिए दम्भ और द्रोह भी करता है। जहाँ अभिमान आता है, वहाँ मनुष्य 'स्व', मैं और मेरे में बन्द हो जाता है, अपना माना हुआ धर्म-सम्प्रदाय, जाति, कुल, बल, तप, धन, परिवार, स्वार्थ, विचार, मत आदि का आग्रह, कभी-कभी अभिमान के कारण कदाग्रह का रूप ले लेते हैं। परम्पराओं और मान्यताओं का पूर्वाग्रह भी अभिमान के कारण होता है।

"Pride is a vice, which pride itself inclines every man to find in others, and to overlook in himself."

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घमण्ड एक ऐसी बुराई है, जो अपने आप में गर्व करती है वह प्रत्येक मनुष्य को अपने से भिन्न रूप में देखने के लिए प्राप्त करता है, जबकि स्वयं को अतिमात्रा में देखने के लिए प्रेरित करती है।

जहाँ अभिमान आ जाता है, वहाँ दूसरे का उत्कर्ष देखकर ईर्ष्या, द्वेष और मत्सर भी स्वाभाविकरूप से आ जाते हैं। एक विचारक Roche foucauld (रोशे फाउकॉल्ड) कहता है—

"Pride, which inspires us with so much every, serves also to moderate it."

अभिमान, जो कि हमें ईर्ष्या या द्वेष की ओर इतना अधिक प्रेरित करता है, इसे कम करने की भी सेवा करता है।

अभिमान के कारण बड़े-बड़े हिंसा काण्ड संसार में हुए हैं, कहीं धर्म-सम्प्रदाय के अहंकार के कारण झगड़े हुए हैं, कहीं जातीय, राष्ट्रीय या प्रान्तीय अहंकार को लेकर सिरफुटौव्वल हुई है। कहीं वर्गीय-अहं को लेकर मारपीट, दंगे, हत्या एवं अग्निकाण्ड हुए हैं। इन सब बुराइयों का सरदार या नेता अहंकार ही रहा है। ब्लेयर (Blair) ने भी इसी बात की पुष्टि की है—

"Pride Fills the world with harshness and serverity. We are rigorous to offences as if we had never offended."

अहंकार संसार को कठोरता और गम्भीरता से भर देता है। अहंकार के वश हम अपराधों के मामले में इतने निर्दय हो जाते हैं, मानो हमने कभी किसी को अप्रसन्न नहीं किया।

जहाँ अहंकार आ जाता है, वहाँ विनय तो झटपट नौ दो ग्यारह हो ही जाता है। क्योंकि अहंकार तो विनय का कट्टर दुश्मन है। वह तो पहले ही कदम पर अविनय से दोस्ती करता है। जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

'माणो विणयनासणो'

—अभिमान विनय का नाश करने वाला है।

अभिमानी के साथ मैत्री भी टिक नहीं सकती क्योंकि वह अपने से भिन्न किसी को कुछ समझता भी नहीं। जैसा कि एक अँग्रेज कहता है—

"The proud never have friends, not in prosperity for then they know nobody, and not in adversity, for then nobody, knows then."

अभिमानी मानवों के कभी मित्र नहीं होते, न तो समृद्धि के समय होते हैं, क्योंकि उस समय वे किसी को नहीं जानते, और न ही विपत्ति के समय होते हैं, क्योंकि तब उन्हें कोई नहीं जानता।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार अहंकार को दानवीय प्रधान पाप[1] भी कहा गया है। अहंकार इतना सूक्ष्म व गहरा दोष है कि वह सीधा आत्मा के साथ लिपटा हुआ है। जैसा कि एक विचारक Tupper (टप्पर) ने कहा है—

"Deep is the sea and deep is the hell, but pride mineth deeper it is coiled, as a poisonous worm about the foundation of the soul.

समुद्र गहरा होता है और नरक भी गहरा; किन्तु अहंकार खान की तरह बहुत ही अधिक गहरा होता है। यह आत्मा की आधारशिलाओं के चारों ओर जहरीले सांप की तरह कुण्डली मारे बैठा रहता है। शत्रुराज अभिमान की इतनी बड़ी सेना है, इससे तो आप सब परिचित हो गए होंगे। इतनी बड़ी सेना के साथ जो अभिमान शत्रु आपके जीवन पर आक्रमण करता है, क्या उससे सावधान रहना, उससे बचकर रहना आपका कर्त्तव्य नहीं है?

अभिमान इसलिए शत्रु है कि यह हमारी आत्मा का सबसे ज्यादा अहित करता है। सुभाषितरत्न भाण्डागार में अभिमान को सर्वाधिक दोष कर्ता बताते हुए कहा है—

हीनाधिकेषु विदधात्यविवेकभावं
धर्मं विनाशयति, संचिनुते च पापम्।
दौर्भाग्यमानयति, कार्यमपाकरोति
किं किं न दोषमथवा कुरुतेऽभिमानः।
नीतिं निरस्यति, विनीतमपाकरोति
कीर्तिं शशांकधवलां मलिनीकरोति।
मान्यान् न मानयति मानवशेन हीनः
प्राणीति मानमथहन्ति महानुभावः॥

अर्थात्—जो अपने से गुण आदि किसी बात में हीन या अधिक हों, उनके प्रति अभिमान अविवेक करता है, वह धर्म का नाश और पाप का संचय करता है, दौर्भाग्य लाता है, कार्य बिगाड़ देता है, कहाँ तक कहें, अभिमान कौन-कौन-सा दोष नहीं करता है? वह नीति न्याय को दूर धकेल देता है, विनयी पुरुष को भी निकाल देता है, मनुष्य की चन्द्रमा-सी उज्ज्वल कीर्ति को मलिन कर देता है, सामान्य व्यक्तियों को अभिमान वश सम्मान नहीं देता, और अपने से वह हीन प्राणी है, ऐसा समझकर अभिमानी महानुभाव उसका अपमान कर देता है।

इसके सिवाय अहंकार शत्रु पर विजय इसलिए विजय पाना आवश्यक है कि वह आत्मा को नरक या तिर्यंच गति में धकेल देता है, वह आत्म-गुणों का सदैव विनाशक है। जैसे कि विष्णु धर्मोत्तर में कहा गया है—

---

1 Pride is the master sin of the devil. —*E. H. Chapin*

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहंकृतानां नरके प्रविष्टा
गति ध्रुवं लोक विनिन्दितानाम् ।
प्राज्ञेन तस्मात् परिवर्जनीयो
दर्पो विनाशंकरः सदैव ॥

लोक में निन्दित अहंकारियों की गति निश्चित रूप से नरक बताई गयी है। इसलिए प्रज्ञाशील पुरुष को सदैव विनाशकारक अहंकार का त्याग करना चाहिए।' उत्तराध्ययन सूत्र में भी बताया गया है—"**माणेण अहमा गई।**" अभिमान से अधम गति प्राप्त होती है। पाश्चात्य विचारक Defoe (डीफो) भी कहता है—"Pride, the first peer and president of hell." अहंकार नरक का पहला सम्भ्रान्त व्यक्ति और अध्यक्ष है।

अभिमान शत्रु कहाँ हमला करके अड्डा जमाता है

प्रश्न होता है कि अभिमान शत्रु कहाँ अड्डा जमा कर रहता है। वह आक्रमण करके किस चीज पर कब्जा करता है? वास्तव में गहराई से देखा जाये तो मानव जीवन में आत्मा का सर्वश्रेष्ठ स्थान हृदय ही है। हृदय के माध्यम से ही आत्मा सभी अध्यात्म शक्तियों का विकास करता है। यदि हृदय संकीर्ण, कुण्ठित, शक्ति हीन, साहस हीन, उत्साह रहित, ज्ञान-दर्शन बल से रहित हो जाय तो फिर आत्मा का उस पर कब्जा नहीं रह सकता। फिर तो अभिमान रूपी शत्रु ही उस पर कब्जा जमा लेता है। आत्मा के लिए समस्त गुणों का किला हृदय है। अभिमान शत्रु उसी हृदय पर हमला करता है, और उसी पर कब्जा करके वहीं अपना अड्डा जमा लेता है। लॉर्ड क्लरैंडन (Lord Clarendon) ने ठीक ही कहा है—

"The seat of pride is in the heart and only there and if it be not there, it is neither in the look, nor in the Clothes."

अहंकार का आसन मनुष्य के हृदय में है, और सिर्फ वहीं है; अगर यह वहाँ नहीं है तो, फिर यह न तो दृष्टि में है, और न कपड़ों में है। वास्तव में, अभिमान रिपु मनुष्य से सबसे बहुमूल्य और गुणों के धाम हृदय रूपी किले पर ही आक्रमण करता है और वहीं अपना स्थान जमाता है। जैसे कि नीतिकार ने स्पष्ट कहा है—

एकः सकलजनानां हृदयेषु कृतास्पदो मदशत्रुः ।
येनाविष्टशरीरो न शृणोति, न पश्यति स्तब्धः ॥

'एकमात्र मदशत्रु ही समस्त मानवों के हृदयों में स्थान बनाये हुए है। इस मद के मानव शरीर में आविष्ट होने पर अभिमानी मनुष्य न तो और कुछ सुनता है, न देखता है।' अभिमान शत्रु उसका आत्मिक कार्य-कलाप सारा ठप्प कर देता है।

अतः इस अभिमान शत्रु से बचने के लिए हृदय रूपी किले पर मजबूत पहरा होना चाहिए, तभी अभिमान शत्रु को परास्त करके भगाया जा सकता है। अन्यथा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अकस्मात् किसी भी समय सदलबल आ कर अभिमान शत्रु हृदय-भवन पर आक्रमण कर सकता है और उस पर कब्जा जमा सकता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने एक बार बहुत ही विनयपूर्वक अपने आराध्य देव भगवान् श्रीराम से उपालम्भ पूर्ण शब्दों में प्रार्थना की थी—

मैं केहि कहौं विपति अतिभारी, श्रीरघुवीर दीन हितकारी।
मम हृदय भवन प्रभु तोरा, तहं आय बसे बहु चोरा॥
अतिकठिन करहिं बरजोरा, मानहिं नहीं विनयनिहोरा।
तम, मोह, लोभ अहंकारा, मद, क्रोध बोधरिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रवनाथा, मरदहिं मोहि जान अनाथा।
मैं एक, अमित बटमारा। कोऊ सुने न मोर पुकारा॥
भागेहु नहिं नाथ उबारा, रघुनायक! करहु संभारा।

भाव स्पष्ट हैं। क्या आप भी अहंकार आदि शत्रुओं—चोरों या लुटेरों से अपनी आत्मा के भवन—परमात्मभवन-की रक्षा करना चाहते हैं? यदि हाँ, तो आपको भी इन्हें भगाने के लिए अपनी आत्म शक्ति बटोरनी चाहिए। आपकी पुकार कोई सुनेगा नहीं, न आपकी कोई सहायता ही करेगा। तीर्थंकर भगवान् एवं धर्मगुरु यानी देव और गुरु आपको प्रेरणा दे सकते हैं, आपको मार्गदर्शन दे सकते हैं। चलना आपको ही पड़ेगा, उस मार्ग पर। आपको यह दृढ़ संकल्प कर लेना है कि मुझे अभिमान रूपी शत्रु से अवश्य लड़ना है।

अभिमान शत्रु के प्रविष्ट होने पर सभी गुणों का ह्रास

अगर आप अभिमानरूपी शत्रु से हार खा गए अथवा उसके सामने आपने हथियार डाल कर आत्मसमर्पण कर दिया तो फिर अभिमान के दलबल सहित आने पर आपके किसी भी सद्गुण का पता नहीं लगेगा। अभिमान के आने पर सारे सद्गुण फीके पड़ जाएँगे। मनुष्य में कितने ही महान् और कितनी ही संख्या में सद्गुण क्यों न भरे हों, यदि उसमें एक अहंकार का दोष मौजूद है, तो वह उसके सारे गुणों को झूठा बना देगा। उसका विकास रुक जाएगा। उसके गुणों से न तो संसार को कोई लाभ होगा और न ही स्वयं भी उसका कोई लाभ उठा पाएगा। अहंकार गुणी से गुणी व्यक्ति को दुर्गुणी बना देता है। अगर मनुष्य अहंकार को नहीं हटा पाएगा तो उसके समस्त गुण या तो दब जाएँगे या नष्ट हो जाएँगे।

इसीलिए कहा है—

जरारूपं हरति, धैर्यमाशा, मृत्युः प्राणान्, धर्मचर्यामसूया।
क्रोधः श्रियं, शीलमनार्य सेवा, ह्रियः कामः सर्वमेवाभिमानः॥

—विदुरनीति ३/५०

'जरा रूप को, आशा धैर्य को, मृत्यु प्राणों को, ईर्ष्या धर्मचर्या को, क्रोध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्मी को, अनार्य सेवा शील को एवं काम लज्जा को नष्ट करता है, लेकिन अभिमान, तो समस्त गुणों का नाश कर देता है ।'

अभिमान किस प्रकार मनुष्य के समस्त गुणों को दबा देता है, इसके लिए एक पौराणिक उदाहरण लीजिए—

एक बार देवों पर असुरों द्वारा आक्रमण होने की सम्भावना थी। असुर बहुत पराक्रमी और संगठित थे, जबकि देवों का पराक्रम असंयम के कारण शिथिल हो गया था और वे संगठित न थे। अतः देवराज इन्द्र ने मनुष्य लोक के संयमी इन्द्रिय विजयी राजा मुचकुन्द को देवसेना के संचालन का भार सौंपने का निश्चय किया। इस पर देवराज इन्द्र के समक्ष खड़े सहस्रों देवों ने एक स्वर से प्रश्न किया—"देव सेना का संचालन एक मनुष्य को सौंप कर हमें अपयश का पात्र न बनाएँ, देवराज ! क्या सम्पूर्ण देव लोक में एक भी देव ऐसा न रहा, जो देव सेना का सेनापतित्व कर सके ? क्या वस्तुतः हमें एक मनुष्य की अधीनता स्वीकार करनी होगी ?"'

इन्द्र आहत स्वर में बोले—"हम विवश हैं, देवो ! प्रजापति ब्रह्मा की ऐसी ही इच्छा है। उनका कहना है कि असंयम में डूबे देवगण अपनी सामर्थ्य जब नष्ट कर डालते हैं तब उनकी रक्षा कोई मनुष्य ही कर सकता है। महाराज मुचकुन्द यद्यपि मनुष्य है, पर संयम और पराक्रम में उन्होंने देवों को भी पीछे छोड़ दिया है। इसलिए आज सारे मनुष्य लोक और देव लोक में उनके समान बलशाली एवं प्रतापी और कोई नहीं रहा। प्रजापति का कथन है कि संयमी और सदाचारी व्यक्ति मनुष्य तो क्या, देव, असुर सभी को परास्त कर सकता है। अतएव हम विवश हैं, उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने के सिवाय कोई चारा नहीं रहा।"

दूसरे दिन असुरों के साथ युद्ध के लिए जब देव सेनाओं ने प्रस्थान किया तब महाराज मुचकुन्द उनका संचालन कर रहे थे। संयम और तप का अपूर्व तेज उनके मुखमण्डल पर चमक रहा था। मनुष्य शरीर होते हुए भी वे साक्षात् देव-से लग रहे थे। प्रसन्नचित्त मुचकुन्द ने जब युद्ध प्रारम्भ में शंखध्वनि की, तो सारी दिशाएँ प्रकम्पित हो उठीं। असुरों का हृदय विदीर्ण करने वाला नाद सुन कर देवगण पुलकित हो उठे, उन्हें विजय की आशा बंध गई।

एक महीने तक घनघोर युद्ध हुआ। असुरों की सेना को सम्राट मुचकुन्द ने तितर-बितर कर दिया। बीसियों सेनापति असुरों ने बदल डाले पर सम्राट मुचकुन्द के पराक्रम के आगे एक भी न टिक सका। सबके पैर उखड़ गए। सारे संसार में एक ही स्वर गूँज रहा था—धन्य है मुचकुन्द का संयम, इन्द्रिय विजय और शौर्य, जिसने देव-दानव दोनों को लज्जित करके रख दिया।

इधर अपनी प्रशंसा सुनते-सुनते मुचकुन्द के हृदय में पनप रहे अहंकार शत्रु को देखा तो वे चिन्तित हो उठे। उन्होंने पुनः इन्द्र को बुलाकर कहा—"तात !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुचकुन्द की साधना अपूर्ण रह गई लगती है। संयमी और पराक्रमी होने के साथ उसे निरहंकारी भी होना चाहिए। परन्तु उनमें अहंकार का विषवृक्ष बढ़ रहा है। अतः अब तुम अविलम्ब स्वामी कार्तिकेय के पास जाओ और उन्हें सैन्य संचालन के लिए राजी करलो।"

इन्द्र द्वारा उक्त कथन से असहमति प्रगट किये जाने पर ब्रह्माजी ने समझाया कि "मनुष्य में अहंकार आने से उसका पतन हो जाना निश्चित है।" तब इन्द्र ने ब्रह्मा की आज्ञा शिरोधार्य की और सैन्य संचालन के लिए स्वामी कार्तिकेय को राजी करके लौटे। लौटने पर इन्द्र को ज्ञात हुआ कि वस्तुतः प्रजापति का अनुमान गलत नहीं था। कल तक केवल युद्ध में ही ध्यान लगाने वाला मुचकुन्द आज अहंकारवश सुरा-सुन्दरियों की लपेट में आ गया है और अपनी सारी शक्ति उसी में ही नष्ट कर रहा है। देवों के श्रद्धेय ब्रह्मा की जागरूकता ने देवों को बचा लिया, अन्यथा, मुचकुन्द तो अधबीच में ही नैया डूबो देते।

मुचकुन्द को असुरों ने बन्दी बनाकर पृथ्वी पर ला पटका, तब उन्हें अपनी भूल का पता चला। किन्तु अब पश्चात्ताप से कुछ भी नहीं हो सकता था। निराश मुचकुन्द के पास ब्रह्माजी स्वयं पहुँचे और बोले—"तात! तुम्हारी साधना अपूर्ण रह गई थी, उसी का यह फल है। तुम्हें अहंकार रूपी शत्रु ने धर दबोचा। अतः अब फिर से साधना प्रारम्भ करो, पर देखना इस बार अहंकार शत्रु को भूलकर भी घुसने न देना, अन्यथा किया कराया सब चौपट हो जायगा।" वास्तव में एक अहंकार शत्रु के आते ही मुचकुन्द के संयम विनय, त्याग, तप, पराक्रम आदि समस्त सद्गुण नष्ट हो गए और उसने उन्हें एकदम पतन की खाई में ला पटका। इसीलिए महाभारत में कहा है—

विनय-श्रुत-शीलानां त्रिवर्गस्य घातकः।
विवेकलोचनं लुम्पन् मानोऽन्धकरणो नृणाम्॥

अभिमान विनय, श्रुत, शील एवं त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का नाशक है। यह मनुष्यों के विवेक नेत्र को नष्ट करके उन्हें अन्धा कर देता है।

अहंकार शत्रु क्या-क्या हानि पहुँचाता है?

अब हमें यह देखना है कि अहंकार शत्रु मनुष्य का किस-किस रूप में अहित करता है? क्या-क्या अहित करता है?

अहंकार एक ऐसा शत्रु है कि वह आते ही शील, सौजन्य, ज्ञान, विवेक आदि सद्गुणों को नष्ट कर देता है। मन में अहंकार रहने पर मनुष्य दूसरों के सिर पर सवार हो जाना चाहता है। ऐसी दशा में वह दूसरों के साथ सद्व्यवहार करना भूल जाता है। क्योंकि अहंकारी तो अपने सिवाय अन्य किसी को कुछ समझता ही नहीं। वह दूसरों का अनादर करने पर उतारू हो जाता है। अहंता और क्रोध के आवेश में उसे कुछ नहीं सूझता। प्रायः छोटी-छोटी बातों से भड़ककर वह उग्ररूप धारण कर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेता है। अभिमानी व्यक्ति नामबरी के लिए, पदाधिकारी बनने के लिए बुरी तरह लालायित रहता है। इसके लिए वह अपने साथियों-सहयोगियों को गिराने, गुटबन्दी करने और नाना प्रकार की दुरभिसन्धि रचने में संलग्न रहता है। इस प्रकार अभिमान के कारण वह अनेकों शत्रु बना लेता है।

उन्नति में अवरोध

अहंकार शत्रु हृदय में जब प्रविष्ट होता है, तब मनुष्य दूसरों की अपेक्षा अपनी योग्यता अधिक बढ़ी-चढ़ी मानने लगता है। उसकी बुद्धि सर्वोत्कृष्ट है, वह दूसरों की अपेक्षा अधिक जानता है, वह दूसरों से आगे की बात सोच सकता है। इस प्रकार वह, अपने विषय में दम्भपूर्ण अत्युक्तिमय धारणा बना लेता है। वह अपने निर्णयों को दूसरों से कहीं उत्तम और फलदायक समझता है। इस वृत्ति के नशे में मनुष्य मिथ्यादम्भ में डूबा रहता है। उसकी उन्नति और प्रगति वहीं ठप्प हो जाती है। वह जितना सीखा है, उससे आगे कोई नवीन बात नहीं सीखना चाहता। वह अपनी ज्ञान की पुरानी पूंजी, संचित अनुभूति और शिक्षा पर ही सन्तोष मान लेता है। वह प्रायः यह कह दिया करता है—"इसमें नई क्या बात है? हम तो पहले से ही इस बात को जानते थे। हमें पहले से ही ज्ञात था कि अमुक बात अमुक रीति से होने वाली है। यह क्या, हम तो अनेक व्यक्तियों और संस्थाओं के विषय में जानते हैं कि किस प्रकार घटनाक्रम चलने वाला है। संसार किस करवट बैठता है या उठता है, यह सब जानते हैं। हमसे क्या छिपा है? हमसे कौन बड़ा है? यह भी हम जानते हैं। हम उड़ती चिड़िया के पंख गिन सकते हैं। इस प्रकार की थोथी डींगे हांकना, एक मोहक मद है। ऐसा मनुष्य कीर्ति के नशे में भरकर ऐसी मृग-मरीचिका में फँस जाता है।

पाप का मूल

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अभिमान को पाप का मूल कहा है। जो पतन की ओर मनुष्य को ले जाता है, वह पाप है। पाप शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रगति में बाधक होता है। अहंकार शत्रु से घिरे हुए मनुष्य की दशा कुछ इसी प्रकार की होती है। वह जो भी कार्य अहं से प्रेरित होकर करता है, वह पाप की ओर ही ले जाता है। जो पाप का मूल है, वह धर्म की ओर मनुष्य को कैसे ले जा सकता है, इसलिए अहंकार धर्मकार्य में बाधक है। अहंकार से प्रेरित होकर ही वह दान करता है, अहंकार वश ही वह शीलपालन करता है, अहंकार से फूला देने पर ही वह तप करता है। उसकी कीर्ति एवं यशोगाथा गाने पर ही वह किसी को कुछ सहयोग देता है। मतलब यह है कि अहंकारी की सभी प्रवृत्तियाँ प्रायः अहंकार मूलक होती हैं। अहंकार शुद्ध धर्म में बाधक है।

अहंकार से प्रेरित गति तीव्र हो सकती है, पर कल्याणकारी नहीं। अहंकार से प्रेरित होकर आर्थिक क्षेत्र में उतरने वाले व्यक्ति प्रायः शोषक स्वभाव के हो जाते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। वे लोगों का हित-अहित नहीं सोचते। भ्रष्टाचार कालाबाजारी और मुनाफाखोरी का मार्ग अपनाते हैं। फलतः शीघ्र धनवान बनते जाते हैं परन्तु इस प्रकार अनीति से उपार्जित धन प्रायः शृंगार या विलासिता में खर्च हो जाता है।

एक व्यापारी को किसी प्रकार से बहुत बड़ा लाभ हुआ। मनमाना रुपया आ गया। फिर क्या था, वह व्यक्ति कामवासना के अनियन्त्रण का शिकार हो गया। आवारागर्दी की हालत में पकड़ा गया। जब उसका उद्वेग शान्त हुआ, तब उसने लज्जित होकर कहा—"अत्यधिक सम्पत्ति ने मुझे उद्विग्न कर दिया था। मैं इतराने लगा। दूसरों पर अपनी सफलता और रौब जमाने के लिए मैंने वे अनुचित अवांछनीय कार्य किये। अब पछता रहा हूँ।"

निष्कर्ष यह है कि अहंकार से प्रेरित होकर तीव्रगति से अन्याय-अनीति द्वारा उपार्जित धन—एक प्रकार का पाप है। इसकी गति तीव्र होने से पाप की पराकाष्ठा आते भी विलम्ब नहीं लगता। पापों की पराकाष्ठा तक पहुँचने की अवधि में भले ही कोई अहंकारी अपने को चतुर समझता रहे, किन्तु पाप की पराकाष्ठा पर पहुँचते ही सारा समाज उसका सच्चा स्वरूप जान जाता है और हृदय से उसका साथ छोड़ देता है। पापजन्य पतन से उठ पाना भी उसके लिए दुष्कर हो जाता है।

आत्म-विकास में बाधक

अहंकार शत्रु आत्म-विकास में बहुत ही बाधक है। अहंभाव मनुष्य को हद दर्जे का संकीर्ण और स्वार्थी बना देता है। अज्ञानी आत्मा को केवल अपने शरीर तक ही सीमित मानता है, जो कि अहंकार शत्रु के हृदय में प्रवेश होने पर होता है। इससे समस्त प्राणियों को आत्मबल मानने की प्रवृत्ति रुक जाती है। क्योंकि अहंकारी तो अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न मानता है।

समाज का अस्तित्व पारिवारिक सहयोग, प्रेम, मैत्रीभाव आदि पर टिका हुआ है। यदि इन भावों का सर्वथा अभाव हो जाये, तो मनुष्य अकेला अलग-अलग रह जाये। अहंकारशत्रु जब मनुष्य के हृदय में प्रविष्ट हो जाता है, तब वह दूसरों का सहयोगी नहीं बनता, वह सब कुछ अपने लिए ही करना चाहेगा। वह सब कुछ अपने और अपनों के लिए संग्रह करेगा। केवल अपनी ही सुख-सुविधा पर ध्यान देगा। ऐसी स्थिति में मैत्री, सहयोग या प्रेम भाव अहंकारी के जीवन में न आने से वह अपना आत्मविस्तार भी न कर सकेगा। आज संसार में दूसरे के जीवनयापन, उन्नति और प्रगति में सहायक या सहयोगी न होने से ही दुःख, क्लेश और संघर्ष दिखाई देते हैं।

समाज सहयोग में बाधक

मनुष्य के यह सोचने का हेतु भी अहंकार ही है कि मैंने अपना विकास स्वयं किया है, समाज से कोई सहयोग नहीं लिया। क्योंकि समाज के सहयोग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और सहायता के बिना मनुष्य उन्नति नहीं कर पाता। अतः ऐसी अहंमन्यता सामाजिक भावनाओं में बाधक है। यह कहना निरा अज्ञान है कि मैं तो किसी की सहायता के बिना अपने पैरों आप खड़ा हुआ। यदि प्रारम्भ में—शैशवावस्था से उसे सहयोग से वंचित कर दिया जाता तो वह जीवित ही नहीं रह पाता, स्वयं सारा विकास कर लेना तो बहुत दूर की बात है। किन्तु अहंकारी व्यक्ति इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता। यह समाज के प्रति उसकी कृतघ्नता ही तो है।

आसुरी वृत्ति का जन्मदाता

अहंकार शत्रु मनुष्य को साधारण मानवता से भी गिरा देता है। यह ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों मनुष्य को पिशाच बना देता है। अहंकार आसुरी वृत्ति का प्रधान लक्ष्य हैं। अहंकार जितना अधिक गहरा होगा, उतनी ही गहरी आसुरी वृत्ति होगी। दुष्टता का जन्मदाता भी अहंकार को ही माना गया है। अपराधियों को दुष्कर्मों की प्रेरणा देने वाले तत्वों में अहंकार का स्थान प्रमुख है। चोर, डाकू, हत्यारे, लुटेरे आदि जो दूसरों को लूटते व हानि पहुँचाते हैं, उसके पीछे धन-लोभ की प्रेरणा कम होती है, अहंकार का हाथ ही अधिक होता है। यदि किसी भी उपाय से अपराधियों के मस्तिष्क से अहंकार का तत्व निकाला जा सका होता तो निःसन्देह वे अच्छे नागरिक या भले आदमी बन जाते।

अहंकार की वृत्ति ही मनुष्य को मुख्यतया आततायी बना देती है। सिकन्दर, तैमूरलंग, नादिरशाह, औरंगजेब आदि जितने भी महत्वाकांक्षी आक्रामक हुए हैं, जिन्होंने अकारण ही, केवल राज्य विस्तार के लोभ से आक्रमण एवं अकारण नर संहार किया है वे अहंकार—अहंभाव से पीड़ित रहे हैं। यदि उनमें अहंभाव का प्राधान्य होता तो वे अपनी शक्तियों को ऐसे कामों में लगाते जिनसे जनता का हित साधन होता। उनके अहंकार ने उन्हें उन कर्मों की प्रेरणा की, जिनके कारण वे इतिहास के काले पृष्ठों पर अंकित किये गये। क्या ही अच्छा होता वे संसार-विजय से पहले अपने अहंभाव पर विजय प्राप्त करते। ऐसे करने पर उन्हें धर्म और नीति से प्राप्त कार्यों की प्रेरणा मिलती; जो उन्हें अच्छे मानव या उत्कृष्ट मानव बना देते।

ज्ञान-प्राप्ति में बाधक

अभिमान शत्रु आता है, तब मनुष्य का ज्ञान लुप्त हो जाता है। उसकी विवेकबुद्धि कुण्ठित हो जाती है। उसे अपने सिवाय और किसी का दुःख-दर्द नहीं सूझता। नया ज्ञान पाने की जिज्ञासा भी समाप्त हो जाती है। सूत्रकृतांग नामक सूत्र में ज्ञानाभिमानी की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहा है—

"बुद्धामोत्ति य मन्नंता, अंतए ते समाहिए।"

'अज्ञानवश अपने आपको 'हम ज्ञानी हैं, सब कुछ जानते हैं' ऐसा मानने वाले समाधि से बहुत दूर हैं।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक सन्यासी से किसी भक्त ने कहा—"मैं ३२ वर्ष से बन्दगी कर रहा हूँ, परन्तु मुझे ज्ञान नहीं होता।" सन्यासी बोले—"यों तो ३०० वर्ष में भी नहीं होगा।" भक्त ने पूछा—"तब फिर क्या उपाय करूँ?" सन्यासी ने कहा—"शृंगार छोड़कर, सिर मुंडाकर परिचित लोगों से रोटी माँग कर खा।" भक्त—"यह कैसे सम्भव हो सकता है?"

सन्यासी बोले—"भाई, सौ बातों की एक बात है—अभिमान छोड़े बिना लाख उपाय कर लो, तुम्हें सच्चा ज्ञान नहीं मिलेगा।"

इसलिए अभिमान मनुष्य को सद्ज्ञान प्राप्ति होने में बाधक है।

विनय का नाशक

अभिमान विनय का तो कट्टर दुश्मन है। जहाँ अभिमान होगा, वहाँ विनय टिक नहीं सकेगा। अभिमान के समाप्त होने पर ही मनुष्य के मन में विनय का प्रारम्भ होगा।

बुखारा शहर में एक ऐसा उद्दण्ड और अविनयी व्यक्ति था, जो हर किसी की निन्दा एवं बुराई किया करता था। यहाँ तक कि वहाँ के सहृदय एवं लोकप्रिय प्रजावत्सल राजकुमार की भी निन्दा करने से नहीं चूकता था। उसकी दृष्टि दोष-दर्शन की थी, जिससे अच्छाई में भी उसे बुराई नजर आती। राजकुमार को उसकी करतूतों का सेवकों द्वारा सब कुछ पता लग जाता था। एक दिन राजकुमार ने उसके अहंकार को उतारने के लिए एक तरकीब सोची। अपने सेवक के साथ उपहारस्वरूप कुछ चीजें भेजीं। सेवक उसके यहाँ पहुँचा और बोला—"भाई! तुम राजकुमार की बहुत याद करते हो, उन्होंने प्रसन्न होकर एक बोरी आटा, एक थैली साबुन और थोड़ी-सी शक्कर उपहारस्वरूप भेजी है।"

उसकी प्रसन्नता का क्या ठिकाना! गर्व से फूला न समाया। उसने मन ही मन सोचा कि 'ये वस्तुएँ राजकुमार ने उसे प्रसन्न करने के लिए भेजी है, ताकि वह उसकी बुराई न करे।' वह दौड़ा-दौड़ा पादरी के पास गया। बोला—"देखा, अब राजकुमार भी मेरी सद्भावनाएँ प्राप्त करने के इच्छुक हैं, तभी तो उन्होंने ये सब चीजें मेरे लिए भेजी हैं।"

पादरी ने कहा—"तुम मूर्ख हो। अहंकार के कारण तुम्हारी बुद्धि पर पर्दा पड़ा है। उसे हटाने के लिए, चतुर राजकुमार ने तुम्हें इशारे से सारी बातें समझाने का प्रयत्न किया है। जरा विवेक बुद्धि से काम लो। आटा तुम्हारा खाली पेट भरने के लिए है, साबुन तुम्हारे दुर्गन्ध युक्त गन्दे शरीर को स्वच्छ करने के लिए हैं और शक्कर तुम्हारी कड़वी जबान को मीठी बनाने के लिए है।"

कहना न होगा, उस अभिमानी के अभिमान का सारा नशा उतर गया। सचमुच, अहंकार से अविनय पैदा होता है, जो अहंमुक्त होते ही दूर हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहंकार शत्रु किस-किस रूप में आता है ?

अहंकार मानव जीवन का बहुत बड़ा शत्रु है। वह विभिन्न रूप धारण करके मानव हृदय में आ बैठता है और मनुष्य को तंग करता है।

जातिमद के रूप में

अहंकार कभी जाति-मद के रूप में आ कर मनुष्य में व्यर्थ ही जात्यभिमान पैदा कर देता है। मनुष्य जाति मद के वश होकर यह समझने लगता है कि मेरी जाति या गोत्र ही सबसे उच्च है अन्य सब नीच हैं। मैं ही सबसे बढ़कर पूज्य हूँ। मेरा सम्मान सब को करना चाहिए। जाति मद से मत्त मनुष्य दूसरी जाति वालों पर घृणा, तिरस्कार और क्रोध करता है, लोगों में उसकी निन्दा करता है। ब्राह्मणों को चारों वर्णों का नेतृत्व मिला तो उसे जात्यभिमान हो गया कि हम सबसे ऊँचे और पूज्य हैं।

मथुरानगरी के भूतपूर्व शंखराजा ने संसार विरक्त होकर मुनिदीक्षा ले ली। तपस्या के प्रभाव से उन्हें कई लब्धियाँ प्राप्त हो गईं। एक बार वे हस्तिनापुर की ओर जा रहे थे। नगर में जाने का सही रास्ता न जानने से उन्होंने सोमदेव पुरोहित से रास्ता पूछा तो उसने द्वेषवश सीधा रास्ता न बता कर व्यन्तराधिष्ठित मार्ग बता दिया, जिससे पैर जल कर राख हो जाए। पर निस्पृह मुनि तो उसी व्यन्तराधिष्ठित मार्ग से चले। व्यन्तर साधु के तप-तेज से प्रभावित होकर अपनी माया समेट कर वहाँ से नौ दो ग्यारह हो गया। अब रास्ता गर्म होने के बदले बिल-कुल ठण्डा हो गया था। सोमदेव अपने मकान के झरोखे में खड़ा-खड़ा यह सब कौतुक देख रहा था। अतः मुनि धर्म महान् है, यह समझ कर वह मकान से नीचे उतर कर मुनि के पास आया और चरणों में गिर कर अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी। मुनिवर ने उसे धर्मोपदेश दिया, जिसे सुनकर उसकी आत्मा प्रतिबुद्ध हो गई। मुनिराज से उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। निरतिचार चारित्र। पालन करने लगा। परन्तु ब्राह्मण जाति का मद उसके संस्कारों में प्रविष्ट था, वह निकला नहीं। यदा-कदा वह ब्राह्मण जाति की उच्चता और श्रेष्ठता का बखान किया करता। अन्तिम समय में इस जाति-मद की आलोचना नहीं की। पर तपस्या एवं चारित्र पालन के प्रभाव से मर कर देव हुआ। वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके जाति-मद के प्रभाव से बंधे हुए नीचगोत्र नाम कर्म के कारण सोमदेव पुरोहित के जीव ने गंगातट निवासी बलकोट नामक चाण्डाल की पत्नी गौरी की कुक्षि से जन्म लिया। वहाँ उसका नाम रखा गया 'हरिकेशबल।'

यहाँ नीच जाति में जन्म, शरीर काला कलूटा, बेडौल अंगोपांग और अप्रिय चेहरा, मिलने का कारण पूर्व जीवन में किये हुए जाति मद का ही दुष्परिणाम था। कहा भी है—

यो मन्यतेऽहमिति नास्ति परोऽधिकोऽपि।
मानात् स नीचकुलमेति भवान्नेकान्॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो अपने आपको ही अधिक मानता है; दूसरा कोई भी मुझ से बढ़कर नहीं है, इस प्रकार के अभिमान से वह अनेक जन्मों तक नीचकुल में पैदा होता है।

कुलमद के रूप में

कुल का अभिमान भी मनुष्य के लिए शत्रु का काम करता है। केवल उच्च कहलाने वाले कुल में पैदा होने से ही जीवन उन्नत नहीं होता, जीवन की उन्नति तो अपने शुद्ध पुरुषार्थ पर निर्भर है। कई लोग उच्चकुल में पैदा होकर भी चोरी, व्यभिचार, डकैती, मांसाहार, सुरा-पान, हत्या आदि करते हैं, क्या कुल उन्हें तार देगा या कर्मों के बन्धन से छुड़ा देगा? अतः कुल का अभिमान करना व्यर्थ है। कुलाभिमान नीचकुल में ले जाता है? भगवान-ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती का पुत्र मरीचि भगवान् ऋषभदेव के पास मुनि धर्म में दीक्षित हुआ। स्थविरों से अंगशास्त्रों का अध्ययन किया। परन्तु ग्रीष्मकाल के ताप से अत्यन्त पीड़ित होकर मन में विचार करने लगा—इस कठोर साधुचर्या का पालन होना मुझ से कठिन है, परन्तु दीक्षा छोड़ कर घर जाना भी अच्छा नहीं, अतः एक नया त्रिदण्डी परिव्राजक पंथ निकाला। उसने यह कल्पना की—"साधु तो मन-वचन काया रूप त्रिदण्ड से विरत हैं, मैं पूर्णतया नहीं, अतः त्रिदण्ड के प्रतीक चिह्न रखूंगा। साधु तो द्रव्य-भाव दोनों से मुण्डित हैं, केशलोच करते हैं, मैं ऐसा नहीं कर सकता, अतः मैं क्षुरमुण्डन कराऊँगा, शिखा रखूंगा। साधु तो सूक्ष्म हिंसा से भी सर्वथा विरत हैं, मैं पूर्णतया विरत नहीं हूँ, इसलिए स्थूल हिंसा से विरत रहूँगा। साधु तो शान्त होने से शीतल रहते हैं, इसलिए वे चन्दनादि का लेप नहीं करते परन्तु मैं इतना शान्त नहीं, इसलिए चन्दनादि का लेप करूँगा। साधु शरीर मोह रहित होते हैं इसलिए उन्हें छत्र तथा उपानह की जरूरत नहीं, परन्तु मैं अभी मोह का सर्वथा त्याग नहीं कर सका, इसलिए मैं छत्र तथा उपानह रखूंगा। साधु सर्वथा कषाय रहित हैं, मैं वैसा नहीं हूँ, अतः काषायवस्त्र रखूंगा। साधु तो स्नान से विरत हैं, परन्तु मैं परिमित जल से स्नान, पान करूँगा।" यों अपने मन से कल्पित परिव्राजकपथ अपना लिया। पर विचरण भगवान-ऋषभदेव के साथ-साथ ही करते थे। उनका नया वेष देख कर लोग धर्म के विषय में पूछते, तब वह भगवान-ऋषभदेव के श्रमण धर्म का ही उपदेश देता, और अनेक राजपुत्रों को प्रतिबोध देकर भगवान-ऋषभदेव के शिष्य बनाता।

एक दिन भगवान् ऋषभदेव अयोध्या पधारे। मरीचि भी साथ ही था। भरतचक्री भगवान् को वन्दन करने आए; सहसा उन्होंने भगवान् से विनयपूर्वक पूछा—"भगवन्! आपकी धर्म परिषद् में ऐसा कोई जीव है, जो इस भरत क्षेत्र में इस चौबीसी में तीर्थंकर होगा?" प्रभु ने फरमाया—"तुम्हारा पुत्र मरीचि है, जो इस चौबीसी में अन्तिम चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा तथा वह महाविदेह क्षेत्र में मूकानगरी में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती भी होगा एवं इसी भरत क्षेत्र में त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव भी होगा।" यह सुन कर भरत चक्रवर्ती हर्ष-मग्न होकर मरीचि के पास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आया और तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन करके कहने लगा—"हे मरीचि परिव्राजक ! मैं प्रभु मुख से यह सुन कर बहुत खुश हूँ कि आप जगत् की सर्वोत्तम उपलब्धियाँ प्राप्त करेंगे। आप तीर्थंकर, चक्रवर्ती और वासुदेव बनेंगे। अतः मैं आपके परिव्राजकपद को नमन नहीं करता, परन्तु भविष्य के तीर्थंकर के नाते वन्दन करता हूँ। धन्य है, आपको ! यों बारबार स्तुति करके भरत चक्री अपने स्थान पर लौटे। परन्तु मरीचि के हृदय में कुलमद रूपी शत्रु ने कब्जा जमा लिया। वह अहंकार-स्फीत एवं मदविह्वल होकर त्रिपदी आस्फोटन करके नाचते हुए कहने लगा—मैं प्रथम वासुदेव, चक्रवर्ती तथा अन्तिम तीर्थंकर बनूँगा, इसलिए मेरा कुल सर्वश्रेष्ठ है तथा नौ वासुदेवों में प्रथम वासुदेव मैं बनूँगा, मेरे पिताजी १२ चक्रवर्तियों में प्रथम चक्रवर्ती हैं और मेरे पितामह भी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं ! अतः मेरे कुल से बढ़कर कोई कुल नहीं है। यों कुलमद करने से नीचगोत्र कर्म बांध लिया। फलतः अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के भव में वह कर्म उदय में आया। २४वें तीर्थंकर का जन्म आश्चर्य रूप में हुआ। कहा भी है—

"जाति–लाभ–कुलैश्वर्य–बल–रूप–तपः श्रुतैः।
कुर्वन् मदः पुनस्तानि हीनानि लभते जनः॥"

जातिमद, लाभमद, कुलमद, ऐश्वर्यमद, बलमद, रूपमद, तपोमद और श्रुतमद इन मुख्यतया ८ मदों के करने से मनुष्य हीन जाति कुल आदि प्राप्त करता है।

बलमद के रूप में

बल का घमण्ड भी वृथा है। संसार में एक से एक बढ़कर बलिष्ठ थे, और होंगे, परन्तु वे भी इस संसार से एक दिन चले जाते हैं। काल सभी बलवानों का घमण्ड चूर-चूर कर देता है। यदि किसी को अत्यधिक शारीरिक या मानसिक बल प्राप्त है तो उसकी उपयोगिता सत्य, न्याय और धर्म की रक्षा करने में है। अगर बलिष्ठ व्यक्ति अपने सामने किसी कुलीन अबला को सताते या दबाते देखता है तो उसका प्रतिकार करने में बल की सार्थकता है। किसी पर अत्याचार अन्याय करने और सताने में बल का उपयोग करना व्यर्थ है। बल की सीमाएँ अनन्त हैं। अनन्त बली तीर्थंकरों की तुलना में आपका बल एक बिन्दु के बराबर है, फिर अभिमान किसका ? अतः बल का अभिमान करने की अपेक्षा, बल के क्षेत्र में उन्नति करके दुर्बल प्राणियों की रक्षा में उसका उपयोग करना उचित है। श्रेणिक राजा ने अपने बल का गर्व करके एक सगर्भा हिरनी बाण से बींध डाली। बेचारी वहीं छटपटा कर मर गई। इस बलमद से श्रेणिक राजा के नरक का आयुष्य बन्ध हुआ। इसी प्रकार भगवान महावीर के जीव ने पूर्वभव में निदान किया था कि "मैं अपनी तपस्या के फलस्वरूप महाबली पराक्रमी बनूं।" फलतः वे आगामी भव में त्रिपृष्ठ वासुदेव बन कर फिर नरक में गए।

आज बड़े-बड़े राष्ट्रों को अपने शस्त्रास्त्र बल या धनबल का घमण्ड है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु याद रखिए, किसी भी बल का अभिमान और उसका दुरुपयोग उसके एवं समाज तथा राष्ट्र के लिए बहुत ही अनर्थ कर है।

रूपमद के रूप में

रूप एवं सौन्दर्य भी नाशवान हैं, क्षणिक हैं। वृद्धावस्था और व्याधि, इन दोनों के कारण किसी का रूप का अभिमान टिक नहीं सकता। संसार में एक से एक बढ़कर रूपवान हैं। कोई यह गारण्टी नहीं दे सकता कि मेरा रूप चिरस्थायी रहेगा। मथुरा नगरी की नर्तकी वासवदत्ता को अपने रूप पर बड़ा गर्व था। उसके रूप से आकर्षित होकर हजारों युवक उसके इशारे पर नाचने को तैयार रहते थे। लेकिन शीघ्र ही उसके शरीर में एक ऐसा रोग हो गया, जिससे सारा शरीर सड़ गया। राजा ने उसे नगर के बाहर फिकवा दिया। अब उस नर्तकी के पास कोई फटकता न था। जिस रूप पर उसे गर्व था, वह गलकर चूर-चूर हो गया। सारा रूप बीमारी के कारण नष्ट हो गया। वासवदत्ता को बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

हस्तिनापुर के सनत्कुमार चक्रवर्ती को अपने सौन्दर्य का बड़ा अभिमान था। देवलोक में उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर दो देवता ब्राह्मण के वेष में उसे देखने आये। चक्रवर्ती उस समय स्नानागार में सुगन्धित तैलमर्दन करा रहे थे, आभूषण रहित थे, फिर भी उनका रूप दर्शनीय था। चक्रवर्ती द्वारा विप्रों से आगमन का प्रयोजन पूछे जाने पर उन्होंने बताया—"हम आपके अलौकिक रूप का वर्णन सुनकर देखने के लिए आये थे। परन्तु हमने जैसा सुना था, उससे सवाया देखा।" यह सुनकर सनत्कुमार अपने रूप की प्रशंसा से रूप गर्वित होकर कहने लगे—"भूदेवो! आपने अभी तक मेरा रूप देखा ही कहाँ है? रूप देखना हो तो जब स्नान करके वस्त्राभूषण पहन कर राजसभा के सिंहासन पर बैठूं, तब देखना।" विप्रों ने कहा—"अच्छा ऐसा ही करेंगे।" राजा भी झटपट स्नान करके वस्त्राभूषण पहन कर सिंहासन पर बैठे और उन दोनों ब्राह्मणों को बुलाया। ब्राह्मणों ने चक्रवर्ती का रूप देखकर खिन्न स्वर में कहा—"मनुष्य के रूप, यौवन, लावण्य,' क्षणभर तो बहुत अच्छे दिखाई देते हैं, पर खेद है, क्षणभर में वे एकदम तुच्छ हो जाते हैं। यह सुनकर चक्रवर्ती ने कहा—"विप्रो! मेरा रूप देखकर आप खेद क्यों प्रकट करते हैं?" उन्होंने कहा—राजन्! आप जानते ही हैं, देवता शय्या में पैदा होते हैं, तब से लेकर उनका आयुष्य छह महीने बाकी रहे, वहाँ तक उनका रूप और यौवन ज्यों का त्यों रहता है, परन्तु मनुष्य के तो यौवन-अवस्था तक रूप तेज और यौवन बढ़ते हैं, उसके बाद ज्यों-ज्यों उम्र ढलती जाती है, त्यों त्यों इनका ह्रास होता जाता है। मगर आपके रूप में तो हमें विशेष आश्चर्यजनक बात दिखाई दी है। आपका रूप अभी ही हमने देखा और अभी ही उसका ह्रास प्रारम्भ होने लगा है।" सनत्कुमार ने पूछा—"आपको यह कैसे पता लगा?" इन्होंने कहा—हम देव हैं। आपके रूपगर्व करने के साथ ही आपके शरीर में ७ महारोग उत्पन्न हो गए हैं—(१) कुष्ट, (२) शोथ, (३) ज्वर, (४)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्वास (५) अरुचि (६) उदररोग, और (७) चक्षुवेदना।" चक्रवर्ती अपने शरीर का सौन्दर्य फीका पड़ता देखकर चिन्तन करने लगे—"अहो! कितना असार है यह शरीर और रूप! संसार के सारे पदार्थ क्षण-क्षण में परिवर्तनशील हैं, अनित्य हैं। मैंने प्रत्यक्ष देख लिया कि कुछ ही देर पहले जिस सौन्दर्य पर मुझे नाज था, थोड़ी देर बाद ही शरीर रोगाक्रान्त होने से वह सौन्दर्य नष्ट होने लगा। अतः रूप यौवन का अभिमान करना व्यर्थ है। यों विचार करके अपने पुत्र को राजगद्दी सौंपकर स्वयं चल पड़े कठोर चारित्र के पथ पर। इसके बाद उन्हें कभी रूप का गर्व नहीं हुआ।

अतः रूप, सौन्दर्य यौवन या शरीर सौष्ठव का अभिमान करना व्यर्थ है। मनुष्य को विचार करना चाहिए कि उत्कृष्ट रूप-सौन्दर्य का मूल स्रोत—ब्रह्मचर्य पालन करके अपने जीवन को सार्थक करना ही अभीष्ट है।

आज बहनों में रूप और सौन्दर्य का अत्यधिक गर्व पाया जाता है। वे अपने सौन्दर्य पर इठलाती हुई, नई-नई डिजाइन के कपड़ों और गहनों में सज-धज कर जाती हैं। धर्मस्थानों में भी अपने सौन्दर्य एवं वैभव का प्रदर्शन करने के लिए जेवरों से लदकर खासकर पर्वदिनों में तो विशेष सुसज्जित हो कर आती हैं। कभी-कभी तो होड़ लग जाती है, इनमें। परन्तु ये सब नाशवान् हैं, इन पर गर्व करना फिजूल है। एक कवि ने ठीक उद्‌बोधन किया है—

फूली-फूली फिरती हो, किसका गुमान है?
झूठा अभिमान तेरा, झूठा अभिमान है॥ ध्रुव॥
कपड़ों को जेवरों को कहती मेरा-मेरा है।
श्वास बन्द हुई फिर भोली कौन तेरा है।
तेरा तो वही जो खुशी-खुशी किया दान है॥ १॥
जरीदार साड़ियों से तन चमकाती हो।
पाउडर क्रीम से मुख दमकाती हो।
किसको शृंगार रही, सब नाशवान है॥ २॥

कवि ने संसार के पदार्थों की अनित्यता का कितना सुन्दर चित्रण किया है?

लाभमद के रूप में

मनुष्य सांसारिक पदार्थों धन, विद्या, मन्त्रसिद्धि, पदप्रतिष्ठा, व्यापार-वृद्धि आदि का पूर्व पुण्यवश अधिकाधिक लाभ होता देखकर गर्वित हो उठता है। अहंकार उसे प्रदर्शन करने और अपनी पूजा-प्रतिष्ठा, नामबरी एवं यशकीर्ति की कामना के लिए प्रेरित करता है। फलतः लाभ और लोभ का मेल होने से अहंकार फलता-फूलता जाता है। परन्तु जिस दिन पुण्यनाश होने से सारा धन-वैभव या अन्य अर्जित किया हुआ पदार्थ नष्ट हो जाता है, उस दिन उसकी आँखें खुलती हैं। तब वह हाय तोबा मचाता है। इसलिए लाभ के अवसर पर गर्व न करना ही हितावह है, अन्यथा अलाभ के प्रसंग पर उसे चिन्ता, शोक, रुदन और विलाप करना पड़ेगा। उचित तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह है कि मनुष्य लाभ और अलाभ में समभाव से रहे, न हृष्ट हो न रुष्ट, न लाभ के समय फूले और न अलाभ के समय तड़फे।

लाभ के समय गर्व से फूलने वालों का कितना बुरा हाल होता है, यह एक प्राचीन शास्त्रीय कथा पर से सुनिए—

परशुराम जमदग्नि तापस का पुत्र था। उसने एक बार एक रुग्ण विद्याधर की सेवा की, इससे प्रसन्न होकर विद्याधर ने परशुराम को परशु विद्या दी। परशुराम ने उस परशु विद्या को सिद्ध किया और जगत में परशुराम नाम से विख्यात हुआ।

परशुराम की माता रेणुका एकबार अपने बहनोई के यहाँ बहन से मिलने गयी थी। वहाँ बहनोई के फुसलाने पर रेणुका उसके साथ व्यभिचार में प्रवृत्त हो गई। पता लगा तो क्रुद्ध होकर जमदग्नि रेणुका को घर लाया। परशुराम ने जब यह बात जानी तो अपने परशु से अनन्तवीर्य को मार डाला। उसकी गद्दी पर कृत वीर्य बैठा, उसने अपने पितृहन्ता जमदग्नि को मार डाला। यह जान कर परशुराम अत्यन्त कोपायमान हुआ और जाज्वल्यमान परशु से कृतवीर्य के साथ संग्राम करके उसका वहीं काम तमाम कर डाला। कृतवीर्य की जगह स्वयं गद्दी पर बैठा। कृतवीर्य की गर्भवती रानी भागकर एक तापस के आश्रम में पहुँची, वहीं भय-विह्वल होकर उसने पुत्र प्रसव किया। उसका नाम रखा सुभूम। वहीं वह तापस आश्रम में ही बड़ा होने लगा।

परशु विद्या की सिद्धि का लाभ परशुराम के लिए भयंकर गर्व का कारण बना। वह लाभमद से उत्पन्न होकर जहाँ-जहाँ क्षत्रिय को देखता, उसे परशु से मौत के घाट उतार देता। उसकी परशु क्षत्रिय के पास जाते ही प्रज्वलित हो उठती। एक बह तापस-आश्रम के निकट से गुजर रहा था, तभी उसकी परशु प्रज्वलित हो उठी। उसने तापस-आश्रम में जाकर पूछा—"यहाँ कोई क्षत्रिय है?" तापसों ने कहा—"यहाँ तो हम क्षत्रिय हैं। मारना हो तो मार डालो।" उसकी शंका दूर हुई। यों परशुराम ने क्रमशः सात बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय (क्षत्रियरहित) कर दी। क्षत्रियों की हत्या करके उनकी दाढ़ों से थाल भर लिया।

एक दिन परशुराम ने एक नैमित्तिक से पूछा—"मेरी मृत्यु किससे होगी?" नैमित्तिक बोला—'जो तेरे सिंहासन पर बैठेगा, और जिसके देखते ही थाल में रखी हुई दाढें खीर बन जाएगी तथा उस खीर को जो खायेगा, वही तुझे मारने वाला होगा।" यह सुनकर परशुराम ने उसे पहचानने के लिए एक दानशाला स्थापित की, वहीं एक सिंहासन रखवाया और उसके आगे वह दाढ़ों का थाल रखा।

इधर वैताढ्य पर्वत निवासी मेघनाद विद्याधर ने एक नैमित्तिक से पूछा कि मेरी पुत्री का वर कौन होगा?" उसने बताया कि सुभूम चक्रवर्ती होगा। तब से वह सुभूम चक्रवर्ती की सेवा में रहने लगा। जब सुभूम जवान हुआ तो माता से पूछा—"क्या दुनिया इतनी ही है?" माता ने उसके जन्म से लेकर अब तक का सारा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वृतान्त कहा, जिसे सुनकर अहंकार से उसकी भुजाएँ फड़क उठीं। वह सीधा हस्तिनापुर स्थित दानशाला में पहुँचा, और जाकर वहाँ रखे सिंहासन पर बैठ गया। उसकी नजर पड़ते ही थाल में रखी हुई दाढ़ें खीर बन गयीं, जिसे वह खाने लगा। नौकर चाकर उसे मारने दौड़े, पर सेवक मेघनाद विद्याधर ने उन्हें मार भगाया। सुभूम के खीर खाने की बात नौकरों ने परशुराम से जाकर कही। परशुराम ने सन्नद्ध होकर सुभूम पर परशु का प्रहार किया, परन्तु परशु का तेज नष्ट हो गया। सुभूम के थाल हाथ में लेते ही वह चक्र बन गया, उसने परशुराम का मस्तक काट डाला। फिर स्वयं उस राज्य का स्वामी बन गया।

सुभूम ने भी अहंकारवश रोष से २१ बार पृथ्वी निर्ब्राह्मणी की। मेघनाद विद्याधर की पुत्री के साथ विवाह किया। क्रमशः ६ खण्ड साधे। चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। फिर अहंकारवश धातकी खण्ड के भी ६ खण्ड साधने का निश्चय किया। ६ खण्ड की ऋद्धि लेकर वह लवण समुद्र पर बिछाये हुए चर्म रत्न पर सदल बल बैठा। परन्तु चर्म रत्न के एक भी अधिष्ठायक देव ने उस चर्म रत्न को उठाया नहीं। इस कारण ६ खण्ड की ऋद्धि सहित सुभूम समुद्र में डूब कर मर गया और सातवें नरक का महमान बना। यह है—अहंकार शत्रु को पालने का फल!

तपोमद के रूप में

अभिमान शत्रु तपस्वी के पास भी आ धमकता है। तपस्या के साथ संयम, इन्द्रिय-निग्रह आदि आभ्यन्तर तप भी तपस्वी के जीवन में होते हैं। तपस्या से उसका शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा तेजस्वी बनते हैं, अनेक लब्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। फिर तपस्वी की प्रशंसा होती है, लोग उसकी जय-जयकार के नारे लगाते हैं, गाजे-बाजे के साथ उसका जुलूस निकालते हैं, तब हृदय में पोल देखकर अभिमान शत्रु आ घुसता है। अभिमान को अभिव्यक्त करने के लिए प्रायः तपस्वी के जीवन में क्रोध, कटुवाणी, दूसरे का अपमान 'श्राप' आक्रोश आदि आ जाते हैं। ये सब तपोमद के रूप हैं, जिनसे, तपस्वी साधक का निश्चित ही पतन हो जाता है। अतः तपोमद से भी बचना आवश्यक है।

मगधसम्राट श्रेणिक का नन्दीषेण नामक एक पुत्र था। एक बार भगवान महावीर राजगृह पधारे, तब राजाश्रेणिक नन्दीषेण आदि सभी राज परिवार के लोग उनके दर्शनार्थ गये।

भगवान् का उपदेश सुन कर नन्दिषेण ने संसार से विरक्त होकर बड़ी कठिनता से माता-पिता की आज्ञा ली और दीक्षा लेने को उद्यत हुआ, तभी आकाश में देववाणी हुई—"वत्स! अकाल में ही तू चारित्र क्यों लेने जा रहा है? अभी तेरे भोगावली-कर्म फल भोग बहुत बाकी हैं। अतः अभी कुछ समय गृहस्थ जीवन में ही रह। उन कर्मों के क्षय होने के बाद दीक्षा लेना।" यह सुन कर नन्दिषेण सोचने लगा—"मुनिवरों की संगति में रहते हुए भोग्य कर्म फल मेरा क्या करेंगे?" यों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विचार कर वह प्रभु के पास पहुँचा। प्रभु ने भी उसे कुछ समय प्रतीक्षा करने को कहा, परन्तु उनसे अनुरोध करके आग्रह पूर्वक दीक्षा ग्रहण कर ली। बेला, तेला आदि तप करता, शास्त्राध्ययन करता एवं परिषह सहता हुआ प्रभु के साथ ग्राम-नगर विचरण करने लगा।

भोगावली कर्म के उदय से भोग की इच्छा तो उत्पन्न होती परन्तु वह हठपूर्वक उसे रोके रखता। तपस्या से शरीर सुखाने लगा, इन्द्रियविकारों से निवृत्त होने के लिए श्मशान आदि में जाकर घोर आतापना लेता; फिर भी विषय-विकार बहुत जागता। फिर वह व्रतभंग के डर से शरीर बन्ध बांधने लगा, देवता ने वह बन्ध तोड़ डाला, तथा शस्त्र से आत्महत्या करने को प्रवृत्त हुआ, देव ने शस्त्र भी भोंथरे कर दिये। फिर जहर खाने लगा, देवता ने विष की मारकशक्ति खत्म कर दी, तब आग में जल मरने की ठानी, देवता ने अग्नि भी ठण्डी कर दी। फिर स्वयं पर्वत पर चढ़ कर ऊपर से झंपापात करने लगा, बीच में ही देवता ने उसे झेल लिया और कहा—"मेरी बात मानो! भोगावली कर्म फल भोगे बिना तीर्थंकर सरीखे भी छूट नहीं सकते, तब तुम क्यों व्यर्थ विकल्प कर रहे हो?"

यह सुन कर अकेला विचरण करता रहा। एक दिन बेले के तप के पारणे के लिए गोचरी करने निकला। अनायास ही एक वेश्या के यहाँ पहुँच कर 'धर्मलाभ' कहा। वेश्या ने कहा—यहाँ 'धर्मलाभ' की जरूरत नहीं है, 'अर्थ लाभ' चाहिए।" यह उपहास वचन सुन कर नंदीषेण ने सोचा-इसे मेरी उपलब्धियों का पता नहीं है। अतः इसे जरा परिचय देना, चाहिए।" तत्काल छप्पर से एक तिनका खींचा, अतः लब्धि के बल से रत्नों की वृष्टि हो गई। नन्दिषेण ने वेश्या से कहा—"हो गया न अर्थ लाभ?" यों कह कर ज्यों ही आगे चलने लगे वेश्या ने दौड़ कर उन्हें बाहुपाश में जकड़ लिया, बोली—अब मैं नहीं जाने दूंगी। आप मुझे छोड़ कर जाएँगे तो मैं प्राणत्याग कर दूंगी। आप मेरे यहाँ रह कर विषय सुखों का आनन्द लीजिए।" भोगावली कर्मवश नन्दिषेण मुनिवेश छोड़ कर अब वेश्या के यहाँ रहने लगे। प्रतिज्ञा कर ली कि मैं प्रतिदिन १० व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर ही भोजन करूँगा।" एक दिन ९ व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर तैयार किये, पर दसवाँ कोई तैयार ही न होता था। इधर रसोई ठण्डी हो रही थी, वेश्या बार-बार भोजन करने की प्रार्थना कर रही थी। आखिर कोई भी दसवाँ पुरुष प्रतिबुद्ध न हुआ, अतः आज मैं ही दसवाँ पुरुष तैयार हो रहा हूँ। यों कह कर विलाप करती हुई वेश्या को छोड़ कर नन्दीषेण ने पुनः वीर प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और शुद्ध संयम पालन किया।

नन्दीषेण के जीवन में तपस्या एवं चारित्र का मद था, उसी से उसका पुनः पतन हुआ।

ऐश्वर्यमद के रूप में

ऐश्वर्यमद भी कम भयंकर नहीं है। यह जब आता है, तब बड़ों-बड़ों को ले डूबता है। ऐश्वर्य के अन्तर्गत धन, सम्पत्ति, जमीन, जायदाद, ठाठ-बाठ, नौकर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाकर महल, बंगले, कार, कोठी आदि सभी वस्तुओं का समावेश हो जाता है। इसलिए ऐश्वर्यमद का अर्थ है—इन सभी वैभव-विलास की सामग्री का मद-अहंकार। धन, वैभव का मद करने वाले मूर्खों के स्वर्ग में रहते हैं। वे नहीं जानते कि संसार में एक से एक बढ़ कर धनकुबेर बैठे हैं। मानो अरबपति हो, तो भी देवों के वैभव के आगे वह किस बिसात में हैं? दुनिया में बड़े-बड़े वैभवशाली, सम्राट्, शासक, पूंजीपति, मिलमालिक, जमींदार, व्यवसायी, उद्योगपति आदि बैठे हैं, मैं ही व्यर्थ ही अहंकार करके अपने को क्यों मुसीबत में डाल रहा हूँ! ऐश्वर्यमद का त्याग करने पर ही मनुष्य को सुख-शान्ति मिल सकती है।

राजा दशार्णभद्र भगवान् महावीर का आगमन सुन कर हर्ष से पुलकित हो उठा। उसके अहं ने उसे प्रेरित किया—मैं ऐसे ठाठबाठ से सदलबल भगवान् के दर्शन करने जाऊँ कि आज तक कोई भी राजा या वैभवशाली न गया हो। फलतः भक्ति के साथ अभिमान ने उनकी विवेक बुद्धि पर पर्दा डाल दिया। राजा ने अपने मंत्रियों एवं सेवकों को सब प्रकार की तैयारी करने का आदेश दे दिया। सारा नगर सजाया गया। स्थान-स्थान पर द्वार बनाए गए। नाटक रचे गए। सुगन्धित पदार्थों से नगर महक उठा। हाथी, घोड़े, रथ सभी अच्छे ढंग से रत्नजटित आभूषण एवं साज-बाज के साथ सजाए गए। राजा एवं समस्त राजपरिवार, दरबारी, राज कर्मचारी, सैनिक, श्रेष्ठी आदि सब लोग सुसज्जित होकर आ गए। राजा दशार्णभद्र हाथी पर बैठे ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो इन्द्र ऐरावत हाथी पर बैठा हो। ठीक समय पर सवारी राजमहल से रवाना हुई। इन्द्र को दशार्णभद्र की तीर्थंकर भक्ति के साथ वैभव के अहंकार का पता लगा तो उन्होंने इससे भी बढ़कर सजधज के साथ आकाश मार्ग से वैक्रियशक्ति द्वारा हाथी पर आरूढ़ देवदेवियों की सवारी उतारनी शुरू की। दशार्णभद्र का वैभव इन्द्र के वैभव के आगे फीका पड़ने लगा। ज्यों ही दशार्णभद्र राजा ने इन्द्र-वैभव से अपने वैभव की तुलना की तो उसका मन ग्लानि से भर गया। भगवान् महावीर के चरणों में पहुँच कर सविनय वन्दना करके प्रार्थना की—"प्रभो! मुझे बचाइए इस अभिमान से! मुझे ऐसा उपाय बताइए, जिससे इन्द्र से बाजी मार लूं।" भगवान् के केवलज्ञान के प्रकाश में दशार्णभद्र के अहंकार का दृश्य छिपा नहीं था। उन्होंने फरमाया—"राजन्! बाह्य वैभव में तो तुम इन्द्र से जीत नहीं सकते, आध्यात्मिक वैभव में तुम आगे बढ़ सकते हो, इन्द्र से। तुम्हारी समता इन्द्र नहीं कर सकता। परन्तु आध्यात्मिक-वैभव के लिए बाह्य वैभव तथा साथ ही अहंकार आदि सब मनोविकार छोड़ना अनिवार्य है।" दशार्णभद्र का मन आध्यात्मिक वैभव पाने के लिए उत्कण्ठित हुआ। उसी समय उसने राजपरिवार से अनुमति लेकर भगवान महावीर के चरणों में मुनि दीक्षा ले ली। अपना अहंकार आदि सर्वस्व प्रभु चरण में समर्पित कर दिया। बस, अब तो शीघ्र ही इन्द्र मुनि दशार्णभद्र के चरणों में सिर झुका कर कहने लगा—मुनिवर राजर्षि! धन्य है आपको। इस वैभव में मैं आपसे जीत नहीं सकता। मैं इतना त्याग नहीं कर सकता। सारांश यह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि बाह्य वैभव के अहंकार को प्रतिस्पर्द्धा की हर समय चिन्ता बनी रहती है, आध्यात्मिक वैभव में कोई चिन्ता नहीं, प्रतिस्पर्द्धा की। उसका अहंकार होता ही नहीं।

सचमुच, ऐश्वर्यमद में मनुष्य को दूसरे से, या अपने बराबरी वाले से प्रतिस्पर्धा की चिन्ता रहती है? भौतिक ऐश्वर्य की प्रतिस्पर्धा में जैसे दशार्णभद्र को इन्द्र के आगे हार खानी पड़ी, वैसे ही दूसरों को खानी पड़ सकती है।

श्रुतमद के रूप में

श्रुतमद भी मनुष्य का भयंकर शत्रु है। यह जिसके जीवन में आ जाता है, वह ज्ञान, शास्त्राध्ययन, विज्ञान, ध्यान साधना आदि में आगे नहीं बढ़ पाता। श्रुत का अर्थ यहाँ सम्यज्ञान, शास्त्रज्ञान, अध्यात्मविज्ञान, ध्यान-साधना आदि है। मनुष्य चाहे जितना पढ़-लिख जाय, चाहे वह अनेक शास्त्रों का अध्ययन करले, समस्त विद्याओं और दर्शनों में पारंगत हो जाए कि अगर ज्ञान के साथ अहंकार रूपी शत्रु घुस गया है, विनय लुप्त हो गया है, तो वह ज्ञान न तो अपने लिए कल्याणकारी होता है न दूसरों के लिए। वह ज्ञान केवल अहंकार की भूख मिटाने के लिए होता है। ज्ञान के मद का अनुभव भर्तृहरि को बहुत ही कटु हुआ है—

"यदा किंचिज्ज्ञोऽहं गज इव मदान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित् किंचित् बुधजन सकाशादवगतम्
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥"

—जब मैं थोड़ा-थोड़ा जानता था, तब हाथी की तरह मदान्ध बन गया था, तब मेरा मन 'मैं सर्वज्ञ हूँ' इस अभिमान से लिप्त हो गया था। जब मैंने विद्वानों की संगति से कुछ-कुछ जाना, तब मुझे भान हुआ कि मैं तो मूर्ख हूँ, और इस प्रकार मेरा ज्ञान का मद ज्वर की तरह उतर गया।

उपाध्याय यशोविजय जी उस युग के धुरन्धर विद्वानों में माने जाते थे। वे अनेक विषयों में पण्डित व कुशाग्रबुद्धि थे; प्रखरवक्ता भी थे। काशी में पण्डितों की सभा में भारी विजय प्राप्त करने से उन्हें 'न्यायविशारद' की पदवी मिली थी। संस्कृत में घण्टों धाराप्रवाह भाषण देते थे। परन्तु जब वे काशी से दिल्ली पधारे तब ज्ञान के अभिमान वश चार ध्वजाएँ रखते थे। एक दिन खूब धूमधाम से व्याख्यान हो रहा था। व्याख्यान के समय भी स्थापनाजी पर चार झंड़ियाँ रखी गई थीं, जिसका मतलब था—'चारों दिशाओं में अपनी विद्वत्ता की सुयश पताका फहर रही है।' एक बूढ़ी श्राविका ने साहस करके पूछा—"महाराजश्री! क्या गौतम स्वामी एवं सुधर्मास्वामी भी आप जैसे ही विद्वान थे! उपाध्यायश्री ने कहा "मैं तो उनकी चरणरज भी नहीं हूँ। वे गणधर महाप्रभु हैं, मैं उनका तुच्छ सेवक हूँ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वृद्धा—"महाराज ! क्या गणधर प्रभु भी अपनी स्थापनाजी के चारों ओर ध्वजा लगाते थे ?" सुनते ही उपाध्यायाजी चौंके। सहमी नजर से बुढ़िया की ओर देखते रहे। तत्काल उन्हें अपनी विद्वत्ता के अहं का भान हुआ और चारों ध्वजाएँ तोड़कर फैंक दी।

आचार्य भद्रबाहुंस्वामी से कामविजेता स्थूलिभद्रजी ने दो वस्तु कम दश पूर्वों का अध्ययन किया परन्तु उन्हें श्रुतमद हो गया। जब वे पाटलिपुत्र में थे, उनकी बहनें, जो साध्वी बन गई थीं, वन्दना करने आयीं, परन्तु बहनों को चमत्कार दिखाने के लिए वे सिंह का रूप धारण करके बैठे। बहनें डरकर वापिस लौटी, किन्तु आचार्य श्री के समझाने से पुनः वन्दन करने गईं, तब वे अपने मूल रूप में थे। इसके बाद आचार्यश्री ने बहुत विनती करने के बावजूद भी उन्हें आगे के पूर्वों की अर्थ सहित वाचना नहीं दी। श्रुतमद करने से ही स्थूलिभद्रजी आगे के शास्त्राध्ययन के अयोग्य हुए।

सच है कैसा भी मद हो, सभी शत्रुवत् त्याज्य हैं। अहंकार किसी भी प्रकार का हो उपादेय नहीं है। इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा है—

माणो अरी किं ?

संसार में आपका, मानव का, जीव मात्र का कोई शत्रु है तो वह है—अहंकार !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१९
अप्रमाद : हितैषी मित्र

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके सामने ऐसे जीवन की चर्चा करना चाहता हूँ, जो हम सबके साधनामय जीवन का हितैषी मित्र है। साधनामय जीवन का क्षण-क्षण का वह प्रहरी है, हमारे साधनामय जीवन में सतत उसका हितैषी मित्र की तरह साथ रहना आवश्यक है। जिसे सामान्य या विशिष्ट किसी भी प्रकार की साधना करते समय एक मिनट के लिए भी भूला नहीं जा सकता, जो हमारे जीवन का साथी है, सुहृद है, हितैषी मित्र है। पद-पद पर हमें वार्निंग (चेतावनी) देता है, खतरे की घन्टी हमारे मनमस्तिष्क में बजा कर हमें सावधान करता है, वह है अप्रमाद। महर्षि गौतम ने इसे ही अठारहवें जीवन सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया है। वह सूत्र इस प्रकार है—

"किं हियमप्पमाओ"

प्रश्न—हित—हितैषी मित्र कौन है ?

उत्तर—अप्रमाद।

अप्रमाद हमारे जीवन का हितैषी, सदा हित चाहने वाला, कल्याणकामी एवं जागृत रखने वाला मित्र है।

अप्रमाद : एक सन्मित्र

संसार में मित्र तो बहुत से होते हैं, परन्तु अधिकांश मित्र स्वार्थी, अस्थायी और दुर्व्यसनों में फंसानेवाले होते हैं, वे मित्र की अपेक्षा कुमित्र या शत्रु का काम ज्यादा करते हैं। परन्तु सच्चा मित्र स्वार्थी नहीं होता, वह दुःख और विपत्ति में सदा साथ रहता है, वह दुर्व्यसनों में नहीं धकेलता, बल्कि दुर्व्यसनों में फंसते हुए मित्र को निकालता है, दुर्व्यसन छुड़ा कर सन्मार्ग पर लगाता है, वह मित्र को पदे-पदे सावधान करता है। भर्तृहरि योगी ने नीतिशतक में सन्मित्र का लक्षण इस प्रकार दिया है—

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति, गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति, ददाति काले,
सन्मित्र लक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"जो पापों से हटाता है, और कल्याण मार्ग में संलग्न करता है, गुप्त बात को उछाल कर बदनाम नहीं करता, बल्कि उसे गुप्त रखता है, गुणों को प्रकट करता है। विपत्ति में पड़े हुए साथी को नहीं छोड़ता, समय पर सहायता देता है, सन्त जन इसे ही सन्मित्र कहते हैं।"

अप्रमाद भी मानव जीवन का एक सन्मित्र है, जो मनुष्य को सतत सावधान रख कर पथप्रदर्शन एवं जीवन-निर्माण का काम करता है। अप्रमाद के रहते पाप टिक नहीं सकते। पापों को स्वयमेव भागना पड़ता है, अप्रमाद की स्थिति में। अप्रमाद-अवस्था में मनुष्य हित-अहित, कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि को भलीभांति समझ लेता है, इसलिए स्वाभाविक है कि अप्रमाद मनुष्य को हित मार्ग में लगाता है, अहित मार्ग से बचाता है। अप्रमाद जब जीवन में आ जाता है, तो मनुष्य के पूर्वकृत पापों का बार-बार स्मरण करा कर उसमें व्यर्थ की ग्लानि और आत्महीनता पैदा नहीं करता, वह पूर्वकृत पापों का एक बार पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त या आलोचन करा कर फिर उन्हें भुला देता है। जो कुछ भी गुप्त पाप हुए हों, उन्हें भी अप्रमाद आत्म-शुद्ध करा कर फिर भुला देता है। अप्रमाद मनुष्य को वर्तमान में कर्तव्य-निष्ठा, शुद्ध पुरुषार्थ और प्रतिपल सावधान रह कर समय का सदुपयोग करने का सन्देश देता है। वह मनुष्य में निहित गुणों और शक्तियों को उसके ज्ञानालोक से प्रकाशित कर देता है, ताकि मनुष्य अपने में निहित शक्तियों और गुणों की निधि को जान कर सत्पुरुषार्थ कर सके और जब भी ऐसा साधक मानव किसी विपत्ति में फंस जाता है, किसी आफत या संकट से घिर जाता है, किन्हीं दुष्टों, बदमाशों या शत्रुओं के दल के बीच में आ जाता है, अथवा काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं के चक्कर में आ जाता है, तब अप्रमाद ही उसका सहायक बन कर विवेकपूर्वक उनसे बचने का रास्ता बताता है, अप्रमाद ही उसकी बुद्धि को स्थिर, सन्तुलित एवं परिमार्जित रख कर सन्मार्ग की स्फुरणा भर देता है। संकट के समय वह साधक को छोड़ता नहीं तथा समय आने पर अप्रमाद साधक में साहस, उत्साह और निर्भयता, आत्मबल भर देता है। इस प्रकार समय-समय पर अप्रमाद साधक को सहयोग देता रहता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि अप्रमाद साधनामय जीवन का सच्चा साथी है, हमदर्द और हमजोली मित्र है। उसके जैसा सन्मित्र संसार में वही है। वही मनुष्य को आलस्य, असावधानी और प्रमाद रूपी शत्रु से बचाता है। सूत्रकृतांग सूत्र (८/३) में अप्रमाद के होने से साधक की विशेषता बताते हुए कहा है—

पमायं कम्ममाहंसु अप्पमायं तहावरं।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा॥

वीतराग प्रभु ने प्रमाद को कर्मबन्ध का स्रोत और अप्रमाद को कर्मबन्ध से मुक्त कराने वाला कहा है। प्रमाद के होने और न होने से (अप्रमाद के होने से) ही मनुष्य क्रमशः बाल एवं पण्डित कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अप्रमाद का विरोधी : प्रमादविरोधी

इसके अतिरिक्त अप्रमाद का स्वरूप समझ लेने पर आपको यह विशेष प्रतीति हो जाएगी कि अप्रमाद साधक का सच्चा सहचर और सखा क्यों है ?

वास्तव में अप्रमाद प्रमाद के निषेधरूप अर्थ में है, परन्तु यह निषेध अन्य पदार्थों का निषेध नहीं है, जैसे कोई कहे कि अप्रमाद यानी जो प्रमाद न हो, तो पत्थर, पानी, मिट्टी, पेड़ आदि अप्रमाद हैं। ऐसा कहना और समझना गलत होगा। यहाँ निषेध तद्भिन्न और तत्सदृश अर्थ का सूचक—पर्युदास है, प्रसज्य नहीं। इसलिए प्रमाद से भिन्न—प्रमाद के सदृश कोई भावात्मक पदार्थ—अप्रमाद कहलाता है। अर्थात्—प्रमाद का विरोधी भाव अप्रमाद है। अतः अप्रमाद को समझने के लिए पहले प्रमाद और उसके विभिन्न रूपों का समझना आवश्यक है।

प्रमाद : आत्म-विस्मृति

प्रमाद का एक अर्थ है—विस्मृति या भूल। मनुष्य घर की सामान्य वस्तु कहीं भूल जाता है, वह तो क्षम्य हो सकती है, क्योंकि वह वस्तु न मिले तो वह दूसरी खरीदकर ले आता है; परन्तु आत्मा को—अपने स्वरूप को साधक भूल जाए, यह तो बहुत बड़ी अक्षम्य भूल है। ऐसी भूल से तो साधना आगे चल ही नहीं सकती। जितनी भी साधनाएँ हैं, वे सब की सब जड़-चेतन के—आत्मा-अनात्मा के या जीव-अजीव के भेदविज्ञान पर आधारित हैं। अगर मनुष्य आत्मा का या अपना स्वरूप ही भूल जाए—और अजीव में ही रमण करने लगे, यानी अपनी आत्मा को, आत्मा के निजी गुणों तथा स्वभाव को ताक में रखकर बार-बार क्रोधादि विभावों को ही अपने मानने लगे या उनमें ही ग्रस्त हो जाए अथवा सांसारिक जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पर-पदार्थों को अपना स्वरूप मानने लगे तो उसकी साधना में प्रगति नहीं हो सकेगी। इसलिए आत्म-विस्तृति सबसे बड़ा प्रमाद है अथवा आत्मा भूल या गलती से किसी पर क्रोध या अभिमान करे, किसी वस्तु पर लोभ या आसक्ति करे, अथवा किसी के साथ छल-कपट करें तो वहाँ साधक की गलती या भूल समझी जाती है, यह भी प्रमाद है। कई बार मनुष्य अज्ञान या मोह या अहंकार के वशीभूत होकर अपने आपको भूलकर गलती से कुछ का कुछ समझने लगता है। जैसे कोई साधक अपने आपको धनिक, भारतीय, अमुक जाति का, अमुक प्रान्त का- अमुक भाषा वाला अथवा विद्वान या अविद्वान, ज्ञानी या अज्ञानी, दुबला या मोटा समझने लगे तो वास्तव में साधना की दृष्टि से यह प्रमाद है।

मनुष्य अपने आपको कैसे भूल जाता है ? इसके लिए एक व्यावहारिक दृष्टान्त लीजिए—

मारवाड़ में खेताजी नाम का एक बनिया था। नदी के किनारे उसने खरबूजे की बाड़ी लगाई। बाड़ी के पास ही पेड़ के नीचे एक झोंपड़ी बना ली, जिसमें वह उठता-बैठता था। एक दिन खेताजी खरबूजे लेकर बाजार में बेचने गए। वापस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लौटते समय परिचित नाई मिल गया। उससे खेताजी ने कहा—"हजामत बनाना है, चलो बाड़ी पर।" नाई ने कहा—"आप बाड़ी चलें, मैं अभी आता हूँ।" खेताजी अपनी बाड़ी पर पहुँचे और खाट डालकर पीपल की ठंडी छाया में बैठे। मीठी-मीठी हवा चल रही थी। मौसम अच्छा था। वे लेट गए और थोड़ी ही देर में गहरी नींद में उनकी नाक घर्र-घर्र बोलने लगी। इधर नाई अपने घर गया। उसकी पत्नी ने कहा—"रोटी खाने तो आ गए, साग तो लाए नहीं! रोटी किससे खाएँगे। नाई ने सोचा—" ओहो! खेताजी की बाड़ी पर उनकी हजामत करने जाना था, उन्होंने बुलाया था। अतः वहाँ हो आऊँ और दो-चार खरबूजे लेता आऊँ, जिससे रोटी खाई जा सकेगी।" नाई खेताजी की बाड़ी पर पहुँचा। देखा तो खेताजी नींद में सोए हैं। उसकी नजर खेताजी की दाढ़ी-मूछों पर पड़ी। सोचा—"खेताजी ने कभी दाढ़ी-मूछें नहीं कटवाईं। चलो, इन्हें साफ कर दूं। उसने निकाला उस्तरा और थोड़ी ही देर में खेताजी की दाढ़ी-मूछें—जो जन्म से लेकर आज तक नहीं कटवाई थीं, सफाचट कर दीं। खेताजी नींद में ही सोते रह गए। नाई बाड़ी में से दो चार खरबूजे लेकर चला गया।

थोड़ी देर बाद खेताजी उठे। आँखें खोलकर दाढ़ी-मूछों पर हाथ फिराया तो पता लगा—दाढ़ी मूछें गायब! वे सोचने लगे—"मैं तो दाढ़ी-मूछों वाला था, अब तो दाढ़ी मूँछें नहीं, इसलिए मैं खेताजी नहीं हूँ। यों खेताजी अपने स्वरूप को भूल गए। उन्हें एक पिछली बात याद आई—लोग कहते थे, इस पीपल के पेड़ पर भूत रहता है, तो सचमुच मैं भूत हूँ, खेताजी नहीं। इस बात का इत्मिनान करने के लिए मैं खेताजी के घर पर जाऊँ, अगर खेताजी घर पर हों तो समझ लेना चाहिए कि मैं भूत हूँ।" इस बात का निश्चय करने के लिए वे अपने घर गए। खेताजी दाढ़ी-मूछों वाले थे, पर इन खेताजी के दाढ़ी-मूछें नहीं थीं। जवान से दिखते थे। इसलिए उनकी पत्नी भी यकायक उन्हें न पहचान सकी। खेताजी ने जाकर पत्नी से पूछा—"बाई! खेताजी घर में हैं?" अपने पति को दाढ़ी मूँछ रहित होने से न पहचान सकने के कारण बिना दाढ़ी मूँछ के एक विचित्र मनुष्य को देखकर सहसा वह बोली—"मारा पीटा, कलमुंहा यह भूत-सा कौन आ गया?" बस, यह सुनते ही खेताजी को पक्का निश्चय हो गया कि मैं खेताजी नहीं, सचमुच भूत हूँ।" वे अपने को भूत समझकर वहाँ से चल दिये और बाड़ी के पास, जो पीपल का पेड़ था, उस पर चढ़कर बैठ गए। तीन-चार दिन हो गए, वे खाना पीना सब भूल गए। खेताजी के मन में और भी निश्चय हो गया कि मैं मनुष्य नहीं, भूत हूँ। इसलिए वे भूत के भ्रम में तमाम बातों को भूल गए।

तीन-चार दिन बाद गांव के मुखियाजी को याद आया कि खेताजी से कुछ दाम लेने निकलते हैं। काफी दिन हो गए। चलो आज उनसे मिलकर पैसे ले आऊँ मुखिया जी खेताजी की बाड़ी की ओर चल पड़े, रास्ते में वही नाई मिल गया। उसने पूछा—"मुखिया जी! आज कहाँ जा रहे हैं?" वे बोले—खेताजी की बाड़ी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर, उनसे पैसे लेने हैं।" नाई बोला—मैं भी इसी वास्ते वहीं जा रहा हूँ।" चलो, हम साथ ही चलें।" बाड़ी पर पहुँचकर उन्होंने सब जगह ढूँढ लिया पर खेताजी न मिले। मुखिया जी ने कहा—आज मैं उनके घर पर गया था, तो उनकी पत्नी ने कहा—"उनका तो ७-८ दिन से कोई पता नहीं। न जाने कहाँ चले गए ?" इस पर नाई तपाक से बोला—"अभी तीन-चार दिन पहले तो मैंने उन्हें इसी पेड़ की छाया में सोते देखा था। भरनींद में मैं उनकी दाढ़ी-मूछें साफ कर गया था।" यह सुनते ही पेड़ पर बैठे खेताजी जोर से बोले—"अरे ! दाढ़ी-मूँछें तू मूंड़ गया था ? तो खेताजी यह बैठा।" यों कह कर वे पेड़ से नीचे उतरे और नाई तथा मुखिया जी से मिले।

बन्धुओं ! आज अधिकांश लोग अपने आत्म-स्वरूप को खेताजी की तरह भूल जाते हैं। मोह में डूब जाना प्रमादवश भी आत्म-विस्मृति रूप प्रमाद है।

प्रमाद : असावधानी अविवेक आदि अर्थों में

प्रमाद का दूसरा अर्थ है—असावधानी, गफलत, अजागृति, अविवेक, मूर्च्छा या होश में रहना आदि। इसी प्रकार बोलने, सोचने या किसी प्रवृत्ति को करते समय ध्यान न रखना। जब आदमी असावधानी या लापरवाही करता है तो वह कितना नुकसान कर बैठता अपनी आत्मा का ? इस विषय में पाश्चात्य विचारक Feltham (फेलदम) से विचार कितने मननीय हैं ?—

"Negligence is the rust of the soul, that corrodes through all her best resolves."

असावधानी या लापरवाही आत्मा पर लगा हुआ जंग है, जो उसको तमाम सर्वोत्कृष्ट संकल्प के मारफत क्षीण कर देती है।

जरा-सा असावधानी रूप प्रमाद किस तरह सर्वनाश कर देता है ? इस सम्बन्ध में सैकड़ों वर्ष पहले की ब्रह्मदेश की एक ऐतिहासिक घटना सुनिए—

ब्रह्मदेश का एक राजा अपने महल के तीसरे मंजिल की अटारी पर बैठकर शहद का शरबत पी रहा था। अचानक थोड़ी-सी बूंदें राजा की असावधानी से नीचे गिर पड़ीं। उन्हें चाटने के लिए कुछ मक्खियाँ उन पर बैठीं। मक्खियों पर छिपकली ने झपट मारी। छिपकली को देखते ही एक बिल्ली उस पर टूट पड़ी। बिल्ली के शिकार के लिए तीन-चार कुत्ते आ धमके। कुत्तों में अन्दर ही अन्दर लड़ाई होने लगी। उनका पक्ष लेने दो दरबारी पड़ौस से आ गए। दोनों पक्षों के बीच जमकर लड़ाई हुई। एक पक्ष ने सेना बुलाई और दूसरे पक्ष की ओर से सशस्त्र नागरिक मैदान में आ डटे। सारे शहर में बलवा हो गया। महल को आग लगा दी गई। इस प्रकार राजा की असावधानी (प्रमाद) से गिरी हुई शहद की कुछ बूंदों ने राज्य का सर्वनाश कर दिया। वास्तव में मानव की जरा-सी भूल भी भयंकर परिणाम लाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाद : मन, वचन कायाजनित प्रवृत्तियों में असावधानी

इसी प्रकार अपने मन, वचन और काया से होने वाली प्रवृत्तियों में ध्यान न रखना, भी प्रमाद हैं। मन से गलत और ऊटपटांग विचार कर लेना, किसी को बहम के कारण दोषी समझ लेना, गलतफहमी से किसी अच्छे अर्थ को बुरे अर्थ में ले लेना किसी विषय में बुरा चिन्तन करना, आर्तध्यान या रौद्रध्यान करना, ये सब मानसिक प्रमाद की धाराएँ हैं। इसी प्रकार क्रोध, अभिमान, माया और लोभ से, रागद्वेष से या किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर वचन बोलना, असत्य बोलना, द्वयर्थक या संदिग्ध शब्द बोलना, किसी को मर्मस्पर्शी शब्द बोल देना। इस प्रकार बोलने में ध्यान न रखना, वाणीजनित प्रमाद की धाराएँ हैं तथा शरीर से दुश्चेष्टा करना, किसी को हठात् मार-पीट देना, रास्ते चलते किसी कुत्ते, साँप, या बिच्छू आदि को देखते ही सहसा मार डालना, किसी पेड़ के अकारण ही पत्ते तोड़ लेना, निष्प्रयोजन फूल तोड़ लेना, निष्प्रयोजन भटकना आदि सब शारीरिक प्रमाद की धाराएँ हैं।

इन तीनों प्रकार के प्रमादों से भयंकर अनर्थ होते हैं। हालांकि ये तीनों प्रकार के प्रमाद दिखने में से छोटे-से और अल्प महत्व के लगते हैं, लेकिन ये जीवन की विशुद्धि, विकास और सद्गुणवर्द्धन की दिशा में रोड़े हैं। इनसे कभी-कभी भयंकर कर्मबन्धन भी हो जाते हैं।

वाचिक प्रमाद का भयंकर परिणाम

वाचिक प्रमाद के कारण मनुष्य कितना दुष्कर्म बन्धन कर लेता है, तथा उसके फलस्वरूप कितने दुःखद परिणाम आते हैं, इसके लिए एक प्राचीन कथा मुझे याद आ रही है---

बर्द्धमानपुर निवासी सद्ध नामक गृहपति की पत्नी चन्दा थी और पुत्र था 'सर्ग'। ये पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप निर्धन थे। सद्ध की मृत्यु के बाद तो स्थिति ऐसी हो गई कि रोजी और रोटी का प्रश्न भी हल होना कठिन हो गया। चन्दा उदरपूर्ति के लिए दूसरों के यहाँ चौक-बर्तन करती थी, और सर्ग मुखियाजी का ईंधन लाकर अपना गुजारा चलाता था।

एक दिन पड़ौसी ईश्वर सेठ के यहाँ उनका दामाद आया हुआ था। इधर सर्ग का भी घर आने का समय हो गया था कि इसी समय चन्दा को ईश्वर सेठ ने पानी भरने के लिए बुलाया। अतः चन्दा ने यह सोचकर कि बेटा भूखा आएगा, उसके लिए छींके पर भोजन रख दिया। कुत्ते आदि घर में न घुस जायें, इसके डरसे दरवाजे के कुंडा लगाकर वह चली गई। थोड़ी ही देर में सर्ग आया। घर आते ही ईंधन रखकर पहले वह माता को ढूंढ़ने लगा। जब माँ नहीं मिली, और छींके पर पड़ा हुआ भोजन उसने देखा तक नहीं इसलिए भूख-प्यास के कारण मन ही मन गुस्से से भर गया। इधर चन्दा सेठ के यहाँ पानी भर चुकी, तब भी सेठ के आदमी कार्य व्यस्त थे, इसलिए उसे कोई पारिश्रमिक नहीं दिया। चन्दा मन में खेद पाती हुई

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घर आई। आते ही क्रोध से भन्नाता हुआ सर्ग बोला—"क्या तुझे वहाँ शूली पर चढ़ा दिया था कि तू इतनी देर से आई है, मैं यहाँ भूखा मर रहा हूँ।" चन्दा भी दुःख से बेचैन थी, वह भी रोष में आकर बोली—"क्या तेरे हाथ टूट गये थे कि छींके पर रखा हुआ भोजन भी उतारकर नहीं खा सका।" इस प्रकार दोनों ने वाचिक प्रमाद के कारण गलत वचन प्रयोग किया, जिससे निकृष्ट कर्म बन्ध गये।

एक बार दोनों के अहोभाग्य से नगर में मानतुंग आचार्य पधारे। उनसे दोनों ने जैनधर्म का बोध प्राप्त करके श्रावक धर्म अंगीकार किया। दोनों ने चिरकाल तक श्रावक धर्म पालन करने के बाद वृद्धावस्था में शुभ परिणामों से चारित्र अंगीकार किया। अन्तिम समय में संलेखना करके समाधिमरणपूर्वक दोनों देवलोक में गये। वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके सर्ग के जीव ने ताम्रलिप्तिनगरी में कुमारदेव नामक सेठ के यहां झींजुआ नामक भार्या की कुक्षि में पुत्ररूप में जन्म लिया। उसका नाम रखा गया—अरुणदेव! इधर चन्दा के जीव ने भी देवलोक का आयुष्य पूर्ण करने पाडलापथनगर में जसादित्य सेठ की पत्नी ललुआ की कूख से कन्या रूप में जन्म लिया। उसका नाम रखा गया—'देयणी।'

संयोग वश यौवन-अवस्था आने पर देयणी की सगाई अरुणदेव के साथ हुई। विवाह होने से पहले ही अरुणदेव ने व्यापार के लिए समुद्र मार्ग से परदेशगमन किया। वह महाकडाहद्वीप पहुँचा। वहाँ से वापस लौटते समय दुर्भाग्य से उसका जहाज टूट गया। अतः लकड़ी के एक तख्ते को अरुणदेव और महेश्वर दोनों ने पकड़ लिया। तख्ता तैरता-तैरता समुद्र के किनारे आया। समुद्रतट पर ही पाडलापथ का उद्यान था, दोनों वहाँ पहुँचे। महेश्वर ने कहा—"अरुणदेव! तुम्हारा तो यहाँ ससुराल है, चलो न नगर में वहीं चलें।" अरुणदेव बोला—ऐसी दीन-हीन हालत में ससुराल जाना उचित नहीं है।" महेश्वर ने कहा—"तो फिर तुम यहाँ देवालय में बैठो, मैं बाजार में जाकर कुछ खाने की सामग्री ले आऊँ।" यों कहकर महेश्वर नगर में गया। पीछे अरुणदेव को रास्ते की थकान के कारण देवालय में नींद आ गई।

यहीं इस अवसर पर देयणी के पूर्वकृत वाचिक प्रमाद ("तेरे हाथ टूट गये थे क्या?") के कारण बन्धे हुए कठोर कर्म उदय में आए। देयणी भवन के उद्यान में थी। वहाँ चोर आए, और उन्होंने देयणी के हाथों में बहुमूल्य माणिक के दो कड़े देखे तो उनका जी ललचाया। उन्होंने आधे तो निकाल लिये, परन्तु बहुत ही कड़े थे, इस कारण पूरे न निकल सके। अतः चोर ने उसका मुंहबन्द करके छुरी से हाथ काट लिए और दोनों कड़े निकाल लिये। ज्यों ही वे कड़े लेकर भागने लगे, उद्यानपालक ने दख लिये, वह जोर से चिल्लाया। अतः तुरन्त कोतवाल आ गया। उसने चोर का पीछा किया। चोर भी दौड़ने से हाँफ गया, थक भी गया, सोचा कि अब आगे नहीं बढ़ा जा सकेगा। अतः उसी देवालय में घुसा। वहाँ अरुणदेव सोया हुआ था, अतः चोर दोनों कड़े तथा छुरी उसके पास रखकर मन्दिर के शिखर में छिप गया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अरुणदेव के भी "क्या तुझे शूली पर चढ़ा दिया था ?" इस प्रकार के कठोर वचन वाचिक प्रमादवश निकल गये थे, जिसके कारण बन्धे हुए कठोर कर्म उदय में आये। अरुणदेव जब जगा तो उसने अपने पास रखे हुए दो कड़े और छुरी देखकर सोचा—किसी देवता ने तुष्ट होकर मुझे दिये हैं, अतः उसने दोनों चीजें अपने पास रखलीं। वह यह सोच ही रहा था, इतने में कोतवाल आया। उसने अरुणदेव के पास कड़े और छुरी देखकर ललकारा—"अरे दुष्ट ! अब कहाँ जाएगा ?" यह सुनते ही अरुणदेव के हाथ से छुरी नीचे पड़ गई। कोतवाल उसे रंगे हाथों गिरफ्तार करके राजा के पास लाया। राजा को सारी घटना सुना दी। राजा को किसी प्रकार की शंका न रही। अतः आदेश दिया—"इसे शूली पर चढ़ा दो।" राजपुरुषों ने वध्य-स्थान पर लाकर उसे शूली पर चढ़ा दिया।

इधर महेश्वर बाजार से भोजन लेकर आया तो अरुणदेव को देवालय में न देखकर हक्का बक्का हो गया। बहुत तलाश करने पर भी न मिला तो वहाँ के माली आदि से उसका हुलिया बताकर पूछा। उन्होंने कहा—और तो किसी को हमने नहीं देखा, अभी एक चोर को सूली पर चढ़ाया गया है, शायद उसे देखने को वहाँ गया हो।" महेश्वर क्षुब्ध होकर माली के साथ वध्य स्थान पर पहुँचा और अरुणदेव को शूली पर लटकते हुए देखा तो—अरे श्रेष्ठिपुत्र ! यों कहता हुआ बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा। यह सुनकर कुतूहल वश लोगों ने महेश्वर को होश में लाकर पूछा—"यह श्रेष्ठी पुत्र कौन है ?" तब उसने अथ से इति तक सारा वृत्तान्त सुनाया, उस पर से जसादित्य सेठ को पता लगा कि अरुणदेव तो मेरा दामाद है, इस निर्दोष को शूली पर चढ़ाया गया है, तो वह विलाप करने लगा। राजा के कानों में बात पहुँची तो उन्होंने कोतवाल को बुलाकर डांटा। उसने कहा—"इसके पास छुरी और कड़े बरामद हुए, इस पर से हमने इसे पकड़ा है। इसमें हमारा क्या दोष !" राजा ने जसादित्य सेठ को समझाया। फिर अरुणदेव को शूली से नीचे उतरवाया।

इसी दौरान चार ज्ञान के धारक अमरेश्वर आचार्य वहाँ पधार गए। महेश्वर आदि सब शोकविह्वल लोग शान्त होकर उनके दर्शनार्थ पहुँचे। आचार्यश्री ने सबको धर्म देशना दी, जिसमें उन्होंने बताया कि 'देवानुप्रियो ! मोहनिद्रा छोड़कर धर्म जागरण में जीओ। भावशत्रु प्रमाद को छोड़ो। जरा-सा प्रमाद करके जीव भयंकर परिणाम-जनक कर्म बन्धन कर लेता है। देखो—अरुणदेव और देयणी को, जो जरा से पूर्वकृत वाचिक प्रमाद के कारण बन्धे हुए घोर कर्मों का शारीरिक और मानसिक फल भोग रहे हैं।" यों कहकर आचार्यश्री ने उनके पूर्वजन्म की प्रमादाचरण की घटना आद्योपान्त सुनाई, जिसे सुनकर जनता वैराग्यरस में डूब गई। इधर अरुणदेव और देयणी ने जब अपनी करुण कथा सुनी तो मूर्च्छित हो गए। होश में आते ही उन्हें जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ, जिसके प्रकाश में उन्होंने अपना पूर्वजन्म कृत प्रमादाचरित घटनाचक्र जाना। तत्पश्चात् शुभ परिणाम वश दोनों ने आचार्य श्री से कहा—"भगवन् ! आपने जैसा फरमाया, वैसा ही हमारे साथ घटित हुआ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म की दशा ऐसी ही है। अतः अब हम आर्तध्यान न करके विरक्त हैं। आप हमें अनशन करा कर हमारे जन्म-मरण की भीति निवारण कीजिए।" आचार्यश्री ने उनकी बात का समर्थन किया और राजा तथा सेठ की सम्मति लेकर अरुणदेव और देयणी दोनों को अनशन का प्रत्याख्यान कराया।

तत्पश्चात् आचार्यश्री ने दोनों को कुछ प्रतिबोध दिया—"अनशन के दौरान तुम्हें समस्त पदार्थों पर जो दुःखमूल ममत्व है, उसे छोड़ देना है। परम पद का कारण, जो सर्वभूतमैत्री है, उसे अपनाना है। पूर्वकृत दुष्कृत्यों का मन से भी समर्थन नहीं करना है, साथ ही वीतराग प्ररूपित रत्नत्रयी के प्रति श्रद्धा भक्ति दिखानी है और अप्रमत्त होकर परमपद के स्वरूप का चिन्तन करना है।" दोनों ही विनम्र भाव से तदनुसार आचरण करने लग गए।

राजा आदि भी इस वैराग्यमय वाणी को सुनकर अपने द्वारा हुए प्रमाद के विषय में पश्चात्ताप करने लगे। आचार्य श्री ने उन्हें भी समझाया—"राजन्! कर्म परिणति विचित्र है। जरा-से प्रमाद से इतने दारुण दुःख ही नहीं, कभी-कभी तो जीव को नरक और तिर्यञ्च के घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। इसलिए प्रमाद को महादुःख-दायी समझो। प्रमाद एक जन्म में ही नहीं, अनेक जन्मों में भयंकर दुःख देता है। अतः यथार्थ आत्म-सुख के लिए प्रमाद का सर्वथा त्याग करिए पूर्वकृत प्रमाद से जो कर्मबन्धन हुए, उन्हें तोड़ने के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि उसे समस्त आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके महाव्रतों का स्वीकार करना चाहिए और अप्रमत्त होकर उनका पालन करना चाहिए। यही प्रमादरोग का सर्वोत्तम औषध है।"

इस पर राजा ने सविनय पूछा—"भगवन्! इन दोनों ने इस प्रमाद सेवन के बाद अप्रमाद का सेवन किया था, फिर भी जरा-से प्रमाद का इतना दारुण फल इन्हें मिला, इसका क्या कारण?"

आचार्यश्री ने समाधान किया—"राजन्! इन्होंने बाद में अप्रमाद सेवन किया था, उसी के फलस्वरूप तो इन्होंने अनेक कर्मों का क्षय कर लिया, इन्हें मनुष्य जन्म मिला, उत्तम धर्म मिला। उत्तम धर्माचरण का अवसर मिला और अब उत्कृष्ट अप्रमाद के बीज बोकर ये जन्ममरण-परम्परा को तोड़ रहे हैं। अतः पूर्वकृत दुष्कृत्यों के लिए पश्चात्तापपूर्वक आलोचना गुरु समक्ष करके विधिपूर्वक प्रायश्चित करना उचित है। अप्रमाद की सामग्री मिलने पर प्रमाद न करना ही योग्य है।" यह सुनकर राजा, जसादित्य सेठ और महेश्वर तीनों ने विरक्तिभाव से दीक्षा ले ली। कड्डों के असली चोर को भी घोर पश्चात्ताप हुआ। उसने भी गुरुदेव से अनशन ग्रहण किया। अरुणदेव, देयणी और चोर तीनों आयुष्यपूर्ण करके देवलोक में पहुँचे।

निष्कर्ष यह है कि प्रमाद चाहे किसी प्रकार का हो, सर्वथा त्याज्य है और अप्रमाद ही हितैषी, मित्र के समान सदा अपनाने योग्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाद : होश भूल जाना

मान लीजिए, एक आदमी गुस्से से आग बबूला होकर दूसरे को गाली देता है, उस समय उसे जरा भी भान नहीं रहता कि मैं किस को क्या कह रहा हूँ। परन्तु शाम को जब उसे ख्याल आता है, तब उसके पास आ कर कहता है—क्षमा करें। मुझ से बहुत बड़ी गलती हो गई। मैं जो नहीं कहना चाहिए था, वे शब्द कह गया।"

क्या वह आदमी क्रोध करते और गालियाँ देते समय होश में था? जागृत था? अगर वह होश में होता या जागृत होता तो क्रोध ही कैसे करता या गालियाँ ही कैसे देता?

जो व्यक्ति होश में जीता है, उसके जीवन में पश्चात्ताप नहीं होता, पश्चात्ताप उसी को होता है, जो होश भूल कर या अजागृत रह कर कोई गलत काम कर बैठता है।

हाँ तो होश भूल कर कोई भी काम करना प्रमाद है। वह अजागृति है, असावधानी है।

अधिकांश व्यक्ति कोई भी क्रिया करते हैं, उसे होशपूर्वक नहीं करते, बेहोशी में अजागृति में ही पूर्व-अभ्यासवश ऐसा हो जाता है। आप सामायिक करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं, या तप, जप आदि कोई भी क्रिया करते हैं, परन्तु उस क्रिया को अगर आप होशपूर्वक नहीं करते हैं, अविवेक से करते हैं, पहले-से करते आए, इसलिए करते हैं, या सदा करते हैं इसलिए धड़ाधड़ पाठ बोले, अमुक चेष्टाएँ कीं, और बस इस प्रकार सामायिक या प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करते हैं तो वह भी प्रमादवश ही कहा जाएगा। इसीलिए तो सामायिक या प्रत्येक धार्मिक आचार व तप आदि के साथ अविवेक को दोष बताया है। सामायिक के १० मन के दोषों में अविवेक पहला दोष है। अधिकांश लोग आज देखा-देखी, अन्धाधुंध, होश भूल कर या विवेक को ताक में रख कर क्रियाएँ करते हैं, वह सब प्रमाद-दोष के अन्तर्गत है। पौषध एवं सामायिक के अतिचारों (दोषों) पर ध्यान देंगे तो आपको शीघ्र पता लग जाएगा कि वीतराग प्रभु ने पहले से ही इस दोष से बचने की ओर संकेत किया है।

सामाइयस्स सइ अकरणयाए।
सामाइयस्स सम्मं अणणुपालणयाए।
सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणयाए।

सामायिक तो ले ली, पर उसकी स्मृति न रही कि मैंने कब सामायिक ली? या मैं सामायिक व्रत में हूँ। सामायिक का सम्यक् प्रकार से पालन न किया, सामायिक में चित्त अव्यवस्थित रहा अव्यवस्थित, अनैकाग्र या चंचलवृत्ति से सामायिक की, ये तो सामायिक में प्रमाद से होने वाले दोष है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह पौषध के पाठ में भी बताया है—

'पोसहस्स सम्मं अणणुपालणाए'

पौषध का सम्यक्प्रकार से पालन न किया हो। इसीप्रकार पौषध में प्रमार्जन एवं प्रतिलेखन भी सम्यक्प्रकार से न किया हो तो वह भी दोष (अतिचार) है।

आप देखेंगे, भगवान् महावीर ने साधकों को खाने, पीने, सोने, जागने, भिक्षा, प्रतिलेखन, प्रमार्जन, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, तप, शयन, आदि के साथ विवेक को जोड़ा है। जितनी भी क्रियाएँ करो, चाहे वे छोटी हों, या बड़ी हों, परन्तु पूरे होश (विवेक) के साथ करो। होश या विवेक के बिना की गई बड़ी से बड़ी क्रिया भी प्रमाद युक्त है और कर्मबन्ध जनक है। परन्तु विवेक पूर्वक की गई छोटी-से छोटी क्रिया भी अप्रमाद युक्त है, वह कर्मबन्ध से मुक्त कर सकती है, कम से कम पाप कर्मों के बन्ध से तो साधक को मुक्त कर ही सकती है।

प्रत्येक क्रिया अविवेक से करना : प्रमाद

आज हम देख रहे हैं कि अधिकांश लोग वात्सल्य या घृणा, मैत्री या शत्रुता, क्रोध या क्षमा, विनय या अहंकार आदि जो कुछ भी करते हैं, प्रायः सोये हुए—अविवेक से करते हैं।

अप्रमाद का सन्देश है, सोना है तो भी विवेक से और जागना है तो भी विवेक से। इसका मतलब है—विवेक अप्रमाद का अंग है। उसकी पहरेदारी प्रत्येक क्रिया पर रखी जाए तो फिर अपने आप मनुष्य गलत ढंग से जी नहीं सकेगा। विवेक पूर्वक जो साधक सोएगा, वह सोचेगा कि मुझे कितनी देर सोना है, कहाँ सोना है? कैसे सोना है? क्यों सोना है? कब सोना है? किस प्रकार के बिछौने पर सोना है? शरीर को शयन की कितनी जरूरत है? शयन काल में किन-किन दोषों या विकारों से बचना है? ऐसा अप्रमादी व्यक्ति सोता हुआ भी जागृत रहता है। इसीलिए आचारांग में कहा है—

'सुत्ताऽमुणिणो मुणिणो सया जागरंति'

अमुनि ही सुप्त रहते हैं, मुनि तो सोते हुए भी सदा जागृत रहते हैं। भगवद्-गीता में भी साधारण सांसारिक प्राणी और योगी की पृथक्-पृथक् जीवन दशा का वर्णन करते हुए कहा है—

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥

समस्त प्राणियों के लिए जो अंधेरी रात है, उसमें संयमी पुरुष जागृत रहता है और जिस घोर रात्रि में सांसारिक प्राणि जागते हैं, वह द्रष्टा मुनि के लिए अंधेरी रात है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आप लोग इस अटपटी बात को शायद नहीं समझ पाए होंगे। लो, मैं ही बता देता हूँ। सत्य अहिंसा आदि जो धर्माचरण या अन्य धार्मिक क्रियाएँ हैं, जिन्हें समस्त सांसारिक प्राणी प्रमाद युक्त अंधेरी रात में करते हैं, यानी सोये हुए करते हैं, उन्हें संयमी पुरुष जागृत रह कर करते हैं, और जिन काम-भोग, विषयासक्ति, कषाय, कलह, राग-द्वेष, मोह, मत्सर, अहंकार आदि विभावजनित क्रियाएँ करने में सर्वसाधारण प्राणी जागृत रहते हैं। यानी उनके करने में खूब ही रुचि, रस और आदर दिखाते हैं, द्रष्टा मुनिवरों के लिए वह रात्रि है, यानी वे उन अधार्मिक, वैभाविक क्रियाओं में रुचि नहीं लेते, उनके लिए वह घोर अंधेरी रात है।

हाँ, तो प्रमाद का दूसरा अर्थ असावधानी या अविवेक है। इसी तरह लापरवाह भी है। अमुक धर्मक्रिया, नियम, व्रत, त्याग अच्छा है, जीवन के लिए उपयोगी है, परन्तु आपने लापरवाही कर दी। आप उन बातों को स्वार्थ और लोभवश या आदतवश करते रहे तो यह भी प्रमाद है।

एक गाँव में किसानों के खेत में चूहों की संख्या बढ़ गई। वे उनकी खड़ी फसल चट करने लगे। सभी किसान चिन्तित थे। तभी एक किसान ने गेहूँ के आटे में संखिया मिला कर गुड़ की राब बनाई और पूरे खेत में वह राब फैला दी। अब क्या था, बेचारे चूहे मीठी गन्ध से खिंचे चले आए, वे इधर राब खाते और उधर परमधाम जा पहुँचते।

पास वाले घास के खेत में उस किसान के ४ कीमती बैल चर रहे थे। वे भी राब की गन्ध पाकर कढ़ाई के पास चले आए और राब चाटने लगे। बस, थोड़ी ही देर में वे वहीं गिर पड़े। किसान बैलों को तड़पते देख घबरा गया, डॉक्टर को बुलाने आदमी भेजा। डॉक्टर आया तब तक बैलों ने दम तोड़ दिया। किसान की लापरवाही एवं अविवेक के कारण चूहों को मारने का इतना पाप हुआ, और अपने कीमती बैलों को खोने का घोर पश्चात्ताप भी। इसीलिए तो प्रमाद को मृत्यु के समान कहा गया है—

'पमादो मच्चुनो पद'

प्रमाद एक प्रकार से मृत्यु का स्थान है। उसका सहारा लेकर मनुष्य अपना विनाश कर लेता है।

प्रमाद : आलस्य वर्द्धक

इसके अतिरिक्त प्रमाद आलस्य के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। परन्तु वह आलस्य का जनक है। प्रमाद से ही आलस्य पैदा होता है।

यों तो धर्मशास्त्रों में अधर्म और पापकार्य में आलस्य, विलम्ब एवं सुषुप्ति को को अभीष्ट माना गया है। भगवती सूत्र में जयन्ती राजकुमारी के प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने बताया है, कि जो व्यक्ति धर्मात्मा है, धर्म से युक्त प्रवृत्ति करता है, धर्म जिसके जीवन में रमा हुआ है, उस व्यक्ति का सोये रहना या आलस्य में पड़े

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहना कतई ठीक नहीं है, परन्तु जो व्यक्ति अधर्मी है, पापी है, अधर्म से युक्त आजीविका करता है, ऐसे व्यक्ति का सोये रहना, आलस्य में पड़े रहना ही अच्छा है। इस दृष्टि से जब हम वस्तु तत्व को तोलते हैं तो अधर्म, पाप, बुराइयों और अनिष्टों को बढ़ानेवाली या प्रोत्साहन देनेवाली प्रवृत्ति में पुरुषार्थ करना भी एक तरह से प्रमाद है, क्योंकि ऐसे गलत पुरुषार्थ के पीछे अशुभ अध्यवसाय, अशुभ भावनाएँ और कषाय एवं विषयासक्ति जैसे अधर्म लगे हुए हैं। इसलिए यहाँ प्रमाद का अर्थ लेना चाहिए—धर्म कार्य, आध्यात्मिक प्रवृत्ति अथवा शुभ कार्य, कर्तव्य-निष्ठा अथवा आत्महित के कार्यों में आलस्य, उपेक्षा, उदासीनता या टालमटूल करना प्रमाद है। आलस्य को नीतिकारों ने शत्रु बताया है—

"आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।"

आलस्य मनुष्यों के शरीर में जमा हुआ, टिक कर बैठा हुआ महान शत्रु है।

इस दृष्टि से प्रमाद भी मानव जीवन का महान शत्रु है, यह कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। इसीलिए आलस्य रूप प्रमाद के विषय में एक विचारक ने कहा है—

"आलस्याद् बुद्धि मान्द्यञ्चालस्यात् कार्यवैक्लवम्।
आलस्यादवनतिश्चैव, गौरवं तेन नश्यति।"

आलस्य से बुद्धि मन्द हो जाती है, आलस्य से कार्य बिगड़ता है, आलस्य से मनुष्य की अवनति होती है, तथा उससे मनुष्य का गौरव, प्रतिष्ठा और यश समाप्त हो जाता है। आलसी सांस लेता हुआ भी मुर्दा-सा है। वह राजकीय, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी कार्यों में अयोग्य, अकुशल और अनधिकारी सिद्ध होता है। जो मनुष्य अपने आत्महित के कार्यों में प्रमाद करता है, घण्टों इधर-उधर की गप्पें मारता है, व्यसनों में समय बर्बाद करता है, ताश, शतरंज, जुआ आदि खेलने में अपना कीमती समय गँवा देता है, ढीले और हर सत्कार्य में सुस्त मनुष्यों का अपने आपके नाश के सिवाय कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। आलसी व्यक्ति के आत्म-प्रदेशों में धर्माचरण का उत्साह नहीं होता। महात्मागाँधीजी के शब्दों में—'आलस्य एक प्रकार की हिंसा है।' आलस्य से तमाम विधाएँ नष्ट हो जाती हैं। योगवाशिष्ट (२/५/३०) में आलस्य के दुष्परिणाम बताते हुए कहा है—

"आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः
को न स्याद् बहुधनको बहुश्रोतोवा।
आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता,
सम्पूर्ण नरपशुभिर्निधनैश्च ॥"

"संसार में यदि आलस्य न होता तो कौन महाधनी व महाज्ञानी न बन जाता। आलस्य के कारण ही समुद्रपर्यन्त यह विस्तृत पृथ्वी नर-पशु मूर्खों और दरिद्रों से भरी पड़ी है।"

आलस्य अवगुणों का पिता, दरिद्रता की माँ, रोगों की धाम, और जीते जागते की कब्र है, यह समस्त बुराइयों की जड़ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य विचारक जिम्मरमेन (Jimmermann) कहते, हैं—

Sloth is tarpidity of the mental faculties.

"आलस्य मानसिक शक्तियों की सुषुप्त है।"

आलस्य से बौद्धिक, मानसिक एवं शारीरिक सभी सामर्थ्य धीरे-धीरे क्षीण हो जाते हैं।

कई व्यक्ति किसी धर्म कार्य या साधना को नियमित नहीं करते, वे एक दिन करते हैं, फिर दस दिन तक उस साधना को ताक में रख देते हैं, यह उपेक्षा वृत्ति या लापरवाही बहुत ही बड़ा प्रमाद है। इससे मनुष्य की नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। उनमें जंग लग जाता है।

एक गुरुजी प्रतिदिन अपने शिष्य को कहते थे—"वत्स ! प्रतिदिन ध्यान किया करो, पूजा-प्रार्थना भी नियमित किया करो। परन्तु शिष्य सोचता था—प्रतिदिन ध्यान या पूजा प्रार्थना की जाए और एक दिन न किया जाये तो क्या गजब हो जायेगा ?" परन्तु गुरुजी उसका प्रमाद दूर करने के लिए प्रतिदिन उसे कहते रहते थे। परन्तु दूसरे दिन जब शिष्य ने ध्यान नहीं किया, तो गुरु ने उससे कहा—"कल ध्यान नहीं किया, वत्स !" शिष्य ने कहा—"गुरुजी ! रोज-रोज ध्यान आदि क्यों करना चाहिए ?" गुरु उस समय कुछ न बोले। शाम को उन्होंने शिष्य से कहा—"बेटा ! आज से एक काम कर। तेरी जो चटाई है उसमें से एक-एक सली रोज निकालता जा।" शिष्य ने कहा—"ठीक है, गुरुजी ! ऐसा ही किया करूँगा।" अब रोज शाम को प्रार्थना पूजा, ध्यान आदि कार्यक्रम होते, उसमें वह नहीं आता, किन्तु चटाई में से नित्य एक सली निकाल कर डाल देता था। यों करते-करते चटाई पूरी हो गई, इसलिए गुरु से आकर कहने लगा—"गुरुजी ! मुझे नई चटाई चाहिए। गुरु ने कहा—"बेटा ! पुरानी चटाई ले आ।" शिष्य बोला—"अब तो उसकी सलाइयाँ ही रही हैं, गुरुजी ! "गुरु ने कहा—"अच्छा वे ही ले आ।" शिष्य ने कमरे में जाकर देखा तो चटाई की ४-५ सलियाँ थीं, उन्हें उठा लाया। बाकी की सलियाँ तो उसने फेंक दी थीं। बची हुई सलियाँ लाकर उसने गुरुजी के सामने डाल दीं। गुरु ने पूछा—"बस, इतनी ही सलियाँ हैं, बाकी की कहाँ गयीं ?" मैंने तो उन्हें फेंक दी हैं, गुरुजी !" चेला बोला।

गुरुजी—"अच्छा, इनकी फिर से चटाई बना !"

शिष्य—"अब इनकी चटाई कैसे बनेगी ?"

गुरु ने उसे समझाते हुए कहा—"जैसे एक-एक करके सभी सलियाँ अलग होने पर उनकी फिर से चटाई नहीं बन सकती, वैसे ही एक-एक सोपान चूकने से धीरे-धीरे सभी चूक जाते हैं। यही बात ध्यान, प्रार्थना आदि धर्माराधना के विषय में प्रमाद करने के बारे में समझ लो। एक दिन धर्माराधना करने से फिर दिन-प्रतिदिन वह क्रम टूटता जायेगा और एक दिन बिलकुल छूट जायेगा, फिर नये सिरे से साधना का अभ्यास करने में बड़ी कठिनाई होगी।" शिष्य गुरुजी के आशय को समझ गया। वह प्रतिदिन नियमित रूप से धर्माराधना करने लगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कई व्यक्ति किसी आवश्यक कार्य को आगे पर टालते रहते हैं। आज-कल, परसों करते-करते बरसों बीत जाते हैं, वह कार्य फिर ऐसा खटाई में पड़ जाता है कि होता ही नहीं, एक बार एक काम में टालमटूल की आदत पड़ जाती है, तो फिर वह हर काम में टालमटूल करता है। यों एक दिन जिंदगी पूरी हो जाती है और जीवन के सुनहरे अवसर चले जाते हैं, अन्त में व्यक्ति हाथ मलता रह जाता है। यह प्रमाद इतना भयंकर है कि अन्त में व्यक्ति को सिवाय निराशा और दुःख के और कुछ पल्ले नहीं पड़ता।

एक बुढ़िया के पास सर्दी में ओढ़ने को कुछ न था। सोचने लगी—'कपड़ा और रुई पड़ी है, कल सुबह उठकर गुदड़ी बना लूंगी।' सुबह हुआ तो उसने सोचा—"अभी क्या जल्दी है, शाम को बना लूंगी। शाम आई, अन्धेरा होने लगा, सोचा—अब अंधेरे में तो कुछ बनेगा नहीं, अब तो कल ही बनाऊंगी।" रात हुई, बुढ़िया को खूब जाड़ा लगा। सोचा—सुबह उठूंगी और जरूर गुदड़ी बना लूंगी। किन्तु सुबह हुआ, शाम हुई, रात पड़ी; एक के बाद एक दिन बीतने लगे, पर बुढ़िया की गुदड़ी नहीं बनी। यों करते-करते सर्दी की मौसम निकल गई। सोचने लगी—"अब गुदड़ी की क्या जरूरत है? अब तो गर्मी की मौसम आई। अब तो अगली सर्दी की मौसम में बना-ऊंगी। इस तरह करते-करते चार शीत ऋतु आई और चली गई, लेकिन बुढ़िया की गुदड़ी नहीं बनी, सो नहीं बनी। उसकी उम्र भी यों मनसूबे करते-करते खत्म हो गई। इसी प्रकार आगे पर टालने वाले साधक मनोरथ करते रह जाते हैं, उम्र ढल जाती है, बुढ़ापा घेर लेता है, कई रोग आकर डेरा जमा लेते हैं, फिर सारे ही अंग शिथिल हो जाते हैं, कुछ करने-धरने लायक नहीं रहते। इस तरह प्रमाद करने का नतीजा यह होता है कि व्यक्ति बिना ही धर्म साधना किये खाली हाथ चला जाता है। कार्लाइल के शब्दों में—

"आलस्य में स्थायी निराशा है।"

"In idleness there is Perpetual despir.

प्रमाद : निष्क्रियतापूर्वक का कालयापन

बहुत-से लोग निष्क्रियतापूर्वक अपना समय बिताते रहते हैं। निठल्ले और निकम्मे रहने की आदत व्यावहारिक जीवन में जैसे खराब है, वैसे ही आध्यात्मिक जीवन के लिए भी बुरी है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक साधना-ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करने का उत्तम अवसर मिलने पर भी उससे कुछ लाभ नहीं उठाता और निष्क्रिय बना रहता है; उसे अन्त में पश्चात्ताप के सिवाय और कुछ नहीं मिलता।

पाश्चात्य विचारक टायरन एडवर्ड्स (Tyron Edwards) के शब्दों में—

"Indolence is the dry rot of even a good mind and a good Character....It is the waste of what might be a happy and useful life."

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शिथिलता या निष्क्रियता अच्छे मन और अच्छे चरित्र की सूखी सड़ान है;··· जो सुखी और उपयोगी जीवन बन सकता था, उसकी यह बर्बादी या व्यर्थता है।

विषयासक्ति : एक प्रमाद

पांचों इन्द्रियों के विषयों को कोई भी साधक रोक नहीं सकता, विषय आते हैं, उनका स्पर्श साधक को होता है, लेकिन जब साधक विषयों के प्रति राग और द्वेष करता है, इष्ट विषय के प्रति आसक्ति रखता है, यह विकार है, यह प्रमाद है; इस प्रमाद के कारण व्यक्ति महान् कर्मबन्ध कर लेता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने जब अपने सम्बन्ध में अनिष्ट शब्द सुने तो प्रमाद वश मन ही मन उत्तेजित हो उठे और उसकी प्रतिक्रिया क्रोध और द्वेष के रूप में भयंकर हुई। इस भयंकर प्रमाद के कारण एक बार तो उन्होंने सातवीं नरक में जाने तक के बन्ध की सम्भावना प्रबल हो उठी थी, परन्तु वे एकदम संभले। उनके मन में एक जागृति की प्रचण्ड लहर आई, उन्होंने उन समस्त कर्मों का कुछ ही समय में क्षय कर डाला।

इस प्रमाद से साधक को प्रतिक्षण सावधान रहना है। आप कहीं जा रहे हों और रेलगाड़ी में बैठें हो उस समय आपको जेबकटों से बहुत सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि वे आपकी जेब इस सिफ्त से काटकर आपका धन हरण कर सकते हैं। इसी प्रकार आपके जीवन में सद्गुणों का धन लूटने वाले ये विविध प्रमाद रूपी जेबकटे हैं, इनसे आपको विशेष सावधान रहना है। अगर आप जागृत नहीं रहेंगे तो ये जेबकटे आपके तप, संयम, ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप धन को हरण करते देर नहीं लगाएँगे। उस भौतिक धन के नष्ट होने से इतनी हानि नहीं, जितनी आध्यात्मिक धन के नष्ट होने से हानि है। भौतिक धन के नष्ट होने से तो एक जन्म में ही अमुक समय तक तकलीफ उठानी पड़ती है, किन्तु आध्यात्मिक धन नष्ट होने पर तो जन्म-जन्मान्तर तक कष्ट उठाने पड़ते हैं। प्रमाद हमारे आध्यात्मिक धन का हरण करते देर नहीं लगाता। विषय इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार के सामने आते हैं, अगर साधक प्रमाद में पड़ कर राग (आसक्ति) और द्वेष (क्रोध, घृणा आदि) करने लग जाता है तो उसकी साधना, जो अब तक हुई थी, वह चौपट हो जाती है। इसलिए इस प्रमाद-शत्रु से बचकर चलना चाहिए। इसीलिए कहा गया है—**'धीरो मुहुत्तमपि नो पमाए'** धीर पुरुष को मुहुर्तमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

निद्रा : प्रमाद का एक प्रकार

निद्रा भी प्रमाद का एक प्रकार है। परन्तु शरीरधारी के लिए सहज स्वाभाविक रूप से जो अत्यन्त आवश्यक निद्रा है, उसे टाला नहीं जा सकता, फिर भी निद्रा के साथ विवेक अवश्य होना चाहिए, अन्यथा व्यक्ति निद्रा के चक्कर में पड़ कर अपनी बहुमूल्य साधना, परमात्म-भक्ति और श्रद्धा को खो बैठता है।

महात्मा गाँधीजी के जीवन की एक घटना है। दक्षिण भारत की यात्रा के दौरान एक दिन सभाओं और विचारगोष्ठियों का कुछ ऐसा तांता लगा रहा कि उन्हें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिनभर एक मिनट भी विश्राम करने का अवसर नहीं मिला। गाँधीजी के साथ महादेव भाई और काका कालेलकर भी थे। तीनों काफी रात गये अपने स्थान पर लौटे। थकान के मारे उनके शरीर बुरी तरह शिथिल हो चुके थे। आते ही तीनों चारपाइयों पर पड़ गए और निद्राधीन हो गए।

चार बजे नींद टूटी। गाँधीजी और उनके साथियों का नियम था कि वह सायंकाल सोने से पूर्व और प्रातःकाल जगते ही प्रार्थना किया करते थे। गाँधीजी ने प्रातःकालीन प्रार्थना के लिए एकत्रित हुए काका कालेलकर से पूछा—"शाम की प्रार्थना का क्या हुआ?" काका ने उत्तर दिया—"बापूजी! मैं तो थकावट के मारे आते ही सो गया, प्रार्थना करना बिलकुल भूल गया। महादेव भाई ने भी इसी आशय की बात कही और कहा कि बीच में नींद टूटी, तब मैंने चारपाई पर मन ही मन प्रार्थना कर ली और प्रभु से क्षमा माँग कर सो गया। मगर गाँधीजी को इस प्रमाद का दुःख बहुत गहरा था। वे बोले, आज मेरा मन बहुत ही अस्वस्थ है, मैं कल शाम की प्रार्थना क्यों नहीं कर सका? क्या सोना इतना आवश्यक था कि भगवान का स्मरण तक न किया जाता?" जब काका ने बापूजी से कहा—"बापू! आप तो कहते हैं—भगवान के नाम से उनका काम बड़ा है। तब उनका काम करते हुए हम सो गए, इसमें बुरा क्या हो गया?"

गाँधीजी ने कहा—"दुःख तो इस बात का है कि मैं कहीं आलस्य और प्रमाद में नाम और काम दोनों में भूल न करने लग जाऊँ।"

बन्धुओं! निद्रा के साथ भी प्रमाद न आ जाए, इस बात का विवेक प्रत्येक साधक को होना चाहिए।

हमारे शास्त्रों में द्रव्य निद्रा की अपेक्षा भावनिद्रा को बहुत ही भयंकर माना गया है। भावनिद्रा एक प्रकार की अजागृति है, जिसे मैंने आत्म-विस्मृति कहा है, वह एक प्रकार की भावनिद्रा ही है। मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अभिमान आदि के चक्कर में पड़ कर भावनिद्रा में सो जाता है। उससे भयंकर अनिष्ट हो जाता है। आत्मा का अमूल्य धन ये चोर भावनिद्राधीन मनुष्य की गफलत का लाभ उठाकर चुरा ले जाते हैं।

इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है—

"सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पंडिए आसुपन्ने।"

आशुप्रज्ञ पण्डित पुरुष को मोह निद्रा में सोये हुए प्राणियों के बीच में रह कर भी सदा जागरूक रहना चाहिए। प्रमादाचरण पर उसे कभी विश्वास न करना चाहिए।

प्रमाद के मुख्य कारण

प्रश्न यह होता है कि प्रमाद जब एक प्रकार का भाव है, और वह अन्तर से ही पहले पैदा होता है, तब बाहर में उसका विविध रूप में प्रयोग होता है, जिनका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मैंने अभी-अभी आपके समक्ष उल्लेख किया है, तो प्रमाद के कारण क्या हैं ? वे कितने हैं ?

यों तो शास्त्र में प्रमाद के पाँच, आठ आदि भेद बताए हैं। परन्तु मुख्यतया पाँच भेद ही प्रसिद्ध हैं, जो प्रमाद के कारण हैं। एक गाथा इस प्रकार है—

मज्जं विसय-कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।

पाँच प्रमाद इस प्रकार हैं—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, और विकथा।

मद्य का अर्थ है—नशीली चीजें, ऐसा खानपान जिससे नशा पैदा हो जाता हो ! मद्य अवश्य ही शरीर, मन और बुद्धि में प्रमाद, जड़ता, एवं आलस्य लाता है। वह हिताहित का भान भुला देता है। यही तो प्रमाद है।

पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय हैं, उन पर राग-द्वेष, आसक्ति, मोह या घृणा आदि करना प्रमाद का कारण है। कषाय मुख्यतया चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों कषाय जब जीवन में आ जाते हैं, तब मनुष्य आत्मभान भूल जाता है, यही प्रमाद है। इसलिए कषाय भी प्रमाद के कारण हैं। निद्रा प्रमाद का कारण कैसे बनती है, इसका स्पष्टीकरण मैं अभी-अभी कर चुका हूँ।

पांचवाँ प्रमाद का कारण है—विकथा। विकथा का मतलब है, विकृत कथाएँ जिनसे मोह, असंयम, कषाय, विषयासक्ति आदि विकार पैदा हों। विकथाएँ मुख्यतया चार प्रकार की बताई हैं—स्त्री-विकथा, भक्त (भोजन) विकथा, राज-विकथा, और देश-विकथा। ये चारों विकथाएँ वाणी के प्रमाद की कारण हैं। वाणी का अविवेक तो प्रमाद का कारण है ही।

अप्रमाद : स्वरूप और प्रकार

जितने भी प्रकार के प्रमाद हैं, उतने ही प्रकार अप्रमाद के हैं। प्रमादों से विरत होना, प्रमाद-रहित स्थिति में रहना, जागृत रहना, विवेक और होश में जीना अप्रमाद है। अप्रमाद स्थिति सहजभाव की, स्वभाव की स्थिति है। प्रमाद अस्वाभाविक और असहज स्थिति है। चूंकि पहले मैंने बताया था कि प्रमाद को समझे बिना, अप्रमाद समझ में नहीं आ सकता। इस दृष्टि से अमूर्च्छा, अनालस्य, सत्पुरुषार्थ, सावधानी, प्रतिक्षण जागृति और विवेक अप्रमाद की गणना में आते हैं। इसलिए अप्रमाद ही समस्त प्रमादों का निवारण है।

आचारांग सूत्र में कहा गया है—

"पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए।"

'प्रमत्त पुरुष को धर्म से बाहर समझो, और अप्रमत्त बन कर धर्म का आचरण करो।'

चूंकि अप्रमाद प्रमाद का विरोधीभाव है अतः अप्रमाद की स्थिति लाने के लिए सभी प्रकार के प्रमादों से और प्रमाद के कारणों से बचना आवश्यक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अप्रमाद के संदेश

अप्रमाद का मुख्य सन्देश भगवान महावीर ने गौतम स्वामी को लक्ष्य करके समस्त साधकों को दिया है—

'समयं गोयम ! मा पमायए'

हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर।

प्रमाद मृत्यु है और अप्रमाद ही अमरत्व है। जहाँ मृत्यु का-सा नाटक जीवन में होता है, वहाँ सदैव भय रहता है, मगर जहाँ अप्रमाद है, वहाँ मृत्यु का कोई भय नहीं है, अप्रमादी मनुष्य मृत्यु आती है तो भी हँसते-हँसते उसे वरण करता है। वह मृत्यु से भय नहीं खाता, वरन मृत्यु को अपना सखा मानता है।

अप्रमाद का सन्देश यह है कि मनुष्य ! तुम्हें बहुमूल्य एवं छोटा-सा जीवन मिला है, इसे प्रमाद में खोकर नष्ट मत करो अप्रमत्त साधना के द्वारा इसे सार्थक करो। इसका एक क्षण भी व्यर्थ की बातों में मत खोओ। शरीर और मन को निष्क्रिय और आरामतलब न बनाओ, किन्तु इनके द्वारा जीवन की उत्तम साधना अप्रमादी होकर करो।

भाग्यवाद के भरोसे रह कर आलस्य और अकर्मण्य मत बनो, क्योंकि ऐसा करना महाप्रमाद है, किन्तु ज्ञान-दर्शन-चारित्र की मोक्षसाधना के लिए अविरत पुरुषार्थ करो। अकर्मण्य होकर बैठना महापाप है, अकर्मण्य और आलसी व्यक्ति तमोगुणी है, वह अपने जीवन को प्रमाद में खोकर नरक का पथिक बनता है। जीवन सत्पुरुषार्थ से ही निखरता है, प्रमाद से नहीं। इसलिए सत्पुरुषार्थ एवं शुभकर्त्तव्य करते रहो। मोक्षमार्ग की ओर—लक्ष्य की ओर चले चलो, बढ़े चलो। जो चलते रहते हैं वे ही एक दिन लक्ष्य का किनारा पा जाते हैं, जो आलसी एवं प्रमादी बन कर बैठे रहते हैं, वे सैकड़ों जन्मों में भी संसार समुद्र को पार नहीं कर सकते। इस लिए **'कर्मण्येवाधिकार स्ते मा फलेषु कदाचन'** इस सिद्धान्त के अनुसार कर्तव्य, धर्माचरण में फलाकांक्षा एवं भाग्यवाद से दूर रह कर पुरुषार्थ करते जाओ। इसीलिए अप्रमाद का संदेश है—

'उट्ठिए नो पमायए'

जो कर्तव्यपथ पर उठ खड़ा हुआ है, उसे फिर प्रमाद नहीं करना चाहिए। अप्रमाद को जीवन का सच्चा साथी मान कर चलो। महर्षि गौतम ने इसीलिए स्पष्ट कहा है—

'किं हियमप्पमाओ'

हितैषी मित्र कौन है ? अप्रमाद ही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२०

माया : भय की खान

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपको जीवन के एक ऐसे मोड़ पर ले जाना चाहता हूँ, जिसे देख-समझ कर, जिस पर गहराई से चिन्तन करके आप समझ सकें कि उस जीवन में एक चीज बड़ी खतरनाक है, बहुत ही भयावह है। वह है—माया। बाहर से तो यह बड़ी सुन्दर, सलौनी और सुहावनी दिखती है, परन्तु अन्दर से बड़ी भयानक है। इसीलिए गौतम कुलक में १९वाँ जीवन सूत्र दिया गया है—"माया, भयं किं ?" भय क्या है ? माया। अर्थात्—माया अपने आप में एक प्रकार की भीति है। माया, भय का स्रोत है। जहाँ माया होगी, वहाँ भय या खतरा अवश्य होगा। माया के बिना भय का पैर टिक नहीं सकता है। सारांश यह है कि ऐसा जीवन, जो मायामय होगा, भय से ओतप्रोत होगा। भय का जनक होगा।

माया भय का स्रोत : क्यों और कैसे ?

मायामय जीवन का अर्थ है—छिपा हुआ जीवन, गूढ़ जीवन। जिस जीवन में अन्दर कुछ और हो, बाहर कुछ और दिखाया जा रहा हो। ऐसा जीवन लोगों के लिए भयावह इसलिए होता है कि लोग छिपी हुई चीज को पहचान नहीं पाते और एकदम मायावी जीवन से प्रभावित हो जाते हैं, धोखा खा जाते हैं। जो जीवन छिपा हुआ होगा, उसका हर एक व्यक्ति को पता नहीं लगेगा कि इसके अन्दर क्या है ? बाहर की वेशभूषा की सजावट, चेहरे की चमकदमक एवं लच्छेदार भाषण-सम्भाषण छटा से साधारण व्यक्ति तो झटपट आकर्षित और प्रभावित हो जाता है। वह उसे ही सिद्ध पुरुष, पहुँचा हुआ पुरुष, भगवान और न जाने क्या-क्या मानने लगता है। उसके बाद वह किसी दिन उसके झाँसे में ऐसा आ जाता है कि उसे छठी का दूध याद आ जाता है।

आपके सामने कोई किसी चीज को इस ढंग से सजा कर रखे कि आपको उसमें और असली चीज में कोई अन्तर न मालूम दे तो झटपट विश्वास हो जाएगा, आप शायद बहुत जल्दी ही उसके चक्कर में आ जायेंगे। पीतल पर मुलम्मा चढ़ा हो, तो उसकी चमकदमक असली सोने से भी बढ़ कर हो जाती है, सहसा कोई भी आदमी चक्कर में आ जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बड़े शहरों में ठग लोग इसी प्रकार भोलेभाले लोगों को फँसाते हैं। एक बार एक कच्छीभाई बम्बई के एक मोहल्ले की छोटी-सी गली में से होकर जा रहा था। अचानक पीछे से एक आदमी आया और कुछ ही फासले पर एक सोने की डली पड़ी थी, उसे कच्छीभाई के देखते उठा कर भागने लगा। उसके पीछे एक दूसरा व्यक्ति आया, जिसने इस कच्छीभाई के कान में धीरे से कहा—"सेठ ! यह आदमी सोने की डली लेजा रहा है, अपन इससे खरीद लें। और बाजार में बेचकर बहुत मुनाफा कमायेंगे। आपके पास कितने रुपये हैं ? निकालिये झटपट। पीछे यह हाथ में नहीं आयेगा।" कच्छीसेठ ने अपनी जेब में चालीस रुपये थे, वे निकाले। उस धूर्त ने कहा—"इतने से काम नहीं होगा। सोना कम से कम २०० रुपये का है। हम इसे आधे दामों में ले लेंगे और क्या है आपके पास ?" कच्छीभाई ने कहा—"मेरे पास और तो कुछ नहीं, एक घड़ी है।" उस धूर्त ने कहा—हाँ, हाँ, बस, अब काम बन जाएगा। मुझे क्या करना है। मैं आपको ही यह सोने की डली उससे दिलवा दूंगा।" बस, उस धूर्त ने दौड़कर सोने की डली वाले धूर्त को पकड़ा। उसे गिरफ्तार कराने आदि की झूठमूट धमकी दी और वे ४० रुपये तथा लगभग ६० रुपये की हाथघड़ी देकर उससे सोने की डली ली और उस कच्छीभाई को दे दी।

कच्छीभाई बहुत खुश होता हुआ जा रहा था। परन्तु मन में शंका थी कि कहीं यह चोरी का माल हुआ और पुलिस को पता लग गया तो मुझे गिरफ्तार कर लिया जाएगा। इसी चिन्ता ही चिन्ता में वह मुख्य सड़क पर आ गया। और एक टैक्सी में बैठकर शिवाजी रोड़ पहुँच गया। वहाँ अपने एक सम्बन्धी से टैक्सी का किराया दिलवा दिया। उसने अपने सम्बन्धी को वह सोने की डली दिखाई और ४०) और एक घड़ी देकर खरीदने की बात कही। सम्बन्धी के मन में सोने की डली देखते ही शंका हुई कि यह सोने का मुलम्मा चढ़ाया हुआ है। वह उस डली को लेकर पास में ही रहने वाले एक सुनार के पास गया। उसे दिखाकर पूछा—देखो तो, यह सोना कितने का है ?" सुनार ने उसे कसौटी पर कसा और तेजाब में उसका एक सिरा डाला तो तुरन्त पता लग गया कि यह सोना नहीं, पीतल पर सोने का मुलम्मा चढ़ा हुआ है। लगभग दस रुपयों का होगा।" यह सुनते ही कच्छीभाई का हृदय बैठ गया। अच्छा, धोखा खाया, आज तो ! सोने के बदले पीतल दे गया।"

मैं आपसे पूछता हूँ, कि उस कच्छीभाई ने ऐसा धोखा क्यों खाया ? माया के चक्कर में आकर ही तो ? वह माया को पहचान न सका। उन धूर्तों की माया, और सोने की ओट में छिपाया हुआ पीतल उसकी आँखें न देख सकीं। उन आँखों को यह धोखा नहीं खाना चाहिए था।

माया : खोटे सिक्के की तरह त्याज्य

सेक्सपियर के शब्दों में—

'All that glitter are not gold.'

तमाम चमकीली चीजें सोना नहीं हुआ करतीं। यह बात उसके दिमाग में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं आई। एकदिन एक साहूकार को शक हुआ कि उसके खजाने में कहीं खोटे सिक्के तो नहीं आ गये ? यह जाँचने के लिए उसने सब सिक्के एक जगह इकट्ठे किये और जाँचपड़ताल शुरू की। अच्छे सिक्के तिजोरी में और खराब सिक्के एक तरफ पटके जाने लगे तो खोटे सिक्के घबराकर परस्पर विचार करने लगे—अब तो बुरे दिन आ गए। यह साहूकार अवश्य ही हमें छाँटकर तुड़वा डालेगा। कोई युक्ति निकालनी चाहिए, जिससे इसकी नजर से बचकर तिजोरी में चले जायें।"

एक खोटा सिक्का बड़ा चालाक था। उसने कहा—"भाइयो ! अगर हम लोग जोर से चमकने लगे तो यह साहूकार पहचान नहीं पाएगा और अपना काम बन जाएगा।" बात सबको पसन्द आ गई। सब खोटे सिक्के चमकने लगे और सेठ की तिजोरी में पहुँचने लगे। खोटे सिक्कों को अपनी चालाकी पर बड़ी खुशी हुई।

गिनते-गिनते एक सिक्का नीचे जमीन पर गिर पड़ा, नीचे एक पत्थर था, उससे टकराया साहूकार चौंका—हैं यह क्या ! चमक तो अच्छी है, पर आवाज थोथी है। उसे शंका हुई। उसने दुबारा फिर सब सिक्के निकाले और पटक-पटक उनकी जाँच शुरू की। फिर क्या था, असली सिक्के एक तरफ और नकली एक तरफ रख दिये। दिखावट थोड़े समय तक चल सकती है, आखिर खोटाई प्रकट हो जाती है। इसीलिए तो गौतम ऋषि ने चेतावनी देते हुए कहा—माया ठगिनी है, इससे बचकर चलो। यह बहुत खतरनाक है। यह माया ही भयजनक है। इस माया के चक्कर में जितने भी लोग लुभा गए, उन सबके लिए यह खतरनाक सिद्ध हुई है। इसने अनेक लोगों को रुला-रुलाकर छोड़ा है। जो भी इसके चंगुल में फँसा कि उसकी स्थिति भयानक हो गई। साँप का शरीर बहुत ही मुलायम, रेशम-सा कोमल और चमकीला होता है, परन्तु उस चमकीले और मुलायम शरीर की ओट में जहर छिपा होता है। चमकीला और गुदगुदा कोमल शरीर मायावी होता है। इसीलिए तो कहा गया है—

"विषकुम्भं पयोमुखम्।"

घड़ा विष से भरा है, लेकिन ऊपर मुंह के पास उसमें दूध भरा है, ताकि घड़े की विषाक्त माया को लोग झटपट जान न सकें। पाश्चात्यविचारक Whately (ह्वेटली) के शब्दों में कहूँ तो—

All frauds, like the wall daubed with untempered mortar, with which men think to buttress up an edifice, always tend to the decay of what they are devised to support.

समस्त माया (छलकपट) उस दीवार के समान हैं, जो मुलायम नहीं किये हुए कच्चे चूने से पोती हुई है और जिस दीवार के आधार पर मनुष्य एक महल को खड़ा करना चाहते हैं परन्तु उन मनुष्यों ने महल को सहारा देने के लिए उस जिस दीवार की कल्पना की थी, वह सदा उसका विनाश करने की ओर झुकी रहती है।

निष्कर्ष यह है, माया जहाँ भी, जिस वस्तु में या जीवन में आ जाती है, वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उस वस्तु या जीवन को विनष्ट कर देती है, इसीलिए तो वह खतरनाक है, भयावह है।

मनुष्य इतना चकाचौंध हो जाता है कि उसे माया दिखती नहीं, परन्तु वह माया ही होती है, जो उसके जीवन को भयावह स्थिति में डाल देती है। इस दुनिया के बाजार में जगह-जगह माया का जाल बिछा हुआ है, माया मिश्रित पदार्थ सजे हुए हैं। प्रत्येक समझदार व्यक्ति को उससे सम्भल-सम्भलकर चलना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र में इसीलिए साधक को सावधान किया गया है—

"चरे पयाइं परिसंकमाणो
जं किंचि पासं इह मन्नमाणो॥"

साधक प्रत्येक कदम शंकित होता हुआ फूंक-फूंक कर रखे। वह सांसारिक और भौतिक आकर्षण की जिस किसी चीज को देखे, उसे पाश (बन्धन) मानकर चले।

कवि अपनी सुरीली तान में सावधान करता है—

दुनिया एक बाजार है, सौदे सब तैयार हैं,
जी चाहे सो लीजिए, नहीं इन्कार है॥ ध्रुव॥
दुनिया के बाजार में आके लाखों लोग ठगाए जी॥ लाखों॥
ऐसी वस्तु लेना मित्र! तू यहाँ-वहाँ सुख पाएजी॥दुनिया०॥

कवि का संकेत माया के जाल से सावधान रहने के लिए है। क्योंकि माया विचित्र-विचित्र वेष बनाकर आती है, प्रत्येक क्षेत्र में इसका निराबाध प्रवेश है। प्रत्येक क्षेत्र के लोग इसे अपना कर अपना उल्लू सीधा करते हैं। परन्तु गौतम ऋषि कहते हैं—माया को अपनाने वाले लोग अपने ही जीवन को खतरे में डालते हैं। जब वे लोग माया के चक्कर में फँसकर दुःख पाते हैं तथा मानसिक क्लेश भी पाते हैं, तभी उन्हें माया की भयंकरता का ख्याल आता है, परन्तु तब सिवाय पश्चात्ताप एवं शर्म के और कुछ हो नहीं सकता। पाश्चात्य विचारक सी. साइमन्स (C. Simmens) भी इसी बात की पुष्टि करते हैं—

"For the most part fraud in the end secures for its companions repentance and shame."

अधिकांश रूप में माया (छल-कपट) अन्त में अपने साथियों के रूप में पश्चात्ताप और लज्जा को सुरक्षित रखती है।

दुनिया को धोखाधड़ी कहा गया है। धोखा भी कितने धड़ल्ले से दिया जाता है, उसका एक नमूना देखिये। एक बाजीगर ने एक तोते को इस ढंग से पाठ पढ़ाया कि उससे जो कुछ भी पूछा जाय, उसका उत्तर उसके पास एक ही था—'**अत्र कः संदेहः**' इसमें क्या सन्देह है।'

एक दिन बाजीगर चौराहे के बीच में अपने तोते का परिचय देते हुए जोर-जोर से कह रहा था—"यह शुकराज जो पर्दे में विराजमान है, देवस्वरूप है, वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हर बात का जवाब देववाणी (संस्कृत भाषा) में देता है। यहाँ तक कि वह अपनी बीट में स्वर्णमुद्रा देता है। किसी को विश्वास न हो तो अन्दर जा कर शुकराज से पूछ कर परीक्षा कर सकता है। इसकी कीमत एक लाख स्वर्ण मुद्रा है।

बाजीगर की बात सुनकर सभी दंग थे, पर किसी का साहस नहीं होता था कि इतना ऊँचा मूल्य देकर इस तोते को खरीद ले। एक सेठ पर बाजीगर के कहने का अचूक प्रभाव पड़ा। वह उसे खरीदने को उत्सुक हुआ। बाजीगर की माया को वह जान न सका। वह झटपट पर्दे के अन्दर गया और शुकराज से पूछा—"शुकराज जी ? क्या आप देवस्वरूप हैं ?"

शुक बोला—"अत्र कः सन्देहः।"

सेठ ने पूछा—"मैंने सुना है कि आप देववाणी में ही बोलते हैं।"

तोता बोला—"अत्र कः सन्देहः।"

फिर जब यह पूछा गया कि "आप अपनी बीट में स्वर्णमुद्रा देते हैं, तब भी उसने वही घड़ाघड़ाया उत्तर दोहरा दिया। "क्या आपकी कीमत एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ हैं ?" सेठ ने पूछा। उसका भी उत्तर 'अत्र कः सन्देहः में मिला।

अब तो सेठजी की बांछें खिल गईं। आव देखा न ताव, झट एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ देकर बाजीगर से वह तोता खरीद लिया।

तोते को घर लाकर पूछा—"आप कुछ भोजन करेंगे ?" तोते ने उत्तर दिया—अत्र कः सन्देहः।' यों करते-करते जब उस बीट में भी स्वर्ण-मुद्रा न मिली तो सेठ को शंका हुई, उसने तपाक से पूछा—"क्या आप का कथन असत्य था ?" तोते का हर बार वही पेटेंट उत्तर था—अत्र कः सन्देहः। सेठ का मन तोते की माया से ठगे जाने के कारण लज्जा और पश्चात्ताप से भर गया, क्योंकि अब तो उसके पास केवल 'अत्र कः सन्देहः' ही बचा था। वस्तुतः माया का दाव पर्दे के पीछे ही लगता है। वह प्रकट में आकर कभी मनुष्य को धोखा नहीं दे सकती। आज अधिकांश लोग माया की भयंकरता को न समझ पाने के कारण सत्य की ओट में झूठ की माया में फंस जाते हैं।

माया : मुख में राम, बगल में छुरी

आपके समक्ष कोई सफेद पोशाक व्यक्ति रामनाम छापे चादर ओढ़े, तिलक-छापे लगाये हुए और बहुत सुन्दर ढंग से भाषण करने लगे तो आप झटपट उसके आन्तरिक जीवन को पहिचान नहीं सकेंगे। अन्दर से वह व्यक्ति हृदय से काला होता है। वह अवसर पाते ही दूसरों को धोखा देने में कसर नहीं रखता। ऐसे चार-सौ बीस आदमी माया से ओतप्रोत होते हैं। उनकी वह खतरनाक माया 'मुख में राम बगल में छुरी' की कहावत चरितार्थ करते है।

हम साधुओं को बहुत-सी बार ऐसे लोगों से सम्पर्क होता है। एक भाई साधु-साध्वियों की बहुत सेवाभक्ति करते थे। वे खादीधारी थे। वाणी से भी बहुत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संस्कारी मालूम होते थे । ऐसा मालूम होता था, मानों उन्हें धार्मिक जानकारी काफी हो। उनसे व्यवसाय के बारे में पूछा जाय तो, यही उत्तर देते हैं—"मेरे लड़के ग्रेज्युएट हैं, वे सब अपने-अपने धन्धे में लगे हुए हैं। मैं ब्रह्मचर्य आदि का पालन करते हुए सादगी से रहता हूँ। मामूली ब्याज-बट्टे के धन्धे से अपनी आजीविका चलाता हूँ। अधिकांश समय साधु-साध्वियों की सेवा में बिताता हूँ।"

लेकिन बाद में उस भाई के वेश, व्यवहार और वाणी की माया से हमें बड़ा आश्चर्य हुआ ।

एक अत्यन्त निर्धन भाई ने अपना कटु अनुभव सुनाते हुए दुःखित हृदय से कहा—"मैंने संकट के समय इस भाई से ५००) रु० कर्ज लिए थे। धीरे-धीरे करके मैंने उसके बदले में ६००) भर दिये। फिर भी यह महाशय कहते हैं कि अभी तुम पर ४००) रुपयों का कर्ज और बाकी है ।

गाँव की एक विधवा बाई थी । उसकी सास गुजर गई तो ग्राम के लोगों ने उस पर मोसर (मृतभोज) करने के लिए दबाव डाला । फलतः उस बाई ने इस महाशय के पास अपना घर गिरवीं रख कर रुपये लिए और अपनी सास का मोसर किया। दो तीन वर्ष मेहनत-मजदूरी करके कुछ रुपये जोड़े और उन्हें लेकर इन भाई के पास पहुँची । बोली—लीजिए आपके रुपये, और मेरा मकान मुझे वापस सौंप दीजिए।" परन्तु वह मकान बाजार के बीच में मौके का होने से इस महाशय की नीयत बिगड़ी और बाई को टका-सा जवाब दे दिया—"कौन सा-मकान ? कब गिरवीं रखा था। मेरे यहाँ उसकी कोई लिखा-पढ़ी नहीं है।" आखिरकार निराश बाई ने इस महाशय के लड़के के विवाह के अवसर भोजन करने आए हुए भाइयों से इस मामले में न्याय दिलाने के लिए प्रार्थना की। उन्होंने इस भाई को बुलाकर दबाव डालते हुए कहा—"पहले इस विधवा बहन को उसका मकान सौंप दो, तभी हम तुम्हारे यहाँ भोजन करेंगे।" परन्तु इसने धृष्टतापूर्वक उत्तर दिया—आपको भोजन करना हो तो कीजिए, मैं मकान हर्गिज वापस नहीं दूंगा । मेरे यहाँ मिठाई बच जाएगी तो मैं हलवाई को बेच दूंगा।"

सचमुच, ऐसे माया से प्रेरित व्यक्ति अत्यन्त खूंखार और घातक होते हैं।

मायायुक्त जीवन : अन्दर से खोखला

मायायुक्त जीवन बाहर से भभकेदार दिखता है, परन्तु अन्दर से बिलकुल निःसत्त्व, थोथा और भयंकर कुटिल होता है। ऐसे वक्र एवं गूढ़ जीवन से प्रत्येक व्यक्ति, संस्था या समाज को खतरा रहता है । ऐसे व्यक्ति को कोई भी किसी प्रकार की जिम्मेदारी खास-तौर से आर्थिक जिम्मेदारी सौंपने में हिचकिचाता है, वह समाज के लिए भयंकर, अविश्वसनीय एवं निन्दनीय बन जाता है । चाहे वह कितना ही पढ़ा-लिखा क्यों न हो, चाहे, वह कितना ही धार्मिक क्रियाकाण्ड करता हो उसकी कपटक्रिया से सबका मन उसके प्रति फट जाता है । कितना ही दूध हो, उसमें जरा-सी खटाई

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पड़ते ही वह फट जाता है, वैसे ही व्यक्ति में कितने ही गुण हों, अगर उसमें माया है, दम्भ है, कुटिलता है, बेवफादारी है, बेईमानी और धोखेबाजी है तो लोग उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहेंगे। लोगों में वह घृणापात्र बन जाएगा।

एक जगह एक बोर्डिंग में एक भाई व्यवस्थापक थे। बोर्डिंग की व्यवस्था के साथ-साथ वे विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षण भी देते थे। बाह्यदृष्टि से धर्मात्मा दिखाई देनेवाले इन भाई के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बोर्डिंग के संचालकों ने भवन-निर्माण का काम इन्हें सौंपा। अब क्या था, व्यवस्थापकजी के मन में रमने वाली मायावृत्ति अब सामने आई। व्यवस्थापक जी आधी धन राशि भवन-निर्माण में लगाते और आधी स्वयं हड़प जाते। कुछ ही समय में व्यवस्थापक जी का एक निजी भव्य भवन भी तैयार हो गया। उनकी धर्म पत्नी के शरीर पर गहने भी बढ़ने लगे। दूसरे अध्यापक विचार में पड़ गए कि व्यवस्थापक जी को प्रतिमास दो सौ रुपये वेतन मिलता है, इसमें इन्होंने इतनी बचत कैसे कर ली ? हम तो इस मँहगाई में कुछ भी बचा नहीं पाते।

एक बार वे पर्युषण पर्व के अवसर पर दूसरे गाँव में, जहाँ किसी साधु-साध्वी का चौमासा न था, व्याख्यान बांचने गए। पीछे से उनके पाप का घड़ा फूटा। बात यह हुई कि उन्हीं दिनों में सरकारी ऑडिटर बोर्डिंग एवं मकान के हिसाब-किताब की जाँच करने आए। उन्होंने हिसाब माँगा तो सेक्रेटरी ने जैसा भी हिसाब लिखा हुआ था, प्रस्तुत कर दिया। ऑडिटर ने जब सारा हिसाब चेकिंग किया तो लगभग बीस हजार रुपयों का घोटाला पकड़ा गया। व्यवस्थापक जी की सारी माया पकड़ी गई और उन्हें भारी सजा भुगतनी पड़ी।

यह है, माया युक्त जीवन का खोखलापन ! इसी कारण तो वह भयावह है।

माया शल्य : अत्यन्त पीड़ादायक

शास्त्रों में माया को शल्य कहा है। शल्य कहते हैं—तीखे काँटे का। अगर आपके पैर में कभी कोई तीखा कांटा चुभ जाए तो आपको कितनी पीड़ा महसूस होती है ? आप दर्द के मारे बेचैन हो उठते हैं। इसी प्रकार जिसके जीवन में या चरण (चारित्र) में मायारूपी तीखा कांटा घुस जाय तो उसका निकालना बड़ा दुष्कर हो जाता है और जब तक वह कांटा निकलता नहीं तब तक उस व्यक्ति को चैन नहीं पड़ा। तीखा कांटा तो झटपट निकाल दिया जाता है और व्यक्ति को आराम भी हो जाता है, लेकिन माया शल्य कई बार इतना गहरा घुस जाता है, कि एक जन्म में ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर में जाकर निकलता है, तभी शान्ति मिलती है। माया का जहरीला तीखा कांटा एक बार घुस जाता है तो मन को बार-बार कचोटता रहता है।

ज्ञाता सूत्र में बताया गया है, धर्म के विषय में जरा-सी भी माया—सूक्ष्म माया भी अनर्थकर होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्याय भी धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उस विषय में जरा-सी माया अनजाने में आज से कोई ३० वर्ष पहले न्यायाधीश श्री बी० एच० गेहानी से हो गई थी, जिस समय वे हैदराबाद सिन्ध के मजिस्ट्रेट थे। बात यह हुई कि मजिस्ट्रेट के समक्ष एक भाई का दूसरे भाई के विरुद्ध धोखाधड़ी का मामला पेश था। झगड़ा जायदाद के बारे में था। निर्णय का दिन आ गया था, मगर किसी कारणवश मजिस्ट्रेट फैसला नहीं लिख पाया था। मजिस्ट्रेट को अगली तारीख देनी ही थी। मगर संयोग से उस दिन अभियुक्त कचहरी में न आ सका। उसके बजाय उसका पुत्र हाजिर हुआ। जो पिता की बीमारी का सर्टिफिकेट लेकर यह प्रार्थना करने आया था कि अदालत अगली कोई तारीख दे दे। मजिस्ट्रेट ने तारीख तो दे दी, मगर यह बताने का साहस न कर सका कि वह खुद भी फैसला नहीं लिख पाया है। किस्मत की मार कहिए, अभियुक्त अदालत के कार्य व्यवहार से भली-भाँति परिचित था। उसे भली-भाँति मालूम था कि फौजदारी मामलों में अभियुक्त को बरी करना हो तो फैसला उसकी गैर हाजरी में भी सुनाया जा सकता है, किन्तु सजा देनी हो तो अभियुक्त उपस्थित होना चाहिए। अभियुक्त के पुत्र ने जब यह खबर दी कि मजिस्ट्रेट ने अगली तारीख दे दी है, तो उसने झट निष्कर्ष निकाल लिया कि अब मुझे जेल जाना ही पड़ेगा। वह मूर्च्छित हो गया और उसी सदमें में चल बसा। अगली तारीख की पेशी पर रोते हुए उसके पुत्र ने मजिस्ट्रेट को बताया कि फैसले की तारीख आगे पड़ने की बात सुनते ही पिताजी उसी सदमे में चल बसे। मजिस्ट्रेट गेहानी के दिल को बहुत ठेस पहुँची। उसकी फैसले के बारे में असावधानी से हुई जरा सी माया से एक आदमी का देहान्त हो गया, यह मजिस्ट्रेट को खटकता रहता था। हालांकि मजिस्ट्रेट ने जो फैसला लिख रहा था, उसमें अभियुक्त को बरी कर रखा था। फैसला (उसके पुत्र को) सुनाते समय भी मजिस्ट्रेट की आँखों में आँसू थे। उसके बाद लगभग २५ वर्ष तक अपने द्वारा की गई यह सूक्ष्म माया कांटे की तरह खटकती रही। बम्बई के चीफ प्रेसीडैंसी मजिस्ट्रेट के पद पर रहते हुए सन् ७० में उन्होंने एक सिन्धी साप्ताहिक में अपने से अनजाने में बेकसूर व्यक्ति की मौत का कारण बनने के पाप (माया) को प्रकाशित करके अपने दिल का बोझ हलका किया।

इसी तरह किसी भी धर्माचरण, व्रत, नियम आदि में माया शल्य की तरह खटकती है।

माया : मित्रतानाशक

माया इसलिए भी भयावह है कि वह मित्रता का खात्मा करने वाली है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है—

'माया मित्ताणि नासेइ'

माया मित्रों की मित्रता का नाश कर देती है।

जहाँ मित्रों के बीच में माया होगी, किसी भी मित्र के दिल में कपट आसन जमा लेगा, वहाँ उनकी मित्रता टिक न सकेगी। प्रायः देखा गया है कि एक मित्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब दूसरे मित्र से दुराव, छिपाव रखता है, कपट का व्यवहार करने लगता है, दूसरे से वक्रता करता है तो उनके हृदय फट जाते हैं। उनके हृदय से मित्रता पलायित हो जाती है। मित्र जब दूसरे मित्र के साथ धोखा करता है, तब वह कपटी मित्र बन जाता है, वास्तविक मित्र नहीं।

दो मित्र धनोपार्जन के लिए विदेश गए। वहाँ दोनों में एक को व्यापार में अच्छा लाभ हुआ, लेकिन दूसरे को खास लाभ नहीं हुआ। अतः उसने देश लौट जाना अच्छा समझा। उसने जब मित्र से कहा तो वह बोला—भाई! मैं तो यहाँ व्यापार में इतना उलझा हूँ कि इस समय देश नहीं जा सकता। तुम जाओ तो यह कीमती लाल अपनी भाभी को दे देना। कहना—लाल कीमती है, इसे सम्भाल कर रखना। मैं भी कुछ समय बाद व्यापार समेट कर आ रहा हूँ।" मित्र लाल लेकर स्वदेश को रवाना हुआ। रास्ते में उसके मन में बेईमानी आ गई। सोचा—मित्र ने अकेले में दिया है, देते समय किसी ने देखा नहीं है। कह दूंगा-मैंने तो तुम्हारी पत्नी को दे दिया है।" बस, यह निश्चय करके वह घर पहुँचा। मित्र की पत्नी के पास खबर देने नहीं पहुँचा तो वह स्वयं आई और पूछने लगी—"आप अकेले कैसे आए? अपने मित्र को नहीं लाए? वह बोला—"वह तो बड़ा लोभी है। इतना धन कमाया है, फिर भी लोभ छूटता नहीं।" मित्र की पत्नी ने पूछा—"इतना कमाया है तो कुछ भेजा भी है?" "अजी! वह लोभी क्या भेजेगा?" मित्र ने कहा। एक पाप को छिपाने के लिए और माया करनी पड़ी। मित्र पत्नी सन्तुष्ट होकर बैठ गई। सोचा—"चलो, कुशल तो हैं। कुछ न भेजा तो न सही। आखिर आएंगे तो यहीं।" कुछ समय पश्चात् वह अपना व्यवसाय समेट कर घर आया। पत्नी ने कहा—"कुशल तो रहे न? मुझे तो एक दम भूल गए। मेरे लिए मित्र के साथ कुछ भी नहीं भेजा!"

पति—'भूल कैसे गया? भूल जाता तो मित्र के साथ लाल क्यों भेजता?"

पत्नी—"कौन-सा लाल? उन्होंने मुझे कोई लाल नहीं दिया, पूछा तो बोले—उन्होंने कुछ भी नहीं भेजा।" पत्नी के मुंह से यह बात सुन कर वह समझ गया कि मित्र के मन में बेईमानी आ गई है। प्रातः काल वह मित्र के पास पहुँचा। कुशल-प्रश्न के अनन्तर उसने पूछा—"मित्र! मैंने जो लाल दिया था, वह कहाँ है?" उसने कहा—"वह तो मैंने आते ही तुम्हारी पत्नी को दे दिया था।" "वह तो कहती है, मुझे कुछ नहीं दिया।" उसने कहा। मित्र बोला—"अजी! वह झूठ बोलती है। स्त्रियों का क्या भरोसा? न जाने उसने किसी को दे दिया होगा, या कहीं रख कर भूल गई होगी।" इस प्रकार मित्र गरजने लगा कि "अपनी स्त्री को दोष देते नहीं, मुझे चोर बनाते हो।" मित्र के ऐसे रंगढंग देख कर वह चुपचाप घर आ गया। शाम को ही हाकिम के पास पहुँचा और सारी घटना कह सुनाई। उन्होंने सारी पूछताछ की कि तुमने लाल किसके सामने दिया था?" उसने कहा—"मैंने किसी के सामने नहीं दिया। मित्र समझ कर विश्वास कर लिया था।" हाकिम ने आश्वासन दिया कि मैं तुम्हें लाल दिलाने की कोशिश करूँगा।" इसके बाद हाकिम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ने लाल रखू को बुला कर कहा— तुम्हारे विरुद्ध लाल हड़प जाने की फरियाद आई है, अतः अपना भला चाहते हो तो लाल अपने मित्र को वापस दे दो।" उसने कहा—"आप मुझे व्यर्थ ही धमका रहे हैं, लाल तो मैंने परदेश से आते ही उसकी पत्नी को दे दिया है। "लाल देते समय गवाह भी ४ व्यक्ति थे।" हाकिम ने गवाह बुलाए तो उसने ४ झूठे गवाह पैसे देकर हाजिर कर दिये। हाकिम ने चारों से लाल के विषय में पृथक्-पृथक् पूछा तो कलई खुल गई। धमकाया तो गिड़गिड़ा कर कहा— "लाल हमने नहीं देखा। हम तो पैसे के लालच में आ कर गवाही देने आए हैं। आखिर लाल रखू को कहा—"तुमने एक तो लाल रखने का अपराध किया, दूसरा अपराध झूठे गवाह लाने का ! सच-सच बताओ, नहीं तो अभी तुम्हारी पीठ पर कोड़े पड़ेंगे।" सेठ लज्जित होकर क्षमा मांगने लगा। फौरन घर से लाकर हाकिम को लाल सौंप दिया। हाकिम ने उसके मित्र को बुला कर वह लाल दे दिया। तब से दोनों की मित्रता टूट गई। माया ऐसी राक्षसी है कि वह वर्षों पुराने स्नेह को भंग कर देती है, शत्रुता में परिणत कर देती है। इसलिए इस भयंकर राक्षसी के चंगुल से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

माया : जन्म-जन्म में दुःखदात्री

मनुष्य सोचता है कि मैंने किसी के साथ छलकपट कर लिया तो उसे कौन जानता है ? परन्तु मनुष्य चाहे अन्धेरे में, एकान्त वन या गुप्त में, जाने-अन जाने कहीं भी छलकपट का विचार करता है, वह ज्ञानी पुरुषों से तो छिपा नहीं रहता। उसका अपना मन और आत्मा तो साक्षी है। फिर वह माया अन्दर ही अन्दर बार-बार चुभन पैदा करती रहती है। मनुष्य के मन पर उसका बोझ हो जाता है और एक बार की हुई माया की अगर आलोचना करके शुद्धि नहीं की जाती है तो वह बार-बार जिस योनि में मनुष्य जन्म लेता है, वहाँ आ कर दुःखित-पीड़ित करती रहती है और फिर माया के कारण मनुष्य को तिर्यंचयोनि मिलती है या विशेष पुण्य किया हो तो स्त्रीयोनि मिलती है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—**'माया तैर्यग्योनस्य'** माया के कारण तिर्यञ्चयोनि का बन्ध होता है।

ज्ञातासूत्र में बताया है कि यद्यपि मल्लिनाथ भगवती ने महाबल के भव में तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया, फिर भी तपस्या में थोड़ी-सी माया के कारण वह स्त्री बनीं ?

माया के कारण तिर्यंचयोनि में बार-बार जन्म लेने से मनुष्य को कोई बोध नहीं प्राप्त होता। इसलिए वह फिर सम्भल नहीं सकता, न आत्म शुद्धि कर सकता है। सूत्र कृतांग सूत्र में स्पष्ट कहा है—

जे इह मायाइ मिज्जइ, आगंता गब्भायणंतसो।

जो साधक मनुष्य जीवन में माया में फंस जाता है, वह अनन्त बार गर्भ के दुःखों को पाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वसन्तपुर निवासी धनपति और धनावह इन दोनों भाइयों की एक बाल-विधवा बहन थी—धनश्री। जब से धर्म-घोष आचार्य नगर में पधारे, तब से उनका उपदेश सुन कर वह संसार से विरक्त हो गई थी। धनश्री ने अपने भाइयों से दीक्षा की अनुमति मांगी, पर उन्होंने बहन के प्रति सांसारिक स्नेहवश अनुमति न दी। किन्तु धनश्री धर्म कार्य में प्रचुर धन व्यय करती थी, इस कारण उसकी भोजाइयाँ बहुत ही चखचख करती थीं। यह देख कर धनश्री ने सोचा-भौजाइयों से मुझे क्या मतलब है ? भाइयों का मेरे प्रति कैसा अनुराग है ? यह देखूं।"

एक दिन वह मन ही मन मायामय आयोजन करके बड़ी भौजाई को सोते समय धर्मोपदेश देने लगी—"पर-पुरुष से अपने शील की रक्षा करनी चाहिए।" बड़ा भाई यह बात सुन कर सोचने लगा—"मेरी पत्नी दुराचारिणी मालूम होती है, तभी तो बहन इसे ऐसा उपदेश देती है।" उसने पत्नी के आते ही धमका कर घर से निकल जाने को कहा। बेचारी ने जैसे तैसे जमीन पर सोकर रात काटी। सवेरे उसे खिन्न-चित्र देख कर ननंद धनश्री ने उदासी का कारण पूछा। उसने रोते हुए कहा—"तुम्हारे भाई ने मुझे बिना ही अपराध के घर से निकल जाने को कहा है।" धनश्री ने कहा—"तुम धैर्य रखो। मैं सब ठीक कर दूंगी।" उसने भाई से पूछा तो उसने कहा—"मैंने तो दुःशीला होने की शंका से ऐसा किया है।" धनश्री बोली – "क्या प्रमाण है, आपके पास ? मैंने तो धर्मोपदेश के रूप में ऐसा कहा था, उस पर से आपको झूठा वहम हो गया !" भाई ने अपनी भूल स्वीकार की और गलत फहमी से हुए इस दोष के लिए क्षमा मांगी। धनश्री ने सोचा—"बड़ा भाई तो मेरी सब बातें मान जाएगा।"

इसके पश्चात् धनश्री ने उससे छोटे भाई के स्वभाव की भी परीक्षा इसी प्रकार की। खासतौर से भौजाई को धर्मोपदेश देते हुए कहा—"अपना हाथ वश में रखना चाहिए।" इस पर से छोटे भाई ने भी अपनी पत्नी को दोष युक्त समझ कर निकल जाने का कहा। धनश्री ने प्रातः इस भाभी को भी आश्वासन दिया और पहले की तरह इस भाई को मनाया। इसने भी अपनी भूल के लिए माफी मांगी। धनश्री ने इस पर से भी निष्कर्ष निकाला कि "यह भाई भी मेरी सब बातें ज्यों की त्यों मान जाएगा।"

इस प्रकार धनश्री ने मन में माया रख कर दोषारोपण जैसी शंका उपस्थित कर दी, इस कारण तीव्र कर्म बन्धन किया। उस पर तुर्रा यह कि धनश्री ने की हुई माया का आलोचन एवं प्रतिक्रमण नहीं किया और अपने दो भाइयों एवं दोनों भोजाइयों के साथ स्वयं ने साध्वी दीक्षा ले ली। ये पांचों चारित्र पालन करके देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके दो भाई साकेतपुर में अशोक दत्त श्रेष्ठी के दो पुत्र-समुद्रदत्त और वरदत्त के रूप में जन्मे। बहन का जीव गजपुर नगर में शंख श्रावक की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुआ। अत्यन्त रूपवती होने से उसका नाम 'सर्वांग सुन्दरी' रखा गया। दोनों भोजाइयों के जीवों ने भी कोशलपुर के नन्दन श्रेष्ठी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की श्रीमती और कान्तिमती नामक दो पुत्रियों के रूप में जन्म लिया। क्रमशः किशोरावस्था पार करके सभी यौवन-अवस्था में आए।

एक दिन किसी कार्यवश अशोकदत्त सेठ गजपुर आए। वहाँ उन्होंने रूपवती सर्वांग सुन्दरी को देख कर पूछा—"यह किसकी लड़की है?" उत्तर मिला—शंख श्रावक की है। इस प्रकार सर्वांग सुन्दरी के नाम, गुण आदि के विषय में जानकर अपने पुत्र समुद्रदत्त के लिए शंख सेठ से उसे मांग ली। शंख सेठ ने स्वीकार किया और शुभ मुहूर्त में दोनों का विवाह हो गया। एक दिन समुद्रदत्त अपने ससुराल पहुँचा। ससुराल वालों ने उसकी खूब आवभगत की। परन्तु जिस समय वासघर में वह शयन करने जा रहा था, उस समय सर्वांगसुन्दरी के माया जनित पूर्वबद्ध कर्म उदय में आए जिससे उसके समीप कोई देववाणी हुई और किसी पुरुष की छाया दिखाई दी। इस पर से सर्वांगसुन्दरी के पति को उसके प्रति शंका हुई कि हो न हो, यह दुराचारिणी है। अतः सर्वांग सुन्दरी जब पास में आई, तब वह उससे बिलकुल बोला नहीं, न बैठने को कहा। फलतः बड़ी मुश्किल से जमीन पर रात बिताई। सबेरा होते ही ससुराल वालों से बिना पूछे ही उसने एक रमतेराम ब्राह्मण को कह कर समुद्रदत्त सीधा साकेतपुर पहुँच गया। फिर कोशलपुर निवासी नन्दन सेठ की बड़ी पुत्री श्रीमती (पूर्व जन्म की पत्नी) के साथ पाणिग्रहण किया। उसके छोटे भाई ने उसकी छोटी बहन कान्तिमती (पूर्व जन्म की पत्नी) के साथ विवाह किया। सर्वांग सुन्दरी को जब इन बातों का पता लगा तो वह अत्यन्त दुःखी हुई। उसका ससुराल जाना-आना भी बन्द हो गया। अतः सर्वांगसुन्दरी ने अपना चित्त धर्म ध्यान की ओर मोड़ लिया। किसी साध्वी जी के पास उसने भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली।

एक बार अपनी गुरुणी के साथ विचरण करती हुई साध्वी सर्वांगसुन्दरी साकेतपुर गई है। वहाँ पूर्वजन्म के दोनों भाइयों के यहाँ भिक्षा के लिए गयी तो देखा कि उपशान्त चित्त वाली दोनों भौजाइयाँ तो श्राविका बन गई हैं, दोनों भाई अभी धर्म पथ पर आये नहीं हैं।

एक दिन आर्या सर्वांगसुन्दरी पारणा होने से वहाँ गोचरी गयी। उसी अवसर पर दूसरा मायाबद्ध कर्म उदय में आया। बात यों बनी कि श्रीमती अपने वासघर में बैठी हार पिरो रही थी। साध्वी जी को आई देखकर वह हार छोड़कर बीच में ही उसी ओर उन्हें भिक्षा देने के लिए रसोई घर में गयी। इसी बीच एक चित्रामण मोर आया और उस हार को निगल गया। साध्वीजी खड़ी-खड़ी यह देख रही थी। अतः श्रीमती एक थाली में आहार लेकर उन्हें देने आयी, उसे लेकर साध्वीजी वहाँ से चल दीं। परन्तु श्रीमती ने जब हार पिरोने के लिए टटोला तो वहाँ मिला नहीं। आश्चर्यपूर्वक अपने परिवार वालों से सबसे पूछा, उन्होंने कहा—"उन साध्वीजी के सिवाय अभी और तो कोई आया नहीं था।" इस पर श्रीमती ने सबको डांटा—"आप सब क्या कहती हो? क्या साध्वीजी कभी हार उठा सकती हैं।" परन्तु और कोई

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति उस समय वासभवन में उपस्थित न होने से परिवार के अधिकांश लोगों की शंका साध्वीजी पर ही हुई। साध्वीजी ने भी अपनी गुरुणी से मोर के द्वारा हार निगल जाने की घटना सुनाई। इधर श्रीमती के परिवार की बहुत-सी स्त्रियों ने हार गुम हो जाने की चर्चा उपाश्रय में तथा अन्यत्र फैला दी। साध्वीजी से गुरुणी ने कहा—"कर्मों की गति विचित्र है। समता धारण करो। जो कुछ सत्य होगा, वह प्रकट हो जायेगा।" यह सुनकर साध्वीजी तप-जप में लीन हो गयीं। साध्वीजी को तपश्चर्या करती देखकर श्रीमती और कान्तिमति के पति ने उनका उपहास किया। मगर वह धर्म से भ्रष्ट न हुई। इस कारण पहले जो कर्म बाँधे थे, वे कुछ हलके हुए।

एक दिन श्रीमती अपने पति के पास वासभवन में बैठी थी, इतने में चित्रामण-मोर ने नीचे उतर कर हार उगल दिया। उसे देख पति पत्नी दोनों को बहुत पश्चाताप हुआ कि नाहक ही साध्वीजी पर मिथ्यादोषारोपण किया। धन्य है गम्भीर एवं समता धारिणी साध्वी को! स्वयं जानते हुए भी मोर की हत्या होने की सम्भावना से कहा नहीं। फिर पति-पत्नी दोनों आकर साध्वीजी से क्षमायाचना करने लगे। उसी समय साध्वीजी उच्च भावना से ध्यानारूढ़ होकर क्षपक श्रेणी पर पहुँचीं और केवलज्ञान प्राप्त किया। देव केवलज्ञान महोत्सव करने आए। उस समय श्रीमती आदि सब नारियों ने केवलज्ञानी साध्वीजी से विनयपूर्वक इस कर्मविपाक का कारण पूछा तो उन्होंने पूर्वभवों से लेकर अब तक का सारा वृत्तान्त स्पष्टरूप से बताया। अन्त से सबसे कहा—मैंने माया से पीड़ित होकर संसार के इतने सब दुःख पाये। इसलिए माया को अत्यन्त खतरनाक समझकर तुम कोई भी इसके चंगुल में मत फँसना। यदि जरा-सी माया कर ली तो जन्म-जन्मान्तर में उसका दारुण दुःख भोगना पड़ेगा।

माया करते रहने से पुण्य का नाश हो जाता है, पाप कर्मों का बन्ध होता है, जिससे जीवन में दुर्भाग्य प्राप्त होता है, दुर्गति मिलती ही है।

इसलिए गौतम ऋषि ने सावधान किया है—

माया, भयं किं ?

भय और कोई नहीं, माया ही है।

प्रत्येक सफल जीवनजीवी का कर्तव्य है कि वह माया को भय की खान जान कर उससे बचने का प्रयत्न करे। बहुत-से लोग यह सोचते हैं कि हम जितना दूसरों को ठगते हैं, दूसरों को अपने छलबल से वश में करते हैं, उतने ही हम जीवन विकास करते हैं, परन्तु यह भ्रम है।

माया तो मानव जीवन को और पीछे धकेलती है और तो और वह सुगति में भी रुकावट डालती है। एक पाश्चात्य विचारक के शब्दों में—

"Fraud generally lights a candle for justice to get a lookal it; and a rogue's pen indites the warrent for his own arrest."

माया सामान्य रूप से न्यायाधीश को अपने पर एक दृष्टिपात करने के लिए बत्ती जला देती है, और तब प्रवंचक (धूर्त) की कलम अपनी गिरफ्तारी के लिए स्वयं वारंट लिख देती है। तात्पर्य यह है कि माया देरसबेर अपने आप ही पकड़ी जाती है, और उसकी भयंकर सजा पाती है।

□

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परमश्रद्धेय आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी म० से आज कौन अपरिचित है ! उनके अत्युज्ज्वल सरल, सरस और गंभीर व्यक्तित्व की गरिमा आज बाल स्त्री-युवक-वृद्ध विद्वान-मूर्ख सभी के मन को प्रभावित कर रही है।

'आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्,—आनन्द ब्रह्म है, यह उद्घोष करने वाले भारतीय ऋषि की वाणी आज 'आनन्द ऋषि' के दर्शनों के साथ साकार हो जाती है। आनन्द ऋषि-आनन्द केन्द्र है, आध्यत्मिक, अतिमानवीय आनन्द की उपलब्धि के एवं सबल स्रोत है। उनके जीवन के कण-कण में आनन्द, उनके वचन-प्रवचन में आनन्द। आत्मानंद का मार्ग बताने वाले आनन्द ऋषि का जीवन सबके लिए आनंद मय है।

वे ज्ञान के सजग आराधक, साधना के सहज साधक, श्रमण संघ के चरित्र निष्ठ श्रमणों के सबल सम्बल और अध्यात्म प्रेमी जन-जन के जीवन पथ-प्रदर्शक है।

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

अध्यात्म दशहरा
समाज-स्थिति-दिगदर्शन
ज्ञान कुंजर दीपिका
अमृत काव्य संग्रह
त्रिलोक काव्य संग्रह
चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न
श्रमण संस्कृति के प्रतीक
संस्कार (उपन्यास)
ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास
त्रिलोक शताब्दि अभिनन्दन ग्रन्थ
आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ
जैन जगत के ज्योतिर्धर-आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि
चित्रालंकार काव्य: एक विवेचन
तीर्थंकर महावीर
भावना योग: एक अनुशीलन
आनन्द वाणी (हिन्दी - मराठी)
आनन्द वचनामृत (हिन्दी - मराठी)
स्याद्वाद सिध्दान्त:
आनन्द प्रवचन: भाग

Serving JinShasan
020151
gyanmandir@kobatirth.org

प्राप्ति केन्द्र

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

पाथर्डी, (अहमदनगर, महाराष्ट्र)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org